विभाग है। बात यह है कि अवयवों के विभाग से भले ही अवयवी का विभाग होजाय किन्तु अवयवों (स्कन्ध) के विभाग (भेद) से अवयवों (परमाणुओं) का विभाग कथमपि नहीं होसकता है, हां अवयवों के परस्पर में होरहे अन्यतर कर्म-जन्य अथवा उभय कर्म-जन्य विभागों की प्रतीति होरही है जो कि प्रतीति किसी के द्वारा बाधी नहीं जाती है ।

अर्थात्—अवयवों के विभाग तो क्रियाओं से ही होते माने गये हैं, फिर आप वैशेषिकों ने इससू॰ की दूसरी वार्तिक द्वारा द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि स्कन्धों के भेद (विभाग) से परमाणुओं के विभाग की ही उत्पत्ति होना किस प्रकार स्वीकार कर लिया है ? बताओ यदि आप वैशेषिक स्कन्ध के विदारण से परमाणुओंका विभाग होजाना इष्ट कर लेंगे तो दूसरे पण्डितों करके यों अवश्य कहा जा सकता है कि संघात से परमाणुओं का संयोग ही उपजता है स्कन्ध या अवयवी नहीं। इस आक्षेप का आप कोई समुचित उत्तर नहीं दे सके, तीसरी वार्तिक द्वारा किया गया आक्षेप वैशेषिकों के ऊपर तदवस्थ है ।

तस्यावयवभेदादाकाशादिभागो विभागज एवेति चेत् तर्हि परमाणुसंघातादाकाश-देशादिना संयोगोपि संयोगजोस्तु । अथ परमाणुसंघातादुत्पन्नेनावयविना व्योमादेः संयोगः संयोगजो न पुनः परमाणुभिस्तस्य संयोग इति मत तर्हि स्कंधभेदादुत्पन्नस्य परमाणोरंकदे-शादिभ्यो विभागो न विभागजः किं तु स्वन्धभेद इति सर्वं समानं पश्यामः ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस स्कन्ध के अवयवों का भेद होजाने से हुआ आकाश के स,थ विभाग तो विभागजन्य है, अतः स्कन्ध के विदारण से परमाणुयें नहीं उपजी हैं, किन्तु अवयव भेद स्वरूप विभाग से उस अवयवी स्कन्ध का उन पूववर्त्ती आकाश प्रदेशों के साथ विभाग उपज जाता है यह हमारे यहां विभागज विभाग माना गया है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो परमाणुओं के संघात से हुआ आकाश देश, भूमि प्रदेश आदि के साथ संयोग भी संयोगज ही होजाओ अर्थात्—वैशेषिकों ने जैसे स्कन्ध के अवयवों का विदारण होजाने से अणु की उत्पत्ति नहीं मानकर केवल स्कन्धावयवों का आकाश के साथ हुआ विभागज विभाग ही इष्ट कर लिया है। उसी प्रकार हम भी विक्षेप डाल देंगे कि परमाणुओं के संयोग-विशेष स्वरूप संघात से कोई अवयवी स्कन्ध उत्पन्न नहीं होता है केवल पूर्व प्रदेशों से न्यारे आकाश प्रदेशों के साथ उन अणुओं का संयोग होगया है जो कि संयोगज संयोग है ।

इस पर यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य प्रकाशित होय कि परमाणुओं के संघात से अवयवी उत्पन्न होता है और उस उपजे हुये अवयवी के साथ हुआ आकाश, भूमि, आदि का संयोग ही संयो-गज होता है, किन्तु फिर परमाणुओं के साथ उस आकाश आदि का संयोग नहीं होपाता है। जब कि परमाणुओं के अवयवी बन चुके तो परमाणुओं के साथ आकाश का संयोग होजाना अलीक है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो हम जैन भी अपना अभीष्ट यों प्रकाशित करें देते हैं, कि स्कन्ध का

विदारण होजाने से परमाणुयें उपजते हैं। स्कन्ध भेद से उपज चुके परमाणु का भी एक देश, भूमि प्रदेश, आदि के साथ हुआ विभाग तो विभागज विभाग नहीं है किन्तु स्कन्ध का भेद ही है इन सभी व्यवस्थाओं को हम समीचीन युक्तियों से देख रहे हैं महाराज

यानी वैशेषिक जो आक्षेप करते हैं, उसी प्रकार उनके ऊपर दूसरे विद्वानों द्वारा भी आक्षेप किया जा सकता है, तथा वैशेषिक जो अवयवी को उत्पत्ति होजाने में समाधान करते हैं, वही परमाणुओं की उत्पत्ति में भी समाधान होजाता है, यहां रूक्ष पक्षपात के सिवाय कोई अन्य गम्भीर प्रमेय का अन्तर नहीं है, जिससे कि वे स्कन्ध की उत्पत्ति तो मान लेवें और परमाणु की उत्पत्ति में रोड़ा अटका देवें। अतः सिद्ध है, कि स्कन्ध के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होजाती है, द्वयणुक स्कन्ध से एक परमाणु का एक देश के साथ विभाग होकर परमाणु उपजता है और त्र्यणुक अवयवी से द्वयणुक को अलग कर एक परमाणु का दो देश से विभाग होजाने पर परमाणु उपजता है, एवं चतुरणुक का विदारण होजाने से एक साथ चारों अणुयें भी उपज सकती हैं, और कदाचित् एक परमाणु का तीन प्रदेश वाले त्र्यणुक से विभाग होकर एक अणु उपजता है, एक देश आदि यहां पड़े हुये आदि शब्द का यही तात्पर्य जंचता है।

यदि पुनरवयवानां संयोगादवयविनः प्रादुर्भावस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावाद्विभाव्यते तदा तत एव परमाणूनां स्कंधभेदात्प्रादुर्भावोस्तु।

यदि फिर वैशेषिक यों कहें कि अवयवों के संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होरही बालक, बालिकाओं, तक को दृष्टि-गोचर है, क्योंकि अवयवी और अवयवों के कार्य कारण भाव में अन्वय और व्यतिरेक घटित होरहा है, अवयवों के उस संयोग के होने पर अवयवी का भाव (उत्पत्ति) है, और उस अवयवों के संयोग का अभाव होने पर अवयवी का उत्पाद नहीं होपाता है, अतः अवयवी और अवयवों का उत्पाद्य, उत्पादक भाव विचार लिया जाता है। तब तो हम जैन भी कहेंगे कि तिस ही कारण से यानी कार्यकारण भाव के परिनिष्ठापक माने गये अन्वय व्यतिरेकों अनुसार परमाणुओं की भी स्कन्ध के विदारण से उत्पत्ति होजाओ। अर्थात् स्कन्ध का विदारण होने पर अणुयें उपजती हैं, यों यहां अन्वय घट गया और स्कन्ध का विदारण नहीं होने पर अणुयें नहीं उपजतीं हैं, यह व्यतिरेक घटित होगया। अतीन्द्रिय पुण्य पाप या ईश्वर के साथ भी कार्यों का अन्वय व्यतिरेक बनाने में जो आपका शरण्य है, उसी प्रमाण की शरण इस अवसर पर भी ले लीजियेगा, जब कि बड़े स्कन्धों का भेद होकर छोटे छोटे अवयव उपज जाते हैं, तो यों उत्तरोत्तर धारा चलते हुये यह छोटे अवयवों का अन्तिम विश्राम लेने का स्थल परमाणु ही होगा। न्यायप्राप्त होरहे समीचीन सिद्धान्त का विचारशाली विद्वानों करके स्वीकार कर लेना ही प्रशस्त मार्ग है।

नित्यत्वात् तेषां न प्रादुर्भाव इति चेन्न, तन्नित्यत्वस्य सर्वथा अनवसायात्। नित्याः परमाणवः सदकारणवत्त्वादाकाशादिवदित्यपि न सम्यक्, तेषामकारणवत्त्वासिद्धेः। पुद्गलद्र-

क्यस्य तदुपादानकारणस्य भावात् स्कंधभेदस्य च सहकारिणः प्रसिद्धे स्तद्भावे वा भावात् ।

वैशेषिक कहते हैं, कि परमाणुयें तो अनादि से अनन्त काल तक ध्रुव बनी रहने के कारण नित्य हैं, अतः स्कन्धों के विदारण से उन परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है । ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन परमाणुओं के सर्वथा नित्यपन का निश्चय नहीं होरहा है, हाँ कथंचित् नित्य परमाणुओं का स्कन्ध से उत्पन्न होजाना अविरुद्ध है । यदि वैशेषिक पुनः आवेश में आकर यों अनुमान बना कर कहें कि परमाणुयें (पक्ष) नित्य हैं, (साध्यदल) सत् होते सन्ते कारणवाले नहीं होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान के हेतुदल

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

में यदि केवल सत्पना ही कहा जाता तो घट, पट, आदि अनित्य पदार्थों करके व्यभिचार आजाता अतः अकारणवान् कहा गया है, घट पट, आदि अपने जनक कारणों करके सहित होरहे कारणवान् हैं । और यदि अकारणवान्पना इतना ही हेतु कह दिया जाता तो प्रागभाव करके व्यभिचार होजाता है, "अनादिः सान्तः प्रागभावः" अनादि काल से चला आरहा प्रागभाव अपने उत्पादक कारणों से रहित है, अतः "सत्वे सति" यह विशेषण दिया गया है ।

हमारे यहाँ प्रागभाव को द्रव्य आदि सद्भूत षड्-वर्ग में नहीं गिनाया गया है, चारों अभाव पदार्थों में प्रागभाव पड़ा हुआ है, अतः "सत्वे सति अकारणवत्व" हेतु से परमाणु में नित्यत्व सिद्ध होजाता है । अब आचार्य कहते हैं. कि वैशेषिकों का यह कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उन परमाणुओं का स्वकीय कारणोंसे रहितपना असिद्ध है, अतः वैशेषिकों का सद्अकारणवत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि उन परमाणुओं के उपादान कारण होरहे द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि अशुद्ध पुद्गल द्रव्यों का सद्भाव है और उन परमाणूओं के सहकारी कारण होरहे स्कन्ध विदारण की सर्वत्र प्रसिद्धि है । अथवा उन उपादान कारण और सहकारी कारणों के होने पर परमाणूओं का भाव (उत्पत्ति) है, इस अन्वय से परमाणूओं का कार्य पना प्रसिद्ध होजाता है, अपने उपादान कारण और सहकारी कारणों के साथ परमाणूओं का व्यतिरेक भी बन जाता है, अतः बड़े स्कंध के विदारण से छोटे छोटे परमाणूओं का उत्पाद होजाना सिद्ध हुआ ।

सूक्ष्मपूर्वकः स्कन्धो न स्कंधपूर्वकः सूक्ष्मोस्ति यत स्कंधादणुरुत्पद्यत इति चेन्न, प्रमाणाभावात् ।

वैशेषिक कहते हैं कि सूतों से वस्त्र बनता है, चून की कणिकाओं से लूंड़ बन जाती है, बूरे से पेड़ा बन जाता है, अतः सूक्ष्म परिमाण वाले द्रव्य को पूववर्ती मान कर बड़ा स्कन्ध बन जाता है, किन्तु बड़े परिमाणवाले स्कन्ध को पूववर्त्ती कारण मान कर अल्प परिमाण वाला छोटा अवयव उपज कर आत्म लाभ नहीं करता है, जिसे कि जैनमत अनुसार बडे स्कन्ध से परमाणू की उत्पत्ति मानी जाय अर्थात्-बड़े स्कन्ध से छोटे परमाणू की उत्पत्ति नहीं होसकती है, जगत् में छोटों ने बड़ों को उत्पन्न किया है, बड़ों ने छोटों को नहीं. हाँ बड़े नष्ट होकर भले ही छोटे होजांय ।

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इस तुम्हारे मनमाने सिद्धांत का पोषक कोई बलवत्तरप्रमाण नहीं है, छोटों से जैसे बड़े उपजते है, उसी प्रकार बडों से भी छोटे उपज जाते हैं, कीच से कमल उपज जाता है, साथ ही कमल का भी सड़, गल, कर कूड़ा बन जाता है, बड़े बड़े कुलीन पुरुषों के यहां तुच्छ प्रकृति के मनुष्य जन्म ले लेते हैं, बड़े राजा महाराजों, या बादशाहों के सन्तान, प्रतिसन्तानमें झाड़ बुहारना, पल्लेदारी करना, पंखा हाँकना, आदि नीच कर्मकरके आजीविका चलाने वाले उपज जाते हैं, संसार की गति बड़ी विचित्र है। बड़े माता पिताओं से छोटे बच्चे उपजते हैं, बड़े गेंहू से पिस कर चून के कण बन जाते हैं, मीठे खण्डों से कुटकर बूरा बनता है, पहाडों को काट कूट कर पटियां, चाकी, मूर्तियां, गट्टियां, आदि टुकडे, कर लिये जाते है, इसी प्रकार बड़े स्कन्धों से भी छोटे अणू उपज जाते हैं, इस सिद्धान्त में प्रमाणों का सद्भाव है।

विवादाध्यासितः स्कंधो जायते सूक्ष्मतोन्यतः।
स्कंधत्वात्पटवत्प्रोक्तं यैरेवं ते वदत्विदम् ॥ ४ ॥
विवादगोचराः सूक्ष्मा जायंते स्कंधभेदतः
सूक्ष्मत्वाद् दृष्टवस्त्रादिखंडवद्भ्रान्त्यभावतः ॥ ५ ॥

वैशेषिकों का अनुमान है, कि प्रतिवादी के यहां विवाद में प्राप्त होरहा स्कन्ध (पक्ष) किसी अन्यसूक्ष्म परिणाम वाले कारणों से उपजता है, (साध्य) स्कन्ध होने से (हेतु) पट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकार जिन वैशेषिकों ने इतना बहुत अच्छा कहा है। साथ ही वे यह और भी कहें कि वैशेषिक या नैयायिकों के यहां यों विवाद में पड़े हुये कि सूक्ष्म अवयव उपजते भी हैं, या नहीं उपजते हैं ? सम्भव है, सूक्ष्म पदार्थ नहीं उपजते होंयगे, अथवा उपजते ही होंयगे तो अपने से छोटे परिमाणवाले कारणों से ही उपज सकते हैं, ऐसे विवाद विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्कन्ध के विदारण से उपजते हैं, (साध्य) सूक्ष्म होने से (हेतु) देखे जा चुके या फाड़े जा चुके वस्त्र, पत्ता, आदि के खण्ड समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान निर्दोष है, स्कन्धों से परमाणूओं की उत्पत्तिका ज्ञान करनेमें भ्रम ज्ञान होजाने का अभाव है, अभ्रान्त या असम्भवद्बाधक प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होजाती है।

घनकार्पासपिण्डेन सूक्ष्मेण व्यभिचारिता।
हेतोरिति न वक्तव्यमन्यस्यापि समत्वतः ॥ ६ ॥
श्लथावयवकर्पासपिंडसंघाततो यथा।
घनावयवकर्पासपिंडः समुपजायते ॥ ७ ॥

तथा स्थविष्ठपिंडेभ्योऽणिष्ठो निविडपिण्डकः
प्रतीतिगोचरस्तु स्यान्यथा सूत्रोपपादितः ॥ ८ ॥

य द वैशेषिक उक्त अनुमानों में दोष लगाते हुये यों कह बैठें कि कपास की उठी हुई रूई को घना कर सूक्ष्म पिण्ड बन जाता है, बड़ी रूई की गठरिया को दबा कर छोटी पोटली बना ली जाती है, काटनप्रैसमिल द्वारा पांच मन रूई के बड़े पिंडों की छोटी गांठ बनाली जाती है, अतः रुई की गांठ में छोटापन हेतु रह गया किन्तु वहां बड़े स्कन्ध का विदारण नहीं है, प्रत्युत वहां गांठ से चौगुनी, पचगुनी, बड़ी कई पुटरियों का संघात है, इस कारण जैनों के सूक्ष्मत्व हेतु का रूई के दबे हुये घने पिंड करके व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं, कि यह तो वैशेषिकों को नहीं कहना चाहिये क्योंकि यों तो तुम वैशेषिकों के दिये हुये अन्य स्कन्धत्व हेतु का भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, देखिये जैसे शिथिल अवयव वाले कपास पिंडों के संघातसे दबाया जाकर घन अवयव वाले कपास पिण्ड की अच्छी उत्पत्ति होजाती है, उसी प्रकार अधिक स्थूल पिण्डों से अतिशय सूक्ष्म होरहा घन पिण्ड उपजता प्रतीतियों का विषय होरहा समझा जाओ। अर्थात्-स्थूल पदार्थों के संघात (सम्मिश्रण) से अल्पपरिमाणवाला घन पिण्ड उपज जाता है।

बड़े बड़े रूई के घनीभूत पिण्डों से जो छोटे छोटे घन पिण्ड उपजे हैं, उनको तो स्कंधभेद-पूर्वक ही कहा जायगा, सूक्ष्म मीमांसा करने पर प्रतीत होजाता है, कि वृक्ष में लगे हुये कपास के टेंटों को ओट कर कुछ बडे परिमाणवाली रुई उपज जाती है, रुई को देशान्तरों में भेजने के लिये पुनः दबाकर के घनी गांठ बना ली जाती है, गांठ को खोल कर पुनः फैला लिया जाता है, फैलो हुई रुई को पुनः तांत या दूसरे यंत्र से पीन कर फुला लिया जाता है, रुई के फूले हुये रेशों को बट कर सूत बनाने के लिये पुनः चरखा द्वारा ऐंठा जाता है, इस प्रक्रिया में कई बार छोटे से बड़े और बड़े से छोटे अवयव बनते रहे हैं, सुवर्ण के भूषणों को कई बार तोड़ फोड़ कर बनाने में भी छोटों से बड़े और बड़े से छोटे अवयव बनाने पड़ते हैं, तोल समान होते हुये भी गेंहू से गेंहू का चून अधिक स्थान को घेरता है, अतः छोटे अवयवों के संघात से जैसे बड़े अवयव की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी प्रकार बड़े अवयवी के विदारण से छोटे अवयवों या परमाणुओं की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेना चाहिये, सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये "भेदादणुः" इस सूत्र में उसी सिद्धान्त का ही तो प्रतिपादन किया गया है, जो कि बड़े पिण्ड के छेदन, भेदन, से छोटे अवयव का उत्पाद होना जगत्प्रसिद्ध है।

विवादापन्नोवयवी स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धोवयवित्वात् पटवदिति यैरुक्तमनुमानं ते वदान्त्यवदर्मापि विवादगोचराः सूक्ष्माः स्थूलभेदपूर्वकाः सूक्ष्मत्वात् पटखण्डादिवदिति। घनकर्पासपिंडेन सूक्ष्मेण शिथिलावयवकर्पासपिंडसंघातारब्धेन सूक्ष्मत्वस्य हेतोर्व्यभिचारान्नैवं वदंतीति चेत्, समानमन्यत्र तेनैव स्वपरिमाणान्महापरिमाणकारणारब्धेनावयव-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वस्य हेतोर्व्यभिचारात् । यथैव हि शिथिलावयवकर्पासपिंडानां सतां समुज्जायमानो घनावयव-कर्पासपिंडः सूक्ष्मो न स्थूलभेदपूर्वकस्तथा स एव तेषां स्थविष्ठानां संयोगविशेषादुज्जायमानो घनावयवः स्वपरिमाणादनणुपरिमाणकारणारब्धः प्रतीतिविषयः । ततो नाप्तोपज्ञाद् नियम-कल्पनमिति यथा सूत्रोपपादितं तथैवास्तु ।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण इस प्रकार है कि विवाद-ग्रस्त होरहा अवयवी (पक्ष) स्वकीय परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारणों से बनाया गया है, (साध्य) अवयवी होने से (हेतु) पट के समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार जिन वैशेषिकों ने अनुमान कहा था वे इस अनुमान को भी प्रसन्नता पूर्वक स्पष्ट बोल देवें, मन में कोई भ्रम नहीं करें कि जैनों के निर्णीत और नैयायिकों के यहां विवाद के विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्थूल अवयवियों के छिद, भिद, जाने को पूर्ववर्त्ती कारण मान कर उपजे हैं, (साध्य) सूक्ष्मपन होने से या अवयवपन होने से (हेतु) पट के टुकडे या घट की ठिकुच्ची अथवा गेंहू के चून आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस अनुमान को कहने में वैशेषिक यदि यों विचार करें कि ढिल्लक ढिल्ले अवयव वाले रुई के पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से बनाये गये रुई के सूक्ष्म (छोटे) परिमाणवाले घने पिण्ड करके इस सूक्ष्मत्व हेतुका व्यभिचार आता है, अतः बलात्कार से स्वीकार कराये ये इस प्रकार अयुक्त दूसरे अनुमान को वैशेषिक नहीं कहते हैं । यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि तुम वैशेषिकों के कहे जा चुके अन्य पहिले अनुमान में भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, देखिये अपनी घनी गांठ के परिमाण से महापरिमाण वाले कारणों से बनाये गये उसी घनी रुई के पिण्ड करके अवयवित्व हेतु का भी व्यभिचार आता है, कारण कि जिस ही प्रकार कार्य के अव्यवहित पूर्व समय में उपादान कारण होकर सद्भूत होरहे ढीले बिखर रहे अवयव वाले रुई के पिण्डो का उपादेय होकर अच्छा उपज रहा घने अवयवों वाला रुई का पिण्ड सूक्ष्म परिमाणवान् है, वह छोटी रुई की गांठ बेचारी स्थूल अवयवी के विदारण को कारण मान कर नहीं उपज रही है, तिसी प्रकार उन शिथिल होरहे अति स्थूल कपासों के संयोगविशेषों से उपज रहा वही घन अवयववाला रुई की गांठ का पिण्ड बेचारा स्वकीय परिमाण से अनल्प (महा) परिमाण वाले कारणों से बनाया गया प्रतीतिओं का विषय होरहा है, तब तो तुम वैशेषिकों का पहिला कहा गया हेतु भी अनैकान्तिक हेत्वाभास है, तिस कारण सिद्ध होजाता है, कि "सूक्ष्मपरिमाणवाले कारणों से ही स्थूल परिमाण वाले कार्य बनते हैं, स्थूल परिमाण वाले कारणोंसे सूक्ष्म परिमाण वाले कार्य नहीं बनते हैं,यह वैशेषिकों द्वारा की गई नियमकी कल्पना कोई सर्वज्ञ आप्तके आद्यज्ञानका विषय नहीं है,अल्पज्ञ पुरुष दीन है त्रिलोक, त्रिकालमें अबाधित होरहे नियम का प्रतिपादन नहीं करसकते हैं, अतः सर्वज्ञ की परम्परा से प्राप्त होरहे उमास्वामी महाराजकृत सूत्र में जिस प्रकार भेद से अणु की उत्पत्ति कही गई है, और आचार्यों द्वारा उसमें जो समीचीन युक्तियां दी गई हैं, उसी प्रकार नियम की कल्पना करो ।

अर्थात्—भेद यानी विदारण से ही अणु उपजता है, यह पूर्व अवधारण करना अच्छा है। रूई की पंचमनी गांठ से जो छोटी इकमनी, दुमनी, गांठें तोड़ फोड़ कर बना ली जाती हैं वे अवयव तो भेद से ही उपजे हुये माने जायंगे वैशेषिकों की उत्पादविनाश-प्रक्रिया केवल फटाटोप दिखाना है उसमें रहस्य कुछ भी नहीं है, कपड़े को फाड़देने पर अव्यवहित उत्तर समय में झट खण्ड पट उपज जाता है। वहां अवयवों का भेद होते होते षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, परमाणुयें होकर पुनः परमाणुओं में क्रिया द्वारा द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि उपजकर खण्ड पट बना है, ऐसी शेखचिल्ली की सी कल्पनाओं में कोई प्रमाण नहीं है।

तथाहि—द्वयोः परमाणवोः संघातादुत्पद्यमानो द्विप्रदेशः स्कन्धः कश्चिदाकाशप्रदेशद्वयावगाही कश्चित् परमाणुपरिमाण एव स्यात्। द्वयणुकाभ्यां च स्वकारणादधिकपरिमाणाभ्यामुत्पद्यमानः कश्चिदाकाश-प्रदेशचतुष्टयावगाही महान्। कश्चित्पुनरेकाकाश-प्रदेशावगाही ततोणुरेवावगाहविशेषस्य नियमाभावात्।

"भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते, भेदादणुः" इन दो सूत्रों करके उमास्वामी महामना ने जो कहा है उसको पुनः स्पष्ट यों समझ लीजियेगा कि दो परमाणुओं के एकीभाव से उपज रहा दो प्रदेशों वाला द्वयणुक स्कन्ध कोई तो आकाश के दोनों प्रदेशों को घेर कर अवगाह कर रहा है और कोई दो परमाणुओं के मेल से बना द्वयणुक एक परमाणु के बराबर परिमाण का धारी होकर आकाशके एक प्रदेश में ही ठहर रहा है यहां तक कि अनन्त परमाणुओं का समुदाय या बद्ध पिण्ड भी एक परमाणु बराबर होकर आकाश के एक प्रदेश में समा जाता है, हां एक परमाणु दो प्रदेशों पर नहीं ठहर सकती है।

तथा अपने कारण होरहे परमाणुओं के प्रत्येक के परिमाण से अधिक परिमाण वाले दो द्वयणुकों से उपज रहा कोई कोई चतुरणुक तो आकाश के चारों ही प्रदेशों पर अवगाह करता सन्ता महान् है और कोई चतुरणुक फिर आकाश के एक प्रदेश में ही अवकाश कर लेता है कभी कभी ऐसा होजाता है कि दो दो प्रदेशों पर बैठे हुये दो द्वयणुकों से एक चतुरणुक महान् स्कन्ध उपज गया वह केवल आकाश के एक प्रदेश पर ही अवस्थान कर लेता है। अतः अपने यानी चतुरणुक के परिमाण से उसके कारण द्वयणुक का परिमाण अधिक या भी कहा जा सकता है। संयुक्त या बद्ध अनन्तानन्त परमाणुयें भी एक, दो, तीन, संख्यात असंख्यात, प्रदेशों पर ठहर जाती हैं यह बात अवश्य है कि तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरें या नौ परमाणुयें चार प्रदेशों पर ठहरेंगी तो डेढ़ डेढ़ परमाणु एक एक प्रदेश पर या सवा दो, सवा दो परमाणुओं का एक एक प्रदेश पर ठहरने का ठीक बांट नहीं कर देना चाहिये अखण्ड परमाणुयें पूरे एक प्रदेश को घेरेंगी नौ परमाणुयें यदि अबद्ध होकर दो प्रदेशों पर ठहरेंगी तो एक प्रदेश पर एक और दूसरे प्रदेश पर शेष आठों ही या एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर शेष सातों अथवा एक प्रदेश पर तीन और दूसरे प्रदेश पर शेष छह एवं एक प्रदेश पर चार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और दूसरे प्रदेश पर पांव यों इसी ढंग से ठहर सकेंगी, परिपूर्ण परमाणु एक प्रदेश से न्यून स्थल पर जैसे नहीं ठहर पाती है उसी प्रकार स्व एक परमाणु के लिये नियत होरहे एक प्रदेश से अतिरिक्त दूसरे प्रदेश या उसके किसी भाग में भी अपना शरीर नहीं फैला सकती है । अतः संघात से उत्पन्न हुआ अवयवी अधिक से अधिक अपने कारण माने गये परमाणुओं की संख्या बराबर प्रदेशों में ठहर जाय अवयवी के किसी एक प्रदेश में ही ठहर जाय क्योंकि प्रदेश के लक्षण में " सव्वाणुट्ठाणदाण रिह " पद पड़ा हुआ है । जगत् की सम्पूर्ण परमाणुओं को एक ही प्रदेश अवकाश दे सकता है यों कोई विशेष नियम करना तो ठीक नहीं है कि उन स्वकीय कारणों के अवगाह से छोटा ही कार्य का अवगाह स्थान होय जब कि जितने परमाणुओं के संघातसे स्कंध उपजता है उन परमाणुओं की संख्या बराबर प्रदेशोंमें और उसके स्वल्प प्रदेशोंमें भी स्कन्ध रहसकता है,लोकाकाशमें ही पुद्गल ठहरते हैं ।

मार्गदर्शक :

अतः परमाणुओं की गणना असंख्यात तक पहुंच जावेगी किन्तु परमाणुओं की अनन्तानन्त संख्या तो लोकाकाश के प्रदेशों से बहुत बढ़ जाती है, भलें ही अलोकाकाश के प्रदेश सम्पूर्ण पुद्गल परमाणुओं से अनन्तानन्त गुणे हैं, किन्तु अलोकाकाश में एक भी परमाणु नहीं है । खेद है, जहां स्थान है, वहां अवगाह करने योग्य द्रव्य नहीं है, और जहा अनन्तानन्त द्रव्यें भरी पड़ी हैं, वहां उनको फैल फूट कर रहने के लिये परिपूर्ण स्थान नहीं है, हां निर्वाह तो सबका सर्वत्र हो ही जाता है, अथवा इस पंक्ति का यों अर्थ कर लिया जाय कि अपने यानी स्वयं द्वयणुकों के कारण होरहे अणूपरिमाण वाले परमाणूओं से अधिक परिमाण वाले दो द्वयणूकों से उपज रहा कोई चतुरणूक तो आकाश के चारों प्रदेशों में अवगाह करने वाला समचतुरस्र उपजेगा अर्थात्–छह पैलू घन चौकोर चार वरफियों को सटा कर समभाग में धर दिया जाय उसी आकृति के समान चार अणूओं के बने चतुः प्रदेशी चतुरणूक का संस्थान है, या तल ऊपर चार वरफियां का धर दिया जाय अथवा दो वरफियों के ऊपर पुनः दो वरफियां धर दी जावें एवं एक से एक वरफी को मिला कर सम प्रदेश में लम्बा बिछा दिया जाय इन आकृतियों के समान चतुप्रदेशी स्कन्ध का आकार है, गोल कुआ या अधगोल नाली को बनाने के लिये सपाट ईंटों को गोलाई के उपयोगी स्वल्प छील लिया जाता है, या कुछ गोलाई का लिये हुये ईंटें ही प्रथम से वैसे ही सांचे में ढाल ली जाती हैं । किन्तु परमाणुओं की नोकें कालत्रय में भी किसी अनन्तबलशाली जीव या पैनी छैनी करके भी घिसी नहीं जा सकती हैं, अतः परमाणुओं के गोल या नौकोले पिण्ड में परमाणुओं की नोकें अवश्य रहेंगी स्पर्शन इन्द्रिय या चक्षुसे अतीन्द्रिय परमाणुओं की नोकें टटोई या देखी नहीं जाती हैं, फिर भी अतीन्द्रिय-दर्शी विद्वान् सर्वावधि या केवलज्ञान से गोल तिकोने, पंच कोने, आदि पिण्डों में उभर रहीं परमाणुओं के एक प्रदेशी पैल को स्पष्ट देख लेते हैं, "अनादिअत्तमज्झं अत्तन्तं णेव इंदिये गेज्झं" यह सिद्धान्त बेचारा सूक्ष्म गवेषणा में सम-चतुरस्र परमाणुओं के कोनों के सद्भाव का विघात नहीं कर पाता है, एक प्रदेशी परमाणु के निरंशपन की प्रशंसा उसके ऊपर नीचे के भागों का नहीं बतावेगी अथवा परमाणु करके बड़े स्कन्ध का अनना

असंभव होजायगा अतः किसी चतुरणुक का यों उक्तप्रकार चार प्रदेशोंमें ठहरना सिद्ध होजाता है,तथा कोई कोई चतुरणुक फिर आकाशके एक ही प्रदेशमें अवगाह कर रहा सन्ता उस चार प्रदेशों में ठहरने वाले चतुरणुक से छोटा अणु परिमाणवाला ही है। अवगाह के विशेषों का कोई नियम नहीं है, चार अणुओं का चतुरणुक स्कन्ध भले ही एक प्रदेश में रह जाय दो तीन, या चार प्रदेशों में भी ठहर जाय, हां पांच, छः, आदि अधिक प्रदेशों में नहीं ठहर सकता है।

स्वकीय परमाणु संख्या से अधिक प्रदेशों में नहीं ठहरने का नियम है, क्योंकि एक परमाणु दो या तीन प्रदेशों में अपने पांव नहीं फैला सकती है, किन्तु सूक्ष्मत्व गुण के योग से एक परमाणु के स्थान में अनेक परमाणुऐं घुस कर अपनी संख्याते न्यून प्रदेशों में ठहर जाती हैं, आकाश के एक प्रदेश में य द द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि कोई भी स्कन्ध ठहर जाय तो वह अणु कहा जा सकता है, उसे परम अणु नहीं कह सकते हैं, अप्रदेश, अखण्ड, एक शुद्ध पुद्गल द्रव्य को ही परमाणु कहा जाता है, परम शब्द का अर्थ अन्तिम, सब से छोटा एक निरंश अवयव है, वैशेषिक पण्डित केवल परमाणु और द्वयणुकों में ही अणुपना बखानते हैं, यह प्रशस्त नहीं है, साथ ही वे मूर्त कई परमाणुओं का एक प्रदेश में ठहरने का विरोध स्वीकार करते हैं, "मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्" ऐसी दशा में अनन्तानन्त परमाणुयें, अनन्त स्कन्ध, अनन्त मन, अनन्त अवयवी, ये बेचारे असंख्यात प्रदेशी लोक में किस प्रकार ठहरेंगे ? गम्भीर प्रश्न के उत्तरदायित्व को वे नहीं झेल सकते हैं।

तथा शताणुकावयविभेदादुत्पद्यमानोऽवयवी कश्चित्सूक्ष्मः स्तोकाकाशप्रदेशावगाहित्वात्। कश्चित्तत एवाल्पाकाशप्रदेशावगाहमल्पाद्बह्वाकाशप्रदेशावगाहित्वान्महान्।

जिस प्रकार अणुओं या स्कन्धों के संघात से उपजे हुये स्कन्धों का आकाश प्रदेशों में अवगाह होरहा यथायोग्य निर्णीत किया है, उसी प्रकार स्कन्धों के भेद से उपजे हुये अवयवी या परमाणुओं का आकाश के प्रदेशों में यथायोग्य अवगाह होजाना समझ लिया जाय, देखिये सौ परमाणुओं से बने हुये शताणुक नामक अवयवी का विदारण होजाने से उपज रहा कोई कोई अवयवी तो उस शताणुक से छोटा परिमाण वाला होगा क्योंकि आकाश के स्वल्प प्रदेशों में वह टुकड़ा स्थान पा रहा है, यदि शताणुक ने बीस प्रदेश घेरे तो उसके दो टुकड़े होकर बने पचास, पचास,अणु वाले दो टुकड़ों ने दस दस प्रदेशोंमें स्थान पालिया। या सौ प्रदेश वाले शताणुक के टुकड़े पचास पचास प्रदेशों में ठहर गये, अस्सी, बीस, अणुओं वाले टुकड़े अस्सी बीस प्रदेशों में ठहर जांयगे। और कोई कोई टुकड़ा स्वरूप अवयवी तो आकाश के अल्प प्रदेशोंमें अवगाह को धार रहे उस ही छोटे अवयवी से आकाश के बहुत प्रदेशों में अवगाह धारने वाला होने के कारण महान् होजाता है।

अर्थात्–यदि शताणुक अवयवी ने आकाश के दश प्रदेशों को घेरा है, तो शताणुक के भेद से बन गये दो पंचाशत् अणुक अवयवियों करके आकाश के बीस, बीस प्रदेश भी घेरे जा सकते हैं।

अथवा दस प्रदेशों में समा रहे शताणुक के पंचविंशति प्रदेशी चार टुकड़े पुनः पच्चीस पच्चीस प्रदेशों को भी घेर कर सानन्द विराजते हैं. ठिगनी माता के पुत्र उससे लम्बे, चौड़े, शरीर वाले होसकते हैं, कोई बाधा नहीं है, छोटी कण्डे की कस्सी से बीसों गज लम्बा, चौड़ा, धुंआ निकल पड़ता है, रूई की गांठ के टुकड़ों को पीन कर दसों गज में फैला दिया जाता है, छोटी मकड़ी के उदरस्थ कारण से बड़ा जाला बन जाता है, अतः अल्प परिमाण वाले अवयवी के टुकड़े अपने जनक के अधिकृत स्थान से अधिक स्थान पर भी अपने पांव फैला देते हैं, अवकाश के विशेषों का कोई नियम नहीं है. जब कि इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के पांचसौ छब्बीस और छः बटे उन्नीस योजन आकाश में इससे कई गुनी बादर बादर भूमि समा सकती है, तो फिर एक अवयव के स्थल में अनेक अवयवों का ठहर जाना कोई चमत्कारक नहीं है, अवगाह देना स्वरूप उपकारकत्व को धार रहे आकाश में छःऊ द्रव्य एक दूसरे को अवकाश देने के लिये सतत सन्नद्ध रहते हैं. मानो वे सम्पूर्ण प्राणियों को निः स्वार्थ अतिथि सत्कार करने के लिये शिक्षा दे रहे हैं, छोटी मुर्गी के अपत्य बड़े मुर्गे के समान ही छोटे अवयवी के विदारण करके महान् परिमाण स्कन्ध उपज जाता है, पदार्थों की शक्तियां विचित्र हैं।

एवमेवैकसमयिकाभ्यां भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानोपि स्कंधः कश्चित्स्वकारणपरिमाणादधिकपरिमाणः कश्चिन्न्यूनपरिमाण इति सूक्तमुत्पश्यामो दृष्टविरोधाभावात् प्रतीयते हि तादृशः।

संघात अथवा भेद से उपज गये अवयवियों के अवगाह का विचार जैसे कर दिया है, इस ही प्रकार तीसरे कारण माने गये एक ही समय में होने वाले भेद और संघात दोनों से उपज रहा स्कन्ध भी कोई कोई तो अपने कारण के परिमाण से अधिक परिमाण वाला होजाता है, और कोई कोई स्कन्ध अपने कारण से न्यून परिमाण वाला होकर उपज जाता है, भावार्थ-दस प्रदेशों में ठहर रहे एक शताणुक स्कन्ध में से चार प्रदेशों में स्थित दशाणुक पिण्ड का विदारण होजाने से और दश प्रदेशों में ठहर रहे दूसरे विंशत्यणुक पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से उपजा एकसौ दश अणुओं वाला अवयवी अपने जनक कारणों के सोलह प्रदेशी या बीस प्रदेशी स्थान से अधिक एक सौ दश प्रदेशों को भी घेर कर ठहर सकता है, अथवा एक सौ दश अणुओं का स्कन्ध दश, आठ आदि स्वल्प प्रदेशों में भी अवगाह कर लेता है, तथा अपने कारणों के परिमाण से समान परिमाण वाले क्षेत्र में भी समा सकता है। इस प्रकार सूत्रकार द्वारा बढ़िया कहे जा चुके "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते" इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक रहस्य को हम कई ढंगों से प्रसिद्ध होरहा देखते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से उक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है, जैसी वस्तु व्यवस्था प्रतीत होरही है, वैसा ही प्रयोग सूत्र कार द्वारा लिखा गया है, वैसा ही त्रिकाल त्रिलोक में अबाधित होकर प्रतीत होरहा है, प्रतीत पदार्थों में कुतर्कों की गति नहीं है।

यहां कोई जिज्ञासु मोठा प्रश्न उठाता है, कि जब संघात से ही स्कन्धों का आत्म-लाभ

होना सिद्ध होचुका है, और अणुओं की उत्पत्ति भेद से ही होरही कही जा चुकी है,ऐसी दशामें तीसरे उपाय माने गये भेद और संघात का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है, ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर उस एक समय में हुये भेद, संघात, दोनों से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने के ग्रहण का प्रयोजन समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

एक ही समय में हुये भेद और संघात से वह स्कन्ध चक्षु-इन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य होजाता है। अर्थात्- जो स्कन्ध प्रथम चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य नहीं था वह कुछ अवयव का भेद और कुछ अन्य अवयव के सघात से दर्शन विघातक सूक्ष्मपना को छोड़ता हुआ स्थूलता परिमाण के उपज जाने पर चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाता है, सूक्ष्म परिणत स्कन्ध का अन्य स्कन्धों के साथ संघात होजाने से तो आंखों द्वारा दीखना ना प्रसिद्ध ही है. किन्तु सूक्ष्म स्कंध के कुछ अवयवों का विदारण होजाना और उसी समय स्थूलता या दृश्यता के सम्पादक अन्य अवयवों का मिश्रण होजाने से उपजी स्थूल पर्याय को आंखों से देख लिया जाता है, सूक्ष्म का भेद होजाने से चक्षु-उपयोगी स्थूलता नहीं उपज सकती है, प्रत्युत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होजायेगा, अतः सूक्ष्म को चाक्षुष बनाने के लिये इस सूत्र करके कहा गया उपाय प्रशंसनीय है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भेदात्संघाताद्भेदसंघाताभ्यां च चक्षुर्ज्ञानग्राह्यावयवी कश्चित् स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चिन्महापरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चित्समानपरिमाणकारणारब्धस्तद्वद्दृष्टोपि स्याद्बाधकाभावात्। तदाहुः।

केवल विदारणसे या अकेले संघातसे अथवा भेद और संघात दोनोंसे उपज रहा नेत्र इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य अवयवी कोई कोई तो अपने (अवयवी कार्य के) परिमाण से छोटे परिमाण वाले कारणों को पूर्ववर्त्ती उपादान कारण मानकर होजाता है, और कोई चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य होरहा अवयवी अपने परिमाण से अधिक परिमाण वाले कारणों को पूर्ववर्त्ती उपादान कारण लेकर उपज जाता है, तथा तीसरी जाति का कोई अवयवी अपने समान परिमाण वाले ही उपादान कारणों से आरब्ध होजाता है, यानी आकाश के सौ सौ प्रदेशों को घेर रहे तीन शताणुकों के संघात से उपज रहा त्रिशताणुक अवयवी बेचारा आकाश के सौ प्रदेशों में ही तिष्ठ जाता है, तीनसौ में भी विराजता है। अर्थात्-भेद से जो अवयवी उपजा है, वह अपने कारणों के परिमाण से न्यून परिमाण को घेरे यह तो ठीक ही है, किन्तु भेद से उपजा अवयवी (परमाणु द्वयणुक आदि कतिपय छोटे अवयव नहीं) अपने कारणों के परिमाण से अधिक परिमाण या समान परिमाण वाले स्थान को घेर कर भी ठहर जाता है, यों भेद से उपजे हुये अवयवी में भी अवगाह के तीनों ढंग लागू होजाते हैं। इस प्रकार संघात से उपजा अवयवी अपने कारणों से

अधिक परिमाण वाला होय यह तो उचित ही है, किन्तु अवगाहना शक्ति अनुसार वह संघात-जन्य अवयवी अपने कारणों के परिमाण से न्यून परिमाण और सम परिमाण वाले प्रदेशों में भी सानन्द निवास करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथैव भेद और संघात दोनों से उपज रहा अवयवी अपने कारणों के परिमाण के समान परिमाण का धारी भले ही होय किन्तु भेद-संघात-जन्य अवयवी स्वकीय कारण परिमाण से अधिक और न्यून होरहे आकाश प्रदेशों में भी ठहर जाता है, जब कि एक उत्सज्ञा संज्ञा नामक छोटा अवयवी भी फैलना चाहे तो तीनों लोकों में बिखर जाता है, तब भी लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुओं के ठहरने का बांट आता है, तथा तीनों लोक की सम्पूर्ण अनन्तानन्त अणुयें भी एक प्रदेश में समा सकती हैं, तो फिर उक्त तीनों कारणों करके जन्य अवयवियों की स्व कारणों के अधिकरण-स्थल से न्यून, अधिक, और सम प्रदेशों, में तीन प्रकार से ठहर जाना असंदिग्ध हो जाता है।

जिस प्रकार अवयवियों के उपजने और ठहरने की व्यवस्था निर्णीत है, उसी प्रकार वह भेद संघात दोनों से उपज रहा अवयवी चक्षुः इन्द्रिय द्वारा देखा जा चुका है, क्योंकि बाधक प्रमाणों का अभाव है। बात यह है कि जगत् के अनन्तानन्त अवयवियों का अनन्तवां भाग नेत्रों द्वारा देखने योग्य है, चक्षु इन्द्रिय से देखे जाने में विषय होरहे अवयवी की विशिष्ट रचना होजाना आवश्यक है, अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र के लिये सामग्रीकी योजना विशेष रूप से करनी पड़ती है, नेत्र द्वारा ज्ञान करने में भ्रान्ति के कारण भी अनेक विघ्न उपस्थित होजाते हैं तभी तो भिन्न भिन्न ढंगों के उपनेत्र चश्मे) द्वारा मनुष्य छोटे बड़े पदार्थोंको बड़ा छोटा या चमकदार देखलेते हैं,दुरबीन सूक्ष्मबीन आदि नेत्र सहायक यंत्रों से हुये ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर कुछ भागों में भ्रांति रूप निर्णीत होते हैं किन्तु वे ज्ञान विवेकी जीव को सम्यग्ज्ञान की ओर ले पहुंचाते हैं। सिनेमा में चित्रपट देखना या अन्य प्रतिबिम्बों (तसवीरों)का देखना भी भुलावा देते देते विचारशील पुरुषको समीचीन प्रतीति करा देता है, शेष स्थूल-बुद्धि पुरुषों या रागी को उनके द्वारा भ्रान्तिज्ञान बने रहने में ही बड़ा आनन्द आतारहता है। चक्षु इन्द्रिय से किस किस प्रकार विषय का ग्रहण होता है, इस विषय का एक बड़ा भारी पोथा बन सकता है। प्रकरण में सूत्र द्वारा आचार्य महाराज ने भेद संघातों से बने हुये विशेष अवयवी का चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाना कह दिया है, उसीको और भी स्पष्ट करके श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे हैं।

चाक्षुषोवयवी कश्चिद्भेदात्संघाततो द्वयात्।
उत्पद्यते ततो नास्य संघातादेव जन्मनः ॥ १ ॥

कोई कोई अवयवी तो भेद और संघात दोनों से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य उपज जाता है, तिस कारण इस चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य अवयवी का केवल संघात से ही जन्म होना हम स्याद्वा-

दियों के यहां नहीं माना गया है। अर्थात्-संघात से अचाक्षुष पदार्थ का चाक्षुष अर्थ उपज जाय, इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु भेद और संघात दोनों से भी अचाक्षुष प्रथ चाक्षुष अर्थ होजाता है। हां राज-
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री. सुविधिसागर जी महाराज
वार्त्तिक में केवल भेद से चाक्षुष होना नहीं इष्ट किया है। इस कारिकामें "भेदसंघातद्वयात्" ऐसा पद नहीं कहा है, किन्तु "भेदात् संघातात्, द्वयात्,, इस प्रकार तीनपद न्यारे न्यारे कहे हैं, इससे यह भी श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज का अभिप्राय ध्वनित होता है, कि तीनों स्वतंत्र कारणों से अचाक्षुष का चाक्षुष अर्थ बन जाता है, विज्ञान (साइंस) का सिद्धान्त है, कि किन्हीं किन्हीं दो गैसों के मिल जाने से बन गये पदार्थ का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है, हां उन मिली हुई गैसों का विदारण कर देने से उपजे पदार्थ का चक्षु से प्रत्यक्ष होजाता है। मोती या हीरा का विदारण कर देने से उसके भीतर का समल या निर्मल, अवयवी, टुकड़ दृष्टिगोचर होजाता है, कई अवयवियों के पिण्ड में मिल जुल रहे छोटे अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता था किन्तु उस पिण्ड का भेदन कर देने से वह अव्यक्त अवयवी व्यक्त दीख जाता है।

मूंग गेंहू उड़दों, में अन्य तुच्छ धान्य या कंकरियां मिल जाती हैं, या पुरानी मूंग आदि मिला दिये जाते हैं, चतुर ग्राहक ढेर में से थोड़े मुट्ठी भर धान्य को पृथक् कर गुप्त होरहे कूड़े, करकट को व्यक्त देख लेता है, सोने को घिस कर उसके अन्तरंग रूप को जांच लेते हैं, हल्दी, कत्था, सुपारी, बादाम को छिन्न. भिन्न. कर देख लिया जाता है। बात यह है, कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होरहे आम्रवृक्ष, केला आदि में यद्यपि पूरा एक एक जीव है, तथापि उनके छोटे छोटे टुकड़ों में भी वनस्पति कायिक जीव विद्यमान हैं, सचित्त का त्यागी आम्रवृक्ष से तोड़ लिये गये फल को नहीं खा सकता है, हां "सुवकं पवक उत्त" इत्यादि आगमोक्त प्रक्रिया से अचित्त होजाने पर अचित्त आमको खा लेता है, सिलोटिया और लुढ़िया से कच्चे आम की चटनी रगड़ने पर भी यदि बड़े बड़े अवयव रह जायंगे तो वे सचित्त ही समझे जायगे, हां अधिक वट (पिस) जाने पर अचित्त होसकते हैं।

त्याग की मीमांसा यह है, कि भले ही इन्द्रियसंयम को पालने वाला व्रती सूखे, पके, तपाये गये या तीक्ष्ण रस वाले पादार्थ से मिलाये गये और यंत्र द्वारा छिन्न किये गये अचित्त पदार्थ को नहीं खाय किन्तु इनको अचित्त ही माना जायेगा। इस प्रकार एक अवयवी में अनेक अवयवियों या अवयवों का सम्मिश्रण है, लड्डू में बादाम. पिस्ता, इलायची, काली मिर्च, सोना चांदी के वर्क, सालम मिश्री आदि द्रव्य डाल कर मिला दिये जाते हैं,सुन्दर वस्त्र में गोटा, सलमा, मोती, लगा दिये जाते हैं, कोरे कागजों पर स्याही लगा कर अक्षर लिखदिये जाते हैं. गृह में ईंट चूना लकडी, सोटें, किवाड़, सींकचा लगाये जाते हैं, इस प्रकार के संयुक्त एक एक अवयवी का विदारण होजाने से उनके अव्यक्त छोटे अवयवियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होजाना प्रसिद्ध है, खांड के डेल, गुड़, आदि बद्ध अवयवी में क्वचित् यही व्यवस्था देखी जाती है, तथा संघात और भेद संघात दोनों से चाक्षुष अवयवी का उपज जाना कह दिया गया है, अतः संघात से ही चाक्षुष होने का अवधारण करना चाहिये।

पटादिरूपव्यतिरेकेण चतुर्बुद्धावप्रतिभासमानोवयवी कथं चाक्षुषो नाम ? गंधादेरपि चाक्षुषत्वप्रसंगादिति चेन्न, पटाद्यवयविन एव चक्षुर्बुद्धौ प्रतिभासनात् । तद्व्यतिरेकेण रूपस्य तत्राप्रतीतेर्गंधादिवत् ।

यहां कोई बौद्ध या वैशेषिक का एक-देशी पण्डित आक्षेप करता है कि चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में पट, पुस्तक, आदि के रूप के सिवाय अन्य कोई भी अवयवी नहीं प्रतिभास रहा है, ऐसी दशा में वह असत् अवयवी भला किस प्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा उपजे हुये ज्ञान का विषय होसकता है ? बताओ । यों तो गन्ध, रस, आदि का भी चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाने का प्रसंग आजावेगा यानी रूप या रूप जातीय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी यदि नेत्रों से प्रतिभास होने लगे तो गन्ध, स्पर्श, आदिक का भी नेत्र से ही प्रतिभास होजावेगा, नेत्र के अतिरिक्त शेष चार, पांच, अतीन्द्रिय इन्द्रियों की कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घट, पट, आदि अवयविमें ही अक्षुरादीन्द्रियजन्यचाक्षुषप्रत्यक्षमें प्रतिभास होरहा है, उन पट आदिक से सर्वथा व्यतिरिक्तपने करके रूप की उस स्थल में प्रतीति नहीं हो रही है । जैसे कि फूल इत्र कस्तूरी, आदि सुरभि स्कन्धों के अतिरिक्त गन्ध की या मोदक, पेड़ा, इमरती, आदि रसीले पदार्थों से भिन्न कोई रस आदि की प्रतीति नहीं होती है । तभी तो गन्ध या रस के प्राप्त करने की अभिलाषा प्रवर्तने पर गन्धवान्, रसवान् पदार्थ ही लाये जाते हैं । भावार्थ—भोजन करने के लिये केवल मुख ही नहीं चौका में भेज दिया जाता है, किन्तु तदभिन्न पूरा शरीर ले जाना पड़ता है । एक अंग या उपांग की ही अभिलाषा जागृत होने पर पूरे अंगी को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है । अंगी से अंग अलग नहीं है । अनेक लोभी या तुच्छ मितव्यय की कोरी डींग मारने वाले पुरुष अपने शिक्षक गुरु के अकेले ज्ञान को ही अपने निकट बुलाना चाहते हैं । शिक्षक की आत्मा के अन्य गुण या गुरु के भोजन, वसन, बाल गोपाल आदिक को वे लोभी लक्ष्यमें नहीं रखना चाहते हैं, हितोपदेशक को भोजन कराने में भी उनका कंजूस हृदय संकुचित होजाता है, हमें तो गुरु के ज्ञान से ही प्रयोजन है, अन्य गुणों या अंगोंका आदर,सत्कार,पुरस्कार,क्यों किया जाय ? ऐसा वे अविनीत, अशिष्ट, कृतघ्न, लोभी पुरुष विचार कर लेते हैं " धिक् एतादृशं " । लेखनी का पांचसौमां अग्रवर्त्ती भाग केवल लिखने में उपयुक्त है । किन्तु पूरी एक वितस्त की लेखनी थामनी पड़ती है । प्रति दिन के सैकडों कार्यों में शरीर के छोटे छोटे सैकड़ों अवयव ही न्यारे न्यारे कार्य कर रहे हैं, लेखक, सुनार, सूजी, रसोइया, पल्लेदार अध्यापक, चिट्ठीरसा, मल्ल,सैनिक, आदि पुरुषोंके न्यारे न्यारे अंग,उपांग विशेषतया कार्य करते रहते हैं । कितने ही शरीर के अवयव तो ऐसे हैं जो जन्म भर में एक वार भी काम में नहीं आते हैं, एतावता अखण्ड अंगीका तिरस्कार नहीं कर दिया जाता है । प्रकरण में यह कहना है कि केवल अवयवी से सर्वथा अतिरिक्त मान लिये गये रूप रस, गंध, स्पर्श, आदि की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होतीं है ।

चक्षुर्वृत्तौ रूपं प्रतिभासते न पुनस्तदभिन्नोवयवीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं रूपादिभिन्नोवयवी रूपमेव न स्यादिति चेत् तस्य ततः कथंचिद्भेदात् । न हि सर्वथा गुण-गुणिनोरभेदमात्रमाचक्ष्महे प्रतीतिविरोधात् पर्यायार्थनस्तयोर्भेदस्यापि प्रतीतेः । सर्वथाऽभेदे तयोर्भेद इव गुणगुणिभावानुपपत्तेः गुणस्वात्मवत्कुटपटवच्च ।

चक्षुः इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में अकेला रूप ही प्रतिभासता है किन्तु फिर उससे अभिन्न होरहा अवयवी नहीं दीखता है, इस प्रकार कहने वाले मूर्ख पण्डित को कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? मूर्छित पुरुष ही ऐसी पूर्वापर विरुद्ध बातों को बकता है। यदि वह पण्डित यों कहे कि रूप से अभिन्न होरहा अवयवी तो रूप ही क्यों नहीं होजायगा ? अतः रूप का दर्शन उस अवयवी का ही दर्शन समझ लिया जाय। यों कहने पर आचार्य कहते हैं कि उस रूपी अवयवीका उस अकेले रूप गुण से कथंचित् भेद है सर्वथा अभेद नहीं है, हम गुण और गुणीके केवल सर्वथा अभेद को नहीं बखान रहे हैं। ऐसा व्याख्यान करने में तो प्रतीतियोंसे विरोध आता है ।

सत्य बात यह है कि पर्यायों को जानने वाली पर्यायार्थिक नय अनुसार विचारने से उन गुण और गुणी का भेद भी प्रतीत होरहा है। कच्चे घड़े को पका देने पर उसी घड़े की श्यामता का नाश होकर रक्तता का उत्पाद होजाता है, रूप, रस, आदि के क्रमसे हुये अनेक ज्ञान नष्ट होते रहते हैं। किन्तु ज्ञाता, स्मर्ता, प्रत्यभिज्ञाता आत्मा वह का वही बना रहता है। यदि गुण और गुणीका सर्वथा अभेद मान लिया जायगा तो सह्य विंध्य, मल्ल प्रतिमल्ल, स्वर्ग नरक, आदिक सर्वथा भिन्न होरहे पदार्थों के सर्वथा भेद पक्ष में जैसे इनका गुण गुणी भाव नहीं बनता है। उसी के समान सर्वथा अभेद पक्ष में भी रूप और रूपवान्का गुणगुणीभाव नहीं बन सकता है, देखो गुण और उससे सर्वथा अभिन्न होरही गुण की आत्मा (स्वरूप) में गुण गुणी भाव नहीं है तथा सर्वथा भिन्न होरहे घट और पट में भी गुणगुणीभाव नहीं माना गया है इन्हीं के समान अन्य भी सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न पदार्थों में स्वभाव स्वभाववान्पना या गुणगुणीपना नहीं घटित होसकेगा।

तत्र द्रव्यार्थिकप्राधान्याद्द्रव्यस्वरूपादभिन्नत्वाद्रूपस्य चाक्षुषत्वे द्रव्यस्य चाक्षुषत्वसिद्धिः स्पृश्यादभिन्नस्य स्पर्शस्याभावात्तत्र स्पार्शनत्वसिद्धिरिति चेत् पर्यायार्थिकप्राधान्याच्च द्रव्याद्भेदेपि रूपस्येव द्रव्यस्यापि चाक्षुषत्वोपगमान्न तस्याचाक्षुषत्वं, नाप्यस्यास्पर्शनत्वं स्पर्श-स्येव तद्द्रव्यस्य स्पार्शनत्वप्रतीतेः । न च दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यमिति द्वींद्रियग्राह्यं द्रव्यमुप-गम्यते तस्य घ्राणरसनश्रोत्रमनाग्राह्यत्वेनापि प्रसिद्धेः ।

उस गुण गुणी स्वरूप वस्तु में द्रव्यार्थिक दृष्टि की प्रधानता अनुसार द्रव्य स्वरूप से अभिन्न होजाने के कारण रूप यदि चाक्षुष माना जायेगा तो साथ ही तदभिन्न द्रव्य को भी चाक्षुषपने की सिद्धि होजाती है । यदि यहां कोई वैशेषिक पण्डित यों कटाक्ष करे कि छूने योग्य स्पृश्य द्रव्य से अभिन्न होरहे स्पर्श का अभाव है, द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न है अतः उस वस्तु में स्पर्श के तो स्पर्शन

इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाने की सिद्धि होजाती है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से द्रव्य से भेद होने पर भी रूप के समान द्रव्य का भी चाक्षुषपना अभी स्वीकार किया गया है। अतः द्रव्यार्थिक विषय के समान पर्यायार्थिक विषय से भी द्रव्य को चाक्षुषपना है, उस रूपवाले द्रव्य का अचाक्षुषपना नहीं है और इसी प्रकार द्रव्य को स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा गोचर होजाने का निषेध भी नहीं है द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक नय अनुसार स्पश को जैसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपना है उसी प्रकार उस स्पर्शवाले द्रव्यका भी स्पार्शनपना प्रतीत होरहा है।

बात यह है कि वैशेषिक पण्डित द्रव्यों के बहिरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष में रूप को कारण मानते हैं। " रूपमत्रापि कारणं द्रव्याध्यक्षे " प्राचीन वैशेषिक वायु द्रव्यका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, विजातीय स्पर्श करके विलक्षण शब्द करके, तृण आदिकों का उड़ कर अधर डटे रहने से और शाखा, पत्ते, वस्त्र, आदिके कम्प करके वायु का अनुमान कर लिया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन वैशेषिक पण्डित रसना इन्द्रिय की और घ्राण इन्द्रिय की द्रव्य के ग्रहण करने में सामर्थ्य नहीं मानते हैं नाना जाति के रस वाले अवयवों करके बनाये गये अवयवी को वे नीरस स्वीकार कर लेते हैं, उस अवयवी में अवयवों के रस का ही रासन प्रत्यक्ष होता है।

हां नवीन वैशेषिक वायु का प्रत्यक्ष मान लेते हैं, अनेक रस वाले अवयवों से उपजे हुये अवयवी में चित्र रस मानने के लिये भी वे उद्युक्त हैं, इत्यादिक वैशेषिकों का समस्या बड़ी विषम है। " उद्भूत स्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः, रूपान्यच्चक्षुषोग्राह्यं " यों कह नवीन वैशेषिकों ने रूप और स्पर्श गुण तथा रूपवान् और स्पर्शवान् द्रव्यों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होजाना अभीष्ट कर लिया है किन्तु इतना लक्ष्य रहे कि द्रव्य को केवल चक्षुः इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय से ही ग्रहण करने योग्य नहीं स्वीकार कर लिया जाय यानी चक्षु इन्द्रिय-जन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होरहा दार्शन और स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा स्पार्शन यों केवल दो ही इन्द्रियों करके ग्रहण करने योग्य नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि उस पुद्गल द्रव्य को नासिका, जिह्वा, कान और मन इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्यपन करके भी प्रसिद्धि होरही है अतः वैशेषिकोंका एकान्त प्रशंसनीय नहीं है।

रूपादिरहितस्य द्रव्यस्येव द्रव्यरहितानां रूपादीनां प्रत्यक्षाद्यविषयत्वादसर्वपर्यायाणां मतिश्रुतयोर्विषयत्वव्यवस्थापनात्।

जैन सिद्धान्त अनुसार गुण और गुणी में कथंचित् अभेद है, गुणों से रहित होकर केवल गुणी का सद्भाव असम्भव है, वैशेषिको ने आद्य क्षण में अवयवों का गुणरहित उपजना स्वीकार किया है यह मन्तव्य सर्वथा पोच है तथा गुणी द्रव्यके विना अकेले गुणों का निवास करना भी उस ही प्रकार असम्भव है। तभी तो रूप, रस, आदिक से रहित होरहे द्रव्य का जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा गोचर होजाना नहीं अभीष्ट किया है। उसी के समान द्रव्य से रहित होरहे केवल रूप आदि गुणों का भी किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ग्रहण नहीं होजाना माना है, आश्रय के विना रूप

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदिक गुण बेचारे कहां ठहर रहे जाने जासकते हैं ? द्रव्य के प्रत्यक्ष में जैसे रूप आदिकों का सहितपना वैशेषिकों के यहाँ आवश्यक है। उसी प्रकार रूप आदिकों के प्रत्यक्ष में भी उनके अधिकरण होरहे द्रव्यों का साथ ही अवलोकन होजाना अपेक्षणीय है। यदि कोई यहां यों तर्क करें कि दीपक ओट में रखा रहता है उसकी प्रभा दीख जाती है, कुटकी परोक्ष में दूर कुटती रहती है फिर भी उसके रस का प्रत्यक्ष होजाता है, शीशी के इत्र का प्रत्यक्ष नहीं होजाने पर भी उसकी फैली हुई सुगन्ध सूंघ ली जाती है, दूरवर्त्ती अग्नि आदि के स्पर्श को छू लिया जाता है।

इस पर जैनों को यह कहना है, कि वस्तुतः गवेषणा की जाय तो दीपक अपनी कलिका-शरीर में ही निमग्न है, प्रभा या प्रकाश के उपादान कारण तो घर या चौके में फैल रहे पुद्गल स्कन्ध हैं, सूर्य या दीपक तो प्रकाश के निमित्त मात्र हैं. इसी प्रकार दूर वर्त्ती नैमित्तिकों अनुसार इन्द्रियों के निकटवर्त्ती पुद्गल स्कन्ध ही कड़वे, सुगंधित, उष्णस्पर्शवाले, परिणत होगये हैं, अतः जब कभी रूप आदिकों का प्रत्यक्ष होगा वह द्रव्य-सहितों का ही होगा यह जैन सिद्धान्त निरवद्य है। उमास्वामी महाराज ने प्रथम अध्याय में "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इस सूत्र द्वारा छः द्रव्यों को असर्व पर्यायों और सम्पूर्ण छः ऊ द्रव्यों की मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के गोचर-पने करके व्यवस्था करादी है, कतिपय पर्यायों से सहित होरहे द्रव्य का मतिज्ञान या श्रुतज्ञान से प्रतिभास होता है, इसी बात को दूसरी वचन भंगी से यों कह लो कि मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा द्रव्यों में वृत्ति होकर जाने जा रहे रूप, रस, आदि कतिपय पर्यायों का परिज्ञान होता है, अतः दर्शन, स्पर्शन, के समान द्रव्य को रासन, नासिक्य, श्रौत्र, मानसिक भी स्वीकार किया जाय। गुण और गुणी का कथंचित् अभेद मानने पर वैशेषिकों को चित्र रूप, चित्र रस, चित्र स्पर्श, चित्र गन्ध, मानने का बाझ नहीं बढ़ाना पड़ेगा और रसनासंयोगसन्निकर्ष, त्वक्संयोगसन्निकर्ष तभी सफल होसकेंगे।

इदमेव हि प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षत्वं यदात्मन्यविवेकेन बुद्धौ स्वरूपस्य समर्पणं। इमे पुना रूपादयो द्रव्यरहिता एवामूल्यदानक्रायणं स्वरूपं चानादर्शयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीति स्फुटमभिधीयतां।

चूंकि प्रत्यक्षज्ञान का प्रत्यक्षपना यही है, अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होरहे अर्थ का प्रत्यक्ष होजाना यही है, जो कि अपने (विषय स्वरूप) से भिन्न होरहे अनन्त पदार्थों का पृथक् भाव करके प्रत्यक्षबुद्धि में स्वकीय रूप का भले प्रकार अर्पण करदेना है, द्रव्य से रहित होरहे ये रूप आदिक ही फिर मूल्य नहीं देकर क्रय करने वाले होरहे हैं, बुद्धि में अपने स्वरूप को नहीं दिखलाते हैं, और अपने प्रत्यक्ष होजाने को स्वीकार करना चाहते हैं, इसी बात को आप बौद्ध स्पष्ट करते रहियेगा। अर्थात्-विक्रेय पदार्थ को मूल्य नहीं देकर क्रय करना (खरीदना) बड़ा भारी चोरी का दोष है, बौद्ध स्थान स्थान पर यों कह देते हैं, कि आप जैनों या नैयायिकों के यहां माना स्कन्ध या अवयवी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोई पदार्थ नहीं है, वह स्कन्ध अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में अपनी आत्मा का समर्पण नहीं करता है, और अपना प्रत्यक्ष होजाना चाहता है, विषय का अपना प्रत्यक्ष कराने में ज्ञान के लिये अपना आकार अर्पण कर देना ही मूल्य दे देना है, ज्ञान में पदार्थों का प्रतिविम्ब पड़ जाना स्वरूप आकार को मानते हुये साकार ज्ञान-वादी बौद्धजन ज्ञान के लिये अपने आकार का समर्पण करदेना ही विषय करके मूल्य दे देने की उत्प्रेक्षा कर लेते हैं।

हां जैन विद्वान् विषय भूत अर्थों की ज्ञान द्वारा विकल्पना होजाना ही आकार मानकर ज्ञान को साकार इष्ट करते हैं, ज्ञान में अर्थों का प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है। सत्य बात यह है कि बौद्धों के यहां मानी गयीं सूक्ष्म आसाधारण, क्षणिक, परमाणु, स्वलक्षणों का ही किसी को कदाचित् प्रतिभास नहीं होपाता है, ये परमाणुयें ही प्रत्यक्षबुद्धि में अपने स्वरूप का समर्पण नहीं करती हुईं अपना प्रत्यक्ष होजाना मांगती हैं, अतः बौद्धों की कल्पित परमाणुयें अमूल्यदान-क्रयी हैं, अवयवी तो अपने अर्थविकल्प स्वरूप आकार को प्रत्यक्षमें समर्पण कर अपना प्रत्यक्ष करना चाहता है, अतः अमूल्यदानक्रयी नहीं है, अपने से भिन्न पदार्थों का पृथग्भाव कर बुद्धि में शुद्ध प्रमेय के निज स्वरूप की विकल्पना होजाना ऐसा मूल्य देकर सौदा लेना जैनों को अभीष्ट है।

अपने आश्रय द्रव्यके सहित होरहे ही रूप,रस,आदिक विषय बुद्धिके लिये अपना मूल्य देकर प्रत्यक्ष होना चाहते हैं, द्रव्य रहित अकेला रूप या रस-रहित कोरा द्रव्य चोर है, डांकू है, गंठकटा है, उठाईगीरा है, अतः न्यायशालिनी बुद्धि केवल गुण या केवल गुणी का प्रत्यक्ष नहीं कराती है, यह बौद्धों को स्पष्ट कहना पड़ेगा अब वे द्रव्य-रहित कोरे रूप या रस को नहीं स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि मतिज्ञान में द्रव्य से सहित होरहे रूप आदिकोंका ही परिज्ञान होरहा है "वर्णादय एव न स्कन्धाः" अथवा "अवयवा एव न अवयवी" ये मन्तव्य समाचीन नहीं है।

एतेन श्रुतज्ञानेप्यप्रतिभासमानाः श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वं स्वीकर्तुमिच्छंतस्त एवामूल्यदानक्रयिणः प्रतिपादितास्तद्रहितद्रव्यवत् ततः प्रतीतिसिद्धमवयविनः चाक्षुषत्व स्पार्शनत्वादि समुपलक्षयति बाधकाभावात्।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी प्रतिपादन कर दिया गया है, कि सर्वथा असत् होरहे पदार्थ का प्रतिभास नहीं होसकता है, अतः अर्थ से अर्थान्तर को जानने वाले श्रुतज्ञान में भी नहीं प्रतिभास रहे ये द्रव्यरहित कोरे रूप आदिक पदार्थ अपना श्रुतज्ञान द्वारा परिच्छेद होजाना स्वीकार करना चाह रहे वे अमूल्यदान-क्रयी हैं, जैसे कि उन रूप आदिकों से रहित होरहा कोरा द्रव्य अमूल्यदान-क्रयी है। अर्थात्- जब वर्ण,संस्थान आदिक-आत्मक स्कन्ध की स्फुट प्रतिपत्ति होरही है, और द्रव्य-रहित कोरे रूप आदिक या रूप आदिक रहित कोरे द्रव्य की क्वचित्,कदाचित्, कस्यचित्, प्रतीति नहीं होरही है, ऐसी दशा में इनका श्रुतज्ञान में भी प्रतिभास नहीं होसकता है, अतः मूल्य नहीं देकर यों ही झपटलेना यह दोष सांख्य या बौद्धों के ऊपर ही आता है, स्याद्वादियों के यहां तो विषय करके

विक्रेता को स्वकीय विकल्पना स्वरूप पूरा मूल्य देकर अपना प्रत्यक्ष कराना मानागया है, तिस कारण अवयवी का चाक्षुषपना सूत्रोक्त अनुसार प्रतीतिओं से सिद्ध होजाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

भेद संघातों से चाक्षुष होय इतना ही नहीं सूत्रकार को अभिप्रेत है, प्रत्युत चाक्षुषपना यह पद स्पार्शन, रासनपन, आदि का भी भले प्रकार उपलक्षण कर लेता है, कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं। भावार्थ-"तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वमुपलक्षणं" अचाक्षुष भी अवयवी इन भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाता है, उक्त सूत्र का इतना ही अभिप्राय नहीं लिया जाय किन्तु पहिले अस्पार्शन, अरासन, आदि होरहे पदार्थ भी भेद और संघात से पुनः स्पार्शन, रासन आदि होजाते हैं, ऐसा उक्त सूत्र का उदार अभिप्रेतार्थ है।

किं पुन र्द्रव्यस्य लक्षणमित्याह।

जीव आदि छः ऊ द्रव्यों का विशेष लक्षण तो उन स्थलों पर सूत्रकार महाराज ने कह दिया है. किन्तु साधारण रूप से द्रव्य का लक्षण अभी नहीं कहा जा चुका है, अतः यह कहना चाहिये कि द्रव्य का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्य या द्रव्यों का लक्षण सत् है। अर्थात्-जो विद्यमान रह चुका है, विद्यमान है, विद्यमान रहेगा वह सत् पदार्थ द्रव्य है, जो सत् नहीं है, वह द्रव्य नहीं है, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध, आदि के यहां तत्व या द्रव्य का लक्षण ठीक ठीक नहीं बन सका है, जोकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति असम्भव दोषों करके रहित होय वैशेषिकोंद्वारा द्रव्यत्व के योग से द्रव्य समझा जाता है, इत्यादि लक्षणों का विचार किया जा चुका है। परमार्थ रूप से देखा जाय तो यह द्रव्य का सूत्रोक्त लक्षण सर्वत्र, सर्वदा, निर्दोष है। जैसे कि अर्थ-क्रिया-कारित्व वस्तु का लक्षण है, "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" इसी प्रकार द्रव्य या तत्व भी सत् लक्षण वाला है, पंचाध्यायीकार पण्डित राजमल्ल जी द्वारा "तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धं। तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च" इस पद्य करके तत्व के सत् लक्षण को पुष्ट किया गया है, क्यों न हो जब कि महान् पूज्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सत्ता को ही द्रव्य का आत्मा निर्धारित किया है, अनन्तानन्त गुणों के पिण्ड होरहे द्रव्य में अस्तित्व का प्रभाव ओत पोत छा रहा है, द्रव्य से अस्तित्व अभिन्न है, अतः द्रव्य का सत्पना आत्मभूत लक्षण है।

अथ विशेषतः सद्द्रव्यस्य लक्षणं सामान्यतो वा ? यदि विशेषतस्तदा पर्यायाणां द्रव्यत्वप्रसंगादतिव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः, अव्याप्तिश्च त्रिकालानुयायिनि द्रव्ये सद्विशेषाभावात् वर्तमानद्रव्य एव तद्भावात्। यदि पुनः सामान्यतस्तद्द्रव्यस्य लक्षणं शुद्धमेव द्रव्यं स्यादिति सैवाव्याप्तिरशुद्धद्रव्ये तदभावदिति वदंतं प्रत्युच्यते।

अब यहाँ किसी का पूर्व पक्ष प्रारम्भ होता है कि यह द्रव्य का लक्षण जो सत् किया गया है वह क्या विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण है ? अथवा क्या सामान्य रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण इस सूत्र में कहा गया है ? बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण माना जायेगा तब तो घट, पट, नारंगी, अमरूद, काला, नीला, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायों को भी द्रव्यपन का प्रसंग आजावेगा यह लक्षण का अतिव्याप्ति नामक दोष हुआ, पर्यायें भी विशेष रूप से सत् हैं किन्तु वे पर्यायें द्रव्य नहीं मानी गयीं हैं, अन्यथा यानी अभेद पक्ष पर बल दिया जायगा तब तो द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीन अर्थों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी तथा विशेष रूप से सत् को द्रव्य का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष भी आता है। क्योंकि भूत, वर्तमान, भविष्य, इन तीनों कालों में अन्वय रूप से अनुयायी होरहे द्रव्य में विशेषतया सत्पना नहीं है, वर्तमान द्रव्य में ही वह विशेष सत्पना विद्यमान है त्रिकाल अनुयायी द्रव्य में तो सामान्य रूप से सत्पना ठहर सकता है अतः गौ का लक्षण शुक्ल कह देने से जैसे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोनों दोष आते हैं, उसी प्रकार विशेष सत् को द्रव्य का लक्षण करने पर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, ये दोनों दोष आते हैं।

यदि फिर द्वितीय पक्ष अनुसार सामान्य रूप से उस सत् को द्रव्य का लक्षण कहा जायेगा तब तो शुद्ध द्रव्य ही द्रव्य होसकेगा इस कारण फिर वही अव्याप्ति दोष आया क्योंकि द्वयणुक, त्र्यणुक नारकी जीव, मनुष्य, आदि अशुद्ध द्रव्यों में उस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण का अभाव है। अतः द्रव्य का उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है, इस प्रकार वाद कर रहे किसी पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहा जाता है।

सद्द्रव्यलक्षणं शुद्धमशुद्धं सविशेषणं।
प्रोक्तं सामान्यतो यस्मात्ततो द्रव्यं यथोदितं ॥ १ ॥

जिस कारण से कि चाहे शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो अथवा अन्य किसी प्रकार जीवत्व पुद्गलत्व, आदि विशेषणों से सहित द्रव्य होय यह सब सामान्य रूप से सत्पना बहुत अच्छा कहा गया है तिस ही कारण सर्वज्ञ आम्नाय से चले आ रहे श्रुतज्ञान अनुसार द्रव्य का लक्षण सूत्रकार महाराज ने कह दिया है जो कि त्रिकाल, त्रिलोक में अबाधित होकर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोषों का निवारण करता हुआ यथार्थ है।

न हि विशेषतः सद्द्रव्यलक्षणं यतोत्रातिव्याप्त्यव्याप्ती स्यातां सामान्यतस्तस्य तल्लक्षणत्वात्। नचैवं शुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यस्यापि तल्लक्षणत्वोपपत्तेः। ततो नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। यथैव हि देशकालैरविच्छिन्नं सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुनि सत्सदिति प्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबंधनं सत्तासामान्यं शुद्धद्रव्यलक्षणमबाधमनुभूयमानमबालप्रसिद्धं तथा सर्वद्रव्यविशेषेषु द्रव्य द्रव्यमित्यनुभूतबुद्ध्यभिधाननिबंधनद्रव्योपाधि सदेवद्रव्यत्वमशुद्धद्रव्यसविशेषणस्य सत्त्वस्याशुद्धत्वात्।

हम आर्हत सिद्धान्ती प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्को द्रव्य का लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं । जिससे कि इस लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष होजाते, हम तो सामान्य रूपसे उस सत् को उस द्रव्यका लक्षण होजाना स्वीकार करते हैं । इस प्रकार मानने पर शुद्ध द्रव्य ही सत् लक्षण वाला नहीं हो सकेगा जिससे कि द्वितीय पक्ष अनुसार अव्याप्ति दोष आजाय अशुद्ध द्रव्य को भी उस सामान्यतः सत्पन लक्षण से युक्तपना बन जाता है, तिस कारण सम्पूर्ण लक्ष्यों में सामान्य सत इस लक्षण की घटना होजाने से लक्षण के ऊपर अव्याप्ति दोष नहीं आता है, कारण कि जिस ही प्रकार सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण कालों करके नहीं विच्छिन्न होरहा अटूट सत्तासामान्य बेचारा सभी स्थलों पर सम्पूर्ण कालों में सभी प्रकारों करके वस्तु में " सत् है सत् है " ऐसे ज्ञान और व्यवहारियों में बोले जा रहे शब्दव्यवहार का कारण होरहा सन्ता शुद्ध द्रव्य का लक्षण है जोकि बालक, बालिका, पामर, से प्रारम्भ कर प्रकृष्ट विद्वानों तक बाधारहित होकर अनुभवा जा रहा सन्ता प्रसिद्ध है ।

तिस प्रकार सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, आदि विशेष द्रव्यों में भी " ये द्रव्य हैं यह द्रव्य है" इत्यादिक रूप से अनुभवे जा रहे ज्ञान और शब्द व्यवहार के कारण होरहे द्रव्य को विशेषण मान रहा सत् ही द्रव्यपन है । " मनुष्य जीवः सन्" यों अशुद्ध द्रव्य करके विशेषण सहित होरहा सत्व ही अशुद्धता है । अर्थात्—श्री सिद्धभगवान्, आकाश, आदि शुद्ध द्रव्यों में जैसे " सन् सत् " इस ज्ञान और शब्द योजनाके व्यवहार का कारण सत्ता सामान्य ही द्रव्यकी शुद्धता है, उसी प्रकार द्वयणुक, नारकी, आदि अशुद्ध द्रव्यों या विशेष विशेष जीव आदि द्रव्यों में " द्रव्य है द्रव्य है " ऐसे ज्ञान या शब्दों के होजाने का कारण होरहा सत्व ही द्रव्य की अशुद्धता या विशेष व्यक्तित्व है । अतः द्रव्य का लक्षण सामान्यतः सत्पना शुद्धद्रव्य के समान अशुद्ध द्रव्यों में भी चरितार्थ है ।

एवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यं प्रत्येतव्यं । क्रमयौगपद्यवृत्ति-स्वपर्याय-व्यापि-जीवत्वविशेषणस्य सत्वस्य जीवद्रव्यत्वात्तादृक् पुद्गलत्वविशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यत्वात् क्रमाक्रमभाविधर्मपर्यायव्यापिधर्मत्वविशेषणस्य धर्मद्रव्यत्वात्, तथाविधाधर्मत्वोपहितस्याधर्मद्रव्यत्वात्, तादृशाकाशत्वोपाधेराकाशद्रव्यत्वात्, क्रमाक्रमभाविपर्यायव्यापिकालत्वविशिष्टस्य काल-द्रव्यत्वात् ।

जैसे शुद्ध द्रव्य अथवा अशुद्ध द्रव्य इस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण करके तदात्मक होरहे हैं । इसी प्रकार विशेषणसहित सत्व को धार रहे जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य भी विश्वास कर लेने योग्य हैं, कारण कि जीव की क्रम से वर्त्त रही क्रमभावि पर्यायें, और युगपत्पन से वर्त रहे गुणनामक सहभावी पर्यायें यों अपनी दोनों जाति की पर्यायों में व्याप रहा जीवत्व नामक विशेषण का धारी सत्व ही जीव द्रव्य है । अर्थात्—जीव में सामान्य सत्व रह गया जो कि त्रिकाल-वर्त्ती सहभावी, क्रमभावी पर्यायों में व्याप रहे जीवन नामक विशेषण से संयुक्त है । उसी ढंग से तिस प्रकार की क्रम और युगपत्पने से वर्त रही अपनी अपनी पर्यायों में व्याप-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
रहे पुद्गलत्व से विशिष्ट होरही सत्ता ही पुद्गलद्रव्य है।

क्रम और अक्रम से होने वालीं धर्मद्रव्य की निज पर्यायों में व्याप रहे धर्मद्रव्यपन विशेषण से आलीढ होरहे सत्व को धर्मद्रव्यपना है। तथा तिसी प्रकार यानी अपनी क्रम, अक्रमवर्ती अधर्म-द्रव्य सम्बन्धी पर्यायों में व्याप रहे अधर्म द्रव्यपन विशेषण को पहन रही सत्ता ही अधर्म द्रव्य है। तिन्हीं के सदृश अपनी आकाश-सम्बन्धी क्रम, अक्रमवर्त्ती पर्यायों में व्याप रहे आकाशत्व नामक उपाधिधारी सत्व को आकाश द्रव्य माना जाता है। तथैव क्रम, अक्रम, से हो ने वालीं अपनी काल द्रव्य की पर्यायोंमें व्याप रहे कालत्व विशेषणसे विशिष्ट होरहा सत्व ही काल द्रव्य है अतः विशेषण होकर उन द्रव्यों में वर्त्त रहा सत्व ही जीव आदि द्रव्यो का तदात्मक लक्षण है प्रत्येक जीव द्रव्य या एक एक पुद्गल द्रव्यमें भी उस निज पर्यायोंमें व्याप रहे व्यक्तित्व विशेषण से युक्त होरहे सत्वका तादात्म्य बन रहा है जो कि द्रव्य का लक्षण किये जाने योग्य है।

नन्वस्तु सद्द्रव्यस्य लक्षणं तत्तु नित्यमेव, तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानात् तन्नित्यत्वेऽघटनात् सर्वदा बाधकरहितत्वादिति कश्चित्, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययात्मकत्वान्नश्वरमे तद्विच्छेदप्रत्ययस्याभ्रांतस्यान्यथानुपपत्तेरित्यपरः। तं प्रत्याह।

यहाँ कोई पण्डित अनुनय करता है कि द्रव्य का लक्षण जो सामान्यतः सत् कहा गया है। वह बहुत अच्छा है किन्तु वह सत्व नित्य ही है, क्योंकि "यह वही है" इस प्रकार सत्व का एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता रहता है, यदि उस सत् का अनित्य होना माना जायेगा तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान भले ही होजाय किन्तु "यह वही है" ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान वहां अनित्यपक्ष में घटित नहीं होपाता है सभी कालों में सत् के नित्यपन को साध रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण बाधकों से रहित है। इस प्रकार कोई सांख्यमत के पक्ष का अवलम्ब लेकर कह रहा है। तथा दूसरा पण्डित बौद्ध मत का आश्रय लेकर यों अवधारण कर रहा है कि वह सत् प्रत्येक क्षण में उत्पाद और व्यय-आत्मक होने से नाशशील ही है पहली पर्याय नष्ट होकर दूसरे क्षण में अन्य ही पर्याय उपजती रहती है, घूम रहे पहिये के अरा और अर विवर के समान उस उत्पाद और व्ययकी चल रही धारा में पड़े हुये विच्छेदों (अन्तरों) का होरहा भ्रान्ति-रहित ज्ञान अन्यथा हो नहीं सकता है अर्थात्—उत्पाद, व्यय, यदि नहीं माने जायेंगे तो स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, या बिजली, दीप कलिका, आदि में होरहे मध्यवर्त्ती विच्छेदों का ज्ञान झूंठ पड़ जायेगा सर्वथा नित्य पदार्थ सदा एक ही रहता है उस में अनेक उपज रहे, विनश रहे भावों का अन्तराल नहीं पड़ता है, अतः सत् नश्वर है। इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है। अब सूत्रकार उन एकान्त नित्यवादी और एकान्त क्षणिक-वादी पण्डितो के प्रति समाधान कारक सूत्र को कहते हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

द्रव्य के उत्तर समयवर्त्ती परिणाम का उपजना स्वरूप उत्पाद और पूर्व समयवर्त्ती पर्याय का

विघट जाना रूप व्यय तथा अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव करके स्थिर बने रहना स्वरूप ध्रौव्यसे युक्त यानी समाहित होरहा सत् है। अर्थात—सत् वस्तु का प्राण अर्थ-क्रियाकारित्व है, उत्पाद व्यय, ध्रौव्यों करके अर्थ क्रिया होजाती है। भावान्तर की प्राप्ति होना और पूर्व भाव का विगम होने तथा दीर्घ कालसे अन्वित चले आरहे स्वकीय पारिणामिक भाव करके ध्रुवपना ये सत् के स्वरूप हैं। अद्वैत वादियों का प्रतिभात स्वरूप सत् या वैयाकरणों का मात्र अस्तित्व रूप सत् अथवा वैशेषिकों की नित्य और द्रव्य, गुण, कर्मों में समवेत होरही सत्ता यहां सत् नहीं पकड़ी गई है "हां सत्वं अर्थ-क्रियया व्याप्तं" अर्थ क्रिया च क्रमयोगपद्याभ्यां व्याप्ता, क्रमयोगपद्यं तु उत्पादव्ययध्रौव्यैर्व्याप्ते" यह प्रक्रिया अच्छी है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वजात्यपरित्यागेन भावांतरावाप्तिरुत्पादः, तथा पूर्वभावविगमो व्ययः, ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणोध्रुवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं तैर्युक्तं सदिति बोद्धव्यम्।

अपनी सदृश परिणामरूप जीवत्व, पुद्गलत्व, आदि जातियों का परित्याग नहीं करके चेतन अथवा अचेतन द्रव्य के परिणामान्तरों की प्राप्ति होजाना उत्पाद है, और तिसी प्रकार यानी स्वजाति का अपरित्याग करके पूर्ववर्त्ती भावों का विनश जाना व्यय है। "ध्रुव गतिस्थैर्ययोः" इस तुदादि गण की धातु या "ध्रुव स्थैर्ये" इस भ्वादि गणकी स्थिर क्रिया को कहने वाली "ध्रुवति" इस धातु से अच् प्रत्यय करने पर ध्रुव शब्द बनता है, उस ध्रुव का भाव अथवा कर्म ध्रौव्य है, यों तद्धित में ष्यञ् प्रत्यय कर ध्रौव्य शब्द साधु बना लिया जाता है। उन उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों करके युक्त होरहा सत् है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ समझ लेना चाहिये। बात यह है, कि सत् को उत्पाद व्ययों करके युक्त कह देने से सर्वथा नित्य-वादका खण्डन होजाता है और सत्को ध्रौव्ययुक्त कह देनेसे क्षणिकवाद का निराकरण कर दिया जाता है, तीनों से समाहित होरहा सत् परमार्थ वस्तु है, भेद पक्ष अनुसार "युजिर् योगे" धातु से और अभेद पक्ष अनुसार "युज समाधौ" धातु से युक्त शब्द साधु बना लिया जाय।

तत्रोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति सूचनात्।
गुणसत्त्वं भवेन्नैव द्रव्यलक्षणमंजसा ॥ १ ॥

द्रव्यलक्षणके उस प्रकरण में, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इनसे युक्त होरहा सत् है, यों श्री उमास्वामी महाराज करके सूत्रद्वारा सूचना कर देने से गौण सत्ता तो द्रव्य का लक्षण निर्दोष नहीं होसकेगा। अर्थात्-जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य यानी अन्वित स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखती हुई षट् स्थान-पतित हानि वृद्धियां होती रहती हैं, वह वास्तविक सत् तो द्रव्य है। बौद्धों के यहां कल्पित किया गया सत्त्व या वैशेषिकों की सत्ता जाति अथवा अद्वैतवादियों का चित् स्वरूप सत्व तो द्रव्य के लक्षण नहीं होसकते हैं। सूत्र के उद्देश्यदल में एवकार लगा देनेसे अन्य गौणसत्ता या कल्पित सत्ता अथवा कापिलों के सत्वगुण की व्यावृत्ति होजाती है, अतः वस्तुभूत सत्व ही द्रव्य का लक्षण है।

न हि गुणभूतं सत्त्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुपपद्यते तस्य कल्पितत्वात्, नांजसं, द्रव्यस्य लक्षणं वस्तुभूतस्यैव सत्त्वस्योत्पादादियुक्तत्वोपपत्तेः भेदज्ञानादुत्पादव्ययसिद्धिवदभेद ज्ञानाद्ध्रौव्यसिद्धेरप्रतिबंधत्वात् ।

गौणरूप से कल्पित होगया सत्व या सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, में गुण होकर पड़ा हुआ सत्व तो नियम करके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, से युक्त नहीं बन सकता है, क्योंकि वह कल्पित है, झूंठ मूठ कल्पना कर लिये गये पदार्थ में वास्तविक पदार्थ के उत्पाद, व्यय, ध्रोव्य नहीं पाये जाते हैं, 'न हि कल्पितो गौर्वाहदोहादावुपयुज्यते' तमारा या चकाचोंध दोष से रीते आकाश में दीख रहे तमः पिण्ड या तेज पिंड सारिखे पदार्थों की उत्पत्ति बिनाश, और स्थिरता नहीं प्रतीत होरही है। इस प्रकार गुण (गौण) भूत सत्ता द्रव्य का निर्दोष लक्षण नहीं है, वास्तविक होरहे सत्व को ही उत्पाद, व्यय आदि से सहितपना युक्तिपूर्ण माना जाता है, पूर्वोत्तर अवस्थाओं में भेद को ग्रहण करने वाले ज्ञान से जैसे उत्पाद और व्यय की सिद्धि होजाती है, उसी प्रकार द्रव्य की पूर्वापर अवस्थाओं में अभेद का ज्ञान करने से ध्रुवपन की सिद्धि होजाने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, अर्थात्-वस्तु भेदाभेदात्मक है, भेद की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, इन दो की व्यवस्था है, और अभेद की अपेक्षा ध्रुवपना निर्णीत है।

ननु च ध्रौव्ययुक्तं सद्द्रव्यस्य लक्षणं उत्पादव्ययुक्तं सत् पर्यायस्य लक्षणमित्यु व्यक्तं वक्तव्यमविरोधात्। नैवं वक्तव्यं, सत एकत्वादेका सत्तेति वचनात्तदेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमित्युच्यते न पुनर्द्विविधा द्रव्यसत्ता पर्यायसत्ता चेति। ततोन्यस्य महासामान्यस्यैकस्य तद्व्याप्तिना द्रव्यस्य प्रसंगात्। तदपि यदि सद्रूपं तदा न द्रव्य खरविषाणवत् सद्रूपं चेत्, सैवैका सत्तेति सिद्धं सल्लक्षणं द्रव्यमेव पर्यायस्य पर्यायांतररूपेण सद्रूपत्वप्रतीतेः।

यहां किसी पंडित का अनुनय है, कि जब वस्तु बेचारी द्रव्य पर्याय-आत्मक मानी गई है, तो ध्रौव्य-युक्त सत् को तो द्रव्य का लक्षण कह दिया जाय तथा उत्पाद और व्यय से युक्त होरहे सत् को पर्याय का लक्षण मान लिया जाय तो इस प्रकार जैन-सिद्धान्त में कोई विरोध आता नहीं दीखने से सूत्रकार द्वारा व्यक्त कह देना चाहिये। अर्थात्- 'स्पष्टवक्ता न वंचकः, यह नीति अच्छी है, कवि जन भले ही 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितं' स्वीकार करें किन्तु दार्शनिकों को वक्र कथन शोभा नहीं देता है। अब आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये कारण कि सत्ता या सत् एक ही है, 'सत्ता एक है, ऐसा जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है, 'एका हि महासत्ता' 'सत्ता सव्व पयत्था सविस्सरूवा अणंत-पज्जाया। भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा॥" ऐसे सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे शास्त्रों के वचन हैं। वह एक ही सत् द्रव्य है, जो कि अनन्त पर्यायों वाला है, यों कह दिया जाता है, किन्तु सत्ता फिर द्रव्य सत्ता और पर्याय-सत्ता यों दो प्रकार की नहीं है, यदि सत्तायें दो मानी जांयगी तो एक महासत्ता को मानने वाले जैनों के यहां फिर उन द्रव्य और पर्यायों का द्रव्यसत्ता, पर्याय सत्ता, इन दोनोंमें व्यापने वाले उनसे न्यारे एक महासामान्य द्रव्य को स्वीकार करनेका प्रसंग आवेगा।

सत्ताओं में पुनः सत्ता के मानने की आवश्यकता तो नहीं है.

यदि वैशेषिकों के मत अनुसार स्वयं असत् पदार्थों का सत्ता के योग से सत् होजाना माना जायगा तो दो सत्ताओं को सती बनाने के लिये तीसरी महासत्ता माननी पड़ेगी और वह निराला महासामान्य सत्व भी असत् स्वरूप होगा तब तो वह द्रव्य नहीं होसकता है, जैसे कि सर्वथा असत् खरविषाण कोई द्रव्य नहीं है, हां उस महासामान्य को यदि सत् स्वरूप मान लोगे तो यही सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि वह सत्ता एक ही है, सत् इस लक्षण का धारी द्रव्य ही है, अथवा जब सत्ता एक ही है, तो इस कारण सिद्ध हुआ कि सत् लक्षण वाला द्रव्य ही है, अर्थात् उसे भी अन्य पर्यायों के स्वरूप से सद्रूपपना प्रतीत होरहा है, घट, पट, मतिज्ञान, सुख दुःख आम्रफल केला आदि पर्यायों में अन्य काला, पीला, अविभाग प्रतिच्छेद, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, अनुसार सत्-पना है, अकेले उत्पाद अंश या विनाश अंश अथवा एक अविभाग प्रतिच्छेद में भले ही सत् पना नहीं होय कोई क्षति नहीं पडती है, अभेद या अभेद उपचार से एक एक अंश या उपांशों में सत्पना घटित होजाता है, स्याद्वाद सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

तत एव सल्लक्षणमेव द्रव्यं शुद्धमित्यवधार्यते, तस्यासद्रूपत्वाभावात् प्रागभावादेरपि भावांतरस्वभावस्यैव सदसत्त्वसिद्धेः। सत्प्रत्ययाद्विशेषाद्विशेष-लिंगाभावादेकं सत्तेति परैरप्यभिधानात् केवलध्रौव्ययुक्तमेव सदित्येकांतव्यवच्छेदनार्थमुत्पादव्ययवत्त्वमित्युच्यते, तस्यानंतपर्यायात्मकत्वात् पर्यायाणां चोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात्। न नित्यं सदेकमस्त्यनुस्यूताकारं तस्यासद्रूपव्यावृत्त्याकल्पितत्वात् स्वलक्षणस्यैवात्पादव्ययवत्त्वः सत्त्वादित्येकांतव्यवच्छित्तये ध्रौव्ययुक्तमित्यभिधानात्।

तिस ही कारण से "सद्द्रव्यलक्षणं" इस पहिले सूत्र में पूर्व अवधारण कर सत् लक्षण वाला ही द्रव्य शुद्ध है, यों सत् एव द्रव्य लक्षणं,, अवधारण कर लिया जाता है, उस द्रव्य को असत् स्वरूप पना नहीं है, वैशेषिकों के यहां प्रागभाव, ध्वंस, आदि को सर्वथा भावों से भिन्न असत् पदार्थ मान रक्खा है, सो ठीक नहीं है, अन्य मिट्टी, कपाल, भूतल आदि भावों के भाव स्वरूप होरहे ही प्रागभाव आदि का भी कथंचित् सत् असत् पना सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्-मृद् आदि द्रव्य या उपादान होरहीं पर्यायें ही घट आदि कार्यों का प्रागभाव है, तथा उपादेय की उत्पत्ति ही उपादान का ध्वंस है, स्वभावान्तरों से स्वभाव की व्यावृत्ति होजाना परिणाम अन्योन्याभाव है, और अगुरुलघु गुण अनुसार त्रैकालिक भेद को बनाये रखनेवाली परिणतियें अत्यन्ताभाव है, यों भावस्वरूप ही अभाव है, तुच्छ निरुपाख्य कोई अभाव पदार्थ नहीं है।

दूसरे विद्वान् वैशेषिकों ने भी वैशेषिक दर्शनके प्रथम अध्याय-सम्बन्धी पन्द्रहवें "सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः,, इस सूत्र में सत्ता को एक कहा है, जब कि द्रव्य, गुण,

कर्मों, में या इनकी विशेषव्यक्तियों में 'सत् सत्, ऐसी प्रतीति विशेषता से रहित होरही है, और एक सत्ता के पुनः विशेष भेद करने वाले लिगों का अभाव है, अतः सत्ता नाम का सामान्य एक है, हां कुछ सत्ता के विशेषणों में न्यून अधिक करते हुये हम जैन सत्ता को एक स्वीकार कर लेते हैं, वैशेषिकों ने सर्वथा नित्य, एक, और अनेकों में समवायिनी सत्ता को स्वीकार किया है, जैन सिद्धान्त में पूर्व उक्त गाथा अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों में ठहर रही, विश्व स्वरूप से होरही, अनन्त पर्यायों वाली उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन प्रयोजनों को साध रही, और अपनी प्रतिपक्ष-भूत अवान्तर सत्ताओं से सहित होरही एक महासत्ता स्वीकार की गई है, जो कोई एकान्त-वादी वैशेषिक, नैयायिक, या ब्रह्माद्वैत-वादी पण्डित उस सत्ता को केवल ध्रुवपन धर्म से ही युक्त होरही बखानते हैं, यानी सत् केवल ध्रौव्य से ही समाहित है, ऐसा कह रहे हैं, उन पण्डितों के एकान्त मन्तव्य का व्यवच्छेद करने के लिये सत् उत्पाद और व्यय से युक्त है, यों कह दिया जाता है, क्योंकि वह त्रिलक्षणात्मक सत् तो अनन्तानन्त पर्यायों के साथ तदात्मक होरहा है, और पर्यायें सभी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों करके युक्त हैं, अतः सत् स्वतः ही उत्पत्ति, विनाश, स्थितिशाली हुआ ।

हां दूसरे सत् को क्षणिक या अनित्य स्वीकार करने वाले पण्डित जो यों कह रहे हैं कि वह सत् नित्य नहीं है, एक भी नहीं है, 'सत् सत्' ऐसी अन्वय बुद्धि करके ओत पोत होरहे शुद्ध सत् आकार वाली भी सत्ता नहीं है, क्योंकि सत्पना धर्म कोई वस्तुभूत नहीं है, असत्पने की व्यावृत्ति करके उस सत् को कल्पित कर लिया गया है, जैसे कि संसार में सच पूछो तो कोई बलवान्, ज्ञानवान्, सुखी, सुन्दर नहीं, है, केवल निर्बलतारहितपन, मूर्खतारहितपन उग्रदुःखव्यावृत्ति, कुरूप व्यावृत्ति द्वारा वैसी वैसी कल्पना कर ली जाती है, प्रचण्ड और अनीतियुक्त प्रभु यदि कतिपय व्यक्तियों को हानि नहीं पहुंचावे इतने से ही बड़े बड़े कवि या भाट अथवा भयभीत मिथ्याप्रशंसी जन (चापलूस) उस प्रभु को परम परोपकारी, विश्वबन्धु, धार्मिकवरेण्य, प्रशान्तकषाय, दीनोद्धारक, महामना, आदि पदवियों से अलंकृत कर देते हैं । इसी प्रकार सत् भी असत् का निषेध रूप होकर सत्ता रूप से कल्पित कर लिया गया है, जगत् में नित्य, स्थिर, स्थूल, साधारण, माना जाय ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, वस्तुतः क्षणिक, असाधारण, सूक्ष्म ऐसे उत्पाद, व्यय, स्वभावों वाले स्वलक्षण को ही सत् स्वरूपपना है ।

आचार्य कहते हैं, कि बौद्धों के इस एकान्त का व्यवच्छेद करने के लिये सत् के लक्षण में ध्रौव्य से युक्त इस चारों ओर से तदात्मक होरहे विशेषण का भाषण किया गया है, अतः उक्त सूत्र में कहा गया उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त होरहा सत् निर्दोष है ।

स्यान्मत, यद्युत्पादादीनि परैरुत्पादादिभिर्विना सन्ति तदा द्रव्यमपि तैर्विनैव सदस्त्विति व्यर्थं तद्युक्तवचनं, अथ परैरुत्पादादिभिर्योगात् तदानवस्था स्यात् प्रत्येकमुत्पादादीनामपरोत्पादादित्रययोगात्तदुत्पादादीनामपि प्रत्येकमपरोत्पादादित्रययोगतः सत्वसिद्धेः । सुदूरमपि गत्वोत्पादादीनां स्वतः सत्वे सतोपि स्वत एव सत्वं भवेदुत्पादादीनां सतोनर्थान्तरत्वे लक्ष्यल-

यागतसत्तावि[illegible]दितिजातेऽप्रज्ञाकरेणोक्तं तस्याप्रज्ञाविजृंभितमित्ययं दर्शयति ।

यहां किसी पण्डित का मन्तव्य सम्भवतः यों होय कि उत्पाद आदिक धर्म यदि दूसरे उत्पाद आदिकों के विना ही सत् स्वरूप हैं, तब तो द्रव्य भी उन उत्पाद आदिकों के विना ही स्वतः सत् स्वरूप होजाओ, इस प्रकार सूत्रकार करके उन उत्पाद आदिकों से युक्त उस सत् का निरूपण किया जाना व्यर्थ है, अब यदि वैयर्थ्य दोष को टालते हुये यों कहना प्रारम्भ करो कि वे सत् में वर्त रहे उत्पाद आदिक तो अन्य उत्पाद आदिकों करके योग होजाने से सत् स्वरूप हैं, तब तो जैनों के यहां अनवस्था दोष आजावेगा क्योंकि प्रत्येक उत्पाद, विनाश, आदिकों का पुनः दूसरे दूसरे उत्पाद आदि तीनों करके योग होजाने से सत्व व्यवस्थित किया जायगा तथा पुनरपि उन तीसरे, चौथे आदि उत्पाद आदिकों का भी प्रत्येक प्रत्येक में अन्य अन्य उत्पाद आदि तीनों के योग से सत्पना सिद्ध होगा अतः महान् अनवस्था दोष हुआ । इस दोष को टालने के लिये कहीं बहुत दूर भी चल कर यदि उत्पाद आदिकों को स्वतः सत्ता मान लो जायगी तब तो द्रव्य के लक्षण होरहे सत् का भी स्वतः ही सत्पना होजाओ, ऐसी दशा में इस सूत्र को व्यर्थ ही क्यों गढ़ा जाता है ? ।

जैन इस बात का भी ध्यान रक्खें कि उत्पाद आदिकोंका सत् से अभेद होना मानने पर उनके यहां सत् और उत्पाद आदिकोंके लक्ष्यलक्षणभाव होजानेका विरोध आता है,क्योंकि अभेदपक्ष अनुसार उन उत्पाद आदि लक्षण और लक्ष्यभूत् सत् में कोई अन्तर नहीं माना गया है, यहां तक कट्टर बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर द्वारा बौद्धों का मत कहा जा चुका है । अब ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिस प्रकार यह जो प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर जी ने कहा है, वह सब उन पण्डित जी की अविचारशालिनी अप्रज्ञा को मात्र चेष्टा है नाम निक्षेपमात्र से जो प्रज्ञा के आकर (खानि) बने हुये हैं, या प्रज्ञा को बनाने वाले कहे जाते हैं, उनके कार्य प्रज्ञाशालिता के नहीं हैं, गांमों में गुड़ तक भी नहीं खाने वाले दीन भिखारी किन्हीं पुरुषों का नाम मिश्रीलाल रख दिया जाता है, कितने ही दरिद्रों के नाम लक्ष्मीचन्द्र हैं, निर्बल पुरुषों को अर्जुनसिंह नामसे पुकारा जाता है, कुरूप मनुष्य का स्वरूपचन्द्र संज्ञा करके सम्बोधन किया जाता है,इसी प्रकार प्रज्ञाकर नामधारी पण्डितजी अप्रज्ञा व्यापारके विलासमें व्यग्र बने रहते हैं,उनकी इसी अबुद्धिपूर्वक चेष्टा को ये ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा दिखलाते हैं ।

यथोत्पादादयः संतः परोत्पादादिभिर्विना ।
तथा वस्तु न चेत्केनानवस्था विनिवार्यते ॥ २ ॥
इत्यसत्सर्वथा तेषां वस्तुनो भिदसिद्धितः ।
लक्ष्यलक्षणभावः स्यात्सर्वथैक्यानभीष्टितः ॥ ३ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्यैक्ययुक्तं सत्समाहितं ॥

बौद्धोंके मन्तव्यका अनुवाद है,कि उत्पाद आदिक तीनों धर्म जिस प्रकार दूसरे उत्पाद आदिकों के बिना सत् स्वरूप हैं, तिसी प्रकार सत् आत्मक वस्तुत भी उत्पाद आदि के बिना ही सत् होजाओ यदि ऐसा नहीं माना जायेगा यानी वस्तु को सत् रक्षित करने के लिये उत्पाद आदिकों की उसमें निष्ठा की जायगी इसी न्याय अनुसार उत्पाद आदिकों को भी सत् व्यवस्थित करने के लिये अन्य उत्पाद आदिकों की उत्तरोत्तर कल्पना की जायेगी तब तो आरहे अनवस्था दोष का भला किस विद्वान् करके निवारण किया जा सकता है ? अर्थात्— कोई भी शक्ति-शाली पुरुष अनवस्था दोष को नहीं टाल सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचार्य कहते हैं, कि यह बौद्धों का मन्तव्य सभी प्रकारों से असत्य है, क्योंकि सत् स्वरूप वस्तु के साथ उन उत्पाद आदि धर्मों के सर्वथा भेद की असिद्धि है, अर्थात् वस्तु से उत्पाद आदि सर्वथा भिन्न होते तब तो उत्पाद आदि का न्यारा सद्भाव रक्षित करने के लिये पुनः उनमें उत्पाद आदि तीनों की योजना करते करते अनवस्था आजायेगी किन्तु जब समीचीन कुटुम्ब के समान धर्मी धर्मों का एकीभाव होरहा है, तो पुनः आकांक्षा नहीं बढ़ने पाती है, पीले आम्र के शेष दूसरे धर्म भी पीले हैं, आम का मीठा रस उसके शेष सभी धर्मों में ओत पोत होकर घुस रहा है, हाथ, पांव मुख, ये अवयव सब पेट को पुष्ट करते हैं, पेट भी माता के समान सबको ठीक बांट पहुंचा देता है, स्वभावों में दम्भ का प्रवेश नहीं है, अतः अनवस्था दोष का अवकाश नहीं है।

दूसरे आक्षेप पर हम जैनों को यों कहना है, कि हमारे यहां उत्पाद आदिकों का सत् के साथ सर्वथा अभेद भी अभीष्ट नहीं किया गया है, अतः बड़ी प्रसन्नता के साथ सत् और उत्पाद आदि में लक्ष्यलक्षण भाव बन जावेगा। अग्नि उष्णता,आत्मा ज्ञान आदि में लक्ष्यलक्षण भाव बेचारा कथंचित् भेद अभेद अनुसार सुघटित है। सूत्र में युक्त शब्द डाल देने से भेद पक्ष का भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि जैसे धनयुक्त, दण्ड-युक्त में युक्त शब्द सर्वथा भिन्न के साथ पुनः योजना करने पर प्रयुक्त किया गया है, वैसा ही यहां भी होगा, किन्तु बात यह है, कि यहां केवल रुधादिगण की 'युजिर योगे' धातु से युक्त शब्द नहीं बना कर दिवादिगणीय युज समाधौ इस धातु से भी निष्ठा प्रत्यय कर युक्त शब्द बना दिया गया है, अतः उत्पाद व्यय,ध्रौव्यों,की एकताओं करके युक्त सत् है, इस सूत्रोक्त का अभिप्राय यों है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों के अभेद सम्पादक ऐक्यों करके वह सत् समाहित होरहा है, अर्थात्— तीनों से तदात्मक होकर एकाग्रभूत सत् है, अतः भेद पक्ष में आने वाले दोष यहां नहीं फटक सकते हैं, कथंचित् भेद,अभेद पक्षका दुर्ग अभेद्य है,बुद्धू मनुष्य अलंघ्य रत्नों पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं।

तादात्म्येन स्थापितं सदिति युजेः समाध्यर्थस्य व्याख्यानान्न तेषां सतोर्थान्तरत्व-मुच्यते येन तत्पक्षभावी दोषोनवस्था तद्योगवैयर्थ्यलक्षणः स्यात्। चानर्थान्तरत्वमेव यतो लक्ष्य-लक्षणभावविरोधः कथंचिद्भेदोपगमाद्युजेर्योगार्थस्यापि व्याख्यानात्।

युक्त का अर्थ तदात्मकपने करके व्यवस्थापित होरहा सत् है इस प्रकार " युज समाधौ " इस समाधान यानी तादात्म्य अर्थ को कह रही युज धातु का व्याख्यान यहां किया गया है इस कारण उन उत्पाद आदिकों का सत् से भेद नहीं कहा जाता है। जिससे कि उस सर्वथा भेद पक्ष में होने वाला अनवस्था दोष या उन उत्पाद आदिकों के योगका व्यर्थपना स्वरूप दोष होजाता। अर्थात्—'स्यान्मतं' करके जो भेद में उत्पाद आदि के योग का व्यर्थपना या उत्पाद आदि से सत्व मानने पर पुनः उत्पाद आदि द्वारा सत्व की व्यवस्था करने पर अनवस्था दोष उठाया गया था वह अब सर्वथा भेद के नहीं स्वीकार करने पर लागू नहीं होपाता है, उत्पाद आदिका सत् के साथ कथंचित् अभेद माना गया है। तथा उन उत्पाद आदिकों का सत् से सर्वथा अभेद ही होय ऐसा भी नहीं है जिससे कि लक्ष्य लक्षण भाव का विरोध होजावे क्योंकि कथंचित् भेद भी स्वीकार किया गया है, योग अर्थ को कह रही युज धातु का भी यहां युक्त शब्द में व्याख्यान किया गया है। तदनुसार भेद अर्थ व्यक्त होजाता है।

किं पुनः सतो रूपं नित्यं ? यद्ध्रौव्ययुक्तं स्यात् किं वानित्यं ? यदुत्पादव्ययवयुक्तं भवेदित्यस्यार्थस्य दर्शयन्नाह आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि उस सत् का स्वरूप क्या फिर नित्य है ? जिससे कि वह सत् ध्रौव्य युक्त होजाय। अथवा क्या सत् का निज स्वरूप अनित्य है ? जिससे कि वह सत् बेचारा उत्पाद और व्यय से युक्त होजावे ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सिद्धान्त विषय को दिखला रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

तद्भावाव्ययं नित्यं ॥ ३१ ॥

एकत्व प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तद्भाव का जो व्यय नहीं होना है वह नित्य है। अर्थात्—जिस स्वरूप करके वस्तु पहिले समयों में देखी गई है उसी स्वरूप करके पुनः पुनः उस वस्तु का ध्रुव परिणमन है ऐसे तद्भाव का अविनाश नित्य माना जाता है, जैसे कि शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, आदि अवस्थाओं में कालान्तर-स्थायी मृत्तिका स्वरूप भावका अव्यय है। यद्यपि मृत्तिका को नित्य कहने में भी जी झिझकिचाता है फिर भी लोक व्यवहार या द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्यपन का उपचार है वैसे तो त्रिकालान्वयी द्रव्य और उसके सहभावीगुण नित्य हैं यहां प्रकरण अनुसार ध्रौव्य के व्यवस्थापक नित्यत्व का निरूपण कर दिया है, द्रव्य या गुण को परणामीनित्य मानने वाले जैनों के यहां तदभिन्नपर्यायों के ध्रुवत्व अंश की इसी ढंग से संघटना होसकती है।

सामर्थ्याल्लभ्यते द्वितीयं सूत्रं अतद्भावेन सव्ययमनित्यं, इति तस्य भावस्तद्भावस्तत्वमेकत्वं तदेवमिति प्रत्यभिज्ञानसमधिगम्यं तदित्युपगमात्। तेन कदाचिद्व्ययासत्त्वादव्ययं नित्यं सामर्थ्यादनुत्पादमिति गम्यते व्ययनिवृत्तावुत्पादनिवृत्तिसिद्धेरुत्तराकारोत्पादस्य पूर्वाकारव्ययेन व्याप्तत्वात् तन्निवृत्तौ निवृत्तिसिद्धेः।

सूत्रकार ने नित्य का लक्षण कंठोक्त कर दिया है, किन्तु अनित्य का लक्षण सूत्र द्वारा नहीं कहा गया है, तथापि इसी सूत्र की सामर्थ्य से यह दूसरा सूत्र कहा गया लब्ध होजाता है अर्थात्-स्वल्प व्यक्तियों में अत्यधिक प्रमेय अर्थको ठूंस लेने वाले सूत्रों द्वारा बहुतसा अर्थ विना कहे ही प्राप्त होजाता है। वह सब गुरु, गम्भीर, सूत्र की ही महिमा है। गुरुजी महाराज सभी ग्रन्थों को नहीं पढ़ाते हैं तथापि उनकी पाठन प्रक्रिया अनुसार विनीत शिष्य को अनेक ग्रन्थ स्वत. लग जाते हैं कृतज्ञ शिष्य को यह सब गुरु जी का ही प्रसाद समझना चाहिये। प्रकरण में यह कहना है कि प्रतियोगितान्याय या परिशेष न्याय से यहां अनित्य का लक्षण करने वाला यह दूसरा सूत्र ध्वनित होजाता है कि अतद्भाव करके यानी सादृश्य या वैलक्षण्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तादृश अन्यादृश, परिणतियों करके जो विनाशसहित होजाना है वह अनित्य है, यों लगे हाथ अनित्यका भी लक्षण होगया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि उसका यानी विवक्षित पदार्थ का जो भाव है वह तद्भाव है यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति द्वारा बनाये गये तद्भाव शब्द का तत्पना यानी एकपना अर्थ होता है जो कि तत् बेचारा "यह वही है" ऐसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा भले प्रकार समझ लेने योग्य है। इस प्रकार तत् का भाव स्वीकार किया गया है उस तद्भाव करके कदाचित् भी विनाश होजाने का अभाव है। इस कारण तद्भाव करके नहीं विनाश होने को नित्य माना गया है, यहां सूत्र में व्यय पद उपलक्षण है "एकसंबंधिज्ञानमपरसंम्बधिस्मारकं" यों विना कहे ही अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से तत्र सकलित उत्पाद पद का भी अध्याहार होरहा अवगत होजाता है। अतः तद्भाव करके उत्पाद नहीं होना भी नित्य के उदर में संप्रविष्ट है। अनुत्पाद और अव्यय का भावनाभाव है, अतः लाघव प्रयुक्त अव्यय शब्द से ही अनुत्पाद को गतार्थ कर दिया गया है। सूत्रकार महाराज की अप्रतिम प्रतिभा की जितनी भी प्रशंसा प्रतिष्ठित की जाय वह स्वल्प है। जिस पदार्थ में व्यय की निवृत्ति होगई है उसमें व्यय निवृत्ति होते ही उसी समय उत्पाद की निवृत्ति स्वतः सिद्ध होजाती है जैसे कि अश्वके दक्षिण शृंग की निवृत्ति होते ही वामशृङ्गकी तत्काल निवृत्ति होजाती है। बात यह है कि उत्तर आकार के उत्पाद की पूर्व आकार के विनाश के साथ व्याप्ति होचुकी है "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः"। अतः उस व्यय की निवृत्ति होने पर नित्य द्रव्य में उत्पाद की निवृत्ति विना कहे ही सिद्ध होजाती है।

अतद्भावोन्यत्व पूर्वस्मादन्यदिदमित्यन्वयप्रत्ययादवसेयं। तस्यध्रौव्यमनित्यमुत्पादव्ययवयोगात् तदुक्तं "नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेरिति तदेव युक्तमेतत्सूत्रद्वितयमित्युपदर्शयति।

अनित्य का ज्ञापक सिद्ध लक्षण करने पर प्रयुक्त किये गये अतद्भाव का अर्थ अन्यपना है जो कि "पूर्व परिणाम से यह परिणाम अन्य है" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान स्वरूप अन्वय प्रत्यय से वह अतद्भाव जान लेने योग्य है। वह अतद्भावका प्रयोजक तो अध्रौव्य यानी अनित्य है। क्योंकि

उत्पाद और व्यय का योग होरहा है। अर्थात्—ध्रुवपन से जैसे नित्यपना व्यवस्थित है उसी प्रकार उत्पाद व्ययों करके वस्तु का अनित्य स्वरूप नियत होरहा है। वही गुरुवर्य श्री समन्तभद्राचार्य महाराज ने बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में पुष्पदन्त महाराज की स्तुति करते समय यों कहा हैं कि " नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः। न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते" तदेव इदं " यह वही है " जो पहिले था ऐसी धाराप्रवाह अनुसार नवनवांशों को ग्रहण करने वाली प्रतीति होते रहने से अर्थ नित्य माना जाता है और यह इससे अन्य है " सैष न " ऐसी प्रतिपत्ति को सिद्धि होने से अर्थ नित्य नहीं यानी अनित्य समझा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग होरही निमित्त परिणतियों के योग से होरहे वे नित्यपन, अनित्यपन, धर्म एकत्र विरुद्ध नहीं हैं, दोनों धर्म वस्तुभूत परिणमनों की भित्ति पर डटे हुये हैं। हे जिनेन्द्रदेव तुम्हारे स्याद्वादशासन में विरोध आदि दोषोंका अवतार नहीं है। इस प्रकार सूत्रकार को वही कहना युक्त पड़ा " तद्भावाव्ययं नित्यं " और अर्थात्—आपन्न होगये " अतद्भावेन " सव्यय यों दोनों सूत्र ठीक हैं, इसी सूचित की गई बात को श्री विद्यानन्द आचार्य प्रभृति [illegible] कारिकों द्वारा निरूपते हैं। १।

तद्भावेनाव्ययं नित्यं तथा प्रत्यवमर्शतः।
तद्ध्रौव्यं वस्तुनो रूपं युक्तमर्थक्रियाकृतः॥ १॥
सामर्थ्यात्सव्ययं रूपमुत्पादव्यय-संज्ञकं।
सूत्रेस्मिन् सूचितं तस्यापाये वस्तुत्वहानितः॥ २॥

तिस वस्तु का जो भाव है वह तद्भाव है, तद्भाव करके जो व्यय नहीं होना है वह नित्य है क्योंकि तिस प्रकार " यह वही है" सैषः ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान होनेसे उस प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत होरहा ध्रुवपना अर्थक्रिया कारी वस्तु का स्वरूप मान लेना समुचित है "अर्थक्रिया-कारित्वं वस्तुनो रूपं"। बहिरंग, अन्तरंग कारणों अनुसार स्वोचित अर्थक्रिया को करते रहना वस्तुका निज स्वरूप है, अर्थक्रिया को किये चले जाने में ध्रुवपना बीज है, अतः इस सूत्र का यह कण्ठोक्त अर्थ हुआ।

सूत्रकार द्वारा कहे बिना ही परिशेष न्याय की सामर्थ्य से इस सूत्र में यह भी सूचित किया गया है कि अतद्भाव करके व्ययसहित होरहा अनित्य भी वस्तु का स्वरूप है जो उत्पाद और व्यय संज्ञा को धारे हुये है। वस्तु के उस व्ययसहित स्वरूपका अभाव मानने पर वस्तुपन को ही हानि हो जावेगी। अर्थात्—वस्तुका ध्रुवपना स्वरूप नित्य अंश है और उत्पाद, व्यय, नामक व्यय सहितपना अनित्य अंश है, उत्पाद, व्यय ध्रौव्य, इन तीनों से अर्थक्रियाओं को कर रही वस्तु अनादि अनन्त काल तक बनी रहती है 'अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च " अनुवृत्त आकार और व्यावृत्त आकार तथा उत्पाद,व्यय, ध्रौव्यों को ले रही वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

न ह्येकांततो नित्यं सन्नाम तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । नाप्यनित्यमेव तत एव । न चार्थक्रियारहितं वस्तु सत् खरशृंगवत्, अर्थक्रियाकारिण एव वस्तुनः सत्वोपपत्तेः । ततस्तन्नित्यानित्यं च युक्तं सूचितमविरुद्धत्वात्

जो सर्वथा एकान्त स्वरूप से नित्य है वह सत् इस नाम को कथमपि नहीं पा सकता है। क्योंकि सर्वथा नित्य एकान्त में क्रम से और युगपत्पन से अर्थक्रिया होजाने का विरोध है । और सभी प्रकारोंसे अनित्य हो सत् कैसे भी नहीं होसकता है,तिस ही कारण से यानी क्रम और युगपत्पन करके सर्वथा अनित्य पदार्थ में अर्थक्रिया होने का विरोध है। नित्य में क्रम नहीं बनता है और अनित्य में युगपत्पना रक्षित नहीं रह पाता है। जो अर्थक्रिया से रहित वस्तु है, वह खरविषाण के समान सत् नहीं है। कारण कि अर्थ-क्रिया को करने वाली ही वस्तु का सत्पना युक्तियों से निर्णीत होरहा है। तिस कारण से इस सूत्र द्वारा वह सत् नित्य और अनित्य भी सूचित किया जा चुका समुचित है। कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है। पूर्व सूत्र करके सत् के उत्पाद व्यय से युक्त कह देने पर अनित्यपना और ध्रौव्य से युक्त कह देने पर नित्यपना ध्वनित कर दिया है, इस सूत्र द्वारा नित्यपन अनित्यपन दोनों की सूचना कर दी गई है।

कुतस्तदविरुद्धमित्याह ।

किसी जिज्ञासु शिष्य की आकांक्षा है कि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार वह नित्यपन और अनित्यपन एक वस्तु में भला किस कारण से विरुद्ध नहीं हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

प्रयोजन के वश से अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी भी एक धर्म की विवक्षा होने पर प्रधानता को धार रहा स्वरूप अर्पित है और प्रयोजन नहीं होने से विद्यमान भी धर्म की अविवक्षा होजाने से वस्तुका गौणभूत स्वरूप तो अनर्पित है, अर्पित और अनर्पित स्वरूपों करके वस्तु के नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अपेक्षितत्व, अनपेक्षितत्व दैवकृतत्व, पुरुषार्थकृतत्व, आदि धर्मों की सिद्धि होजाती है, अतः वस्तु में नित्यपन और अनित्यपन विरोधरहित होकर सकुशल ठहर रहे हैं ।

तद्भावेनाव्ययं नित्यमतद्भावेन सव्ययमनित्यमिति साध्यं । ततः

"अर्पितानर्पितसिद्धेः" इस सूत्र को तो हेतुवाक्य बना लो तथा तद्भाव करके अव्यय होना नित्य है, और तादृश, विसदृश, अतद्भाव करके व्ययसहित होना अनित्य है, इसको यहां साध्य बना लिया जाय वस्तुको पक्ष कोटि में धर लिया जाय तिस कारण इस सूत्र का पूर्वापर सम्बन्ध मिला कर यों परार्थानुमान वाक्य बना लिया जा सकता है, कि

नित्यं रूपं विरुध्येत नेतरेणैकवस्तुनि ।
अर्पितेत्यादिसूत्रेण प्राहैवं नयभेदवत् ॥ १ ॥

एक वस्तु में इतर यानी अनित्य स्वरूप के साथ वर्त रहा नित्यस्वरूप धर्म विरुद्ध नहीं होता है, (प्रतिज्ञा वाक्य) अर्पित और अनर्पित करके सिद्ध होजाने से (हेतु) नय के भेदों के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अर्थात्-निश्चयनय व्यवहारनय या द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, संग्रहनय, ऋजुसूत्रनय, आदि के भिन्न विषयों में अविरुद्ध होकर नाना धर्म जैसे व्यवस्थित होरहे हैं, उसी प्रकार प्रधानता और अप्रधानता से आरोपे गये अनेक रूप युगपत् वस्तु में ठहर रहे हैं, प्रतीयमान धर्मों से कोई विरोध नहीं है । "नयभेदावत्, यह पाठ अच्छा जंचता है, नय के भेद प्रभेदों को जानने वाले सूत्रकार महाराज इस अर्पितानर्पित इत्यादि सूत्र करके इस प्रकार अनुमान वाक्य को बहुत अच्छा कह रहे हैं ।

कुतः पुनः सतो नित्यमनित्यं च रूपमर्पितमनर्पितं चेत्याह ।

यहां पुनः किसी की जिज्ञासा है कि सत् वस्तुका नित्य रूप और अनित्यरूप भला किसी कारण से अर्पित यानी प्रधानपने से विवक्षित होजाता है ? तथा नित्यपना या अनित्यपना क्यों अनर्पित होजाते हैं ? बताओ ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं ।

मुनि दर्शनिक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्यार्थादर्पितं रूपं पर्यायार्थादनर्पितं ।
नित्यं वाच्यमनित्यं तु विपर्यासात्प्रसिद्ध्यति ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिक नय के विषय होरहे द्रव्य स्वरूप अर्थ से प्रधानपन को प्राप्त होरहा और पर्यायार्थिकनय के विषय माने गये पर्याय स्वरूप अर्थसे अविवक्षित होकर अनर्पित होरहा वस्तु का नित्य स्वरूप कहना चाहिये तथा इसके विपरीतपने यानी द्रव्यार्थिक से अनर्पित और पर्यायार्थिक से अर्पित स्वरूप करके तो वस्तु का अनित्य स्वरूप प्रसिद्ध होरहा है । भावार्थ- जैसे कि धूम हेतु में अग्नि की अपेक्षा साधकत्व और पाषाण की अपेक्षा असाधकत्व धर्म विराजमान है, सद् गृहस्थ यदि स्व स्त्री के लिये काम पुरुषार्थी होय और परस्त्री के लिये सुदर्शन सेठ के समान नपुंसक होय तो यह कुलीन पुरुष का निज स्वरूप है, कोई अपयश या गाली नहीं है ।

द्रव्यार्थादादिष्टं रूपं पर्यायार्थादनादिष्टं यथा नित्यं, तथा पर्यायार्थादादिष्टं द्रव्यार्थादनादिष्टमनित्यमिति सिद्ध्यत्येव । ततस्तदेकत्र सदात्मनि न विरुद्धं । यदेवं रूपं नित्यं तदेवानित्यमिति वचने विरोधसिद्धेः विकलदेशायत्तनयनिरूपणायां सर्वथा विरोधस्यानवतारात् ।

जिस प्रकार द्रव्य स्वरूप अर्थ से निरूपित किया गया और पर्याय-आत्मक अर्थ से नहीं कहा जा चुका स्वरूप नित्य है, उसी प्रकार पर्याय अर्थ स्वरूप से आदिष्ट किया गया और द्रव्य अर्थ से नहीं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्ररूपा गया रूप अनित्य है, यह सिद्ध होही जाता है, तिस कारण वह नित्यपन या अनित्यपन धर्म एक अखण्ड सत् आत्मक वस्तु में पाये जा रहे विरुद्ध नहीं। जो ही रूप नित्य है, वही अनित्य है, इस प्रकार कहने में तो विरोध दोष की सिद्धि है, किन्तु विकल देश या विकलादेश कथन के अधीन होकर नय की प्ररूपणा करने पर सभी प्रकारों से विरोध दोष का स्याद्वादसिद्धान्त में अवतार नहीं है।

नन्वेवमुभयदोषाद्यनुषंगः स्यादित्याशंकायामिदमाह।

यहां किसी का **प्रश्न** है, कि इस प्रकार एक वस्तु में नित्य, अनित्य दो रूपों को मानने पर उभय दोष, संकर आदि आठ दोषों के आजाने का प्रसग होगा अर्थात्-भेदाभेद या नित्यानित्य पक्ष में उभय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, संशय, अनवस्था और अप्रतिपत्ति हेतुक अभाव ये आठ दोष आजावेंगे ? नित्यपन, अनित्यपन, दोनों प्रतिकूल धर्मों को एक वस्तु का रूप मानने पर उभय दोष है, जैसे धर्म, अधर्म दोनों का उभय नहीं होसकता है, 'उभौ अवयवौ यस्य तदुभयं' शुद्ध अशुद्ध आत्माओं का ऐक्य जैसे अलीक है, 'उभौ आत्मानौ यस्य'। उसी प्रकार नित्य अनित्य रूपों की एक वस्तु में निष्ठा अलीक है। २ विधि और निषेध स्वरूप नित्य अनित्य रूपों का एक अभिन्न वस्तु में असम्भव है, अतः शीत स्पर्श और उष्णस्पर्श के समान विरोध है।

३ नित्य रूप का अधिकरण न्यारा होना चाहिये और सर्वथा भिन्न माने गये अनित्य का अधिकरण्य भिन्न होना चाहिये यों दोनों रूपों को एक स्थान पर ठहरा देने से वैयधिकरण्य हुआ एक म्यान में दो तलवारें नहीं ठहर पाती हैं। तथा जिस स्वरूप से नित्यपन है, उसी स्वरूप से अनित्यपन मानने पर भी विरोध अथवा वैयधिकरण्य दोष घुस पड़ते हैं।

४ वस्तु के जिस स्वरूपसे नित्यपन माना गया है, उसी स्वरूप से अनित्यपन क्यों नहीं होजाय या जिस स्वरूप करके अनित्यपन है, उसी स्वरूप करके नित्यपन प्रतिष्ठित होजाय, सहोदर भाइयों में अपना तेरई का प्रवेश नहीं होना चाहिये, यों धर्मों के अवच्छेदकों का यौगपद्य या मिश्रण होजाने से संकर दोष हुआ जाता है।

५ जिसस्वरूप से अनित्यपन है, वस्तु के उसी स्वरूप से नित्यपन क्यों न होजाय ? और जिस स्वरूप से नित्यपन है, उस स्वरूप से अनित्यपन भी होजाओ, यों परस्पर विषयगमन होजाने से व्यतिकर दोष हुआ।

६ वस्तुको नित्य, अनित्य-आत्मक मानने पर असाधारण स्वरूप करके निश्चय नहीं किया जासकता है, अतः संशय दोष ठहरा। ७ जिस स्वरूपसे नित्यपन है उसी स्वरूप से कथंचित् अनित्यपन मानने पर फिर उन दोनों स्वरूपों का वस्तु के साथ अभेद माना जायेगा, पुनः एक एक उस सत् रूप में नित्यपन अनित्यपन की पल्पना करते हुये आकांक्षा बढ़ती हुई रहने के कारण अनवस्था दोष आजावेगा।

८ एक वस्तु में नित्यपन किस प्रकार माना जाय ? और साथ ही अनित्यपन भी कैसे माना

जा सकता है ? यों धर्मों का कुछ भी निर्णय नहीं होने से वस्तु का परिज्ञान नहीं हो सकना अप्रतिपत्ति है, जिसकी प्रतिपत्ति नहीं उसका अभाव ही माना जायेगा। यों जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त में उभय दोष आदि का प्रसंग आजावेगा इस प्रकार किसी शिष्य की सशय पूर्वक आरेका के प्रवर्तने पर ग्रंथकार इस समाधानकारक अग्रिम वार्तिक को कहते हैं।

प्रमाणार्पणतस्तत्स्याद्वस्तु जात्यंतरं ततः।
तत्र नोभयदोषादिप्रसंगोनुभवास्पदे ॥ ३ ॥

प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से विचारा जाय तो वह वस्तु उन नित्यपन और अनित्यपन दोनों से तीसरी ही जाति की नित्यानित्यात्मक प्रतीत होरही है, तिस कारण प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में स्थान पा चुकी उस वस्तु में उभय दोष, विरोध दोष आदि का प्रसंग नहीं है। बौद्धों के सेचक ज्ञान और वैशेषिकों के सामान्य विशेष (पृथिवीत्व आदि व्याप्य भी व्यापक जातियां) तथा सांख्यों की त्रिगुण-आत्मक प्रकृति इन दृष्टान्तों से आठों दोषों का परिहार होजाता है, पक्की हवेलियों में लगे हुये पत्थर के पतले पतले लम्बे ठोड़ों पर तीन तीन चारचार खन की गौखें ऊपर ऊपर लद रहीं देखी जाती हैं। टोड़ों के बित को देख कर कितने ही पुरुष यों आशका करते हैं, कि इतनी इमारत इन टोड़ों पर नहीं डट सकती है, किन्तु जब कार्य होरहा है, पचासों वर्ष तक चार चार खन उन पर लदे हुये अटूट देखे जा रहे हैं, तथा उन छज्जों पर भीतर सामान रखना, खेलना कूदना आदि क्रियायें भी होरहीं देखी जाती हैं, तो ऐसी दशा में खटका रखने वाले पुरुषों का ज्ञान भ्रान्त होजाता है। छटांक भर की ककड़ी हजार मन के पत्थर को गिरने से रोके रखती है, पतली सी डालपर अधिक बोझ लाद दिया जाता है, व्यर्थ में संशय आदि दोष उठाना ठलुआ पुरुषों का बेहूदा कार्य है, प्रतीत किये जा रहे पदार्थ में कोई दोष नहीं, इसको हम पूर्व प्रकरणों में भी कई बार कह चुके हैं।

न हि सकलादेशे प्रमाणायत्ते प्रतिभासनमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तदुभयविरोधदोषाभ्यां स्पृश्यते, तस्य नित्यानित्यैकांताभ्यां जात्यंतरत्वात्।

द्रव्य और पर्यायों से तदात्मक होरही वस्तु है, वस्तु के द्रव्य अंश को द्रव्यार्थिक नय जानती है, और पर्यायों को पर्यायार्थिक नय द्वारा जान कर विकलादेश द्वारा निरूपण किया जाता है, अखण्ड वस्तु के अंशों का निरूपण करना विकलादेश है।

जब कि कोई भी शब्द हो अपने प्रकृत्यर्थ अनुसार वस्तु के एक गुण को ही कहेगा अतः एक गुण की मुख्यता करके अभिन्न एक वस्तु का कथन किया जाता है, वह सकलादेश है।

सकलादेश वक्ता के पूर्व प्रकरण ज्ञान से उपजता है, और श्रोता के प्रमाण ज्ञान को उपजाता है,अतः सकलादेश प्रमाणाधीन माना जाता है,तथा विकलादेश नयाधीन होता है,यह प्रतिपादक के नय ज्ञान से उपज रहा सन्ता श्रोता प्रतिपाद्य के नय ज्ञान को उपजा देता है।

'एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः' 'निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः' यह श्री अकलंक देव महाराज का वचन है। यहां ग्रन्थकार कहरहे हैं, कि प्रमाण के अधीन होकर जब सकलादेश की व्यवस्था है, तो प्रमाण द्वारा वस्तुका सर्वांग निरूपण या बहुअंग-प्रतिपादन होजाने पर जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त होरहे सत् का प्रतिभास होरहा है, वह उभय दोष और विरोध दोष करके नहीं छुआ जाता है, क्योंकि वह अनेकान्तात्मक सत् बेचारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनों दूषित एकान्तो से तृतीय ही निराली जाति का नित्यानित्यात्मक है, उस सत् के नित्य अनित्य दोनों आत्मा हैं। गाय और पानी को मिला कर दूध नहीं बनाया गया है, किन्तु प्रथम से ही दूध स्वकीय पौष्टिकत्व, द्रवण, मिष्टता, आदि गुणों से युक्त होकर आत्मलाभ कर चुका है।

बौद्धोंके यहां माना गया चित्र ज्ञान प्रथमसे ही नीलाकार, पीलाकार, आदि को स्वायत्त कर रहा इन्द्र धनुष के समान बना बनाया है, वैशेषिकों के यहां सत्ता की अपेक्षा व्याप्य होरही और घटत्व, पटत्व, आदि जातियों की अपेक्षा व्यापक होरही पृथिवीत्व जाति बेचारी अनादि से अनन्त काल तक सामान्यविशेषात्मक ठहर रही मानी गई है। एक धूप-दान अवयवी में कुछ ऊपरले अंशों में उष्णता और निचले भाग में शीतता का जब प्रत्यक्ष होरहा है, तो यहां विरोध दोष का अवकाश नहीं है, 'अनुपलम्भसाध्यो विरोधः' दोनों का एक अनुपलम्भ होता तो सहानवस्थान विरोध साधा जाता। प्रकरण-प्राप्त नित्य अनित्यपन, का एकत्र उपलम्भ होजाने से कोई विरोध दोष नहीं आता है।

तत एव नानवस्था वैयधिकरण्यं संकर-व्यतिकरौ वा संशयो वा यतो प्रतिपत्तेरभावस्तस्यापाद्यते चित्रसंवेदनवदनुभवास्पदे वस्तुनि तदनवतारात्।

तिस ही कारण से यानी सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य से तीसरी ही जाति वाली वस्तु की व्यवस्था होजानेसे अनवस्था, वैयधिकरण्य, और संकर, व्यतिकर अथवा संशय दोष भी नहीं होसकते हैं, जिन दोषों के वश से कि प्रतिपत्ति नहीं होजाने के कारण उस वस्तु का अभाव होजाना इस आठवें दोष का आपादन किया जा सके। चित्र संवेदन या मेचक ज्ञान के समान जब अनेकान्तात्मक वस्तु प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में आलीढ होरही है, तो ऐसी प्रतीत वस्तु में उन अनवस्था आदि दोषों का अवतार नहीं है। अर्थात्-वस्तु को नित्यपन, अनित्यपन, तदात्मक आक्रान्त मान लेने पर पुनः उत्तरोत्तर आकांक्षा नहीं बढ़ पाती है, जैसे कि सामान्य के विशेष होरहे पृथिवीत्व में पुनः अन्य सामान्य विशेषों को धर देने की अभिलाषा नहीं होती है, अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, कहीं कहीं तो यानी द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भावकर्म से द्रव्य कर्म आदि स्थलों में अनवस्था बेचारी गुण का रूप धारण कर लेती है, जैसे कि अनेक पुरुषों की एकता सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रों की एकता के समान गुण है, किन्तु वात, पित्त, कफ, की सूचक नाड़ियों की एकता तो त्रिदोष है।

यहां प्रकरण में अनवस्था दोषका कोई अवसर नहीं है, उत्पाद व्ययों की अपेक्षा अनित्यपन और ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य वस्तु में क्रीड़ा कर रहे हैं। और अनन्त गुणों की पर्यायों में अनन्ते,

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, होते रहें ऐसे अनन्तानन्त से स्याद्वादियों को कोई भय नहीं है, आकाश के समान अनन्त सर्वत्र किसी न किसी ढग से प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट होरहा है, इस वस्तु-स्वभाव के लिये हम क्या कर सकते हैं, वस्तु को अनेक धर्म-आत्मकपन रुचता है।

तथा नित्यपन, अनित्यपन दोनों धर्मों की एक ही अधिकरण में वृत्ति होजाने करके प्रतीत होजाने से वैयधिकरण्य दोष को भी वस्तु में स्थान नहीं मिलता है। मेचक ज्ञान के दृष्टान्त से संकर का और सामान्य विशेष के दृष्टान्त से व्यतिकर दोष का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है। पक्षपात को छोड़ कर उभय-आत्मक वस्तु का निर्णय होचुकनेपर सशय दोष भी हट जाता है, चलायमान ज्ञप्ति होती तो संशय होता जबकि उक्त दोषों रहित होरही वस्तुकी बालक बालिका तक को समीचीन प्रतिपत्ति होरही है, तो फिर अनवस्था दोष [illegible] आ सकता है। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रतीत किये जा रहे वस्तु में कोई भी दोष नहीं आते हैं।

तदित्थं परापरद्रव्यस्य सल्लक्षणस्य प्रसिद्धेर्न चाक्षुषमवयविद्रव्यं पुद्गलस्कंधसंज्ञक प्रतिक्षेप्तुं शक्य, सर्वप्रतिक्षेपप्रसंगात्।

तिस कारण अब तक इस प्रकार शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य अथवा सामान्यतः पर द्रव्य और विशेषतः जीव पुद्गल आदि अपर द्रव्य के सत् लक्षण की प्रसिद्धि होरही है। सत् लक्षण वाले नित्य, अनित्य-आत्मक द्रव्य की प्रसिद्धि होजाने से चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा और पुद्गल स्कन्ध इस नाम के धारी अवयवी द्रव्य का प्रतिक्षेप नहीं किया जा सकता है। यों प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से अनुभवे जा रहे पदार्थों का यदि निराकरण कर दिया जायेगा तब तो सभी वादियों के यहां इष्ट पदार्थों के खण्डन होजाने का प्रसंग आजावेगा जो कि किसी को इष्ट नहीं पड़ेगा। यहां तक "भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष" इस सूत्र की संगति को बखानते हुये ग्रन्थकार ने अवयवी पुद्गल स्कन्ध में द्रव्यपना अक्षुण्ण कर दिया है। सूत्रकार महाराज को उक्त सूत्ररचना भी सुसंगठित है।

कुतः पुनः पुद्गलानां नानाद्रव्याणां संबंधो यतः स्कन्ध एकोवतिष्ठत इत्यारेकायामिदमाह।

अग्रिम सूत्रका अवतारण यों है कि कोई जिज्ञासु यहां शंका उठाता है कि भिन्न भिन्न होरहे अनेक पुद्गल द्रव्यों का सम्बन्ध फिर भला किस कारण से होगा ? जिससे कि एक पौद्गलिक स्कन्ध द्रव्य प्रतिष्ठित होजाय ? इस प्रकार बौद्ध मत के आभास अनुसार शिष्य की आशंका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निग्धपन और रूक्षपन से पुद्गलों का बन्ध होजाता है। अर्थात्—अनन्त गुण वाले पुद्गल द्रव्य में दो स्पर्श गुण भी हैं, एक स्पर्शन इन्द्रिय से ही दोनों का या दोनों की परिणतियों का परिज्ञान

होजाता है। अतः दोनों को भले ही एक "स्पर्श" शब्द करके कह दिया जाय। दोनों में से नियत एक स्पर्श गुण की किसी समय शीत और किसी समय उष्ण स्वरूप पर्याय होती रहती है तथा दूसरे प्रतिनियत स्पर्श गुण की तो कदाचित् स्निग्ध और कभी रूक्ष परिणति बनती रहती है। परमाणुओं में भी पाई जाने वाली शीत या उष्ण परिणतियां अथवा स्कन्धोंमें ही पाये जाने वाली स्पर्शकी हलका भारी, नरम, कठोर, ये परिणतियें एवं अन्य अनन्त गुणों की परिणतियां ये कोई भी बन्ध का हेतु नहीं हैं, जल का केवल स्निग्धपना ही सतुआओं के कणों को बांध कर पिण्ड कर देता है, जल के रूप, रस, गन्ध, द्रवत्व, अस्तित्व, आदिक अनेक गुण बांधने के उपयोगी नहीं है।

पत्थर या ककड़ों के बने हुये चूने को प्रथम ही जल डाल कर बुझा लिया जाता है उस गीले चूने में जितनी ईंट, पत्थर को परस्पर चुपकाने की शक्ति है, सूखे हुये चूने में पुनः दुबारा, तिबारा, भिगो कर उतना चूपकाट नहीं रहता है। पर्वत, कंकड़, मिट्टी, आदि रूक्ष प्रकृति के पदार्थ स्वकीय रूक्षता से स्वांशों में दृढ़ बंध रहे हैं,दन्तधावन में प्रमाद करने वाले पुरुषों के दान्तों मे दाल, रोटी, का कोमल भाग ही कालान्तर में हड्डी होकर दृढ बंध जाता है। मगद से लड्डुओं में जैसे चिकनापन बंध का हेतु स्पष्ट दीख रहा है, उसी प्रकार पाषाण, काठ पक्की ईंट, में रूक्षता भी बन्ध का कारण प्रत्यक्षगोचर है, सूखे काठ या ईंट में दस बीस वर्ष पहिले के जल को बांधे रखने वाले कारणपन की कल्पना करना अनुचित है, कारण कि गीली अवस्थासे सूखी अवस्था का बन्धन अतीव दृढ़ है, अग्नि संयोग से पक गयी ईंट रूखेपन गुण करके दृढ़ बंध गयी है सर्वथा सूखे में जल की कल्पना करना घोड़े में सींग की कल्पना करना है, अतः स्निग्धपन, रूक्षपन, दोनों ही परमाणुओं के परस्पर बध जाने में कारण माने गये हैं।

स्नेहगुणयोगात्स्निग्धाः रूक्षगुणयोगाद्रूक्षास्तद्भावात् पुद्गलानां बंधः स्यात्। न रूक्षो नाम गुणोस्ति, स्नेहाभावे रूक्षव्यवहारसिद्धेरिति चेन्न, रूक्षाभावे स्नेहव्यवहारप्रसंगात् स्नेहस्याप्यभावोपपत्तेः, शीताभावे चोष्णव्यवहारप्रपक्तेरुष्णगुणाभावानुषंगात्। स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने शीतवदुष्णगुणस्य प्रतिभासनादुष्णो गुणः स्पर्शविशेषोनुष्णाशीतपाकजेतरस्पर्शवदिति चेत्, तर्हि स्नेहस्पर्शनकरणज्ञाने रूक्षस्य लघुगुरुस्पर्शविशेषवदवभासनात् कथं रूक्षो गुणो न स्यात्? तस्य बाधकाभावादप्रतिक्षेपार्हत्वाच्चतुर्विंशतिरेव गुणा इति नियमस्याघटनात्। तथा सति-

बौद्धों के मत अनुसार चिकनापन, रूखापन, कल्पित पदार्थ होंय सो नहीं समझ बैठना किन्तु द्रव्य के स्नेह नामक गुण के योग से पुद्गल स्निग्ध कहे जाते हैं और वस्तु के अनुजीवी रूक्ष गुण के योग से कोई पुद्गल रूक्ष कहे जाते हैं। जल, बकरी का दूध, भैंस का दूध, ऊंटनी का दूध, अथवा घी इनमें उत्तरोत्तर स्निग्धता बढ़ती जाती है, तथा रेत, वजरी, बालू, आदि में रूक्षता बढ़ रही देखी जाती है तिसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं में गांठ के वास्तविक उन स्नेह रूक्ष गुणों का सद्भाव होने

से पुद्गलों का बंध होजाता माना गया है।

यहां कोई आक्षेप करता है कि रूखापन नामका कोई गुण नही है, चिकनेपन गुण के अभाव होजाने पर रूक्षता का व्यवहार सिद्ध होरहा है जहाँ चिकनापन नहीं है उसको रूखा कहदिया करते हैं, अतः दुग्ध, घृत, चिकने सुन्दर वस्त्र भूषण, आदि भव्य जड़ पदार्थों में (यहां तक कि स्नेही इष्ट बन्धुजन आदि चेतन पदार्थोंमें भी) कल्पित स्नेह गुणको भावात्मक अनुजीवी गुण मान लिया जाय और रूक्ष गुण को रीता अभाव मान लिया जाय,रूखापन, नीरसपन, अनुष्णशीत, निर्गन्ध आदि का व्यर्थ बोझ वस्तु के ऊपर क्यों लादा जाता है ?

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो रूक्ष के अभाव में स्नेह के व्यवहार होजाने का भी प्रसंग आसकता है,वास्तविक रूक्षता के नहीं होने से रबड़ी,मलाई, तेल आदिमें चिकनेपन की कल्पना है, ऐसी दशामें चालिनी न्याय से स्नेह गुणका भी अभाव होजाना बन जाता है। इसी प्रकार शीत का अभाव होजाने से उष्ण गुण के व्यवहार का प्रसंग आजाने से उष्ण गुण के अभाव का भी प्रसंग होजावेगा। पण्डिताईको मूर्खता का अभाव कहा जा सकता है, अधार्मिकपन की व्यावृत्ति ही धार्मिकता है, हलकेपन का अभाव ही बोझ है, सुगंध का अभाव ही दुर्गन्धपन है, निबल का अभाव ही सबल है, इत्यादि आक्षेप करने वाले का मुख पकड़ा नहीं जाता है तब तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि करना अन्यापोहवादियों के यहां असम्भव है। जोड़े होरहे पदार्थों में से अन्य दूसरे दूसरे पदार्थों का यदि अभाव मान लिया जायेगा तो जगत् के आधे पदार्थों का निराकरण हुआ जाता है, प्रायः सभी पदार्थ अपने प्रतिपक्ष को ले रहे सप्रतिपक्ष हैं।

यदि आक्षेपकर्त्ता यों कहे कि स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में शीत गुणके समान अग्नि, घाम आदि के उष्णका भी समीचीन प्रतिभास होरहा है अतः वास्तविक उष्णगुण एक भावात्मक स्पर्श विशेष है, जैसे कि वैशेषिकों के यहां अनुष्णाशीत स्पर्श या पाकज और उससे निराला अपाकज स्पर्श माना गया है। वैशेषिकों ने स्पर्श के उष्ण, शीत, और अनुष्णाशीत ये तीन भेद किये हैं। जल में शीत स्पर्श है तेजो द्रव्य में उष्ण स्पर्श है, पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श माना गया है " एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् " पकी ईंट, घड़ा, आदि पृथिवी में अग्नि-संयोग करके हुये पाक से जायमान पाकज स्पर्श है किसी पृथिवी में अपाकज स्पर्श भी है।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो स्नेह का ग्रहण करने वाली स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपजे हुये ज्ञान में हलकापन, भारीपन, इन विशेष स्पर्शोंके समान रूक्ष का भी स्पष्ट प्रतिभास होजाता है, अतः स्वतंत्र भावात्मक रूक्ष गुण क्यों नहीं होवेगा ? अर्थात्—स्नेह का सहोदर भाई रूक्ष गुण अवश्य है। जो ही स्पर्शन इन्द्रिय स्नेह को जानती है वही रूखेपन का प्रत्यक्ष कर रही है। अभाव कह देने मात्र से अर्थक्रिया को करने वाले परिणाम का निराकरण नहीं होजाता है। वैशेषिकों ने अन्धकार को तेजोऽभाव मान रखा है किन्तु यह निर्बाध सिद्धान्त नहीं है जबकि काला काला अन्धकार

उन रात्रिचर पक्षियों के हृदय में विशेष ढंग की गुदगुदी उत्पन्न करना, दिवा जागर जीवोंको निद्रा लाना, मनुष्य, स्त्री, भैंस, गाय, आदि के शरीरों में आलस या विश्राम लेने के भाव आदि कार्यों को उपजाता है, चित्र (तसवीर) खींचने में अन्धकार का प्रभाव पड़ता है, रुग्ण आंखों में अन्धकार शक्ति को बढ़ाता है, अनेक सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति करने में सहायक होता है तो इत्यादि अर्थ-क्रियाओं को करने वाला होने से अन्धकार पदार्थ वस्तुभूत है।

सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, आदि के निमित्त से जैसे यहां फैल रहे पुद्गल स्कन्ध स्वयं धौले पीले प्रकाशमय परिणम जाते हैं, उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों के हट जाने पर उन्हीं पुद्गल स्कन्धों का ही काला काला परिणमन होजाता है, जैसे कि जाड़ों में सूर्य की धाम फैलने पर जो पुद्गल उष्ण होगये थे थाड़े बादल आजाने पर वे ही पुद्गल झट शीतल होजाते हैं, उष्ण काल में सूर्य के ऊपर स्वल्प बादल आड़े आते ही उष्णता न्यून होजाती है, मेघवृष्टि को कराने वाली उष्णता न्यारी है। यहां प्रयोजन केवल तत्कालीन झटिति पुद्गलों का परिणति-परिवर्तन होजाने से है। बरफ, ओला आदि में कठिनपन की प्रतीति को भ्रान्त ज्ञान कह कर वैशेषिकों ने जैसे स्वकीय मन्तव्य की हंसी कराई है, उसी प्रकार अन्धकार को तुच्छ अभाव मानने वाले वैशेषिकों के ऊपर परीक्षक या वैज्ञानिक विद्वानों को हंसी आती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शीत का अभाव उष्ण नहीं होसकता है, क्योंकि उष्ण से दाह, सन्ताप, आदि कार्य होरहे देखे जाते हैं, इसी प्रकार उष्ण का अभाव शीत भी नहीं बन सकता है, क्योंकि शीत से बरफ जम जाना, अरहर के पेड़, आम के पौधे आदि वनस्पतियों का झुलस जाना, तप्त लोहे सोने आदि का जम जाना शीताङ्गहेतुक मृत्यु काल की उपस्थिति होजाना आदि अनेक कार्य होरहे देखे जाते हैं। तथा हलकापन का अभाव भारीपन और भारी का अभाव हल ापन इनमें विनिगमना का विरह होजानेसे दोनों वस्तु-भूत पदार्थ मानने योग्य हैं, नरम और कठोर दोनों का सद्भाव मानने पर ही उनके योग्य अर्थक्रियायें हो सकेंगी।

इसी प्रकार स्निग्ध और रूक्ष दोनों की न्यारी न्यारी अर्थक्रियायें और अलग अलग प्रतिप-त्तियां होरहीं देखी जाती हैं, अतः स्निग्ध, रूक्ष दोनों गुणों का सद्भाव मान लेना अनिवार्य है। यद्यपि जैनसिद्धान्त अनुसार रूक्ष और स्निग्ध कोई स्वतंत्र नित्य गुण नहीं हैं, किन्तु स्पर्श गुण की पर्यायें हो रूखापन और चिकनापन हैं, कथंचित् अभेद नामका सम्बन्ध होजाने से क्वचित् गुण को पर्याय (सह-भावी) और पर्याय को गुण कह दिया जाता है। जैसे कि चेतना गुण के परिणाम होरहे ज्ञान को अनेक स्थलों पर गुण स्वरूप करके कह देते हैं। पर्यायों में किसी प्रधान होरही पर्याय को गुण कह देना अनुचित नहीं है, पर्याय से ऊंची पदवी गुण है। ब्राह्मणों को भूसुर यानी पृथ्वी का देव और क्षत्रियों को भूपसिंह या रणवीरसिंह, वैश्यों को धनकुबेर आदि उपाधियों से भूषित कर दिया जाता है। गुण की प्रशंसा करते हुये कभी एक गुण को पूरा द्रव्य कह दिया जाता है, जैसे कि शूरो सर्पः

आदि के गंध गुण का गन्ध द्रव्य की मुख्यता से निरूपण होजाता है, द्रव्य की प्रशंसा हांकते हुये वस्तु बखान दी जाती है, क्योंकि द्रव्य से बड़ी पदवी वस्तु की है, अनन्तानन्त शक्तियों को धार रही वस्तु की पुनः प्रशंसा करना उसी प्रकार व्यर्थ पड़ता है, जैसे कि सम्माननीय श्री समन्तभद्राचार्य ने "गुण स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वपि सा कथं" इस पद्य द्वारा अनन्त गुण सागर श्री अरनाथ भगवान् की स्तुति करने में असामर्थ्य प्रगट की है।

जो वादीभसिंह कलिकाल-सर्वज्ञ, सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती, स्याद्वादवारिधि, सिद्धान्तमहोदधि सरनाइट् रायबहादुर, रायसाहब, सी० आई० ई, जे० पी० आदि पदवियों का प्रदान करने वाला है, वह मूलस्वरूप करके प्रशंसक पदवियों से रीता है। प्रकरण में यह कहना है, कि स्निग्ध रूक्ष, दोनों भाव पदार्थ हैं, उस रूक्षपन का बाधक कोई प्रमाण नहीं है। अतः बड़ा ही मनोज्ञ "रूक्षपन" गुण प्रतिक्षेप करने योग्य नहीं है।

गुण चौबीस ही हैं, इस वैशेषिकों के नियम की घटना नहीं होसकती है, यानी १ रूप, २रस, ३ गंध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ गुरुत्व, १३ द्रवत्व, १४ स्नेह, १५ शब्द, १६ बुद्धि, १७ सुख, १८ दुःख, १९ इच्छा, २० द्वेष, २१ प्रयत्न, २२ धर्म, २३ अधर्म, २४ संस्कार, ये ही चौबीस ही गुण नहीं हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेक गुण द्रव्यों में विद्यमान हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुछ गुण तो चौबीस में भी अधिक हैं। जैसे कि पौद्गलिक स्कन्ध होरहे शब्द और पुण्य पाप को व्यर्थ ही गुणों में गिन लिया गया है। परत्व, अपरत्व, गुणोंका भी कोई मूल्य नहीं हैं। सुख और दुःख कोई स्वतंत्र दो गुण नहीं हैं, सुख गुण की विभावपरिणति ही दुःख है। गुरुत्व को यदि गुण माना जाता है, तो झोक को भी गुण मानना चाहिये जिस झोक के कारण-वश तीन गज लम्बी लठिया को एक ओर से एक अंगुल तिरछा पकड़ कर बड़ा मल्ल भी नहीं उठा सकता है, जिस खाट पर आठ मनुष्य बैठ सकते हैं, एक चंचल लड़का अपनी झोक से उसे अकेला तोड़ देता है, और भी वैशेषिकों के कई गुण परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतर सकते हैं।

अतः सिद्ध होजाता है, कि जैन सिद्धान्त अनुसार रूक्ष गुण स्वतंत्र है। स्निग्धपन और रूक्षपन से बन्ध होजाता है। और तिसप्रकार होते सन्ते जो सिद्धान्त स्थिर हुआ उसको अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा यों समझो कि—

स्कंधो बंधात्स चास्त्येषां स्निग्धरूक्षत्वयोगतः।
पुद्गलानामितिध्वस्ता सूत्रेस्मिंस्तद्भावता ॥ १ ॥
स्निग्धाः स्निग्धैस्तथा रूक्षा रूक्षैः स्निग्धाश्च पुद्गलाः।
बंधं यथासते स्कंधसिद्धेर्बाधकहानितः ॥ २ ॥

सूत्र का अर्थ यह है, कि स्निग्धपन और रूक्षपन का योग होजाने से इन पुद्गलों का बंध होजाता है, और बंध होजाने से वह प्रसिद्ध स्कन्ध उपज बैठता है, यों इस 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः, सूत्र में निरूपण है, अतः उस बंध का अभाव या स्कन्ध का अभाव ध्वस्त कर दिया गया है। अर्थात्–बौद्ध पण्डित न तो बंध को मानते हैं, और न स्कन्ध को स्वीकार करते हैं, इस सूत्र द्वारा दोनों के अभाव का खण्डन कर दिया है। कारण कि जिस प्रकार चिकने पदार्थ सचिक्कण पदार्थों के साथ बंध जाते हैं, तिसी प्रकार रूखों के साथ रूखे पदार्थ और स्निग्ध पुद्गल भी बंध कर बैठ जाते हैं। अथवा जैसे रूखों को चिकने पदार्थ बांध लेते हैं, या चिकने चिकनों को बांध लेते हैं, उसी प्रकार रूखे पुद्गल भी रूखे या चिकने पुद्गलों को बांध बैठते हैं, यों बंध द्वारा स्कन्ध की सिद्धि होजाने के बाधक प्रमाणों की हानि है। अर्थात्– जगत् में स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ, रूक्ष पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, बंध कर अनेक स्कन्ध बन रहे निर्बाध प्रतीत होरहे हैं।

नैकदेशेन कार्त्स्न्येन संभवात्तत्र तत्कृतः।
कार्यकारणमाध्यस्थ्यक्षणवत्तद्विभावनात्॥ ३॥

जिस कारण से कि संसर्ग कर बंधने वाले पदार्थों का एक देश करके अथवा सम्पूर्ण देशवृत्तिपने करके बंध होजाने की घटना नहीं होसकती है, तिस कारण से कार्य क्षण (क्षणिक काय स्वरूप स्वलक्षण) और कारणक्षण (पूर्वसमयवर्त्ती क्षणिक कारण स्वरूप स्वलक्षण) के साथ उनके मध्य में स्थित होरहे संसर्गी क्षणिक स्वलक्षण के समान उन स्निग्ध रूक्ष पदार्थों का भी परस्पर में बंध जाने का विचार कर लिया जाता है। अर्थात्–अर्थों में कार्य कारणभाव को मानने वाले सौत्रान्तिक बौद्धों के यहां जैसे उन कार्य कारणों के मध्यवर्त्ती सन्तान की एक-देशपने करके या सर्वदेशपने करके संसर्ग नहीं घटित होने पर भी मध्यस्थता बन जाती है, उसी प्रकार जैनों के यहां अवयवसहितपन और अनवस्था दोष को टालते हुये एकदेशेन या सर्वात्मना सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं कर केवल स्निग्धत्व रूक्षत्व, परिणतियों अनुसार परमाणुओं का बंधजाना निर्णीत करलिया गया है।

यथैककार्यकारणक्षणाभ्यां तन्मध्यस्थस्यैकदेशेन संबंधे सावयवत्वमनवस्था च तदेकदेशस्याप्येकदेशांतरेण संबंधात्। कार्त्स्न्येन संबंधे पुनरेकक्षणमात्रसंतानप्रसंगः कार्यकारणभावाभावश्च सर्वथैकस्मिंस्तद्विरोधात्। किं तर्हि? सबंध एवेति कथ्यते। तथा परमाणूनामपि युगपत्परस्परमेकत्वपरिणामहेतुर्बंधो नैकदेशेन सर्वात्मना वा सावयवत्वानवस्थाप्रसंगादेकपरमाणुमात्रपिंडप्रसंगाच्च। किं तर्हि? पिंड एव स्निग्धरूक्षत्वविशेषायत्तत्वात्तस्य तथा दर्शनात् सक्तुतोयादिवत्।

बौद्धमत की बात है, कि जिस प्रकार एक कार्यक्षण और दूसरे एक कारणक्षण के साथ उस मध्य में स्थित होरहे अनुस्यूत कार्यकारणभावापन्न अर्थ का यदि एकदेश से सम्बन्ध माना जायेगा तो

प्रथम से ही अवयव सहितपना मानना पड़ेगा जैसे कि पंचांगुल के ऊपर दूसरे पंचांगुल को धर देने पर एक एक अंगुलीस्वरूप एकदेश से सम्बन्ध मानने पर पहिले ही दूसरे पंचांगुल में अंगुलियां स्वरूप अवयव मानने पड़ते हैं, और उन अवयवों का भी पुनः अपने अवयवों के साथ एकदेश से संसर्ग मानने पर पुनः अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी, यों पहिले से ही उसके कतिपय देश पुनः मानने पड़ेंगे, इस प्रकार अवयवों की धारा बढ़ते बढ़ते अनवस्था दोष आवेगा क्योंकि उस एक देश का भी अन्य एक एक देशों के साथ सम्बन्ध चला जायेगा। यदि कार्य कारणों के साथ उस मध्यवर्त्ती सन्तान का परिपूर्ण रूप करके सम्बन्ध माना जायेगा तब तो फिर सन्तान को केवल एकक्षणिक स्वलक्षण स्वरूप होजाने का प्रसग आजावेगा जैसे कि एक परमाणु का दूसरे परामाणु के साथ सर्वांग सम्बन्ध होजाने पर परमाणुमात्र ही प्रचय रह जाता है, अथवा एक कटोरी भर पानी का अन्य कटोरी भर दूरे के साथ परिपूर्ण संसर्ग होजाने पर वह कटोरी भर परमाणु का धारी ही पदार्थ बन जाता है।

एक बात यह भी है, कि कार्य कारण क्षणों का परस्पर सर्वांगीण सम्बन्ध मान लेने पर बेचारे कार्य कारण भाव का ही अभाव होजावेगा क्योंकि सर्वथा एक होरहे पिण्ड में उस कार्य कारण भाव के होने का विरोध है, अतः उक्त चार दोषों के भय से हम बौद्ध एक-देशेन या सर्वात्मना तो सम्बन्ध मान नहीं सकते हैं, और कार्यकारण भाव की धारा निर्णीत करना ही है, ऐसी दशा में कोई हम बौद्धों से प्रश्न करे कि तब तो फिर संतान बनानेका उपाय क्या है ? इसका उत्तर यही होगा कि उन कार्य कारण क्षणों का सम्बन्ध है ही, यह कह दिया जाता है।

आचार्य महाराज कहते हैं, कि जिस प्रकार बौद्ध अपने कार्य कारणक्षणों के सन्तान की धोंस दिखाते हुवे रक्षा कर लेते हैं, उसी प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि तिसी प्रकार परमाणुओं का भी जो युगपत् परस्पर में संसर्ग होकर एकत्व परिणति का हेतु जो बंध होरहा है, वह न तो एक देश करके है, क्योंकि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक देशेन संसर्ग मानने पर परमाणु के पहिले से ही कई एक देश मानने पड़ेंगे उन एक देशोंका भी परस्पर या परमाणुके साथ एक एक देश करके सम्बन्ध मानते मानते अनवस्था दोष भी आजावेगा। यों परमाणु के अवयव सहितपन दोष और अनवस्था दोष का प्रसंग आया। तथा परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बंध जाना मानने पर पिंड को केवल एक परमाणु बराबर होजाने का प्रसंग आता है, जो कि क्षम्य नहीं है, अन्यथा जगत् में कोई भी लम्बा चौड़ा पदार्थ दृष्टि-गोचर नहीं होसकेगा, तब तो फिर परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का किस प्रकार से बंध माना जाय ?।

इसका उत्तर हम जैन भी धोंस दिखाते हुये यही कहेंगे कि परमाणुओं का भी पिण्ड ही बंध रहा है, क्योंकि विशेष स्निग्धपन और रूक्षपन के अधीन होकर वह पिण्ड स्कन्ध बन गया है, वस्तु परिणतिके अनुसार तिसी प्रकार बंध होरहा देखा जाता है, जैसे कि सतुआ पानी, दही, बूरा, क्षीर, नीर चांदी, टांका आदि का पिण्ड बंध रहा देखा जाता है, भट्टा में कदाचित्, क्वचित्, ईंटों का डिम्मा बंध

जाता है। यों तीसरी कारिकाका व्याख्यान है, पंक्तिके सबसे पहिले 'यथा' का इस 'तथा' के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

बंध परिणति में दोनों का कथंचित् एकत्व होजाता है. अतः तादात्म्य की ओर दुलक रहा संयोग सम्बन्ध बेचारा एक अनिर्वचनीय योजक है, जोकि बंधे हुये पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध को डालता हुआ संयोगको भी डाल देता है,पदार्थोंकी बंध परिणतिका प्रत्यक्ष अवलोकन कर इस सम्बन्ध को वाचक शब्दों के बिना अवक्तव्य ही समझ लो, किसी पदार्थ के वाचक शब्द यदि नहीं मिलें तो उस वस्तुभूत निर्विकल्पक तथ्य प्रमेय का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

पूर्वापरविदां बंधस्तथाभावात् परो भवेत्।
नानाणुभावतः सांशादणोर्बन्धोऽपरोस्ति किम् ॥ ४ ॥
निरंशत्वं न चाणूनां मध्यं प्राप्तस्य भावतः।
तथा ते संविदोर्मध्यं प्राप्तायाः संविदः स्फुटम् ॥ ५ ॥

बौद्ध पण्डित अनेक स्थलों पर यह दक्षता (पौलिसी) कर जाते हैं, कि बहिस्तत्ववादी बन कर झट अन्तस्तत्व-वादी का वेष (पार्ट) ले लेते हैं, सौत्रान्तिक बौद्धों के यहां बहिरंग स्वलक्षण अन्तरंग स्वलक्षण यों जड़, चेतन, अनेक तत्व माने गये हैं, किन्तु योगाचार के यहां केवल विज्ञान स्वलक्षण ये अन्तस्तत्व ही स्वीकार किये गये हैं, अतः विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के मतानुसार पूर्वक्षणवर्त्ती और उत्तरक्षणवर्त्ती विज्ञानों का सन्तान या संसर्ग अथवा बंध माना ही गया है, तिसी प्रकार लड़ी में बंधे हुये मोतिओं के समान ज्ञानों का परस्पर बंध होरहा क्या भिन्न पदार्थ होगा ? अर्थात् -नहीं ?। इसी प्रकार अनेक अणुओं के तथा-भाव से होरहा अंश-सहित अणु के साथ बन्ध क्या अपर पदार्थ होगा ? अर्थात्-जैसे वैशेषिकों ने विशिष्ट संयोग को बंध मान कर द्रव्यों से उस संयोग को भिन्न गुण माना है, उस प्रकार बौद्ध या जैन उस बंध को भावों से भिन्न नहीं मानते हैं. अणु के एक देश से दूसरे अणु का संसर्ग होना प्रतीत होता है, अतः अणु को सांश मानने में कोई क्षति नहीं है अनेक अणुओं के मध्य में प्राप्त होरहे अणु का भावदृष्टि से निरंशपना नहीं है,तिस प्रकार होने पर ही तो तुम योगाचार बौद्धों के यहां दो संवित्तियों के मध्य में प्राप्त होरही एक संवित्ति का स्फुट रूप से सांशपना बनेगा ज्ञान परमाणुओं के सांशपन समान पुद्गल परमाणुओं का शक्ति अपेक्षा सांशपना निर्बाध है।

संविदद्वैततत्त्वस्यासिद्धौ बंधो न केवलं।
स स्यात् किन्तु स्वसंतानाद्यभावात्सर्वशून्यता ॥ ६ ॥
तत्संविन्मात्रसंसिद्धौ संतानस्ते प्रसिद्धयति।
तद्बद्धंधः स्थितोर्थानां परिणामो विशेषतः ॥ ७ ॥

जब कि जगत् में अनेक जड़, चेतन, पदार्थ, या स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ, अथवा-कालान्तर-स्थायी पदार्थ स्पष्ट प्रत्यक्ष गोचर होरहे हैं। ऐसी दशा में योगाचारों का संवित्-अद्वैत सध जाना असम्भव हैं, अतः विज्ञानाद्वैत तत्व की सिद्धि नहीं होसकने पर केवल वह प्रसिद्ध बंध ही तो नहीं होसकेगा किन्तु स्वकीय सन्तान आदि का अभाव होजाने से सम्पूर्ण पदार्थों के शून्यपन का प्रसंग आजावेगा और उस संविन्मात्र तत्व की भले प्रकार सिद्धि होचुकने पर तो तुम बौद्धों के यहां सन्तान पदार्थ अवश्य प्रसिद्ध होजाता है, उसी सन्तान के समान बंध पदार्थ भी पदार्थों का परिणाम होकर व्यवस्थित है। कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—सम्वेदनाद्वैत-वादियों के सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होसकती है। उन्हीं युक्तियों करके स्वकीय सन्तान, परकीय सन्तान अथवा अन्य पदार्थों का अभाव होजाने से शून्यवाद आजाता है जो बहिरंग ज्ञेयको नहीं मान कर अन्तस्तत्व ज्ञानको ही मान बैठा है और अन्य आत्माओं के विज्ञानों का स्वसम्वेदन नहीं होने से परकीय ज्ञान-सन्तानों का अभाव कह चुका है। यों संकोच होते होते अपने भूत भविष्य क्षणिक ज्ञानों का भी अभाव मान चुकेगा वह बेचारा एक वर्तमान काल के ज्ञान स्वलक्षण का सद्भाव नहीं साध सकता है। क्योंकि "नाकारणं विषयः" बौद्धों ने ज्ञान के कारण को ही ज्ञान का विषय मान रक्खा है, ज्ञान को जानने वाले द्वितीय ज्ञान के अवसर पर प्रथम ज्ञान जो विषय था वह नष्ट होचुका और पूर्व ज्ञान समय पर उसका परिज्ञाता ज्ञान उपजा ही नहीं था, ऐसी दशा में सर्वशून्यता छा जाती है, अनेकों बौद्धों को छोड़ने वाले योगाचार [illegible] कहां सम्वेदनाद्वैत की सिद्धि यदि मानी जायगी तब तो सन्तान और बंध अवश्य मानने पड़ेंगे जो कि बंध उन पदार्थों की वास्तविक परिणति के वश है, सांवृत या कल्पित नहीं है।

शून्यवादिनापि संविन्मात्रमुपगंतव्यं तस्य चावश्यं कारणमन्यथा नित्यत्वप्रसंगात् कार्यमभ्युपगंतव्यमन्यथा तदवस्तुत्वापत्तेरिति तत्संतानसिद्धिः। तत्सिद्धौ च कार्यकारणसंविदोर्मध्यमध्यासीनायाः संविदस्तत्संबंधेति सांतत्याभाववत्परमाणूनां मध्यमधिष्ठितोपि परमाणोरनंशत्वमिद्धेस्तन्मर्वसमुदायविशेषोप्यनेकपरिणामो बंधः प्रसिद्धयत्येव।

शून्यवादी पण्डित करके भी केवल शुद्ध सम्वेदन तो अवश्य ही स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष में दूषण देना ही असम्भव होजायेगा। दूसरों को ठगने वाले पण्डित आत्म-वंचना तो नहीं करें। सम्वेदनके विना तो पर-प्रत्यायन क्या स्वप्रत्यायन भी नहीं होपाता है। और उस सम्वेदन का कोई कारण भी अवश्य मानना पड़ेगा अन्यथा यानी कारण माने विना उस सम्वेदन के नित्य होजाने का प्रसंग आजावेगा "सदकारणवन्नित्यं" तथा उस सम्वेदन का कोई कार्य भी स्वीकार करना चाहिये अन्यथा यानी सम्वित्ति के कार्य को माने विना उस सम्वेदन के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा "अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणं"। यों उस सम्वेदन तत्व के पूर्वोत्तरवर्त्ती सन्तान की सिद्धि हो ही जाती है।

तथा उस सन्तान की सिद्धि होचुकने पर कार्य-सम्वेदन और कारण-सम्वेदन के मध्य में

बैठी हुई सम्वित्ति को उन कार्यकारणों का सम्वेदन होनेपर भी जैसे सांशपना नहीं माना गया है उसी प्रकार अनेक परमाणुओं के या छःऊ दिशाके छः परमाणुओं के मध्य में अधिष्ठित होरही परमाणु का भी अनंशपना सिद्ध होजाता है, अतः उन अनेकों या सातों अथवा दो आदि सम्पूर्ण परमाणुओं का विशेष रूप से होरहा समुदाय भी अनेक परमाणुओं का वस्तुभूत परिणाम होरहा बध पदार्थ प्रसिद्ध हो ही जाता है। भावार्थ—निरंश परमाणुओं का सांश बंध होगया। शक्ति की अपेक्षा परमाणुओं में सांशपना भी अभीष्ट किया जा चुका है, यदि परमाणु में सांशपना नहीं होता तो कार्य-स्कन्धों में सांशपना कहां से आता ? सन्तान. समुदाय, प्रेत्यभाव, की साधने के लिये बौद्ध भी कुछ न कुछ उपाय रचते हैं। वह बध का प्रयोजक होसकता है अतः सूत्रकार का यह सिद्धान्त निर्दोष है कि स्निग्धपन और रूक्षपन से बंध होजाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रूखापन तो विभाग कर देगा, बांधेगा नहीं ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि वणिग् वृत्ति के पुरुष रूखे व्यवहार से बंध जाते हैं "भय विन होय न प्रीति" की नीति इसी बूतेपर डटी हुई है। गीले चूना में कुछ ककरी, बजरी. रूखा, बालू रेत डाल कर उसको दृढ़ बांधने वाला बना लिया जाता है। कहीं कहीं चिकनापन बंध में उल्टा विघ्न डाल देता है थाली में घी लगा देने से पुनः खांड की बरफी थाली से चुपटने नहीं पाती है, चिकनी कीच में पांव रपट जाता है, रूखी रोटी में जितना शीघ्र दूध या पानी मिल जाता है चुपड़ी रोटी में उतना शीघ्र दूध या पानी नहीं बंधने पाता है तभी तो रूखी रोटी से चुपड़ी रोटी पचने में भारी है। जल द्वारा लड्डू ईंट, पुल,, भींत, आदि के बंधजाने पर भी मनुष्य उनका दृढ़बंधन होजाने के लिये रूखेपन की प्रतीक्षा किया करते हैं। कई चिकने पदार्थ बंधेहुये पदार्थों को पृथग्भूत कर देते हैं, रूखापन उनको जोड़ देता है। पौष्टिक औषधिओं या धातुओं, उपधातुओं अथवा दूध आदि पदार्थों में इस खेल को हम देखते हैं।

माना कि रूखेपने से स्कन्धों का कदाचित् विभाग भी होजाता है, किन्तु चिकने तेल या घी के बीच में डाल देनेपर भी अनेक पदार्थ विभक्त होजाते हैं। पहाड़ोंमें पानी भरते भरते बड़ी शिलाओं के खण्ड होजाते हैं, दूध खांड का मैल विभक्त होजाता है अण्डी के तेल से आन्तों में घुसा हुआ मल हटा दिया जाता है " तृणानि दहतो वन्हेः सखा भवति मारुत. । स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदं ।" चिकनी, चुपड़ी, कांचकी शिला या बढ़िया चटाईपर सांप नहीं चल पाता है, अधिक चिकनी सड़क पर घोड़ा या मनुष्य भी रपट जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो गीलेपन की प्रधानता से स्निग्धता और आर्द्रता (गीलापन) के अभाव से या शुष्कता से रूखापन व्यवस्थित है। वस्तुओं की विभिन्न परिणतिओं के अनेक कारण हैं जो कि लोक में विदित होरहे हैं। तदनुसार परमाणुओं के बंधने में आर्द्रता और रूखापन हेतु माना गया है " अनेकान्तो विजयतेतरां " " सिद्धरनेकान्तात् "।

स च सर्वपरमाणूनामविशेषेण प्रसक्त इति न्यक् गुणानामनिष्टगुणानां बधप्रतिषेधार्थमाह।

यों उक्त सूत्र द्वारा विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण परमाणुओं का वह बंध होजाना प्रसंग प्राप्त हुआ इस अति प्रसंग के निवारणार्थ न्यक् यानी जघन्य गुणों वाले अथवा बंध योग्य गुणों से रहित होरहे अनिष्ट गुण वाले परमाणुओं के बंध का प्रतिषेध करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैंमार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

जघन्य गुण वाले यानी निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है। अर्थात्—पूर्व सूत्र से स्निग्ध रूक्षपने करके परमाणुओं का बंध जाना सामान्य रूप से कह दिया था अब इस सूत्र से जघन्य गुण वाले परमाणुओं के बंध का निषेध कर दिया है। जघन्य गुण वालेका अर्थ एक गुण वाला नहीं होसकता है क्योंकि स्पर्श गुण की स्नेह परिणति या रूक्ष परिणति के अविभाग प्रतिच्छेद घटते घटते भी संख्याते रह जाते हैं। एक ही अविभागप्रतिच्छेदके शेष रह जाने का अवसर नहीं मिल पाता है " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उददी पयेसानं " वस्तुभूत अखण्ड शक्ति के परिज्ञानार्थ तारतम्य दिखाने के लिये कल्पित किये गये शक्ति अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। जैसे कि जघन्य ज्ञान के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद माने गये हैं।

अथवा लकड़ी की छोटी अग्नि-ज्वाला से उतनी ही तैल दीप कलिका, घृत दीप कलिका, गैस, बिजली, सर्च लाइट में उत्तरोत्तर चाकचक्य के अविभाग प्रतिच्छेदों की अधिकता है। आम की लकड़ी, बबूल की लकड़ी, खैर की, कायले की,पत्थर के कोयले की अग्निओं में उत्तरोत्तर उष्णता अधिक है, यह अविभागी अंशों की कल्पना का मार्ग बता दिया है। इसी प्रकार स्नेह पर्याय या रूक्ष पर्याय में पाये जा रहे संख्यात असंख्यात या अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों की जघन्य अवस्था घटित होजानेपर उन स्निग्धता, रूक्षताओंसे बंध नहीं होपाताहै. कभी कभी विशेष परिणतिओं अनुसार टांका या गोंद उन चांदी, सोने, लोहे, कागज,.पत्र आदि को जोड़ नहीं पाते हैं, चूना भी कदाचित् ईंट से अलग पड़ा रह जाता है, दूध फट जाता है, अतः कतिपय दृष्टान्तों से अतीन्द्रिय जघन्य गुणवाले परमाणुओं का नहीं बंध होसकना युक्तियों द्वारा सिद्ध होजाता है।

जघनमिव जघन्यं निकृष्टमिति शाखादित्वादेर्दर्शनत्वाद्वा जघन्य शब्दसिद्धिः जघने भवो जघन्यो निकृष्टः जघन्य इव जघन्योत्यंताप्रकृष्ट इति। गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणं द्विगुणा यवा इति यथा द्विभागा इत्यर्थप्रतीत्तेर्जघन्यो गुणा येषां ते जघन्यगुणाः परमाणवः सूक्ष्मत्वाद्वा तेषां न बंध इत्यभिसंबन्धः। तेनैकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन द्वित्रिसंख्येयासंख्येयानंतगुणेन वा नास्ति बंधस्तथाद्व्यादिभिर्द्व्यादिगुणैरेकगुणैश्चेति सूत्रित भवति।

जघन्य यानी अन्त्य के समान जो है वह जघन्य है इस प्रकार जघन्य शब्द का शाखादि गण में पाठ होने से जघन्य शब्द की सिद्धि होजाती है। शाखा, मुख, शृङ्ग, अघन्, मेघ, आदि शब्द शाखादिगण में हैं, अतः "शाखादिभ्यो यः" इस सूत्र से य प्रत्यय कर "जघन्यमिव जघन्यं" यों निरुक्ति करते हुये जघन्य शब्द बना लिया जाता है। जिस प्रकार कि शरारके अवयवों में जघन निकृष्ट अवयव है, उसी प्रकार अन्य भी जो निकृष्ट है, वह जघन्य कहा जाता है, शाखादित्व, स्वार्थ, आदि से जघन्य शब्द को साध लिया जाय। अथवा देहांग होने से भावार्थ में जघन्य शब्द की सिद्धि कर ली जाय जघन में जा हो रहा है, वह जघन्य है, यानी निकृष्ट है, जघन्य के समान जघन्य है, जघन्य का अर्थ यों अत्यन्त अपकृष्ट यानी सब से नीचली अवस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुण शब्द के अप्रधान, लेज, भाग, उपकार, रूपादि, विशेषण, आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु प्रकरणवश वक्ताकी विवक्षा की अधीनता से यहां भाग अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे कि इस गोजई में दुगुने जौ हैं, यानी गहू और जौ का मिला हुई ढेरीमे एक भाग गेंहू हैं, और दो भाग जौ हैं, यों द्विगुण यानी दो भाग जौ कह जाते हैं, अतः दुगुन जौ से यहां जिस प्रकार दो भाग जौ इस अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है, वैसे ही जिन परमाणुओं के गुण यानी भाग (अविभाग प्रतिच्छेद) निकृष्ट होगये हैं। उन जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, यों अर्थ जान लिया जाता है। अथवा सूक्ष्म होने के कारण जिन परमाणुओं का गुण जघन्य होगया है, वे परमाणुयें जघन्य गुण हैं, उनका परस्पर बन्ध नहीं होता है, इस प्रकार वाक्यार्थ का दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये तिस कारण एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु अथवा रूक्ष परमाणु का दूसरे एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु और रूक्ष परमाणु के साथ बंध नहीं होगा।

इसी प्रकार स्नेह के वा रूक्ष के एक गुण को यानी जघन्यभाग अविभाग-प्रतिच्छेदों को धार रही एक परमाणु का दूसरी दो, तीन, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त गुणों को धार रही परमाणु के साथ बंध नहीं होसकेगा। तिसी प्रकार दो, तीन, चार आदि की वृद्धि अनुसार दो, तीन, आदि गुण वाले परमाणु के साथ एक गुण वाले परमाणुओं करके बंध नहीं होगा। अर्थात्-दो दो बढ़ा कर या तीन, तीन, चार, चार, बढ़ा कर गुणों के धारी परमाणुओं का एक गुण वाले कई परमाणु के साथ बन्ध नहीं होपाता है, दो परमाणुओं करके द्वयणुक बनाने के अवसर पर जैसे 'न जघन्यगुणानां' लागू होता है, उसी प्रकार सैकड़ों, संख्याते, अनन्ते परमाणुओं का स्कन्ध बनने की योग्यता मिलने पर भी उक्त अपवाद लागू होजाता है, यह सूत्रकार का अभिप्राय इस पूत्र करके सूचित कर दिया गया समझ लिया जाता है।

ननु च जघन्यगुणा परमाणवः केचित्सन्तीति कुतो निश्चयः स्निग्धरूक्षगुणयोरपकर्षातिशयदर्शनात् परमापकर्षस्य सिद्धेर्जघन्यगुणसिद्धिः। उष्ट्रीगर्दभ्योर्महिषीवीर्य्यस्यापकृष्टः स्नेहगुणः प्रतीयते पुनः गार्दभस्य ततोऽप्यतिशयस्य क्वचिदपि दोपलब्धेः। क्वचा रूक्षगुणोपि

शर्करातः कणिकानामपकृष्टः प्रतीयते ततोपि पांशूनामिति । स्निग्धरूक्षगुणः क्वचिदत्यंतमपकर्षमेति प्रकृष्यमाणापकर्षत्वादा नभसः परिमाणे परिमाणवदित्यनुमानाज्जघन्यगुणसिद्धिः । एतेनोत्कृष्टगुणसिद्धिर्व्याख्याता, प्रकर्षातिशयदर्शनात्क्वचित्परमप्रकर्षसिद्धेः ।

यहां कोई प्रश्न उठाता है, कि जगत् में जघन्य गुण वाले कितने ही एक परमाणुयें हैं, इसका निश्चय किस प्रमाण से किया जाय ? बताओ । अब आचार्य महाराज उत्तर करते हैं, कि स्निग्ध गुणों और रूक्ष गुणों के अपकर्ष यानी हीनता होते चले जाने का अतिशय देखा जा रहा है, जिसके अपकर्ष का तारतम्य देखा जाता है, क्वचित् उसका अतिशय होजाने से चरम अवस्था पर परम अपकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि आकाश. धर्मद्रव्य स्वयम्भूरमणसमुद्र, सुमेरुपर्वत, घट, बेर, पोस्त, आदि में परिमाण की घटी होते होते परमाणु पर पहुंच कर सब से छोटा अणुपरिमाण विश्राम कर लेता है । उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी अंशों में न्यूनता होते होते अन्तिम जघन्य गुणों की सिद्धि होजाती है, जिससे पुनः न्यूनता होने की सम्भावना नहीं है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देखिये जब कि ऊंटिनी के दूध से भैंस के दूधका चिकनापन गुण हीनता को लिये हुये प्रतीत होता है, और तिस भैंस के दूध से गाय के दूध का चिकना गुण अपकृष्ट है, उस गाय के दूध से भी बकरी के दूध का चिकनापन अल्प है, उस बकरी के दूध से भी जल का चिकनापन न्यून है, यों तारतम्य होते होते क्वचित् स्नेह गुण को अन्तिम जघन्य-अवस्था प्राप्त होजाती है, उस अवस्था में बंध होना असम्भव है ।

जिस प्रकार स्नेह गुण का अपकर्ष बढ़ता बढ़ता दिखा दिया है, तिसी प्रकार रूक्ष गुण का अपकर्ष प्रतीत होरहा है, देखिये कंकड़ियों या माणिक-रेती के रूखेपन से कणिकाओं यानी कनियों का रूखापन अपकृष्ट दीखता है, और उन कनकियों के रूखेपन से भी धूलियों का रूखापन न्यून है,बालू रेतसे मिट्टीका रेत कमती रूखा है । इस प्रकार स्निग्धगुण या रूक्षगुण (पक्ष) कहीं न कहीं अत्यन्त अपकर्ष को प्राप्त होजाते हैं, (साध्य) प्रकर्ष को प्राप्त होता जारहा अपकर्ष होने से (हेतु) आकाश के परमाणु से प्रारम्भ कर जैसे परिमाण में न्यूनता होते होते परमाणु में परिमाण का अपकर्ष अन्तिम विश्रान्त होजाता है, (दृष्टान्त) । इस अनुमान से पुद्गलों के जघन्य गुणों की सिद्धि होजाती है, इस उक्त कथन करके पुद्गलों के स्नेह या रूक्ष सम्बन्धी उत्कृष्ट गुणों की सिद्धि का भी व्याख्यान किया जा चुका है ।

प्रकर्ष यानी वृद्धि का अतिशय बढ़ता बढ़ता दीखता रहने से कहीं जाकर परम प्रकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि परमाणु द्वयणुक घट, पट, पर्वत आदि में परिमाण बढ़ते बढ़ते आकाश में विश्रान्ति लेता है, अथवा सूक्ष्म निगोदिया के अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद वाले जघन्यज्ञान की वृद्धि होते रहते सन्ते अनन्तानन्त स्थलों पर तारतम्य अनुसार वृद्धि होते होते केवल-ज्ञान में ज्ञान के

गुणों का परम प्रकर्ष सिद्ध होजाता है, सूक्ष्मनिगोदिया के ज्ञान में भी एक नहीं किन्तु अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, वे ज्ञान के जघन्य गुण हैं, इसी प्रकार पुद्गलों में भी स्निग्ध रूक्ष परिमाणों के कतिपय जिन-दृष्ट संख्याते या असंख्याते गुण रह जाते हैं, वे जघन्य गुण हैं, ऐसे जघन्यगुण वाले पुद्गलों का बंध होना निषेधा गया है।

राजवार्त्तिक या श्लोकवार्त्तिक में यद्यपि जघस्य का अर्थ एक किया गया है, 'एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निधेन वा एकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन' आदि लिखा गया है। छः वृद्धियों और छः हानियों अथवा चतुः स्थान-पतित हानि वृद्धियों के भी अनुसार अविभाग-प्रतिच्छेदों को एक संख्या का शेष रह जाना जंचता नहीं है, जघन्य ज्ञान में सब से प्रथम उपरला अनन्तवेंभाग वृद्धि का स्थान कह रहा है, कि जघन्य ज्ञान भी किसी अपेक्षा एक है, तभी तो उस पवयवी के भाग मान कर अनन्तवां भाग बढ़ाया गया है। उसी प्रकार परमाणु के अनेक जघन्य गुणों को सब से पहिली अवस्था मान कर एक गुण का व्यवहार कर दिया जाता है, विद्वान जन और भी इस पर प्रकाश डालेंगे, गम्भीर विचार करेंगे।

ननु न कदाचिदबंधः परमाणूनां सर्वदा स्कधात्मतयैव पुद्गलानामवस्थितेः। बुद्धया परमाणुकल्पनोपपत्तेरविभागपरिच्छेदवदिति कश्चित्तं प्रत्याह।

यहाँ कोई पण्डित स्वपक्ष का अवधारण करता हुआ पूर्वपक्ष उठाता है, कि सूत्रकार ने जो जघन्य गुण वाले परमाणुओं का अबंध कहा है, यानी वैसे जघन्य गुणो परमाणुओं का बध नहीं होता है, सो हमको ठीक नहीं जंचा है, क्योंकि परमाणुओं का कदाचित् भी अबध नहीं होता है, यानी परमाणु सदा बंधे ही रहते हैं, स्कन्ध स्वरूप-पने करके ही पुद्गलों की सर्वदा अवस्थिति पाई जाती है, जगत् में किसी को न्यारा न्यारा परमाणु नहीं दीख रहा है, हम आदि सब को सर्वत्र पिण्ड ही पिण्ड दीखते हैं, हां बुद्धि करके परमाणुओं की कल्पना करना भले ही बन जाय जैसे कि अविभागप्रतिच्छेद कल्पित माने जा रहे हैं।

अर्थात्-जैनों ने उतने ही लम्बे चौड़े बोझ-वाले जैसे नील, नीलतर, नीलतम पदार्थों में रूप के अन्तस्थल को समझाने के लिये, सौ, पांचसौ, पांच सहस्र, संख्यात, आदि अंशों की कल्पना कर ली है, वस्तुतः अविभागप्रतिच्छेद कोई न्यारे न्यारे वस्तुभूत टुकड़े नहीं हैं, जैसे कि वस्त्र में न्यारे न्यारे सूत आतान वितान अवस्था अनुसार प्रतिभास रहे हैं, लंगड़ा या मालदा आम को मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते हुये कुछ दिन तक रक्खे रहने देने से उनमें मिष्टता के अंश बढ़ जाते हैं, इस क्रिया के अवसर पर आम में कहीं बाहर से आकर मिश्री या वक्खर नहीं मिल जाता है, अथवा मर्यादा से अधिक दिन तक रखे रहने देने से जो मिष्टता कम होजाती है, तब कोई उसमें से रस या वक्खर चू करके टपक नहीं पड़ता है, केवल अन्तरग बहिरंग कारणों अनुसार उपज रहीं आम को पूर्वापर

परिणतियों में तारतम्य अनुसार मीठेपन के अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशों की कल्पना कर ली जाती है।

किसी पुष्प में पहिले अल्प गन्ध थी पुनः उसी गंध गुण की उत्तरोत्तर-सुगन्ध पर्यायें तीव्र सुगन्ध स्वरूप होगई हैं यहां भी गंध की परिपूर्ण परीक्षा करने के लिये सुगंध परिणामों के अंश गढ़ लिये जाते हैं, उड़द की दाल में कुछ देर तक धरी रहने से चिकनेपन के अंश बढ़ते हुये कल्पित कर लिये जाते हैं। विद्यार्थी की परीक्षा लेते हुये पूर्ण उत्तरों के सौ अंश कल्पित कर छात्र की व्युत्पत्ति अनुसार अस्सी, पचास, चालीस आदि लब्धांक दे दिये जाते हैं, इसी ढंग से अविभाग प्रतिच्छेदों की कल्पना समान अखण्ड पुद्गल स्कन्ध में तिर्यग् अंश कल्पना करते हुये परमाणुओं को गढ़ लिया गया है. वस्तुतः एक भी परमाणु अबध, स्वतंत्र, एकाकी नहीं है। इस प्रकार कोई एकान्त पिण्ड-वादी पण्डित कह रहा है उसके प्रति ग्रन्थकार महाराज समाधान-कारक अगली वार्त्तिक को कहते हैं।

न जघन्यगुणानां स्याद्बंध इत्युपदेशतः।
पुद्गलानामबन्धस्य प्रसिद्धेरपि संग्रहः ॥ १ ॥

निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रकार महाराज का उपदेश होने से पुद्गलों के अबंध की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है। अर्थात्—श्री उमास्वामी महाराज के "न जघन्यगुणानां" इस सूत्र द्वारा अनेक परमाणुओं का नहीं बंधना भी प्रसिद्ध होजाता है युक्तियों से भी कई परमाणुओं का अबन्ध सध जाता है।

स्कंधानामेव केषांचिद्वालुकादीनामबंधोस्तु न परमाणुनामित्ययुक्तं, प्रमाणविरोधात्। "पृथिवी सलिलं छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणुः षड्विधभेदं भणितं पुद्गलतत्त्वं जिनेन्द्रेण" त्यागमेन पारमार्थिकपरमाणुप्रकाशकेन कल्पितपरमाणुवादस्य बाधनात्। परमार्थतो असंबंधपरमाणुवादस्य च परमाणूत्पत्तिसूत्रेण निराकरणात्।

कोई पण्डित कह रहे हैं कि अनन्तपरमाणुओं के तदात्मक पिण्ड होरहे बालू, माणिकरेती, रत्नधूल, आदि किन्हीं किन्हीं स्कन्धों का ही अबंध होरहा है इस सूत्रोपदेश-अनुसार जो कतिपय परमाणुओं का अबंध कहा गया है वह तो नहीं प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप करना अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणों से विरोध आता है जगत् में केवल स्कन्ध ही नहीं हैं किन्तु परमाणूयें भी द्रव्य हैं। देखिये आगम में यों लिखा है "पुढवी जलं च छाया चउरिन्द्रिय-विसय कम्म परमाणू। छब्विह,भेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं" (गोम्मटसार जीवकाण्ड) जिसका छेदन, भेदन या स्थानान्तर में प्रापण होसके वे पृथिवी, पत्थर, वस्त्र आदि बादर बादर स्कन्ध हैं। जिसका छेदन, भेदन, तो नहीं होसके किन्तु अन्यत्र प्रापण होजाय वह जल, दूध, आदि बादरस्कन्ध हैं। और जिस पिण्ड का छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण कुछ भी नहीं होय ऐसे नेत्र-ग्राह्य छाया, घाम, आदि पुद्गल पिण्डों को बादर

सूक्ष्म कहते हैं। नेत्रके अतिरिक्त शेष चार बहिरिन्द्रियों के विषय होरहे पुद्गलों को सूक्ष्म स्थूल कहते हैं जैसे जिस कढ़ी या दाल में नीबू का रस पहिले से निचोड़ दिया है, अथवा इत्र की शीशी में से सुगन्ध आरही है। भगौना में धरे हुये शीतल जल के साथ थोड़ा उष्ण जल मिला दिया जाय तथा शब्दों को सुना जाय ऐसे चक्षुः इन्द्रिय के विषय नहीं होरहे रसवान् गन्धवान्, स्पर्शवान् या पौद्गलिक शब्दरूप स्कन्धोंवाली सूक्ष्मसूक्ष्मों कहते हैं। जिस जलपिण्ड का किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होसके वे कार्मणवर्गणा, आहारवर्गणा, कर्म, आदि स्कन्ध तो सूक्ष्म कहे जाते हैं, ये पांच तो स्कन्ध के भेद हुये श्री जिनेन्द्रदेव महाराजों ने पुद्गल द्रव्य का छठा भेद सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओं का कहा है, यों वास्तविक न्यारी न्यारी परमाणुओं का प्रकाश करने वाले आगम वाक्य करके परमाणुओं के कल्पित मानने वाले वाद की बाधा प्राप्त होजाती है। अर्थात्—सिद्धान्त ग्रन्थों में परमाणुओं को वस्तुभूत स्वतंत्र साधा गया है, यदि परमाणुयें ही कल्पित होंगी तो उनकी भींत पर रचा गया स्कन्ध ततोपि अधिक कल्पित होगा, कल्पित ईटों का घर वस्तुभूत नहीं है।

श्री विद्यानन्द स्वामी, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती के ग्रन्थों का प्रमाण दे सकते हैं या नहीं ? इसमें आगे पीछे कौन हुये हैं यह सब इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला अन्वेषण है, प्रचलित प्रणाली अनुसार देशभाषाकार मैं ने प्राकृत गाथा अनुसार संस्कृत आर्याछन्द का सादृश्य होने से गोम्मटसार के वाक्य का उल्लेख कर दिया है,हां धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ तो अधिक प्राचीन हैं श्री गोम्मटसार भी तो उन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों के अवलम्ब पर रचे गये हैं। सम्भव है उक्त आर्या अधिक प्राचीन होय, अतः समीचीन आगम से कल्पित परमाणुवादका प्रतिविधान होजाता है। एक बात यह भी है कि " भेदादणुः " इस परमाणु की उत्पत्ति के सूचक सूत्र करके परमाणुओं के वास्तविक रूप से असम्बन्ध होजाने के पक्ष-परिग्रह का निराकरण कर दिया जाता है यानी सूत्र पुकार कर परमाणु की उत्पत्ति को बखान रहा है तो फिर अखण्ड स्कन्धका आग्रह करते हुये परमाणुओं को ही स्वीकार नहीं करना या उनका अबध माने जाना निराकृत होजाता है।

भेदादणुः कल्प्यते इति क्रियाध्याहारान्नोत्पत्तिः परमाणूनामिति चेन्न, भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंत इत्यत्र स्वयमुत्पद्यंत इति क्रियायाः क्रियांतराध्याहारनिवृत्त्यर्थमुपन्यासात् भेदादणुरिति सूत्रस्य नियमार्थत्वात् पूर्वसूत्रेणैव परमाणूत्पत्तेर्विधानात्।

परमाणुओं का सम्बन्ध नहीं होना मानने वाले वादी कहते हैं कि " भेदादणुः " इस सूत्र का " कल्प्यते " इस क्रियाका अध्याहार कर देने से यह अर्थ—होजाता है कि भेद से अणु की कल्पना कर ली जाती है, अविभागप्रतिच्छेद का दृष्टान्त दिया जा चुका है परमाणुओं की उत्पत्ति तो छेदन भेदन अनुसार नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ऊपरले "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते " यों इस सूत्र में सूत्रकार महाराज ने स्वयं कण्ठोक्त उत्पद्यन्ते इस क्रिया को उपात्त किया है, अर्थात्—भेद और संघात तथा भेद संघातों से स्कन्ध या परमाणुयें उपजते हैं या कल्पना, व्यपदेश,

आदि अन्य क्रियाओं के अध्याहार की निवृत्ति के लिये उपजना इस क्रिया का स्पष्ट शब्दों द्वारा निरूपण किया है। दूसरा " भेदादणुः" भेद से अणु होता है, यह सूत्र तो मात्र नियम करने के लिये ही है परमाणु की उत्पत्ति का विधान तो ' भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते" इस पहिले सूत्र से ही हो चुका था क्योंकि पूर्व सूत्रोक्त अणुयें और स्कन्ध इन सभी पुद्गलों का इस सूत्रद्वारा उपजना कहा है अतः "भेद से परमाणू की कल्पना करली जाती है " इस अर्थ का यहां कथमपि अवसर नहीं है।

चार्वाकों ने " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि " " तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यं " यहां बड़ी दक्षता से काम लिया है " उत्पद्यते या अभिव्यज्यते " चाहे किसी भी क्रिया का उपस्कार किया जा सकता है ऐसी लोकदक्षता या दम्भ करना हम स्याद्वादियों को अभीष्ट नहीं है, " स्पष्टवक्ता न वञ्चकः " इस नीतिके अनुसार डंके की चोट स्याद्वादसिद्धान्त का हम प्रतिपादन करते हैं भेद से परमाणूयें उपजते हैं वे समघन चतुरस्र परमाणूयें पहिले स्कन्ध अवस्था में बंधे हुये थे। पीछे भी योग्यता मिलने पर बन्ध जाते हैं। यों परमाणुओं के अबन्ध का एकान्त किये जाना प्रशस्त नहीं है तथा परमाणूओं को अबन्ध मान कर स्कन्ध का निराकरण करते चले जाना भी ठीक नहीं है जब की परमाणुओं का बंध होरहा प्रतीत होरहा है, पुद्गलों का बंध ही स्कन्ध है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किं च, विवादापन्नाः स्कंधभेदाः क्वचित्प्रकर्षभाजः प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवदित्यनुमानबाधितत्वान्न परमाणूनामबंधकल्पना श्रेयसी।

एक बात यह भी है, कि घट के टुकड़े, कपाल के टुकड़े, कपालिका के टुकड़े, ठिकुच्ची छोटी ठिकुच्ची आदि उत्तरोत्तर टुकड़े होरहे स्कन्ध के भेद (पक्ष) कहीं न कहीं प्रकर्ष अवस्था को धार लेते हैं, (साध्य) अतिशय होते होते तारतम्य अनुसार उत्तरोत्तर छेदन, भेदन, का प्रकर्ष होता जारहा होने से (हेतु) परिमाण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-परिमाण बढ़ते बढ़ते जैसे अलोकाकाश में समाप्त होजाता है और परिमाण घटते घटते परमाणू में जाकर अन्तिम अटक जाता है, उससे आगे नहीं चल पाता है, इसी प्रकार स्कन्धका टुकड़ा होते होते अविभागी परमाणू पर अन्त में जाकर ठहर जाता है, पहिले परमाणू बंधे थे तभी तो उसके भेदसे टुकड़े हुये यों इस उक्त अनुमान से बाधित होजाने के कारण परमाणूओं के अबंध की कल्पना करना श्रेष्ठ नहीं है।

ननु च परमाणूनामबंधसाधने तेषां पुनर्बंधाभावः साकल्येनैकदेशेन बंधस्याघटनादिति चेन्न, सूक्ष्मस्कंधानामपि बंधाभावप्रसंगात्। तेषामपि कात्स्न्र्येन बंधे सूक्ष्मैकस्कंधमात्रपिंडप्रसक्तेः एकदेशेन संबंधे चैकस्कंधदेशस्य स्कंधांतरदेशेन बंधः कात्स्न्र्येनैकदेशेन वा भवेत्? कात्स्न्र्येन चेत्तदेकदेशमात्रप्रसक्तिः, एकदेशेन चेदनवस्था स्यात्, प्रकारांतरेण तद्बन्धे परमाणूनामपि बंधस्तथैव स्यात स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध इति निःप्रतिद्वंद्वस्य बंधस्य साधनात्। ततः सूक्तं न जघन्यगुणानां बंध इति प्रतिषेधवत्पुद्गलानामबंधसिद्धेरपि संग्रह इति।

यहां कोई पण्डित एक और आक्षेप करता है, कि उक्त सूत्र और वार्त्तिक अनुसार जैनों ने कतिपय परमाणुओं का अबंध सिद्ध कर दिया है, ऐसी दशा में हमारा कहना है, कि यदि परमाणुओं का बंध नहीं होता साधा जायेगा तो फिर उन परमाणुओं का कभी बंध हो ही नहीं सकेगा क्योंकि पहिले बौद्धों की ओर से इस बात की पुष्टि यों की जा चुकी है. कि यदि परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ पूर्णरूप से बंध मान लोगे तब तो दो परमाणुओं का द्वयणुक या अनेक परमाणुओं का प्रचय केवल एक परमाणुमात्र होजायेगा। बन्ध होने से कोई लाभ नहीं निकला, उल्टा परमाणुओं का ही खोज खो गया, हाँ यदि इस दोष के निवारण करने के लिये एक देश से परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंध जाना स्वीकार किया जायेगा तो अखण्ड एक निरंश परमाणुएँ पहिले से ही कई एक देश मानने पड़ेंगे क्योंकि उन एक देशों के साथ परमाणु का संसर्ग मानने पर अनेक दोष आते हैं. परमाणु की निरंशता और अखण्डता भी मर जायेगी अतः परमाणु का अन्य परमाणुओं के साथ सकलपने या एकदेश करके बंध जाना घटित नहीं हुआ।

ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो इसी प्रकार सूक्ष्मस्कन्धों के भी बंध जाने के अभाव का प्रसंग आजावेगा उन सूक्ष्म स्कन्धों का भी परस्पर परिपूर्ण रूप से बंध होना मानने पर कई सूक्ष्म स्कन्धों का मिल कर भी केवल एक सूक्ष्म स्कन्ध बराबर ही पिण्ड होजाने का प्रसंग आजावेगा सर्वाङ्ग बंध होजाने पर एक परमाणु बराबर या प्रदेशमात्र भी क्षेत्र की वृद्धि नहीं होपाती है. और सूक्ष्म स्कन्धों का परस्पर एक देश से सम्बन्ध स्वीकार करने पर तो उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक एक देशों के साथ पुनः एक देश या पूर्ण देश से सम्बन्ध मानने पर अनवस्था या छोटा एकदेश मात्र ही हो जाने का प्रसंग ये दोष आते है। देखिये स्कन्ध के एकदेश का स्कन्ध का अन्य देश के साथ क्या परिपूर्णता से बंध होगा ? अथवा क्या एक-देशेन होगा ? बतओ पूर्णरूप से बंध मानने पर उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक छोटे से देश बराबर होजाने का प्रसंग आता है, हां एक-देशेन बंध मानोगे तब तो पुनः अन्य एक एक देशों की कल्पना करना बढ़ता चला जाने से अनवस्था दोष आजायेगा यदि सम्पूर्णपने और एकदेश-पने इनसे न्यारे किसी अन्य प्रकार करके उन सूक्ष्म स्कन्धों का बंध माना जायेगा तब तो परमाणुओं का भी तथैव उस तीसरे प्रकार करके ही बंध होजाओ अतः स्निग्धपन और रूक्षपन इस तीसरे प्रकार से परमाणु का बंध होजाना मान लिया जाय यों प्रतिपक्ष से रहित होकर परमाणुओं के बंध की निरावाध सिद्धि कर दी जाती है।

अब कोई प्रतिवादी प्रतिकूल द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये सन्मुख खड़ा नहीं रहता है, तिस कारण से सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा है, कि जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, गम्भीर विद्वानों के वचन अपरिमित अर्थ को लिये हुये रहते हैं, अतः कतिपय परमाणुओं के निषेध के समान उसी सूत्र करके कुछ पुद्गलों के बंध नहीं होने की सिद्धि का भी संग्रह होजाता है, अथवा "न जघन्यगुणानां" इस उपदेश से कतिपय पुद्गलों के अबंध बने रहने की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है,

यों पंक्ति शुद्ध कर ली जाय जो कि वार्त्तिक में कहा गया है।

येषां परमाणूनां बंधस्तेषां बन्ध एव सर्वदा, येषां त्वबंधस्तेषामबंध एवेत्येकांतोप्यनेनापास्तः। केषांचिदबंधानामपि कदाचिद्बंधदर्शनाद्बंधवतां चाऽबंधप्रतीतेर्बाधकाभावात् परमाणुष्वपि तन्नियमानुपपत्तेः।

कोई एकान्तवादी पण्डित यों कह रहा है, कि जगत् में जिन परमाणुओं का बंध है, उनका सदा बंध ही है, और जिन परमाणुओं का बंध नहीं होता है, उनका सदा अबंध ही रहता है, आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी इस उक्त कथन करके निराकृत कर दिया गया है, क्योंकि कारण नहीं मिलने पर पहिले बंधको नहीं प्राप्त होचुके भी किन्हीं किन्हीं परमाणुओं का कदाचित् अब बंध होरहा देखा जाता है, और बंधवाले परमाणुओं का भी भेदक कारण उपस्थित होजाने पर और पुनः द्वयधिक गुण सहितपन की योग्यता नहीं मिलने पर अबंध अवस्था में पड़े रहना प्रतीत होरहा है, इन प्रतीतिओं का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, जब नित्य निगोदिया जीव भी निकलकर व्यवहार राशि में आजाता है, सूर्य विम्ब, चन्द्रमण्डल, सुमेरु, अकृत्रिम चैत्यालय, आदि-अनादि कालीन, पुद्गल पिण्डों में से अनेक परमाणुयें निकलती, मिलती रहती हैं, कितनी ही अनादि काल की परमाणूयें आज कारण मिल जाने पर बंध को प्राप्त होजाती हैं, अनन्त वर्षों से स्कन्ध में प्राप्त होरहीं परमाणूयें आज असंख्य वर्षों के लिये स्कन्ध से अपना पिण्ड छुड़ा बैठती हैं। अतः स्कन्ध में जैसे केवल स्कन्ध ही बने रहने का कोई नियम नहीं बनता है उसी प्रकार परमाणुओं में भी उस बंध दशा ही बने रहने या किन्हीं में अबन्ध अवस्था ही बने रहने का नियम कर देना नहीं बन पाता है। यहां तक यह तात्पर्य निकलता है कि जघन्य स्निग्ध गुणवाले और जघन्य रूक्ष गुण वाले परमाणुओं को छोड़ कर अन्य स्निग्ध परमाणुओं और रूक्षगुणवालीं परमाणुओं का परस्पर में बंध होजाता है।

अब ऐसी दशा में सामान्य रूप से परमाणुओं के बंध जाने का प्रसंग आजावेगा यानी दश गुण स्निग्ध वाले परमाणु का दूसरी दश स्निग्ध गुण वाली परमाणु के साथ बंध जाना बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है अतः इस प्रसंग का प्रतिषेध समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज को यह अग्रिम सूत्र भी रचना पड़ा है।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३६ ॥

जिनके भाग तुल्य हैं ऐसे ऐसे परमाणुओं के गुणों की समानता होनेपर सदृश या विसदृश परमाणुओं का बंध नहीं होपाता है, हां गुणों की विषमता होने पर तो सदृश या विसदृश परमाणुओं का मिथः बंध होजाता है।

गुणवैषम्ये बंधप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं। सदृशानां स्निग्धगुणानां परस्परं रूक्षगुणानां वान्योन्यं भागसाम्ये बन्धस्य प्रतिषेधात्।

गुणों की विषमता होने पर बंध होजावे इसकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र में सदृश शब्द का ग्रहण है, सदृश स्निग्ध गुणवाले परमाणुओं के परस्पर में अथवा रूक्ष गुण वाले सदृशपरमाणुओं के परस्पर में भागों की समता होजाने पर इस सूत्र द्वारा बंध का निषेध किया गया है। अर्थात्—दो स्निग्ध गुणों को धारने वाले परमाणु का दो रूक्ष गुणों को धारने वाले परमाणु के साथ और दो गुण स्निग्धवाले परमाणु का दो रूक्ष गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता है क्योंकि इनमें गुणकार यानी भाग की समानता है।

नन्वेवं विसदृशानां गुणसाम्ये बंधप्रतिषेधो न व्याख्यातो न मन्तव्यं, सदृशग्रहणस्य विसदृशव्यवच्छेदार्थत्वाभावात् सदृशानामेवेत्यवधारणानाश्रयणात्। गुणसाम्ये वेति सूत्रोपदेशे हि सदृशानां गुणवैषम्येऽपि बंधप्रतिषेधप्रसक्तौ तद्व्यक्तिसिद्धये सदृशग्रहणं कृतं, तेन स्निग्धरूक्षजात्या साम्येपि गुणवैषम्ये बंधसिद्धिः।

यहां कोई आक्षेप करता है कि इस प्रकार सदृश ही परमाणुओं के गुण साम्य होने पर बंध का निषेध किया जायेगा तब तो विसदृश परमाणुओं का गुण-साम्य होने पर बंध का प्रतिषेध नहीं होसकेगा किन्तु सिद्धान्त में गुण-साम्य होने पर स्निग्ध रूक्ष या रूक्ष स्निग्ध इन विसदृश परमाणुओं का भी बंध निषेधा गया है। तीन रूक्ष गुणों के धारी परमाणुका तीन स्निग्ध गुणों के धारी परमाणु के साथ बंध नहीं माना गया है जैसे कि चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु का चार स्निग्ध वाले दूसरे परमाणु के साथ बंध जाना नहीं स्वीकार किया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये क्योंकि सदृश पद का ग्रहण सूत्र में विसदृश का व्यवच्छेद करने के लिये नहीं है। "सदृशानां एव" सदृशों का ही बंध नहीं होसके ऐसे अवधारण का आश्रय भी नहीं किया गया है। जिससे कि सम-गुण विसदृशों का बन्ध होजाय, अतः विसदृशों का भी गुण-साम्य होने पर बंध होना निषेधा जाता है।

यदि सदृश और विसदृश दोनों का ग्रहण करने के लिये केवल 'गुण-साम्ये वा' गुणों के समान होने पर किसी भी सदृश या विसदृश का बन्ध नहीं होपाता है, यों सूत्र का उपदेश किया जाता तब तो सदृश परमाणुओं का गुणों के वैषम्य होने पर भी उन सम गुण वालों के समान बन्ध के निषेध का प्रसंग प्राप्त होजाता, ऐसी दशा में उन विषम गुण वालों के बंध की सिद्धि करने के लिये सूत्र में सदृश शब्द का ग्रहण किया गया है। उस सदृश शब्द करके स्निग्ध जाति या रूक्ष जाति के द्वारा समानता होने पर भी यदि गुणों की विषमता होय तो उन परमाणुओं के बंध जाने की सिद्धि होजाती है। अर्थात्—गुणों के वैषम्य होनेपर सदृशों का बंध हो ही जाता है, यह बात सदृश पद देने पर ही निकलती है, नान्यथा।

किमर्थमिदं सूत्रमत्रेदित्याह।

कोई जिज्ञासु पूछता है कि इस " गुणसाम्ये सदृशानां " सूत्र को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये श्री उमास्वामी महाराज ने कहा था ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार (हम ही तो) इस अगली वार्त्तिक को कहते हैं ।

अजघन्यगुणानां तत्प्रसक्तावविशेषतः ।
गुणसाम्ये समानानां न बंध इति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

पूर्व सूत्र द्वारा जघन्य गुणों से रहित होरहे परमाणुओं का विशेषता रहित होकर उस बंध होने का प्रसंग प्राप्त होजाने की अवस्था उपस्थित होजाने पर श्री उमास्वामी महाराज " गुणसाम्ये सदृशानां " गुणों की समानता होने पर सदृशपरमाणुओं का बंध नहीं होता है यों इस सूत्र को कहते भये । अर्थात्—कभी कभी छोटे पदार्थ का निषेध करते हुये उससे बड़े पदार्थ का विधान स्वतः प्राप्त होजाता है । अतः उस अनिष्ट का निषेध करने के लिये पुनः कण्ठोक्त दूसरा निषेध करना पड़ता है जैसे कि तुच्छफल के भक्षण का निषेध कर देने पर स्वार्थी पुरुष महाफल का भक्षण करना विहित समझ लेते है, अतः महाफल के भक्षण का भी कण्ठोक्त निषेध करना पड़ता है । रात्रि में जल नहीं पीना चाहिये इसका अर्थ रात्रि में अन्न दूध, फल, खा लिया जाय और पानी पिये कुल्ला किये बिना ही सो जाय, वह नहीं है । तथा सूक्ष्म चोरी का निषेध छठे गुणस्थान में है एतावता कोई विरत मुनि स्थूल चोरी नहीं कर सकता है । अतः परमाणुओं के गुण-साम्य अवस्था में बंध का निषेध करना सूत्रकार महाराज का स्तुत्य प्रयत्न है ।

कथं पुनर्बंधः स्यादित्याह ।

अगले सूत्रके लिये अवतरण यों है,कि यों तो बंधके एक विधायक और दो निषेधक सूत्रों करके विषम भाग वाले तुल्य-जातीय अथवा अतुल्य-जातीय पुद्गलों का किसी भी नियम के बिना ही बंध जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ । दस स्निग्ध गुण वाले परमाणु का बीस गुण स्निग्ध वाले पुद्गल के साथ या चालीस गुण रूक्ष वाले के साथ भी बंध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है, अतः बताओ फिर कैसे किन परमाणुओं का बंध होसकेगा ? इस प्रतिपित्सा का समाधान करते हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को प्रव्यक्त कहते हैं ।

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३७ ॥

तुल्य जाति वाले या अतुल्य जाति वाले जो पुद्गल परस्पर में स्निग्ध या रूक्ष पर्यायों में दो आदिक अविभाग प्रतिच्छेदों को धारते हैं, उनका तो बन्ध होजाता है अर्थात् तु शब्द करके 'न जघन्यगुणानां, सूत्र से चले जा रहे प्रतिषेध की व्यावृत्ति कर दी जाती है, और 'स्निग्धरूक्षत्वाबंधः' सूत्र से

आरहे बंध होने का कथन कर दिया जाता है, अतः दो स्निग्ध गुण या दो रूक्ष गुण वाले परमाणु का एक गुण दो गुण या तीन गुण के धारी स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणु के साथ बंध नहीं होगा। हां चार गुण स्निग्ध वाले या चार गुण रूक्ष वाले अन्य परमाणु के साथ तो उसका बंध अवश्य हो जायेगा किन्तु उसी दो गुण स्निग्ध या दो गुण रूक्ष के धारी पुद्गल का फिर पांच, छः, सात, आठ, संख्यात असंख्यात. या अनन्त, स्निग्ध रूक्ष गुणों के धारी दूसरे परमाणु के साथ बंध नहीं होसकता है, इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष या स्निग्धके धारी परमाणु का पांच गुणधारी स्निग्ध या रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होजायेगा किन्तु शेष पहिले पिछले गुणों के धारी परमाणु के साथ बंध नहीं होगा इसी प्रकार शेष परमाणुओं में भी द्वयधिकता की व्यवस्था जोड़ ली जाय, जघन्य गुणों को छोड़ कर शेष सजातीय, विजातीय, परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष गुणों के अविभाग प्रतिच्छेदों में द्वयधिकता का प्रकरण मिल जाने पर बंध होजाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्वयधिकश्चतुर्गुणः। कथ? एकगुणस्य केनचिद्बंधप्रतिषेधाद्द्विगुणस्य बंधसंभवात्ततोद्वयधिकस्य चतुर्गुणत्वोपपत्तेः। प्रकारवाचिनादिग्रहणे। पंचगुणादिपरिग्रहः. त्रिगुणादीनां बंधे पंचगुणादीनां द्वयधिकतोपपत्तेः। एवं च तुल्यजातीयानां विजातीयानां च द्वयधिकादिगुणानां बंध सिद्धो भवति। तु शब्दस्य प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थत्वात्। तथाहि—

द्वयधिक शब्द का अर्थ चार भाग वाला है, सो किस प्रकार है? उसको यों समझो कि एक गुण वाले परमाणु का तो किसी के साथ बंध होता ही नहीं है क्योंकि 'न जघन्यगुणानां' से निषेध कर दिया गया है, हां दो गुण वाले परमाणु का बंध जाना सम्भव होता है, अतः उस दो गुण वाले से जो इस सूत्र अनुसार दो अधिक गुण वाला अन्य परमाणु होगा उसको चार गुण सहितपना बन जाता है, तीन गुण वाले का पांच गुण वाले के साथ बंध जाने के योग्य द्वयधिकता है।

आदि शब्द का अर्थ यहां प्रभृति कर देने से द्वयधिक, त्र्यधिक, चतुरधिक, द्वारा यों सिद्धान्त से विरोध आजाता, भले ही 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि का आश्रय कर द्वयधिक का भी संग्रह कर लिया जा सकता था तथापि सिद्धान्त के अविरोध अनुसार आदि शब्द को प्रकार अर्थ का वाचक मान लिया जाय सूत्र में प्रकार अर्थ को कहने वाले आदि शब्द का ग्रहण कर देने से पांच गुण, छः गुण सात भाग. आठ भाग, आदि के धारी परमाणुओं का भी परिग्रह होजाता है, तीन गुण वाले चार गुण वाले आदि परमाणु का बंध होजाना मान लेने पर पांच गुण, छः गुण, आदि के धारी परमाणुओं की द्वयधिकता पुष्ट बन जाती है, तथा इसी प्रकार तुल्य-जाति वाले और विभिन्न जाति वाले परमाणुओं की द्वयधिक गुणवाली अवस्था होजाने पर उनका बंध जाना सिद्ध होजाता है, इस सूत्र में तु शब्द को 'न जघन्यगुणानां, से चले आरहे निषेध की निवृत्ति के लिये युक्त किया गया है, इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा यों स्पष्ट कहे देते हैं।

द्व्यधिकादिगुणानां तु बंधोस्तीति निवेदयन्।
सर्वापवादनिर्मुक्तविषयस्याह संभवम् ॥ १ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

' द्व्यधिकादिगुणानां तु ' इस सूत्र द्वारा दो अधिक गुणवाले परमाणुओं का तो बंध होजाता है, यों निवेदन करते हुये सूत्रकार महाराज सम्पूर्ण अपवादों से सर्वथा रहित होरहे बंध विषय के सम्भवने को कह रहे हैं। अर्थात्-'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' यह उत्सर्ग सूत्र है,उसके पीछे 'न जघन्यगुणानां 'गुणसाम्ये सदृशानां' ये अपवाद सूत्र हैं, 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' यह अपवादों से रहित होता हुआ बंध विषय के निर्णीत सिद्धान्त को कहने वाला सूत्र है।

उक्तं च। 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण उ एइ बंधो, जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥' विषमोऽतुल्यजातीयः समः सजातीयो न पुनः समानभाग इति व्याख्यानान्न समगुणयोर्बंधप्रसिद्धिः।

उपरिम सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा भी है, कि स्निग्ध परमाणु का दूसरी दो अधिक स्निग्ध गुणवाली परमाणु के साथ बंध होजाता है, और रूखे गुण वाली परमाणु का अन्य दो अधिक रूखे गुण वाली परमाणु के साथ बंध होजावेगा। तथा स्निग्ध परमाणु का दो गुण अधिक रूक्ष वाली द्वितीय परमाणु के साथ बंधना होजायेगा, रूखे का भी द्व्यधिक स्निग्ध के साथ बंधजाना सम्भवता है। हाँ परमाणु की जघन्य गुण वाली अवस्था को छोड़ दिया जाय। अन्य सभी सम अथवा विषम गुण-धाराओं में बंध होजाना अनिवार्य है। विषम का अर्थ यहां अतुल्य जाति वाला है, और सम का अर्थ समान-जाति वाला है। अर्थात् स्निग्ध का स्निग्ध और रूक्ष का रूक्ष तुल्य जातीय है, किन्तु स्निग्ध का रूक्ष और रूक्ष का स्निग्ध परमाणु तो अतुल्य-जातीय है, अतः विषम के समान सम यानी सजातीय परमाणुओं में भी बंध का विधान कर दिया गया है, सम का अर्थ फिर समान भाग वाला नहीं है, यों व्याख्यान कर देने से 'गुणसाम्ये सदृशानां' इस सूत्र अनुसार समान गुण वाले परमाणुओं के बंध जाने की प्रसिद्धि नहीं होसकी।

व्यवहार में भी दो, चार, छह, आठ, दस, आदि दो के ऊपर दो दो अंकों की अधिकता होते सन्ते सम संख्या यानी पूरा को समधारा कहते हैं, और एक के ऊपर दो दो की वृद्धि होने पर तीन, पांच, सात, इत्यादि ऊनी संख्या में पड़े हुये अंकों को विषमधारा कहते हैं, जघन्य गुणों की अवस्था को छोड़ कर दोनों धाराओं में पड़े हुये चाहे किन्हीं भी अविभाग प्रतिच्छेदों के धारी दो गुण अधिक वाले पुद्गलों का बंध होजाना प्रसिद्ध कर दिया गया है, शेष आगे पीछे के गुणों को धार रहे पुद्गलों का नहीं।

कुतः पुनर्द्वावेव गुणावधिकौ सजातीयस्य विजातीयस्य वा परेण बंधहेतुतां प्रतिपद्येते नान्यथेत्याह।

यहां किसी विनीत शिष्य की सूत्रकार महाराज के प्रति जिज्ञासा है, कि क्या कारण है ? जिससे फिर दो ही गुण अधिक बेचारे भला उन सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं का दूसरे परमाणु के साथ बंध होजाने के कारणपने को प्राप्त होरहे हैं, अन्यथा यानी अन्य प्रकार समगुणता, अधिकगुणता, या चार गुणों से अधिक गुण-सहितपना, आदि उस बंध का कारण नहीं माने गये है, अतः बताओ कि इन अन्य प्रकारों से क्यों नहीं बंध की हेतुता व्यवस्थित कर दी जाय अर्थात् द्वयधिक गुणों पर क्यों बल डाला जाता है ? सम-गुणों का ही बंध क्यों नहीं होजाय ?, नीति तो यों कहती है कि 'अधिकेन सम [illegible] तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः' ऐसी बुभुत्सा जागृत होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३८ ॥

बंध होजाने पर अधिक होरहे दो गुण दूसरे परमाणु के द्विहीन गुणों को स्वायत्त कर परिणाम करा देने वाले होजाते हैं। जैसे कि गीला गुड़ चून को या पड़ गई धूल को अपने अधीन मधुर रस वाला करता हुआ स्वकीय गुणों का आपादन करने से परिणाम कराने वाला होजाता है इसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु दूसरे द्विभाग न्यून परमाणु को द्वयणुक अवस्था में स्वकीय रूखे या चिकने अविभागप्रतिच्छेदों के अनुरूप कर लेता है, अत बंध में अधिक गुणों को दूसरे के गुणों का पारिणामिकत्व साधने के लिये बंधने का बीज द्वयधिकता को बताया गया है।

यस्मादिति शेषः। प्रकृतत्वाद्गुणसंप्रत्ययः। क, प्रकृतौ गुणौ द्वयधिकादिगुणानां त्वित्यत्र समासे गुणीभूतस्यापि गुणशब्दस्यानुवर्तनमिह सामर्थ्यात, तदन्यस्यानुवर्तनासंभवात्, गुणावितिवाभिसंबंधोर्थवशाद्विभक्तिवचनयोः परिणामात् भावांतरापादकौ पारिणामिकौ, रंगो क्लिन्नगुणवत्। तथाहि।

इस सूत्र में 'यस्मात्, इस पद को शेष समझ कर उपस्कार करते हुये यों अर्थ समझ लिया जाय कि जिस कारण से बंध होजाने पर एक के दो अधिक गुण दूसरे के दो न्यून गुणों का स्वानुकुल परिणमन करा देते हैं, तिस कारण दो अधिक गुण वालों का बंध होजाना समुचित है, यों उक्त दोनों सूत्रों का प्रतिज्ञावाक्य बन गया। प्रकरण में प्राप्त होरहा होने से गुण की भले ही प्रकार प्रतीति होजाती है, यानी " बंधे सति अधिकौ गुणौ पारिणामिकौ भवतः " यह वाक्य बनजाता है।

यदि कोई पूंछे कि द्विवचनान्त 'गुणौ' यह पद भला प्रकरणप्राप्त कहां होरहा है ? बताओ इसका उत्तर यह है, कि 'द्वयधिकादिगुणानां तु' यों इस सूत्र में यद्यपि गुण शब्द बेचारा बहुव्रीहि समास में गौण होचुका है, 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः' इस नियम अनुसार केवल गुण शब्द का निकाल लेना उसी प्रकार कठिन है, जैसे कि किसी अंगी में से एक अङ्ग को निकाल लेना या रसीले पदार्थ से रस का निकाल लेना दुष्कर है, तथापि समास-वृत्ति में उपसर्जनी-

भूत होचुके भी गुण शब्द की यहां अर्थ की सामर्थ्य से अनुवृत्ति कर ली जाती है, उस गुण शब्द से अन्य होरहे द्वि, अधिक आदि इन अप्रयोजनीभूत शब्दों की अनुवृत्ति करना यहां नहीं सम्भवता है, अतः 'गुणौ' इस द्विवचनान्त पदका ही यहां सूत्रमें दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना युक्त है। 'अर्थवशाद् विभक्तिवचनविपरिणामः' अर्थ के वश से विभक्ति और वचन का परिवर्तन कर दिया जाता है, अतः षष्ठी बहुवचनान्त 'गुणानां' इस पद को यहां प्रथमा द्विवचनान्त 'गुणौ' इस स्वरूप से परिणत कर दिया गया है, पारिणामिक का अर्थ प्रकृत भाव से अन्य भावों में प्राप्ति करा देना है, जैसे कि मधुर रस वाला गीला गुड़ यहां वहां से उड़ कर पड़ गये रेत, धूल, आदि को अपने मधुर रस अनुसार परिणति करा देता है।

यद्यपि गुड़ में धूलि कणों के मिल जाने पर उतना मीठापन नहीं रहता है, सूक्ष्म-दृष्टि पुरुषों से यह बात छिपी नहीं है, फिर भी उस धूलि का रस गुड़ में मिल जाने से परिवर्तित होगया है, यह निः सन्देह मानना पड़ता है, एक कड़वे बादाम ने भले ही पांच सेर ठंडाई को बिगाड़ दिया है, फिर भी अधिक मीठी ठंडाई ने इधर कड़वे बादाम को मीठा होजाने के लिये भी बाध्य कर दिया है, हां यदि कटु बादाम उसमें नहीं गिरता तो ठंडाई और भी अधिक मीठी होजाती। यहां इतना ही कहना है, कि ठंठाई ने बादाम को मीठा किया किन्तु एक कटु बादाम ने मीठी ठंडाई को कड़ुआ नहीं कर दिया है, अतः गीला गुड़ जैसे रेखुओं का स्वकीय रस अनुसार पारिणामिक है, उसी प्रकार बंध होजाने पर अधिक गुण उस दूसरे के गुणों को अन्य भावों अनुसार आपादन करते हुये पारिणामिक होरहे हैं, इसी सिद्धान्त की अग्रिम वार्त्तिक द्वारा और भी स्पष्ट करके ग्रन्थकार दिखाते हैं।

बन्धेधिको गुणो यस्मादन्येषां पारिणामिको।
दृष्टौ सक्तुजलादीनां नान्यथेत्यत्र युक्तिवाक् ॥ १ ॥

जिस कारण कि बन्ध हो जाने पर अधिक गुण उन बन्ध रहे अन्य द्रव्यों को स्वकीय गुणानुरूप परिणमन करा देने वाले देखे गये हैं। जैसे कि सतुआ जल या पानी बूरा, अथवा दूध मिश्री आदि पदार्थों का बन्ध होजाने पर अधिक गुण वाला द्रव्य अन्य न्यून गुण वाले का स्वानुरूप परिणाम कर लेता है, अन्य प्रकारों से कोई व्यवस्था नहीं होपाती है। अतः यों इस सूत्र में यह अनुमान बनाते हुये युक्ति-वाक्य प्रतीत होरहा है। अर्थात्—व्यवहार में भी द्रव्यवान् पुरुष दरिद्रों को, उद्भट पण्डित जिज्ञासुओं को, प्रकाण्ड वक्ता श्रोताओं को, चतुर नारी पति को, गुरु चेला को, अपने अनुकूल कर ही लेते हैं। रिक्त पदार्थ पूर्ण के अधीन होजाता है, पुत्र-रहित महाराणी भी बच्चों वाली पिसनहारी की ओर टकटकी लगाती हुई देखती रहती है, विचारती है कि भले ही मैं निर्धन होती किन्तु बच्चों वाली होती। बच्चों को अपनी आंखोंमें बैठाये रखती। सच्चरित्र और सिद्धान्त न्यायवेत्ता विद्वान् के मुख की ओर सैकड़ों धनाढ्य मुंह बांधे खड़े रहते हैं, गुणी पुरुष का अल्पगुणी पुरुष पर बड़ा भारी प्रभाव

पड़ता है। तिस कारण " बन्धेधिको पारिणामिको " उचित है। इस सूत्र में च शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती है।

यथैव हि रूक्षाणां सक्तूनां स्निग्धा जलकणास्ततो द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिकाः पिंडात्मतया पारिणामिका दृश्यंते नान्यथा। तथैव परमाणोर्द्विगुणस्य चतुर्गुणः परमाणुः पारिणामिकः स्यादन्यथा द्वयोः परमाण्वोरन्योन्यमविभक्तरूपद्व्यणुकस्कंधपरिणामायोगात् संयोगमात्रप्रसक्तेः परस्परविवेकप्रसक्तेस्तदनन्वयत्वं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस यथा का अगले तथा शब्द के साथ अन्वय कर लेना चाहिये जब कि जिस ही प्रकार रूखे सतुआओं को चिकने जल के कण उन सतुआओं से दो गुण करके अधिक होरहे सन्ते पिण्ड स्वरूप करके परिणाम कराते हुये देखे जाते हैं। अन्य प्रकारों से नहीं देखे जाते हैं। अर्थात्—अधिक चिकनाई को धार रहा जल ही रूक्ष प्रकृतिके सतुआओं का चिकना पिण्ड बांध देता है। एक सेर सतुआओं में दो चार बूंद पानी तो सूख कर सतुआओं के रूखेपन में अपना खोज खो देवेगा सतुआ खाने वाले तभी तो अधिक पानी में सतुआओं की पिण्डी बनाते हुये स्वादु रसायन सिद्ध कर लेते हैं।

तिस ही प्रकार दो गुण वाली परमाणु का चार गुण वाली परमाणु बन्ध कर स्वानुरूप परिणमन करा देती मानी जायेगी अन्यथा यानी दूसरे अधिक गुण वाले के अनुरूप परिणमन नहीं माना जाकर यदि अपने अपने पूर्वोपात्त गुणों अनुसार ही परिणति बने रहना माना जायेगा तब तो दोनों परमाणुओं की परस्पर में अपृथक् भूत स्वरूप होरहे द्वयणुक स्कंध नामक परिणति होजाने का अयोग होजावेगा, दो परमाणुओं का केवल संयोगमात्र ही होजानेका प्रसंग आवेगा जोकि अवयवी को मानने वाले जैन, नैयायिक, वैशेषिक किसी के यहां इष्ट नहीं किया गया है। अपने अपने गुणों को धार रहीं परमाणुयें पृथक् पृथक् पड़ी रहेंगी तो दोनों की अपृथक् अवस्था रूप द्वयणुक स्कन्ध भला कहां बना। बौद्धों का सा अत्यासन्न असंसृष्ट स्पर्शमात्र माने रहो ऐसी दशा में परमाणुओं का परस्पर पृथग्भाव बने रहने का ही प्रसंग आया, अतः उन परमाणुओं का अन्योन्य हृदय नहीं मिलने से अनन्वय सहितपना होगया यानी एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का अन्वय नहीं बन सका। अन्वय के विना अवयवी स्कन्ध की सिद्धि कथमपि नहीं होसकती है। नदी में जल की धारायें जैसे जलमें अन्वित होरही हैं उसी प्रकार अवयवी में अवयवों का एक रस होरहा है।

न च विभागसंयोगाभ्यामन्यपरिणामः प्राप्तिरूपो न संभवतीति युक्तं वक्तुं, तृतीयस्यावस्थाविशेषस्य स्कंधैकत्वप्रत्ययहेतोः सद्भावात्। शुक्लपीतद्रव्ययोः परिणामे युक्तपीतवर्णपरिणामवत् क्लिन्नगुडानुप्रवेशे रेणवादीनां मधुरसपरिणामवद्वा।

यदि कोई यों कहे कि मिलकर भी परमाणुओं का संयोग ही बना रह सकता है नित्य परमाणुयें अपने स्वरूप को छोड़ नहीं सकती हैं और न्यारी न्यारी पड़ी हुई परमाणुओं में केवल विभाग

होरहा है अथवा पूर्व स्थान से विभाग करती हुई परमाणु चुपट कर यहां दूसरे परमाणु के निकट ठिठक गई है, अतः संयोग विभागों से कोई निराला परिणाम बन्ध स्वरूप प्राप्त होजाना नहीं सम्भवता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तुम नहीं कह सकते हो इन अनुचित वचनों में कोई युक्ति नहीं है जब कि विभाग और संयोग से निराली तीसरी विशेष अवस्था का सद्भाव पाया जाता है जो कि तीसरी अवस्था उनके बन्ध जाने पर स्कन्ध पिण्ड में एकत्व के ज्ञान कराने का हेतु होरही है "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" परमाणुओं के संयोग और विभाग से तीसरी अवस्था बन्ध है जैसे कि शुक्ल द्रव्य और पीत द्रव्य का बन्ध परिणाम होजाने पर एक युक्त होरहा पीत वर्ण परिणाम वाला पदार्थ उपज जाता है। पीले रंग वाले जल में सफेद कपड़े को डुबा देने पर न्यारा ही वर्ण वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होजाता है दूध में हल्दी या केसर डाल देने से विलक्षण रंग आजाता है अथवा गीले लपटा गुड़ में धूल, चून, आदि का पीछे प्रवेश होजाने पर जैसे धूल आदि की मधुर रसवाली पर्याय उपज बैठती है, उसी प्रकार परमाणुओं की बन्ध अवस्था निराली ही है।

नन्वत्रापि द्वावेव गुणाधिकौ पारिणामिकाविति कुतः प्रतिपत्तिः? सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणादागमाद्विशेषतस्तत्प्रतिपत्तिः। एवं ह्युक्तमार्षेन्त्यवर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्राक्तः विषमस्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां वा भेद इति। तदनुसारेण सूत्रकारैर्बंधव्यवस्थापनात् परमागमसिद्धो बन्धविशेषहेतुर्द्व्यधिकादिगुणत्वं। द्वयोरेव वाधिकयोर्गुणयोः पारिणामिकत्वं।

फिर भी यहां कोई शंका करें कि यहां भी दो ही गुण अधिक होरहे भला अन्य बध्यमान को स्वानुरूप परिणमन कराने वाले हैं? इसकी किस प्रमाण से प्रतिपत्ति कर ली जाय? बताओ ग्रन्थकार इसका उत्तर कहते हैं कि बाधक प्रमाणों के नहीं सम्भवने का जिसमें बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका है ऐसे सर्वज्ञ आम्नात आगमप्रमाण से विशेषरूप करके उस सूत्रोक्त सिद्धान्त की दृढ़ प्रतीति होजाती है जब कि सर्वज्ञ की परम्परा से चले आरहे और बुद्धिऋद्धिधारी ऋषियों करके बनाये गये सिद्धान्त आगम ग्रन्थों में इस प्रकार कहा जा चुका है। अन्तिम वर्गणा के निरूपण अवसर पर बन्ध का विधान करने में नो आगम द्रव्य बन्ध के भेद का निरूपण करते सन्ते सादि वैस्रसिक बन्ध के कथन में यों बहुत अच्छा कहा गया है कि विषम स्निग्धता के होने पर और विषम रूक्षता के होने पर तो बन्ध होगा तथा समस्निग्धता के होने पर अथवा समरूक्षता के होने पर भेद (विदारण) होजायेगा।

अर्थात्—स्नेह गुण के अविभागप्रतिच्छेदों की विषम धारा प्राप्त होजानेपर या परमाणु में रूखेपने के अविभागप्रतिच्छेदों की विषम संख्या प्राप्त होजाने पर परमाणुओं का परस्पर बन्ध होजायेगा तभी तो सूत्रकार ने "द्व्यधिकादिगुणानां तु" लिखा है और उन प्रतिभाग प्रतिच्छेदों की समता होजाने पर बंध नहीं होना बताया है, तदनुसार 'न जघन्यगुणानां' "गुणसाम्ये सदृशानां" ये दो सूत्र कहे हैं, गुरुपर्वक्रम का अतिक्रमण नहीं होसकता है, उस आगम के अनुसार से सूत्रकार महाराज करके

प्रवचनकर्तृ- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बंध की व्यवस्था कराई गई है, अतः द्वयधिक आदि गुण सहितपना जो विशेषतया बंध का हेतु माना गया है, वह परमोत्कृष्ट सिद्धान्त आगम में प्रसिद्ध है, दो ही अधिक होरहे गुणों को दूसरे के अल्प-गुणों का तादृश परिणाम करा देने की हेतुता प्राप्त है, एक से अधिक या तीन चार से अधिकगुणों को स्वानुरूप परिणाम की कारणता प्राप्त नहीं है।

सामान्येन तु पुद्गलाना बंधहेतुः कश्चिदस्ति कात्स्न्यैकदेशतो बंधासंभवेपि बंधविनिश्चयात्तत्र बाधकाभावादिति पुद्गलस्कन्धद्रव्यसिद्धिः, तस्यैव रूपादिभिः स्वभावैः परिणतस्य चक्षुरादिकरणग्राह्यतामापन्नस्य रूपादिव्यवहारगोचरतया व्यवस्थितेः। न हि तथाऽपरिणतं तद्भवत्यतिप्रसंगात्, नापि तदेव परिणाममात्रप्रसंगात् न च परिणामिनो सत्वे परिणामः सम्भवति खरविषाणस्य तैक्ष्ण्यादिवत्।

जगत् में अनेक प्रकार के स्कन्ध दृष्टि-गोचर होरहे हैं, अतः सामान्य करके तो पुद्गलों के बंध का हेतु कोई न कोई अंश तो है ही, यह तो सिद्धान्त सम्मत है, भले ही बौद्ध जन यों दोष देते रहें कि एक अवयव का दूसरे अवयव के सम्पूर्ण देशों से बंध माना जायेगा तो स्कन्ध के सूक्ष्म एक पिण्ड मात्र होजाने का प्रसंग आजावेगा और एक देश करके बंध मानने पर अन्य अन्य भीतरी एक देशों की कल्पना करते-करते अनवस्था होजायगी। आचार्य कह रहे हैं, कि यों पूर्ण देश और एक देश से बंध का असम्भव होजाना बताने पर भी जब बंध का विशेष रूप से निश्चय होरहा है, तो उस जैसे भी हो तैसे सामान्यतः बंध होजाने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार पुद्गलों के स्कन्धद्रव्य की सिद्धि होजाती है, "सांप निकलगया लकीर को पीटते रहो,, यों "गतसर्पघृष्टि-कुट्टन-न्याय" अनुसार पीछे भले ही बंध में दोष देते रहो, क्या होता है। दक्ष पुरुष अपना काम निकाल लेता है, पीछे पोंगा, बुद्धू पुरुष भले ही मैंने यों करना चाहा था मैंने विघ्न डालनेका विचार किया था मैंने छींक दिया था, यों बकते रहो। इस भोंदूपन की पंचायत में कोई तत्व नहीं है। उस पुद्गल स्कन्ध के ही रूप आदि स्वभावों करके परिणत होरहे और चक्षु., रसना, आदि इन्द्रियों से ग्रहणयोग्यपन को प्राप्त होचुके पदार्थ की रूप. रस आदि व्यवहार के विषय होजानेपने करके व्यवस्था की गई है, यानी जो रूप आदि स्वभावों करके परिणत होचुका पुद्गल द्रव्य है, वही रूप कहा जा सकता है, "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति,, यह कोष वाक्य भी है, रूप से परिणत होरहा ही पुद्गल रूप कहा जा सकता है, जो तिस प्रकार यानी रूप रहितपने करके परिणत नहीं होता है, वह उस रूप स्वरूप नहीं होपाता है, यदि बलात्कार से तथा अपरिणत को तत् माना जायेगा तो अतिप्रसंग होजायेगा यानी अज जड़ पदार्थ ज्ञ बन बैठेगा, अनुष्ण जल भी उष्ण जल होजायेगा, कोई रोक रोक नहीं रहेगी।

एक बात यह भी है, कि रूप आदि स्वभावों से परिणत पदार्थ रूपवान् नहीं माना जाकर यदि वह रूप ही माना जायेगा तब तो केवल परिणाम ही के सद्भाव का प्रसंग आता है, किन्तु तिस

प्रकार परिणामी पुद्गल द्रव्य या आत्मा का असद्भाव मानने पर परिणाम होना ही नहीं सम्भवता है, जैसे कि असत् निर्णीत किये गये खर-विषाण के तीक्ष्णता (पैनापन) चिकनापन, काठिन्य, आदि परिणाम नहीं बन पाते हैं।

नापि परिणामाभावे परिणामि भवति खरविषाणवदिति परिणामपरिणामिनोरन्योन्याविनाभावित्वादन्यतरापाये प्युभयासत्त्वप्रसक्तिः। ततो नित्यतापरिणामि द्रव्यमुपगंतव्यं तत्परिणामवत्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा परिणामी के बिना जैसे परिणाम नहीं, उसी प्रकार परिणाम का अभाव मानने पर परिणामी द्रव्य भी नहीं सम्भवता है, जैसे कि तीक्ष्णता आदि परिणामों के नहीं होने पर खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि कोई परिणामी पदार्थ नहीं है। इस प्रकार परिणाम और परिणामी दोनों पदार्थों का परस्पर अविनाभाव (समव्याप्ति) होजाने के कारण दोनों में से किसी एक का अभाव मानने पर दोनों के भी असद्भाव का प्रसंग आजाता है, आत्मा के बिना ज्ञान नहीं ठहरता है, जब ज्ञान ही मर गया तो आत्मा भी जीवित नहीं रह सकता है. उष्णता के बिना अग्नि नहीं और अग्नि के बिना उष्णता नहीं।

तिस कारण नित्यपन परिणाम का धारी द्रव्य स्वीकार करना चाहिये जैसे कि उस नित्य द्रव्य का परिणाम आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है, यों "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" या "तद्भावाव्ययं नित्य" इस सूत्र से प्रारम्भ कर यहां तक के सूत्रों की संगति लगा लेनी चाहिये।

अगले सूत्रका अवतरण इस प्रकार है, कि यद्यपि "सद्द्रव्यलक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यों द्रव्य का लक्षण पहिले ही कहा जा चुका है, तथापि भेद-विवक्षा को प्राधान्य देते हुये सूत्रकार महाराज दूसरे प्रकार के लक्षण से भी अग्रिम सूत्र द्वारा उस द्रव्य की प्रसिद्धि कराते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुण और पर्याय जिसके विद्यमान हैं, वह गुणवान् और पर्यायवान् पदार्थ द्रव्य कहा जाता है, गुण और पर्यायों से द्रव्य का अभेद होते हुये भी लक्षण की अपेक्षा कथंचित् भेद होजाने से मतुप् प्रत्यय की उपपत्ति होजाती है, अतः सहभावी पर्याय होरहे गुणों और क्रमभावी स्वभाव होरहे पर्यायों को अविष्वग्भाव रूप से द्रव्य धारे हुये हैं।

गुणाः वक्ष्यमाणलक्षणाः पर्यायाश्च तत्सामान्यापेक्षया नित्ययोगे मतुः। द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यमित्यपि न विरुध्यते। विशेषापेक्षया पर्यायाणां नित्ययोगाभावात्कादाचित्कत्वसिद्धेः।

गुणों का लक्षण सूत्रकार द्वारा स्वयं आगे "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" यों कहा जाने वाला है, और "तद्भावः परिणामः" यों पर्यायों का भी जाति मुद्रया लक्षण कह दिया जायेगा। यद्यपि गुणों की संख्या से पर्यायों की संख्या अनन्तगुणी है, गुणों के लक्षण सूत्र में बहुवचन और पर्याय के लक्षण सूत्र में एक वचन का प्रयोग करना सूत्रकारका साभिप्राय प्रयत्न है। पर्यायों के सामान्य की अपेक्षा एक वचन का प्रयोग बड़े महत्व का होजाता है, जैसे कि माता, पिता, गुरु अपने पुत्र अथवा शिष्य का एक वचन या युष्मद् शब्द प्रयोग अनुसार उच्चारण करते हैं, भक्त अपने आराध्य देवता का एक वचन युष्मद् पद करके जब प्रयोग करता है तब एक विलक्षण प्रकार का ही अलौकिक आनन्द आत्मामें उमड़ पड़ता है, "जनानां समुदायो जनता" "महारण्यमरण्यानी" "द्रव्यं जीवाजीवौ" इत्यादि पद अपरिमित संख्याओं को लिये हुये हैं। यहां नित्ययोग में मत् प्रत्यय है, अर्थात्-गुणों का और पर्यायों का द्रव्य में नित्य ही योग बना रहता है, अविनाशी गुण तो द्रव्य में सदा रहते हैं, हां उत्पाद-विनाश-शालिनी पर्यायें व्यक्तिरूप से कदाचित् पायी जारहीं सदा नहीं ठहरती हैं, किन्तु सामान्य अपेक्षा करके कोई न कोई पर्यायें द्रव्य में बनी ही रहती हैं, धारा-प्रवाह रूप से पर्यायों का सद्भाव द्रव्य में सतत विद्यमान है।

द्रव्य शब्द की निरुक्ति यों है, कि जो अपनी उन उन पर्यायों का वर्तमान में द्रवण कर रहा है भविष्य में द्रवण करेगा और जो भूतकाल में द्रवण कर चुका है, वह द्रव्य है। यों तीनों काल सम्बन्धी द्रवण की अपेक्षा द्रव्य इस शब्द की निरुक्ति करना भी विरुद्ध नहीं पड़ता है, यानी निरुक्ति से लब्ध होरहे अर्थ और लक्षण द्वारा प्राप्त होरहे अर्थ में कोई विरोध नहीं है, सामान्य विशेष का अन्तर भले ही समझ लिया जाय जल या दूध विना प्रयत्न ही के जैसे नीचे प्रदेश में बहने लग जाता है, उसी प्रकार द्रव्यें स्वभाव ही से तीनों काल अपनी तदात्मक पर्यायों में द्रवण करती रहती है।

पर्यायों का सामान्य की अपेक्षा नित्ययोग इसीलिये कहा है, कि पर्यायों के व्यक्तिविशेषों की अपेक्षा करके द्रव्य में पर्यायों का नित्य ही सम्बन्ध नहीं है, अतः विशेष पर्यायों का कदाचित् कदाचित् होना ही सिद्ध है। आत्मा में चेतना गुण नित्य विद्यमान है, हां चेतना गुण के परिणाम घटज्ञान पटज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तो कदाचित् ही होते हैं, पर्यायें सदा अवस्थित नहीं रहती हैं, अतः गुणों वाला और पर्यायोंवाला द्रव्य होता है, यह द्रव्य का निर्दोष लक्षण है।

किमर्थमिदं पुनर्द्रव्यलक्षणं ब्रवीतीत्यारेकायामाह।

कोई जिज्ञासु पूछता है, कि सूत्रकार महाराज द्रव्य के इस लक्षण को फिर किस प्रयोजन के लिये स्पष्ट कह रहे हैं? इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द सूरि अगली वार्तिक द्वारा समाधान करते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्याह व्यवहारतः।
सत्पर्यायस्य धर्मादेर्द्रव्यत्वप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

व्यवहारनय से सत् के पर्याय होरहे धर्म, अधर्म, आदि के द्रव्यपन की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार महाराज 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं। अर्थात्–सम्पूर्ण पदार्थों को एक सत् रूप से ग्रहण कर रहा संग्रहनय है, "अंशकल्पनं पर्यायः" अंशों की कल्पना करना यह पर्यायों का सिद्धान्त लक्षण है, "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः" संग्रहनय से आक्षेपग्रस्त किये गये पदार्थों का व्यवहारोपयोगी भेद करना व्यवहार है, तदनुसार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य भी सत्के पर्याय होजाते हैं, पहिले "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इस लक्षण से सत् के पर्याय होरहे धर्म आदि का द्रव्यपना प्रतीत नहीं होता है, हां इस 'गुणपर्यायवद्द्रव्यं" से धर्म आदि का द्रव्यपना समीचीन प्रतीत होजाता है, भलें ही धर्म आदिक सब द्रव्य उस व्यापक सत् के पर्याय हैं, फिर भी स्वकीय नियत गुणों और पर्यायों से भरपूर हैं।

सतो हि महाद्रव्यस्य पर्यायो धर्मास्तिकायादिर्व्यवहारनयार्पणायां द्रव्यत्वमपि स्वीकरोत्येव, तस्य चासाधारणलक्षणं गुणपर्यायवत्त्वमिति प्रतिपत्तव्यं, न पुनः क्रियावत्त्वं तस्याव्यापकत्वान्निष्क्रियेष्वाकाशादिष्वभावात्।

जब कि अनेक द्रव्यों का समुदाय होरहा सत् महान् द्रव्य है, उस सत् के अंश-कपल्ना स्वरूप पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि व्यक्ति रूप से अनेक द्रव्यें हैं। धर्मास्तिकाय, आदि छःऊ द्रव्यें व्यवहार अनुसार अर्पण करने पर द्रव्यपन को भी स्वीकार कर ही लेती हैं, उस द्रव्य का असाधारण लक्षण गुणपर्यायवत्व है, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिये। अर्थात्–"सत्तासव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया। भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा" इस महासत्ता के स्वरूप अनुसार "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यह महाद्रव्य होरहे सत् का लक्षण है, और "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह महाद्रव्य सत् के पर्याय माने जा रहे धर्मास्तिकाय आदि का असाधारण लक्षण समझ लिया जाय।

किन्तु फिर वैशेषिक दर्शन अनुसार "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणं" युक्त नहीं है, वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय–सम्बन्धी पहिले आन्हिक के पन्द्रहमे उक्त सूत्र का अर्थ यह है, कि जो क्रियावान् है, और जो गुणवान् है, तथा जो समवायि कारण है, वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों ने किया है, किन्तु ये तीनों लक्षण निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि उस क्रियासहितपने लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है, जब कि क्रियारहित माने गये आकाश आदि चार व्यापक द्रव्यों में क्रिया का अभाव है।

वैशेषिकों ने आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन चार द्रव्यों को व्यापक मान कर क्रियारहित स्वीकार किया है, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्यों में ही क्रिया स्वीकार की गयी है, "क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी" (कारिकावली)।

अतः सम्पूर्ण नौऊ द्रव्यों में व्यापक रूप से क्रियावत्व लक्षण नहीं घटित हुआ वैशेषिकों ने आद्यक्षणावच्छिन्न घट आदि कार्य द्रव्यों को निर्गुण, निष्क्रिय, स्वीकार किया है, अतः गुणवत्व लक्षण भी अव्याप्ति दोष वाला है।

समवायिकारणत्वमपि न द्रव्यलक्षणं युक्तं, गुणकर्मणोरपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तयोर्गुणत्वकर्मत्वसमवायिकारणत्वसिद्धेः । तयोस्तत्समवायित्वमेव तत्कारणत्वं । गुणत्वकर्मत्वसामान्ययोरकार्यत्वादिति चेन्न, सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य कथंचित्कार्यत्वसाधनात्, कथंचित्तदनित्यत्वमपि नानिष्टं, प्रत्यभिज्ञानस्य सर्वथा नित्येष्वसंभवादित्युक्तप्रायं ।

द्रव्य का लक्षण समवायिकारणपना भी उचित नहीं है, कारण कि यों तो गुण और कर्मों को भी द्रव्यपने का प्रसंग आजावेगा क्योंकि उन गुण और कर्म को भी गुणत्व और कर्मत्व जाति के समवायिकारण होजाने की सिद्धि गुण में समवाय सम्बन्ध से गुणत्व जाति रहती है, और कर्म में कर्मत्व जाति समवेत होरही है, उन गुण कर्मों को उन गुणत्व कर्मत्व का समवायसहितपना ही उन गुणत्व कर्मत्वों की कारणता है, जैन-सिद्धान्त अनुसार गुण के सदृश परिणाम होरहे गुणत्व और कर्म के सदृश परिणाम होरहे कर्मत्व भी गुण या कर्म के समान अनित्य ही हैं, उनको समवाय सम्बन्ध से धर लेने वाला ही उनका समवायि कारण है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि चौवीसों गुणों में रहने वाली गुणत्व जाति और पांचों कर्मों में व्याप रहा कर्मत्व सामान्य तो नित्य पदार्थ हैं, ये किसी के कार्य नहीं हैं, अतः इनके समवायि कारण गुण या कर्म नहीं होसकते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि "सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्" सामान्य (जाति) सदृश परिणाम स्वरूप है, ऐसे सदृश परिणामस्वरूप सामान्य को कथंचित् कार्यपना साध दिया गया है, अतः उन गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यों का कथंचित् अनित्यपना भी अनिष्ट नहीं है। हां सामान्य को कथंचित् नित्य भी कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं, कारण कि यह वही गाय है, यह वही रूप है, यह वही रस, है, यह वही नृत्य है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञानों का होना सर्वथा नित्य पदार्थों में असम्भव है, इस बात को हम पूर्व प्रकरणों में कई वार कह चुके हैं।

गुणवत्त्वे सति क्रियावत्त्वं समवायिकारणत्वं च द्रव्यलक्षणमित्यप्ययुक्तं, गुणवद्द्रव्यमित्युक्ते लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावात् । तद्वचनानर्थक्यात् ।

गुणवान् होते सन्ते क्रियासहितपना और समवायिकारणपना यह मिला कर द्रव्य का लक्षण किया गया भी युक्तिरहित है, क्योंकि "गुणवाला द्रव्य होता है" इस प्रकार ही कह चुकने पर अकेले गुणवत्व लक्षण के ही अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का अभाव है, फिर उन क्रियासहितपन और समवायिकारण इन वचनोंका पुच्छल्ला लगाना व्यर्थ पड़ता है, "लक्षणं हि तन्नाम यतो न लघीयः"

लक्षण वही होना चाहिये जिससे कि छोटा स्वरूप दूसरा नहीं होसके अन्यथा वे केवल भाटों के गीत समझे जाते हैं।

कार्य द्रव्यों को आद्य लक्षण में निर्गुण कहना वैशेषिकों का उचित सिद्धान्त नहीं है, जिस प्रकार द्रव्य के बिना गुण निराधार नहीं ठहर पाते हैं, उसी प्रकार द्रव्य भी गुणों के बिना निराधेय नहीं ठहर सकता है, गुणों का द्रव्य के साथ अविनाभाव है, द्रव्य और गुणों का तादात्म्य ही कह दिया जाय कोई क्षति नहीं पड़ती है, तभी तो सूत्रकार ने द्रव्य के उक्त लक्षण सूत्र में गुण को उपात्त किया है।

नन्वेवमत्रापि पर्यायवद्द्रव्यमिति युक्तेर्गुणवदित्यनर्थकं सर्वद्रव्येषु पर्यायवत्त्वस्य भावात् गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थं तत एवेति तदुभयं लक्षणं द्रव्यस्य किमर्थमुक्तमित्यत्रोच्यते।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है, कि जब जैन इस प्रकार ही लक्षणों में लाघव करने लगे तो ऐसे ढंग अनुसार यहां सूत्र में भी पर्याय वाला द्रव्य होता है, 'पर्यायवद्द्रव्यं' इतना कह चुकने पर द्रव्य का निर्दोष लक्षण बन जाता है, पुनः "गुणवत्" यह भी कहना तो व्यर्थ पड़ा क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्यों में पर्यायसहितपन का सद्भाव पाया जाता है, कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायों से रीता नहीं है, द्रव्यों से अतिरिक्त स्थानों में पर्यायें ठहरती नहीं हैं, द्रव्य के गुण किसी न किसी पर्याय को धारे ही रहते हैं, अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषों की सम्भावना नहीं है।

अथवा और भी अक्षरकृत लाघव करना होय तो "गुणवद्द्रव्यं" गुणों से सहित द्रव्य होता है यों इतना कह चुकने पर ही "पर्यायवत्" यह पद व्यर्थ पड़ता है। जिस कारण से वैशेषिकों के यहां माने गये द्रव्य लक्षण ने तीन घटकावयवों पर कटाक्ष उठाया गया था तिसी ही कारण से आक्षेप प्रवर्तता है, कि वे "गुणवद्द्रव्यं, पर्यायवद्द्रव्यं" यों दोनों ही द्रव्य के लक्षण भला किस प्रयोजन के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र में कहे हैं? बताओ, इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके यहां समाधानार्थ यह अगिली वार्त्तिक कही जाती है।

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकांतसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकांतवित्तये॥ ५॥

सह-अनेकान्त की सिद्धि कराने के लिये इस सूत्र में "गुणवद्द्रव्यं" गुण वाला द्रव्य होता है, यह अंश कहा गया है, तथापि शिष्यों को क्रम-अनेकान्त की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार ने "पर्यायवद्द्रव्यं" पर्यायों वाला द्रव्य होता है, यह दूसरा लक्षण का घटकावयव कहा है। अर्थात्-द्रव्य के सहभावी परिणाम गुण हैं और क्रमभावी अंश पर्यायें हैं, त्रिलक्षण-आत्मक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, अंशों की भित्ति पर पर्यायें डटी हुई हैं, और ध्रौव्य की भित्ति पर गुणों का होना विवक्षित है, अनन्त

धर्मात्मक द्रव्य में गुणों की अपेक्षा सहानेकान्त सध रहा है, और क्रम-भावी अनेक पर्यायों की अपेक्षा क्रमानेकांत बन रहा है, क्रम और युगपत्पने करके अर्थ-क्रिया को करने वाली वस्तु का सत् पना अक्षुण्ण रहता है, यों प्रमाण नय अनुसार सह सप्तभंगियों और क्रम सप्तभंगियों के विषयभूत धर्मों को धार रहा द्रव्य है।

यदि इस सूत्र में केवल "गुणवद्द्रव्यं" कह दिया जाता तो जैनों के यहां पर्यायों के क्रम अनेकान्त की अमान्यता ठहरती और "पर्यायवद्द्रव्यं" इतना ही कह देने पर स्याद्वादियों के यहां सह-अनेकान्त उड़ा दिया गया माना जा सकता था किन्तु जैन दोनों को मानते हैं, अतः सह, क्रम, दोनों अनेकान्तों की व्युत्पत्ति कराने के लिये उदात्ताशय सूत्रकार ने "गुणपर्यायवद्द्रव्यं" कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नास्त्येकत्र वस्तुनीहानेकौ धर्मः सर्वभावानां परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादेकेन धर्मेण सर्वात्मना व्याप्तेः धर्मिणि धर्मान्तरस्य तद्व्याप्तिविरोधादन्यथा सर्वधर्मसंकरप्रसंगादिति सहानेकांतनिराकरणवादिनः प्रति गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं। सकृदनेकधर्माधिकरणस्य वस्तुनः प्रतीयमानत्वात् कुटे रूपादिवत् स्वपरपक्षसाधकत्वेतरधर्माधिकरणैकहेतुवत्। पितापुत्रादिव्यपदेशविषयानेकधर्माधिकरणपुरुषवद्वा।

वस्तु में साथ अनेक धर्मों का निराकरण करने वाले पण्डित यों कह रहे हैं कि यहां एक वस्तु में एक साथ अनेक धर्म नहीं ठहर पाते हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर एक दूसरे का परिहार करते हुये ठहरना इस लक्षण को आत्मसात् किये हुये हैं एक धर्मका दूसरे धर्म के साथ या एक धर्मी का दूसरे धर्मी के साथ परस्पर परिहार स्थिति नाम का विरोध है। जैसेकि रूप और ज्ञानका अथवा गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वका विरोध है। वैयधिकरण्य दोष से बचने के लिये प्रत्येक धर्मका निराला अधिकरण होना आवश्यक है जब कि एक ही धर्म ने सम्पूर्ण स्वरूप करके धर्मी को व्याप्त कर लिया हैं ऐसी दशा होजाने पर उस धर्मी में अन्य धर्म की वैसी सर्वात्मना व्याप्ति होजाने का विरोध है अन्यथा यानी एक धर्मी में सर्वांग रूप से अनेक धर्मों का सद्भाव यदि मान लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण धर्मों के संकर होजाने का प्रसंग आजावेगा। ज्ञान, रूप, गतिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व ये सभी गुण परिपूर्ण स्वरूपसे एक द्रव्य में बन बैठेंगे जहां एक गुण भरपूर धर्मीमें ठहर चुका है। वहां दूसरे धर्मके लिये स्थान अणुमात्रभी रीता नहीं बचा है इस प्रकार साथ अनेक धर्म नहीं ठहर सकते है

यों सह अनेकान्त के निराकरण को कह रहे वादी पण्डित जो मान बैठे हैं उनके प्रति सूत्रकार महाराज ने "गुणवद्द्रव्यं" यों सूत्रदल कहा है क्योंकि एक समय में एक ही वार साथ अनेक धर्मों का अधिकरण होरही वस्तु की प्रतीति की जा रही है जैसे कि वृक्ष या घड़े में रूप, रस, गंध, आदि गुण साथ ठहर रहे हैं। अथवा स्वकीय पक्ष का साधकपन और परकीयपक्ष का असाधकपन इन दो धर्मों का अधिकरण होरहे एक समीचान हेतु के समान वस्तु अनेक धर्मों का अधिकरण है।

आप्तमीमांसा में "असाधारणहेतुवत्" और "कारकज्ञापकांगवत्" स्वभेदैः साधनं यथा"

इन कारक ज्ञापक हेतुओं के दृष्टात से वस्तु में अनेक धर्मों की प्रसिद्धि करा दी गई है, कोई भी सद्धेतु जिस प्रकार स्वकीय साध्य का ज्ञापक है उसी प्रकार साध्य विरुद्ध का ज्ञापक नहीं भी है मृत्तिका आदि कारक हेतु जैसे घट आदि के निर्वर्तक हैं। उस ढंग से ही ज्ञान आदि कार्यों के निर्वर्तक (संपादक) नहीं हैं। अतः एक वस्तु में अनेक धर्म विना प्रयासके ठहर जाते हैं अथवा तीसरा दृष्टान्त यों समझिये कि जो पुरुष अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, वही अपने पिता की अपेक्षा पुत्रभी है। अपने मामा की अपेक्षा भानजा है, चचा की अपेक्षा भतीजा है, नाना की अपेक्षा धेवता है । यों एक पुरुष ही जैसे पितृत्व, पुत्रत्व, भागिनेयत्व, आदि शब्द व्यवहार के विषय होरहे अनेक धर्मों का अधिकरण है,इसी प्रकार सम्पूर्ण वस्तुयें एक साथ अनेक धर्मों का आधार प्रतीत होरहीं हैं।

ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकार संवेदनमेकमुपयन् सकृदनेकधर्माधिकरणमेकं बहिरन्तर्वा प्रतिक्षिपतीति कथं परीक्षको नाम ? वेद्याद्याकारविवेकं पुरोऽवभासं संविदाकारं च प्रत्यक्षमिच्छन्नपि न सहानेकांतं निराकर्तुमर्हति संविदद्वैते प्रत्यक्षपराक्षाकारयोरपारमार्थिकत्वे परमार्थैतराकारमेकं संवेदनं बलादापतेत् परमार्थाकारस्यैव सत्वात् संविदो नापारमार्थिकाकारः सन्निति ब्रुवाणस्सकृत्सदसत्वस्वभावाक्रांतमेकं संवेदनं स्वीकरात्येव ।

जो सम्वेदनाद्वैत-वादी बौद्ध अकेले विज्ञान तत्व को ही स्वीकार करते हैं, ज्ञान ही वेद्य है और ज्ञान ही वेदक है। यों सम्वेदन के ग्रहण करने योग्य ग्राह्य आकार और सम्वेदन के स्वनिष्ठ ग्राहक आकार को जानने वाले एक एक सम्वेदन को स्वीकार कर रहा योगाचार बौद्ध भला एक बहिरंग पदार्थ अथवा एक अन्तरंग तत्व में युगपत् अनेक धर्मों के अधिकरणपन का प्रतिक्षेप करता है। यों प्रत्यक्षविरुद्ध या स्ववचनविरुद्ध अथवा स्वज्ञानविरुद्ध कथन कर रहा बौद्ध किस प्रकार परीक्षक नाम को पा सकता है। अर्थात्—कथमपि नहीं। कैसा भी ज्ञान क्यों न हो उसमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व अंश अवश्य मानने पड़ेंगे " ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं सांवदन् ' यहां " विचूल्ट विचारणे " धातु से बने विवेक का अर्थ विचार करना, ज्ञान करना, माना जाता है अतः एक ज्ञान में सकृत् ग्राह्य आकार और ग्राहक आकार दोनों धर्म ठहर जाते हैं। परीक्षक विद्वान् को निष्पक्ष होकर न्याय्य बात कहनी चाहिये,असत् पक्षपात करने वाला परीक्षक नहीं माना जायगा।

दूसरी बात यह है कि " विचिर् पृथग्भावे " धातु से बने विवेक शब्द का अर्थ पृथग् भाव करते हुये जो बौद्ध शुद्ध ज्ञान में वेद्य, वेदक, वित्ति, वेत्ता, इन आकारों के पृथग् भाव को परोक्ष रूप से जान रहे इष्ट कर रहे हैं और उसी ज्ञान में शुद्ध सम्वेदन-आकार को भी प्रत्यक्ष रूप से जान रहे इच्छते हैं। वे बौद्ध कथमपि वस्तु में साथ ठहर रहे अनेक धर्मों का निवारण करने के लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। जब कि एक शुद्ध ज्ञान में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार विद्यमान हैं। या वेद्य आदि आकारों का असद्भाव और शुद्ध सम्वित्ति आकार का सद्भाव है, तो वे बौद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष आकार अथवा असद्भाव या सद्भाव के सह-अनेकान्त को अवश्य स्वीकार करें यही उनके लिये

उचित मार्ग है ।

यदि बौद्ध यों कहें कि शुद्ध सम्वेदनाद्वैत में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार ये दोनों वास्तविक नहीं हैं कल्पित हैं, सम्वेदन तो स्वकीय स्वरूप में ही संलग्न हैं। यों कहने पर तो हम जैन टका सा उत्तर देदेंगे कि तब तो बौद्धों के यहां परमार्थभूत और अपरमार्थभूत आकार वाला एक सम्वेदन बलात्कार से आपड़ेगा । बौद्धों के कहने से ही वास्तविक आकार और कल्पित आकार ये दो आकार एक सम्वेदन में प्रविष्ट होरहे हैं । यदि बौद्ध इस पर पुनः यों कहें कि विज्ञान का परमार्थ आकार ही वास्तविक सत् है, सम्वेवन का कल्पित आकार तो वस्तुभूत सत् नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा बौद्ध तो एक ही समय सत्व स्वभाव और असत्व स्वभाव से आक्रान्त होरहे एक सम्वेदन को स्वीकार कर ही लेता है बौद्ध ने बड़ी सरलता से सम्वेदन में वास्तविक सत्व और अपरमार्थभूत असत्व इन दो धर्मों को झटिति स्वीकार करहो लिया है ।

न सन्नाप्यसत्संवेदनमित्यपि व्याहतं, पुरुषाद्वैतादिवत्ततः सकृदनेकस्वभावमेकं वस्तु तत्वतः सिद्धत्यन्यथा सर्वस्य स्वेष्टतत्वव्यवस्थानुपपत्तेः । स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्येति प्रपंचितप्रायं ।

सम्वेदन सद्भूत नहीं है और साथ ही असद्भूत भी नहीं है, यों बौद्धों के कहने पर आचार्य कहते हैं, कि उनका कहना भी व्याघात दोष से युक्त है जैसे कि पुरुषाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि के साधके पूर्व पक्षोंमें अनेक व्याघात दोष आते हैं, उसी प्रकार सम्वेदन को सत् भी नहीं और उसी समय असत भी नहीं कहने में वदतोव्याघात है । अर्थात्- परस्पर विरुद्ध हारहे धर्मों का सकृत्विधि या युगपत् निषेध दोनों नहीं होसकते हैं " न सत् " इतना कहते ही तत्काल असत् का विधान होजाता है फिर असत् का निषेध नहीं करसकते हो और असत् नहीं कहते हो सत् की विधि होजाती है, ऐसा दशा में पुनः सत् का निषेध नहीं कर सकते हो । बलात्कार से कहने वाले का मुंह उसी समय दबा दिया जायगा, परस्पर विरुद्ध पदार्थों में से एकतर का निषेध करने पर द्वितीय का आवश्यक रूप से विधान हो ही जाता है, सकृत् दोनों का निषेध करना सर्वथा अलोक है ।

हां अनेकान्त-वाद अनुसार कथंचित् सत्व और कथंचित् असत्व दोनों धर्म एक सम्वेदन में ठहर जाते हैं तिस कारण सिद्ध हुआ कि एक वस्तु युगपत् अनेक स्वभावों को वास्तविक रूप से लिये हुये है, अन्यथा यानी वस्तु में अनेक धर्मों को नहीं मान कर एकान्त वाद को स्वीकार किया जायगा तब तो इस अन्य ही प्रकार से सम्पूर्ण वादियों के यहां अपने अपने अभीष्ट तत्वों की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । श्री अकलंकदेव महाराज ने कहा है, कि वस्तुका वस्तुपना तो अपने स्वरूप का उपादान और परकीय रूप का परित्याग इस निमित्त-व्यवस्था से आपादन करने योग्य है । जो भी कोई वादी अन्तरंग तत्व या बहिरंग तत्व अथवा परम ब्रह्म, सम्वेदन, चित्र आदि तत्वों को स्वीकार करेगा वे तत्व स्वाभिमत रूप से इष्ट होंगे और पराभिमत स्वरूप से अनिष्ट माने जायंगे अथवा अपने तत्व

इष्ट हैं, और दूसरों के तत्व अनिष्ट हैं। ऐसी दशा में अनेकान्त दुर्निवार है, इस अनेकान्त के सिद्धान्त का हम पूर्व प्रकरण में प्रायः करके विस्तार पूर्वक विचार कर चुके हैं, यहां इतना ही कहने से पूरा पड़ो।

तथा क्रमानेकांतनिराकरणवादिनं प्रति पर्यायवद्द्रव्यं प्रतीयमानत्वात सर्वस्य परिणामित्वसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। एवं क्रमाक्रमानेकांतनिराकरणप्रवणमानसं प्रति गुणपर्यायवद्द्रव्यमित्युक्तं सर्वथा निरुपाधिभावस्याप्रमाणत्वात्।

सह अनेकान्त का निराकरण करने वाले वादियों को समझा दिया गया है, सूत्रकार ने गुणवद्द्रव्यं इसी लिये कहा है। तथा क्रम से अनेकान्त का निराकरण कर रहे वादी के प्रति तो सूत्रकार ने द्रव्य के लक्षण में 'पर्यायवद्द्रव्यं' या पर्ययवद्द्रव्यं इतना अंश कहा है, भावार्थ-'क्रमवर्तिनः पर्यायाः' प्रत्येक गुण की एक समय में एक पर्याय होती है, इस ढग अनुसार अनन्तानन्त पर्यायें क्रम से होता रहता है, मृत्तिका की शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, कपालिका आदि होरही पर्यायें प्रतीत की जा रही हैं कपास की रूई धुनी रूई, पौना, अंडिया आंटे आतान वितान, पट, चौंथरा आदि अवस्थायें देखा जा रहीं हैं जब के सम्पूर्ण पदार्थों के परिणामी पन की सिद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है पूर्व अवस्था का त्याग, उत्तर अवस्था का ग्रहण, अजहद्वृत्तिता, ये वर्तनायें ही परिणाम की प्राण हैं।

श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने परिणाम का लक्षण यही कहा है। कितने ही कूटस्थवादी महाशय क्रम से होने वाले परिणाम का स्वीकार नहीं करते हैं सांख्यमती पण्डित कूटस्थवर्त्ती आत्मा के परिणामों को नहीं मानते हैं, प्रधान के भी आविर्भाव तिरोभाव वाले परिणाम माने गये हैं, उत्पाद विनाश, शाली परिणाम नहीं इष्ट किये हैं, नैयायिक, वैशेषिक, भी आत्मा आकाश, आदि की क्रमवर्त्ती पर्यायों का होना नहीं अभीष्ट करते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी पण्डित 'सर्वं वै खल्विदंब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन,, यों ब्रह्म के आराम पानी पर्यायों को इष्ट करते हैं, किन्तु वे उनको वस्तुभूत नहीं मानते हैं क्रम से वर्तना भी इष्ट नहीं करते हैं अथवा ब्रह्म में उन पर्यायों का खोज ही खो देते हैं। यों क्रम से होने वाली पर्यायों या अनेक स्वभावों के अनेकान्त का निराकरण कर रहे पण्डितों के प्रति द्रव्य के लक्षण में पर्याय सहितपना कहना सूत्रकार का समुचित कर्तव्य है।

इसी प्रकार जिन पण्डितों का चित्त क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त दोनों के निराकरण में प्रवीण होरहा है ऐसे वैभाषिक माध्यमिक तत्वोपप्लववादी आदि वादियों के प्रति वस्तुभूत सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुणों और पर्यायों वाला द्रव्य होता है, इस प्रकार गुण पर्याय उभय का व्यतिरेदक अखण्ड सूत्र कहा है, कारण कि सभी प्रकारों से

अनेक विशेषणों से रहित होरहे पदार्थ को अप्रामाणिकपना है, यानी कोई भी प्रमाण ऐसे भाव को ग्रहण नहीं करता है, जिसमें कि गुण या पर्याय कोई भी विशेषण नहीं पाया जाय सम्पूर्ण द्रव्यों में अनुजीवी गुण प्रतीजीवीगुण, पर्यायशक्ति आत्मकगुण विद्यमान हैं तथा षट्स्थान पतित हानियों वा वृद्धियों की रहनियों या सहभावियों के विषयभूतधर्म अथवा आपेक्षिक धर्म और छोटे बड़े निमित्तों से उपजे अनेक स्वभाव भेद इत्यादि पर्यायें द्रव्यों में विद्यमान हैं, गुणों और पर्यायों से रीता द्रव्य कथमपि नहीं होता है।

मार्गदर्शक

अथवेयं त्रिसूत्री समवतिष्ठते, गुणवद्द्रव्यं पर्ययवद्द्रव्यं गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानत्रयं चेदं संक्षेपतो लक्ष्यते।

अथवा इस एक सूत्र को तीन सूत्रों का समुदाय समझ कर यों भले प्रकार व्यवस्था कर ली जाती है, कि १ द्रव्यं (पक्ष) गुणवत् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु) । २ द्रव्यं (पक्ष) पर्ययवत् (साध्यदल) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु) । ३ द्रव्यं (पक्ष) गुणपर्ययवत् (साध्यकोटि) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु) यों तीन प्रकार एकान्त वादियों के प्रति उक्त सूत्र का योगविभाग कर तीन अनुमान कह दिये जाते हैं । १ द्रव्य गुणवाला है, अन्यथा उसमें द्रव्यपना बन नहीं सकता है। २ द्रव्य में पर्यायें पायी जाती हैं, अन्यथा यानी पर्यायों के विना द्रव्यपन की सिद्धि नहीं होसकती है। ३ गुणों और पर्यायों का धारी द्रव्य है ऐसा नहीं मान कर अन्य प्रकार मानने से द्रव्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। यों अनेक प्रतिपक्ष विद्वानों के मतों का निराकरण करने के लिये संक्षेप से 'गुणपर्यय वद्द्रव्यं' इस अकेले सूत्र द्वारा द्रव्य को लक्षित कर दिया जाता है हजारों रोगों को एक संजीवनी औषधि पर्याप्त है।

ननु चैवं निष्क्रियं न सर्वद्रव्यसमवायिकारणं चेति परोक्तनिराकृतये क्रियावद्द्रव्यं समवायिकारणमिति च द्रव्यलक्षणमभिधीयते, पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां क्रियावत्त्वसिद्धेः सर्वद्रव्याणां समवायिकारणत्वस्य च गुणवत्त्ववत्प्रतीतेरित्येतदपि च परेषां वचोऽसमीचीनं, द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणवचनप्रसंगात न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं नापि विशेषवत्सामान्यवद्वेति परद्रव्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थत्वात्। स्याद्वादिनां पुनः कार्यद्रव्यविशेषसदृशपरिणामलक्षणसामान्यानामपि क्रियावत्समवायवच्च पर्यायत्वान्न तथा वचनं कर्तव्यमिति सर्वमनवद्यं।

यहां वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण करतेहैं, कि इस प्रकार गुणपर्ययवद्द्रव्यं इस सूत्र द्वारा द्रव्य का लक्षण आप जैन करते है, तब तो इसी प्रकार हमारा द्रव्य का लक्षण भी उचित पड़ जाता है जो वादी पदार्थों को क्रिया रहित स्वीकार करते हैं, जैसे कि बौद्ध पंडित पदार्थों में क्रिया नहीं मानते है अर्थात् बौद्धोंका अनुभव है कि उन निकटवर्त्ती या दूरवर्ती प्रदेशोंमें गोली,बाण,डेल,पक्षी, रेलगाड़ी, आदि स्वलक्षण नवीन रूप से उपज जाते हैं वही वस्तु सो रूप रूप से देशान्तरों में नहीं पहुँच

पाती है, जिस प्रकार सिनेमा के पर्दा पर जाने आने वाले पदार्थों का प्रतिविम्ब नहीं है केवल विभिन्न प्रकार के चित्रों का प्रतिविम्ब पड़ जाने से दृष्टाओं को वैसी चलते फिरते पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाती है, वस्तुतः पदार्थ निष्क्रिय हैं। तथा कोई पंडित सभी द्रव्यों को समवायी कारण इष्ट नहीं करते हैं कूटस्थ द्रव्य किसी का समवायीकारण नहीं होसकता है।

इस प्रकार दूसरे पण्डितों की अयुक्त वचन स्वरूप चेष्टा का निराकरण करने के लिये हम वैशेषिकों करके सभी द्रव्य क्रियावान् हैं और समवायिकारण है यों "क्रियावत्समवायिकारणं द्रव्यं" यह द्रव्य का सुन्दर लक्षण कह दिया जाता है, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन द्रव्यों में क्रिया सहितपना सिद्ध है, तथा समवायिकारणपना तो सम्पूर्ण द्रव्यों के प्रतीत होरहा है, जैसे कि सभी द्रव्यों के गुण सहितपन की प्रतीति होरही है।

अर्थात- पृथिवी में चौदह, जल में चौदह, तेज में ग्यारह, वायु में नव, आकाश में छः, काल में पांच, दिशा में पांच आत्मा में चौदह, ईश्वर में आठ और मन में आठ, गुण माने जाते हैं 'वायो र्नवैकादशतेजसोगुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पंच पडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनस-स्तथैव च' इसी प्रकार परमाणु स्वरूप नित्यद्रव्य और कार्यस्वरूप अनित्यद्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायुओं, को स्वकीय जन्य गुणों का या स्वजन्य अवयवी द्रव्यों का समवायीकारणपना प्राप्त है आकाश काल, दिग्, जीवात्मा, परमात्मा, इन चार व्यापक नित्य द्रव्यों को अपने जन्य गुणों का समवायि कारणपना स्वभाव सिद्ध है, नित्य द्रव्य माने गये मन को स्वकीय संयोगादि अनेक जन्य गुणों और क्रियाओं का समवायिकारणपना निर्णीत है, यों 'क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं' यह द्रव्य का लक्षण उचित प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यों दूसरे विद्वान् वैशेषिकों का यह वचन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि इसी प्रकार दूसरों की विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये द्रव्य के लक्षण में इतर व्याव-र्त्तक पदों का डालना अभिप्रेत होय तब तो 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्चद्रव्यं' यों द्रव्य के लक्षण के निरूपण करने का प्रसंग आवेगा कारण कि कितने वादी द्रव्य को स्वकीय कार्य द्रव्य से सहित स्वीकार नहीं करते हैं, बौद्धों को ही लीजिये वे स्वलक्षण परमाणुओं से किसी द्वयणुकादि अवयवी स्कन्ध का बनना इष्ट नहीं करते हैं हां पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु स्वलक्षण से भले ही उत्तर क्षणवर्त्ती स्वलक्षण परमाणु द्रव्य उपज जाय किन्तु तब तक पहिले क्षणिक कारण का विनाश होजाता है, अतः कार्य द्रव्य वाला कारणद्रव्य कथमपि नहीं होसका।

यों इस बौद्ध सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये वैशेषिकों को द्रव्य का लक्षण में 'द्रव्य-वत्' विशेषण देना उचित पड़ जायगा तथा कोई वादी द्रव्य में विशेष को स्वीकार नहीं करते हैं, ब्रह्माद्वैत वादी पण्डितों ने परमब्रह्म में विशेष स्वीकार नहीं किया है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आजायगा अतः वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'विशेषवत्, कहना भी इष्ट पड़ा तथैव कोई पण्डित द्रव्य में सामा

न्य को इष्ट नहीं करते हैं वे 'विशेषा एव तत्त्वं' मान बैठे हैं बौद्ध ही विशेषों को स्वीकार करते हुये सामान्यका प्रत्याख्यान करते हैं।

अतः अनेक मत का व्यवच्छेद करने के लिये वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'सामान्यवत्' (सामान्यवाला) कहना आवश्यक पड़ जायगा यों १ 'न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं' २ 'न विशेषवद्द्रव्यं' ३ 'न सामान्यवद्द्रव्यं' इस प्रकार दूसरों के अभीष्ट किये गये मन्तव्यों अनुसार द्रव्य में पड़ी हुयी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिये 'द्रव्यवत्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्यं' यों द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों को करना चाहिये था वैशेषिकों ने कारण द्रव्यों में कार्य द्रव्य का रहना और नित्य द्रव्यों में विशेषपदार्थ का ठहरना तथा सम्पूर्ण द्रव्यों में सामान्य जाति का स्थित रहना अभीष्ट भी किया है अतः इस लक्षण करके वैशेषिकों के यहां स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ सकता है, द्रव्य का क्रिया रहितपना या समवायिकारण रहितपना मानने वाले पण्डितों को समझाने की अपेक्षा कारण द्रव्य को कार्य द्रव्य से रहित मान रहे और द्रव्य को विशेष या सामान्य से रहित अभीष्ट कर रहे पण्डितंमन्यों को समीचीन मार्ग पर लेआना कहीं अच्छा है द्रव्य के द्रव्य सहितपन और विशेषसामान्य सहितपन की प्रतीति होचुकने पर पुनः झटिति अल्प प्रयास से ही द्रव्य के क्रियासहितपन गुण सहितपन और समवायि कारण पन की प्रतिपत्ति होजायगी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक बात यह भी है, कि 'क्रियावद् गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं' स्वीकार कर पुनः 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च' इस लक्षण का भी प्रसंग प्राप्त होजाने पर वैशेषिकों के ऊपर विनिगमनाविरह दोष खड़ा होजाता है इस दोष की यह शक्ति है कि 'सुन्दोपसुन्द न्याय' अनुसार दोनों का निराकरण कर तीसरे ही शक्तिशाली लक्षण को सर्वोपरि विराजमान कर देता है, तभी तो स्याद्वादियों ने द्रव्य का 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' यह निर्दोष लक्षण किया है, स्याद्वादियों के यहां फिर बड़ा सुभीता पड़ जाता है, क्योंकि कार्य द्रव्य और विशेष पदार्थ तथा सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य इन सबको भी जैनों ने पर्याय स्वीकार किया जैसे कि क्रिया को और समवायिकारण के प्रयोजक हो रहे समवाय को हम जैन पर्याय मानते हैं।

अर्थात्-घट, पट, आम, अमरूद, फूल, पुस्तक, ये सब कार्य द्रव्यें उस पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं तथा 'एकस्मिन्द्रव्येक्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मानहर्षविषादादिवत्' 'अर्थान्तरगतोविसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्' ये पर्याय और व्यतिरेक दोनों प्रकारके विशेष भी पर्याय स्वरूप है, तथैव 'सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड मुण्डादिषु गोत्ववत्' 'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिवस्थासादिषु' ये दोनों प्रकार के सामान्य भी पर्याय स्वरूप ही पड़ते हैं हलन, चलन, गमन, आदि क्रियायें तो पर्यायें हैं ही। कोई विवाद नहीं है, समवायि कारण या उपादान कारण का अनुजीवी होरहा कथंचित् अविष्वग्भाव सम्बन्ध स्वरूप समवाय तो भला पर्याय के सिवाय और क्या पदार्थ होसकता है ? अतः वैशेषिकों द्वारा परमतों के निराकरणार्थ लक्षण में जितने भी इतर व्यावर्तक पद दिये जाते

है उन सब का प्रयोजन [illegible] पद से ही सध जाता है।

हां गुण पद तो द्रव्य के लक्षण में दोनों के यहां उपात्त किया गया है, अतः वैशेषिकों को द्रव्य के तिस प्रकार लम्बे और दोषग्रस्त लक्षण का कथन नहीं करना चाहिये। हां स्याद्वादियों का किया गया सूत्रोक्त लक्षण समीचीन है, यों करने से सभी सिद्धान्त निर्दोष सिद्ध होजाते हैं।

तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधमेव द्रव्यमिति वदंतं प्रत्याह।

अगले सूत्र का अवतरण है। कोई कह रहा है कि उपकार करने की अपेक्षा 'वर्तना परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' इस सूत्र द्वारा काल को भले ही कह दिया गया होय किन्तु जब तक काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं कहा जायगा तब तक ये उपकार तो व्यवहार काल के भी समझे जासकते हैं वर्तना को छोड़ कर परिणाम आदि को व्यवहारकाल का उपकार इष्ट भी किया गया है तब तो अभी तक 'अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः' 'द्रव्याणि, जीवश्च' इन सूत्रों करके कहे जा चुके पांच द्रव्यों के ही द्रव्यपन का व्यवसाय करना प्रसंग प्राप्त हुआ। तिस कारण इस प्रकार उक्त लक्षणसूत्र द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, और आकाश के भेद से पांच प्रकार के ही द्रव्य सिद्ध होते हैं काल तो वस्तुभूत द्रव्य नहीं होसका ऐसा ही श्वेताम्बर बन्धु मानते हैं, इस प्रकार कह रहे वादी पण्डित के प्रति सूत्रकार महोदय अनुक्त द्रव्य की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को प्रवक्ष्यत् कहते हैं।

कालश्च

उक्त पांच द्रव्यों के अतिरिक्त काल भी स्वतंत्र छठा द्रव्य है जब कि द्रव्य का अक्षुण्ण लक्षण वहां घटित होरहा है। तदनुसार लोक प्रदेश परिमित असंख्यातासंख्यातकालाणुयें सभी काल द्रव्य हैं, एक एक काल परमाणु अनेक गुण और पर्यायों को धारे हुये हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यभिसंबंधनीयम्।

"गुणपर्ययवद्द्रव्य" गुणों और पर्यायों को धारने वाला द्रव्य होता है, इस पूर्व सूत्र के पूरे लक्षण लक्ष्य पदों का यहां विधेय दल की ओर सम्बन्ध करने लेने योग्य है, अतः समुच्चय अर्थ के वाचक च शब्दके अनुसार काल भी छठा गुण, पर्यायों, वाला द्रव्य है यह अन्वितकर अर्थ होजाता है।

कालश्चद्रव्यमित्याह प्रोक्तलक्षणयोगतः।
तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्त्यर्थं समासतः॥ १॥

सूत्रकार द्वारा द्रव्य के बहुत अच्छे कहे गये "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस लक्षणवाक्य का सम्बन्ध होजाने से "काल भी द्रव्य है" इस बात को सूत्रकार "कालश्च" सूत्र द्वारा संक्षेप से कह रहे हैं। जो कि उस काल के द्रव्य रहित पन की परिच्छित्ति का निवारण करने के लिये है। अर्थात्—काल

तो द्रव्य नहीं है इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिये सूत्रकार को इस सूत्र का कहना अनिवार्य पड़ गया है यहाँ ही द्रव्य का लक्षण करते हुये वह संक्षेप से कहा जा सकता है।

के पुनः कालस्य गुणाः के च पर्यायाः प्रसिद्धा यतो गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति प्रोक्तलक्षणयोगः सिध्येत्तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिश्चत्यत्रोच्यते।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि वे फिर काल द्रव्य के गुण कौन से प्रसिद्ध हैं ? तथा काल की पर्यायें भी कौन कौन विख्यात हैं ? बताओ जिससे कि उस काल के साथ "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस द्रव्य के निर्दोष लक्षण का संसर्ग होजाना सिद्ध होजावे और उस काल को द्रव्यरहितपन के विज्ञान की निवृत्ति सध जाय ? इस प्रकार यहां प्रतिपित्सा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार द्वारा समाधान कहा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निःशेषद्रव्यसंयोगविभागादिगुणाश्रयः।
कालः सामान्यतः सिद्धः सूक्ष्मत्वाद्याश्रयो भिदा ॥ २ ॥
क्रमवृत्तिपदार्थानां वृत्तिकारणतादयः।
पर्यायाः संति कालस्य गुणपर्यायवानतः ॥ ३ ॥

सामान्य रूप से अखिल द्रव्यों के साथ संयोग होना या विभाग होना, संख्या, परिमाण, आदि गुणों का आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है, और भिन्न भिन्न पने यानी विशेष रूप से कथन करने पर सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, आदि गुणों का आधार काल है। तथा क्रम क्रम से वर्त रहे पदार्थों की वर्तना कराने में कारणपना, इतर द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, की हेतुता स्वकीय अविभागप्रतिच्छेद, द्रव्यत्वपरिणति, एक प्रदेश अवगाह, आदि पर्यायें काल द्रव्य की हैं। अतः गुणों और पर्यायों से समाहित होरहा काल द्रव्य है।

अर्थात्—लोकाकाश में सर्वत्र छहों द्रव्य पाये जाते हैं कालाणुओं के साथ सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्योंका संयोग है विशेष २ जीव और पुद्गलों का यहाँ वहां जाने पर पूर्वसम्बद्ध कालाणुओं के साथ विभाग भी होजाता है हां धर्म, अधर्म, और आकाश के उन उन स्थलों पर नियत होरहे प्रदेशों से अन्य प्रदेशीय कालाणुओं का विभाग होरहा है। संयोग नाशक गुण को ही विभाग नहीं कहते हैं, किन्तु पृथग्भाव भी विभाग कहा जा सकता है इन गुणों के अतिरिक्त द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण भी काल में विद्यमान हैं। काल में सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि विशेष गुण हैं, तथा नवीन पदार्थ को जीर्ण करना, परिवर्तन कर देना, अचेतन बने रहना आदि पर्यायें काल की प्रसिद्ध हैं अतः द्रव्य के दोनों लक्षणों की संघटना काल में है।

सर्वद्रव्यैः संयोगस्तावत्कालस्यास्ति सादिरनादिश्च विभागश्चासर्वगतक्रियावद्द्रव्यैः संख्यापरिमाणादयश्च गुणा इति सामान्यतोऽशेषद्रव्यसंयोगस्य विभागादिगुणानां चाश्रयः कालः सिद्धः।

काल का सम्पूर्ण द्रव्यों के साथ संयोग तो हो ही रहा है जो कि कोई संयोग तो सादि है। और कोई संयोग अनादि है यहां वहां जा रहे जीव और पुद्गलों का उन उन प्रदेशों में वर्त रहे कालाणुओं के साथ हुआ संयोग सादि है और अखण्ड धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यों के साथ उन उन कालाणुओं का अनादि संयोग है। इसी प्रकार अव्यापक और क्रियावाले जीव द्रव्यों या पुद्गल द्रव्यों के साथ हुआ विभाग भी काल का गुण है, यहां यह कहना है कि वैशेषिकों ने विभाग को संयोग का नाश करने वाला सादि गुण माना है किन्तु धर्म आदिकों के प्रदेशों की अपेक्षा काल का अनादि विभाग भी होसकता है सुदर्शन मेरु की जड़ में ठहर रहे कालाणुओं का सर्वार्थसिद्धि गत धर्म, अधर्म, आकाश के प्रदेशों के साथ होरहा विभाग अनादि है रत्नप्रभा से संयुक्त होरहे कालाणुओं का सिद्ध जीवों के साथ अनन्त काल तक के लिये विभाग हो गया है।

यदि परम पूज्य सम्मेदशिखर पर जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवों का जन्म लेना नहीं स्वीकार किया जाय तो सम्मेदशिखर के सम्बन्धी कालाणुओं का अभव्यों के साथ अनादि विभाग कहा जा सकता है अलोकाकाश के प्रदेशों के साथ तो सभी कालाणुओं का अनादि अनन्त विभाग है, यों काल में संयोग, विभाग, गुणों को साध दिया गया है। यद्यपि संयोग या विभाग कोई अनुजीवी गुण में नहीं गिनाये गये हैं जैन सिद्धान्त अनुसार संयोग विभागों को पर्याय कहा जा सकता है। नित्य परिणामी गुण नहीं। तथापि वैशेषिकों के यहां संयोग विभागों की गुणस्वरूप से प्रसिद्धि होने के कारण तथा उल्लेख योग्य प्रधान पर्याय होने से संयोग और विभाग को गुण कह दिया है।

बात यह है कि जैन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अन्य मतों की आभा पड़ जाती है जिसका कि विशेष क्षति नहीं होने के कारण क्वचित् लक्ष्य नहीं किया जाता है, वस्तुतः यथार्थ विचार करने पर गम्भीर विद्वानों को उस मिले हुये आभास का स्पष्टी करण कर देना चाहिये अन्यथा कदाचित् इसका भयंकर परिणाम होजाता है। वृद्ध पुरुष का चंचल, अलबेली, युवती के परिणयन समान इस जैन दर्शन का अन्य दर्शनीय वाचाओं के योग कर देने की टेव से कदाचित् अक्षम्य अपसिद्धान्तों की उत्पत्ति होजाती है। यहाँ ग्रन्थकार महाराज ने वैशेषिकों को समझाने के लिये संयोग और विभाग को काल का गुण कह दिया है संख्या, परिमाण, आदि भी काल के गुण हैं, वैशेषिकों ने भी कालद्रव्य के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग विभाग, ये पांच गुण इष्ट किये हैं वस्तुतः विचारा जाय तो संख्या कोई प्रतिजीवी या अनुजीवी गुण नहीं है, केवल आपेक्षिक धर्म (गुण) है।

गोल चलनी का कोई भी छेद दसवां, पचासवां, सौवां, डेढ़सौवां, आदि अनेक संख्या वाला होसकता है हजार रूपये की थैली में चाहे कोई भी रुपया अन्यों की अपेक्षा से गिना गया बीसवां, दोसौवां, हजारवां होजाता है। गुण की परिभाषा तो यह है कि जो अपने से विपक्ष को नहीं धार सके पुद्गल में रूप गुण है तो वहां ही रूपाभाव गुण नहीं ठहर सकता है जीव में चेतना गुण का कोई सहोदर अचेतना गुण नहीं है, परिमाण भी प्रदेशत्व गुण का विकार व्यंजन पर्याय है, केवल अन्य

मतों की प्रसिद्धि अनुसार इनको गुण कह दिया गया है यों सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्यों के साथ होरहे संयोग और विभाग, संख्या, परिमाण,पृथक्त्व, आदि गुणोंका आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है।

विशेषेणतु सूक्ष्मामूर्तत्वागुरुलघुत्वैकप्रदेशत्वादयस्तस्य गुणा इति सूक्ष्मत्वादिविशेषगुणाश्रयश्च क्रमवृत्तीनां पदार्थानां पुद्गलादिपर्यायाणां वृत्तिहेतुत्वपरिणामक्रियाकारणत्वपरत्वापरत्वप्रत्ययहेतुत्वाख्याः पर्यायाश्च कालस्य संति यैस्तत्सत्तानुमानमिति। गुणपर्यायवान् कालः कथं न द्रव्यलक्षणभाक् ? ततः कालो द्रव्यं गुणपर्ययवत्वाज्जीवादिद्रव्यवदिति तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिः

हां विशेष रूप से विचार करने पर तो उस काल द्रव्य के सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व, एकप्रदेशत्व, अचेतनत्व आदि भी गुण हैं अत्यन्त परोक्षपदार्थ सूक्ष्म कहा जाता है रूप आदि से रहित को अमूर्त कहते हैं द्रव्य से द्रव्यान्तर नहीं होजाय, गुण का गुणान्तर नहीं होजाय, पर्याय का अन्य विवर्त स्वरूप विपरिणाम नहीं होजाय इस असंकीर्णता का सम्पादक अगुरुलघुत्व गुण है। आकाश के कल्पना कर नापलिये गये परमाणु बरोबर छः पहलू अठकोने एक प्रदेश में ही वृत्ति होना एक प्रदेशत्व है, ज्ञान, दर्शन, परिणतियों का नहीं होसकना अचेतनत्व है इस प्रकार सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, आदि विशेष गुणों की अधिकरणी भी काल द्रव्य है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा प्रति समय क्रम से वर्त्त रहे पुद्गल, जीव, आदि की पर्यायों स्वरूप पदार्थों की वर्तना का हेतुपना काल की पर्याय है। और परिणाम उपजा देने का कारणपना, क्रिया का कारणपना, जेठे में परत्व बुद्धि उपजाने का हेतुपना, कनिष्ठ में अपरत्व बुद्धि करा देने का निमित्तपना इत्यादि नामों को धार रहीं पर्यायें काल द्रव्य की हैं जिन गुण और पर्यायों से कि उस काल की सत्ता का अनुमान होजाता है।

अर्थात्—काल द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है अर्वाग्दर्शी पुरुषों में से किसी एक निष्णात विद्वान् को ही उसका अनुमान होसकता है काल के ज्ञापक लिंग माने गये गुण और पर्यायें हैं इस प्रकार गुण और पर्यायों का आश्रय होरहा काल भला द्रव्य के उक्त लक्षण का धारी क्यों नहीं होगा ? यानी काल अवश्य ही द्रव्य है। तिस कारण अब तक सिद्ध कर दिया है कि काल (पक्ष) द्रव्य है (साध्यदल) गुणों और पर्यायों वाला होने से (हेतु) जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार उस कालके अद्रव्यपन के विज्ञान की निवृत्ति होजाती है जो कि ग्रन्थकारने पहिली वार्त्तिक में निर्देश किया है। श्वेताम्बरों के यहां मुख्य काल द्रव्य का स्वीकार नहीं किया जाना समुचित नहीं है वैज्ञानिक यानी चार्वाक भी काल द्रव्य को नहीं मानते हैं उक्त सूत्र द्वारा इन वैज्ञानिकों के विज्ञान की निवृत्ति कर दी गयी है।

कोई पूछता है कि वर्तना नामके लक्षण को धारने वाले मुख्य कालद्रव्य को उक्त सूत्र से कह दिया है किन्तु अब यह बताओ कि वर्तना, परिणाम, आदि द्वारा लक्षण करने योग्य व्यवहार काल

की सिद्धि में क्या प्रमाण है ? अथवा काल कितने भावों को धारता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सोऽनंतसमयः ॥ ४० ॥

वह प्रसिद्ध व्यवहार काल अनन्त समयों को लिये हुये है। अर्थात्—अक्षय अनन्तानन्त अतीत काल और एक वर्तमान काल तथा अतीत से अनन्तानन्तगुणा भविष्यकाल इन में होने वाले अनन्त समयों को व्यवहारकाल धार रहा है अथवा एक एक कालाणु द्रव्य का पदार्थों की भूत, वर्तमान, भविष्य काल के समयों सम्बन्धी वर्तनाओं का हेतु होरहा वर्तनाहेतुत्व गुण अनन्त पर्यायों वाला है, अतः एक कालाणु द्रव्य भी अनन्त समयों वाला उपचार से कहा जा सकता है सब से छोटा व्यवहार काल का अंश समय है इससे छोटे काल यानी पाव, आधे, पौन समय में कोई भी पूरा कार्य सम्पन्न नहीं होसकता है पुद्गल परमाणु चाहे एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश पर जाय अथवा चौदह राजू तक जाय इस पूरेकार्य में एक समय लेलेगी काल के ऐसे अनन्त समय है।

परमसूक्ष्मः कालविशेषः समय, अनन्ताः समया यस्य सोनंतसमयः कालोबवो द्रव्यः।

भावार्थ- जैसे परिमाण गुण की आकाश से लगा कर लोक, स्वयंप्रभाचल, सुमेरु, जम्बूवृक्ष, हाथी, घोड़ा, घड़ा, कटोरा, बेर, पोस्त, षडणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, में तरतम भाव से पायी जारही सूक्ष्मता विचारी अन्त में जाकर परमाणु पर अन्तिम प्रकर्ष को प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार व्यवहार काल की सूक्ष्मता भी तरतम अनुसार अभव्यों का अनाद्यनन्त काल, सिद्ध परमात्मा होचुके भगवान् श्री ऋषभदेव का साद्यनन्त काल लोक प्रदेश परिमितकाल, सूच्यंगुल, कल्प, पल्य, कोटिपूर्व, वर्ष मास दिन, घड़ी, लव, उच्छ्वास, आवलि, आवलि का असंख्यातवां भाग, आदि इन कालों में प्रकर्ष को प्राप्त होरही सन्ती एक समय पर जाकर अन्तिम विश्राम लेता है, यह समय सर्वोत्कृष्ट परम सूक्ष्म होरहा काल विशेष है।

यद्यपि एक समय में परमाणु चौदह राजू गमन करजाती है, अतः समय के भी ठुस नीचे से चली परमाणु के मध्यवी रत्नप्रभा, ऋतुविमान, ब्रह्मस्वर्ग, सर्वार्थसिद्धि उपरिम तनवातवलय, आदि में पहुँचने की अपेक्षा अनेक सूक्ष्म भेद किये जा सकते हैं, तथापि जगत् का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशाली कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल में नहीं होसकता है, अतः परम निरुद्ध काल का अंश समय ही माना जाता है जैसे कि छह ओर से छह परमाणुओं के बन्ध होने योग्य पैलों के होने पर भी एक परमाणु को अनादि अनन्त काल में उससे छोटा टुकडा नहीं होने के कारण अन्तिम लघु अवयव मान लिया जाता है अनेक परमाणु के पिण्ड जैसे द्वयणुक, उत्संज्ञासंज्ञ, रथरेणु, घट, आदि स्कन्ध हैं

उसी प्रकार समयों के पिण्ड आवलि, दिन, वर्ष, कल्पकाल आदि हैं अन्तर इतना ही है, कि परमाणुओं की दैशिक प्रत्यासत्ति अनुसार पिण्ड होकर बने हुये द्वयणुक, घट, पर्वत, आदि स्कंध, तो वास्तविक पुद्गल पर्याय स्वरूप हैं किन्तु समयों कि कालिक प्रत्यासत्ति अनुसार धारा बना कर कल्पित किये गये आवलि, वर्ष, पल्य, आदि व्यवहार काल तो वस्तुभूत किसी द्रव्य की उत्पाद व्यय ध्रौव्य शाली अनुजीवी पर्यायें नहीं हैं। हां व्यवहार नय द्वारा ज्ञेय पदार्थ अवश्य हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'दव्यपरि वहु रूपो जो सो कालो हवेइ ववहारो' (द्रव्यसंग्रह) इस सिद्धान्त अनुसार ऋतु परिवर्तन, सूर्यगति भूविकार नियति, आदि कारणों से हुये द्रव्य परिवर्तन को यदि व्यवहार काल माना जाय तव तो वे द्रव्यों की मुख्य पर्याय हैं। यों इस सिद्धान्त का विवेक कर लेना चाहिये जिस काल के समय अनन्त हैं वह काल अनन्त समयों वाला समझ लेना चाहिये मुख्य काल और व्यवहार काल दोनों की अनन्त समयों से सहित पने की उपपत्ति की जा सकती है।

पर्यायतो द्रव्यतो वा व्यवहारतः परमार्थतो वेतिशंकायामिदमुच्यते ।

यहां कोई विनीत शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि वह काल अनन्त समयों वाला क्या पर्याय से है ? अथवा क्या द्रव्य रूप से काल अनन्त समय वाला है ?। या व्यवहार की अपेक्षा काल के अनन्त समय वताये गये हैं ? अथवा क्या परमार्थ रूप से वह काल अनन्त समयवान् है ? वताओ इस प्रकार शंकायें उपस्थित होने पर ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्त्तिक यों कहा जाता है कि—

सोनंतसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतः ।
द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः ॥ १ ॥

भाव यानी पर्याय से वह काल सूत्रकार करके अनन्तसमयवाला वहुत अच्छा कहा जा चुका है अतः व्यवहार से पुद्गल आदि अनन्त पदार्थों की न्यारी न्यारी जाति अनुसार हुई वर्तनाओं की प्रयोजक होरहीं अनन्त शक्तियों का धारण करने के एक कालाणु भी अनन्त समय वाला यानी अनन्त शक्ति वाला कह दिया जाता है, द्रव्यरूप से काल अनन्त नहीं है। किन्तु सात राजू लम्बी जगत् श्रेणी के घन प्रमाण लोकाकाशके वरावर संख्यापरिमाण को धाररहा है।

अर्थात्—लोकाकाश के प्रदेशों वरावर काल द्रव्य असंख्यातासंख्यात हैं अन्य द्रव्यों के समान कालाणु भी प्रतिक्षण एक पर्याय के धारण अनुसार भूत, वर्तमान, भविष्य, कालों की अनन्त परिणतियों वाली है। यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो समय भी व्यवहार काल है जो कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दरूप से गमन कर रही परमाणु की क्रिया द्वारा कल्पित किया गया है, तथापि समय का अर्थ काल की पर्यायें या वर्त्तापित्री शक्तियें कर अनन्त समयों वाला परमार्थ काल भी होजाता है।

भावः पर्यायस्तेनानंतसमयः कालोनंतपर्यायवर्तनाहेतुत्वात् । एकैको हि कालाणुरनंतपर्यायान् वर्तयते प्रतिक्षणं शक्तिभेदान्नान्यथा । ततोनंतशक्तिः सवंतसमयः व्यवहारतोऽ

भिधियते समयस्य व्यवहारकालत्वादावलिकादिवत् ।

भाव का अर्थ पर्याय है उस पर्याय करके अनन्त समयोंवाला कालद्रव्य कहा जाता है क्योंकि जीव आदि अनन्त पदार्थों के पर्यायों की वर्तना का हेतु वह काल द्रव्य है, जब कि एक एक कालाणु भी लोकाकाश में प्रवर्त रहे अनन्त पर्यायों की वर्तनाओं को करा देती है, एक द्रव्य अपनी अपनी भिन्न भिन्न शक्तिओं से प्रत्येकक्षण में युगपत् अनेक कार्यको कर सकता है अन्यथा यानी विभिन्न शक्तियों के विना वह अनेक कार्योंका सम्पादन नहीं कर सकता है,'यावन्ति कार्याणितावन्ति स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्' अष्टसहस्री मे इस सिद्धान्त को अच्छा पुष्ट किया है, बात यह है कि कारण में शक्तिभेद माने विना उस एक कारण से अनेक कार्यों का उत्पाद होना असम्भव है, जैसे कि मंत्र से संस्कृत की गयी अग्नि एक पुरुष को जला देती है, और वही आग दूसरे पुरुष को नहीं भुरसाती है, सुशील जीव के लिये सर्प माला होजाता है, जब कि कुशीलपुरुष के लिये वही भयंकर सर्प है, न जाने किस पापी जीव को निमित्त पाकर मार्ग में कांटे कंकड फैल जाते हैं और किसी जीव के पुण्य अनुसार वे कांटे कंकड़ तितर बितर होजाते हैं एक मेघ जल से अनेक प्रकार के कार्य होजाते हैं यहां भी जल में अनेक कार्यों को उपजाने वाली अनेक शक्तियां माननी पड़ेंगी खेत की मिट्टी अनेक वनस्पतियों स्वरूप परिणम जाति है, उस की अन्तरंग में काइश शक्तियों के विना सभी कार्य रूक जाते हैं जैसे की बीज बो देने पर भी ऊपर की मिट्टी या जल गयी मट्टी अनेक वनस्पतियों को उत्पन्न नहीं करपाती है, इसी प्रकार घाम, वायु उजिरिया आदि में अनेक कार्यों की प्रयोजक होरही नाना शक्तियां माननी पड़ती हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यद्यपि कालाणु द्रव्य परिशुद्ध है उसमें विभाव परिणतियां नही होती हैं तथापि कालाणु की पर्याय में अनेक स्वभावों का उत्पाद, व्यय होते रहना मानना पड़ता है जो ही कालाणु किसी जीव को मोक्षमार्ग में लग जाने की वर्तना करा रही है वही अन्य जीव को नरक मार्ग में प्रवर्ताने की उदासीन कारण होजाती है इस ही कारण वन्दनीय नहीं है नीलांजना के नृत्य में हजारों प्रेक्षक मनुष्यों के हृदय में शृंगार रस को उपजाने की शक्ति हैं तो साथ ही वीतराग विज्ञानी भगवान् ऋषभदेव के अन्तःकरण में वैराग्यभाव उपजाने की शक्ति भी परिवर्तनात्मक नृत्य में मानी जाती है शक्ति के विना कार्य को कौन करे ? यों अनेक दृष्टान्तों से एक कालाणु में अनन्तशक्तियां सिद्ध कर दी जाती हैं तिसकारण अनन्तशक्ति वाला होरहा सन्ता वह कालाणुद्रव्य ही व्यवहार से अनन्त समयों वाला कह दिया जाता है, कारण कि आवलि, दिन, वर्ष आदि के समान समय भी व्यवहार काल है, अतः समय का प्रसिद्ध अर्थ एकक्षण करने से अनन्त क्षणों वाला कालाणु द्रव्य नही होसकता था किन्तु यहां 'कालश्च' इस निश्चय काल द्रव्य के प्रतिपादक सूत्र के लगे हाथ पीछे 'सो ऽनंतसमयः' सूत्र कहा गया है, अतः निश्चय काल में अनन्त समय सहितपना तभी अच्छा जचता है, जब कि समय का अर्थ शक्तियां कर लिया जाय अनन्त शक्ति वाले काल द्रव्य को व्यवहार से अनन्त समय वाला कहा जा सकता है ।

द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभिः प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत्, नाप्यनंतः पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानां वृत्तिहेतुत्वसिद्धेः ? लोकाकाशाद्बहिस्तदभावात् ।

द्रव्य सद्भाव से विचार करने पर तो वह काल लोकाकाश के असंख्यातासख्यात प्रदेशों बरोबर परिमाण (संख्या) का धारी होरहा असख्येय ही मुनी महाराजों ने बहुत अच्छा कहा है। " लोयायासपदेसे इक्केक्के जेट्ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासी मिव ते कालाणु असंखदव्वाणि "। किन्तु काल द्रव्य फिर आकाश, धर्म, अधर्म, इन तीन द्रव्यों के समान (व्यतिरेकदृष्टान्त) एक ही नहीं है तथा पुद्गलद्रव्य या आत्म द्रव्यों के समान वह काल अनन्त द्रव्यें भी नहीं है। अर्थात्—जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्यें एक एक हैं वैसा काल द्रव्य एक ही द्रव्य नहीं हैं। अथवा जैसे जीव और पुद्गल प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त हैं वैसे कालाणुयें अनन्तानन्त नहीं हैं किन्तु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशपर वर्त रहे अनेक पदार्थों की वतना का हेतु होने के कारण कालाणु द्रव्य एक एक प्रदेश पर ठहर रहे एक एक कालाणु द्रव्य अनुसार अनेक हैं यों असंख्याते काल द्रव्यों की सिद्धि होजाती है। लोकाकाश से बाहर उन कालाणुओं का अभाव है असम्भवद्बाधक होने से आगम प्रमाण द्वारा और कुछ अनुमानों से भी अत्यन्त परोक्ष पदार्थों की सिद्धि होजाती है।

कथमेवमलोकाकाशस्य वर्तनं कालकृतं युक्तं तत्र कालस्यासंभवादिति चेत् अत्रोच्यते

यहां कोई प्रश्न करता है कि लोकाकाश से बाहर जब कालाणुयें नहीं हैं और कालाणुयें ही सम्पूर्ण द्रव्यों की वर्तनाओं को कराती हैं तो बताओ फिर अलोकाकाश की वर्तना होना भला काल से किया गया किस प्रकार युक्तिपूर्ण कहा जा सकता है ? क्योंकि वहां अलोकाकाश में काल द्रव्य का असम्भव है। यों प्रश्न करने पर तो इस प्रकरण में ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्तिक कहा जाता है।

लोकाद्बहिरभावे स्याल्लोकाकाशस्य वर्तनं ।
तस्यैकद्रव्यतासिद्धेर्युक्तं कालोपपादितं ॥ २ ॥

लोक से बाहर कालाणुओं का अभाव होने पर भी लोकाकाश का वर्तना तो कालाणुओं करके हुआ अभीष्ट किया ही गया है। जब कि उस लोकाकाश, और अलोकाकाश का एक अखण्ड द्रव्यपना सिद्ध है इस कारण उस अलोकाकाश की वर्तना भी यहां ही के कालाणुओं द्वारा उपपन्न करा दी जाती है। बात यह है कि लोक और अलोक के बीच में कोई भींत नहीं पड़ी हुयी है और भींत या वज्रपर्वत भी पड़ा हुआ होता तो अप्राप्यकारी कारणों के कार्यों में वह दीन वज्र बिचारा वैसा प्रतिबन्ध कर सकता था। तैजस, कार्मण, शरीर ही अनेक योजनों मोटी शिलाओं के बीच में होकर निकल जाते हैं पुण्य, पाप, या तीर्थंकर प्रकृति अप्राप्य होकर ही असंख्य योजनों दूर के कार्यों को कर रहे हैं फिर कारणों की शक्तियों का परामर्श करते हुये डर किसका है इसी प्रकार त्रसनाली के अन्त

में या मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर कोई बिजली का करन्ट नहीं भरदिया है। तथा यहां प्रकरण में तो कोई खटका भी नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब कि लोक, अलोक, दोनों ही एक अखण्ड आकाश द्रव्य है लोकाकाश को जब कालाणुयें वर्ता रही हैं तो सम्पूर्ण आकाश उनके द्वारा वर्तेगा वीणा के तार में एक स्थल पर आघात होने से सम्पूर्ण तार झनकार करता है केवल धर्म, अधर्म, द्रव्यों की व्यंजन पर्यायों अनुसार " सत्तेक्कपंच इक्का मूले मज्झेतहेव वम्भते, लोयंते रज्जूये पुव्वावर होइ विस्यारो " " दक्खिण उत्तर दो पुण सत्तवि रज्जू हवेइ सव्वत्थ " यों उस अखण्ड आकाश में ही लोकाकाश की कल्पना कर ली गयी है उतने ही आकाश में प्रत्येक प्रदेशपर एक एक वर्तरहीं असंख्याती कालाणुयें भरी हुई हैं " लोकाद्बहि-रभावेऽस्यालोकाकाशस्य वर्तनं " यों पाट अच्छा दीखता है लोक से बाहर कालाणु का अभाव होने पर भी इस अलोकाकाश का वर्त जाना तो उस आकाश के अखण्ड एक द्रव्यपन की सिद्धि होजाने से उन्हीं कालाणुओं द्वारा किया जाकर युक्तिपूर्ण उपपादन किया जा चुका समझ लिया जाय।

न ह्यलोकाकाशं द्रव्यांतरमाकाशस्यैकद्रव्यत्वात्तस्य लोकस्यांतर्बहिश्च वर्तमानस्य वर्तनं लोकवर्तिना कालेनोपपादितं युक्तं, न पुनः कालानपेक्षं सकलपदार्थवर्तनस्यापि कालान-पेक्षत्वप्रसंगात् न चैतदभ्युपगंतुं शक्यं, कालास्तित्वसाधितत्वात्।

अलोकाकाश कोई निराला स्वतंत्र द्रव्य नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण आकाश एक ही द्रव्य है लोक के भीतर और बाहर सर्वत्र विद्यमान होरहे उस अखण्ड आकाश की वर्तना करना तो लोकाकाश में वर्त रहे कालद्रव्य करके हुआ समुचित उपपादन प्राप्त होजाता है अलोकाकाश की वर्तना फिरकाल द्रव्य की नहीं अपेक्षा कर नहीं होसकती है अन्यथा सभी जीव आदि पदार्थों की वर्तना होजाने को भी काल की नहीं अपेक्षा रखते हुये होसम्भव जाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु यह स्वीकार नहीं कर सकते हो कारण कि अखिलपदार्थों की वर्तना रूप उपकार करने के हेतु होरहे काल का अस्तित्व साधा जा चुका है " वर्तनाःपरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र के ऐदंपर्य को समझा दिया गया है।

ननु च जीवादीनि षडेव द्रव्याणि गुणपर्यायवत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तं गुणाना-मपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तेषां गुणपर्यायवत्वप्रतीतेरित्यारेकायामिदमाह।

यहां कोई तर्क शाली पण्डित प्रश्न उठाते हैं कि गुणों और पर्यायों से सहितपना अन्यथा यानी द्रव्यपन के विना नहीं बन सकता है इस अविनाभावी हेतु से आप जैनों ने जो जीव, पुद्गल, आदि छह ही द्रव्योंको अभीष्ट किया है यह आपका कहना तो अनुचित है क्योंकि यों तो इस हेतु अनु-सार चेतना, रूप, आदि गुणों को भी द्रव्यपन का प्रसंग आजावेगा समवाय सम्बन्ध से नहीं सही एक समवाय नामक सम्बन्ध से उन गुणों को भी गुणों से सहितपना प्रतीत होरहा है और पर्यायें तो

गुणों में प्रवर्तती ही हैं अतः गुणों और पर्यायों से सहितपन की प्रतीति होजाने से गुणों को भी द्रव्यपना प्राप्त हुआ यों व्यभिचार या अतिव्याप्ति दोष आता दीखता है इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

जिनका आश्रय द्रव्य है और जो स्वयं गुणों से रहित हैं वे गुण हैं। अर्थात् सभी गुण अविष्वग्भाव सम्बन्ध से द्रव्य में ठहरते हैं पुनः उन गुणों में दूसरे गुण निवास नहीं करते हैं अतः गुणों के गुण सहितपन का लक्ष्य कर उठायी गयी व्यभिचार दोष की शंका का समाधान होजाता है।

आश्रयशब्दोधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा द्रव्यशब्द उक्तार्थः द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः, निष्क्रांता गुणेभ्यो निर्गुणाः। एवंविधा गुणाः प्रतिपत्तव्याः न पुनरन्यथा

यहां सूत्र में पड़े हुये आश्रय शब्द को अधिकरण में ण्य प्रत्यय कर साध लिया जाय "यत्र गुणा आश्रयन्ते स आश्रयः" जिस अधिकरण में गुण आश्रय ले रहे हैं वह आश्रय है द्रव्य है आश्रय जिनका वे द्रव्याश्रय माने गये गुण हैं अथवा कर्म में ण्य प्रत्यय कर पुल्लिग आश्रय शब्द का साधन कर लिया जाय। "यो गुणैराश्रियते स आश्रयः"। यहाँ अन्तर इतना ही पड़ जाता है कि गुणा यत्र आश्रयन्ते यों निरुक्ति करने पर गुणों की स्वतंत्रता झलकती है और "गुणैराश्रियते" यों निर्वचन करने से गुणों को परतंत्रता की ओर जाना पड़ता है। बात यह है कि माता और पुत्र के समान द्रव्य और गुणों का स्वतंत्रता, परतंत्रता, इन दोनों ढंगों से सम्बन्ध होरहा है वह परतंत्रता भी बड़ी मीठी है जो कि स्व की रक्षा करती हुयी स्व को उचित सन्मार्ग पर ले जाने के लिये प्रयोजित करती रहती हैं। श्वसुर, माता पिता, गुरु, जिनागम इनके अधीन रहने में बढिया ठोस आनन्द छिपा हुआ है। साथ ही वह रूखी स्वतंत्रता भी कानी कौड़ी को नहीं है जो कि अनर्गल प्रवृत्ति का कारण होवे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

छोटा बच्चा स्वाधीन भी है और माता के पराधीन भी है इसी प्रकार स्नेह वत्सला माता भी स्वाधीनता से बच्चे का पालन, पोषण या प्रेम-व्यवहार करती हुयी उस बच्चे के पराधीन भी है माता के दूध की वृद्धि भी बालक के पुण्य अनुसार हो रही है। यही दशा द्रव्य और गुणों की है जिस प्रकार शरीर में आत्मा ठहरती है या आत्मा को शरीर में ठहरना पड़ता है तिस प्रकार यहां वस्तु परिणति अनुसार हुयी कारकों की विपक्षा से स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य विचार लिये जाते हैं। प्रकरण में द्रव्य और गुणों में आश्रय आश्रयिभाव का सूक्ष्मरीत्या गवेषण कर लेना चाहिये। द्रव्य शब्द का अर्थ हम पहिले कह चुके है अतः जिन गुणों का आश्रय द्रव्य है वे गुण विचारे द्रव्याश्रय हैं तथा जो गुणों से निष्क्रान्त यानी विरहित होरहे हैं वे निर्गुण हैं इस प्रकार के द्रव्याश्रय और निर्गुण होरहे गुण समझ लेने चाहिये किन्तु फिर अन्य प्रकारों से गुणों की परिभाषा करना निर्दोष नहीं पड़ेगा।

तत्र द्रव्याश्रया इति विशेषणवचनाद्गुणानां किमवसीयत इत्युच्यते ।

उस गुण के प्रतिपादक लक्षण सूत्र में "द्रव्याश्रया,, इस विशेषण का कथन करने से गुणों का क्या स्वरूप निर्णितकर लिया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके अगली वार्त्तिक द्वारा यह समाधान कहा जा रहा है उसको सुनिये ।

द्रव्याश्रया इति ख्यातेः सूत्रेस्मिन्नवसीयते
गुणाश्रया गुणत्वाद्या न गुणाः परमार्थतः ॥ १ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस सूत्र में "द्रव्याश्रया" इस विशेषण का प्रकृष्ट कथन करने से यह निर्णीत कर लिया है कि गुणों के आश्रित होरहे गुणत्व, रूपत्व, द्रव्याश्रयत्व, आदि स्वभाव तो वास्तविक रूप से गुण नहीं हैं क्योंकि वे स्वभाव गुणों के आश्रित हैं और सूत्रकार ने द्रव्य के आश्रित होरहे को गुण कहा है अतः अतिव्याप्ति दोष टल जाता है ।

न हि गुणत्व सर्वज्ञज्ञेयत्वधर्मा गुणाश्रया गुणा शक्यव्यवस्थाः, परमार्थतस्तेषां कथंचिद्गुणेभ्योनर्थांतरतया गुणत्वोपचारात् । तत्त्वतस्तेषां गुणत्वे गुणानां द्रव्यत्वप्रसंगाद्गुण-गुणिभावव्यवहारावस्थातिरोधात् ।

जिनके आश्रय गुण हैं वे गुणत्व या सर्वज्ञ भगवान् करके जानने योग्यपन आदि धर्म भी गुण होजाय यह व्यवस्था नहीं की जा सकती है क्योंकि गुणों के उन धर्मों का परमार्थ रूप करके गुणों से कथंचित् अभेद होजाने के कारण गुणपन का उपचार होरहा है यदि वास्तविक रूप से उन धर्मों को गुणपना इष्ट कर लिया जावगा तो गुणों को द्रव्य हो जाने का प्रसंग आजावेगा क्योंकि जैसे गुणत्व गुण में है उसी प्रकार गुण द्रव्य में है । और ऐसा होजाने से गुणगुणीभाव के व्यवहार की व्यवस्था बनी रहने का विरोध होजावेगा । अर्थात्-द्रव्य गुणी है और उसके रूप, चेतना, आदिक परिणामी गुण है यह नियत व्यवस्था है यदि गुणों में ठहर रहे स्वभावों को और उनमें भी ठहर रहे अन्य अनेक अपरिणामी धर्मों को गुण कह दिया जायगा तो गुण गुणी भाव का व्यवहार तात्त्विक रूप से नहीं टिक सकेगा । गुणवाला द्रव्य होता है जब कि गुणत्त्व धर्म भी गुण हो जायगा तब तो गुणत्व धर्म वाला गुण विचारा द्रव्य बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है ।

द्रव्येष्विु गुणास्तदुपचरिता एव भवंतु विशेषाभावादित्ययुक्त, क्वचिन्मुख्यगुणाभावे तदुपचारायोगात् । ततो द्रव्याश्रया इति वचनाद्द्रव्याश्रयाणां गुणत्वादीनां गुणत्वं व्यवतिंतमवसीयते ।

यदि यहां कोई यह शंका करे कि जैसे गुणों में पाये जारहे गुणत्व, रूपत्व, आदि धर्मों को उपचार से गुणपना है उसी प्रकार द्रव्यों में ठहर रहे सुख, रूप, आदि गुण भी उपचरित ही होजाओ

क्योंकि गुणों में ठहर रहे वे धर्म गुणों के स्वभाव हैं उसी प्रकार द्रव्यों में ठहर रहे गुण भी द्रव्यों के स्वभाव हैं कोई अन्तर नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो युक्ति रहित है क्योंकि कहीं पर भी मुख्य गुणों को माने विना उनका अन्यत्र उपचार करने का अयोग है।

प्रसिद्ध अग्नि का नटखटी, चंचल, बालक में उपचार किया जा सकता है अप्रसिद्ध अश्व-विषाण का कहीं भी उपचार होना नहीं देखा जाता है तिस कारण "द्रव्याश्रया,, इस वचन से द्रव्य के आश्रित नहीं होरहे गुणत्व, रसत्व, ज्ञेयत्व आदि के गुणपन की व्यावृत्ति की जा चुकी निर्णीत हो जाती है।

निर्गुणा इति वचनात् किं क्रियते इत्याह

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि सूत्रकार ने निर्गुणा इस पद का प्रयोग करने से क्या पद-कृत्य किया है ? बताओ इस प्रकार आकांक्षा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा इसका समाधान करते हैं।

निर्गुणा इति निर्देशात्कार्यद्रव्यस्य वार्यते।
गुणभावः परद्रव्या श्रयिणोपीति निर्णयः ॥ २ ॥

इस सूत्र में "निर्गुण" ऐसा कथन करने से घट, पट, आदि कार्य द्रव्यों के गुणपन का निवारण कर दिया जाता है। भले ही वे कार्य द्रव्य अपने कारण होरहे दूसरे द्रव्यों के आश्रित होरहे हैं तो भी वे घट आदिक पदार्थ गुणसहित है अतः गुण का पूरा लक्षण घटित नहीं होने से कार्य द्रव्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई। अर्थात्—जैसे गुणों से रहित होरहे भी गुणत्व आदि की "द्रव्याश्रया" कह देने से व्यावृत्ति होजाती है उसी प्रकार स्वकीय कारण द्रव्यों के आश्रत होरहे भी कार्य द्रव्यों का गुणपना इस निर्गुण पद के कथन से निवारित होजाता है लक्षण के घटका वयव होरहे पदो का लक्ष्य स्वरूप का निर्देश करना तो गौण फल है हां इतर अलक्ष्यों की व्यावृत्ति करना उनका प्रधान फल है।

द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने ही परमाणुद्रव्याश्राणां द्व्णुकादिकार्यद्रव्याणां गुणत्वं प्रसज्येत तन्निर्गुणा इति वचनाद्विनिवार्यते तेषां गुणित्वेन द्रव्यत्वसिद्धेः

"द्रव्याश्रयागुणाः" द्रव्य के जो आश्रित होरहे हैं वे गुण हैं इतना ही यदि गुणों के प्रतिपादक लक्षण सूत्र का कथन किया जाना माना जायगा तब तो परमाणु द्रव्यों के आश्रित होरहे द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि द्रव्योंके गुणपन का प्रसंग अवश्य होजावेगा। किन्तु सूत्रकार करके "निर्गुण" ऐसा कण्ठोक्त पद प्रयोग कर देने से उस प्रसंग का विशेष रूपेण निवारण कर दिया गया है क्योंकि वे द्वयणुक, त्र्यणुक, घट, पट, आम, अमरूद, आदि कार्य द्रव्यों को तो रूप, रस आदि गुणों से सहित होने के कारण द्रव्यपना सिद्ध है जो को "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र से प्रसिद्ध कर दिया गया है अतः द्वयणुक आदि द्रव्य विचारे निर्गुण नहीं है गुणवान् हैं अतः गुण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ।

अथवा रूप, चेतना गतिहेतुत्वादयो (पक्ष) गुणाः (साध्य) द्रव्याश्रयत्वे सति निर्गुणत्वात् (हेतु) इस अनुमान के हेतु का कार्य द्रव्यों से व्यभिचार दोष नहीं आपाया है ।

एतेन घटसंस्थानादीनां गुणत्वं प्रत्युक्तं तेषां पर्यायत्वात् ।

इस उक्त कथन करके यानी "द्रव्याश्रयाः" और निर्गुणा,, इन दोनों पदों की कीर्ति कर देने से घट की आकृति या मतिज्ञान आदि का गुणपना भी खण्डित कर दिया गया है क्योंकि वे आकृति घटज्ञान,ये सब पर्यायें हैं प्रदेशवत्व गुण का विकार आकृति है चेतना गुणका परिणाम मतिज्ञान है । अतः गुणों की पर्यायें गुणों में रहती हैं द्रव्यों में नहीं । यदि पुनरपि घट की संस्थान आदि पर्यायों को घट आदि द्रव्यों के आश्रित होते सन्ते गुणरहित स्वीकार किया जायगा तब तो "द्रव्याश्रया" इस पद की विशेष व्याख्या से ही उक्त अतिप्रसंग दोष टल जायगा "ये द्रव्यं" नित्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणाः. जो नित्य ही द्रव्य के आश्रित होकर ठहरते हैं वे ही गुण हो सकते हैं पर्यायें तो कदाचित् ही द्रव्यमें ठहरती हैं क्योंकि "क्रमभाविनः पर्यायाः ।" "सहभाविनो गुणाः" ये गुण और पर्यायों के सिद्धान्त लक्षण हैं ।

कः पुनरसौ पर्याय इत्याह ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि गुण का लक्षण समझ लिया हैं कई वार परिणाम शब्द आया है "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र के गुण का व्याख्यान कर चुकने पर पर्यायका लक्षण करना क्रम प्राप्त है अतः वताओ की वह पर्याय फिर क्या है ? ऐसी तत्व निर्णिनीषा प्रवतने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

वे धर्म आदिक द्रव्य जिस स्वरूप करके होते रहते हैं वह तद्भाव है वही परिणाम यानी पर्याय कहा जाता है । अर्थात्-जीव, पुद्गल, आदि द्रव्यों के या चेतना, रूप, गतिहेतुत्व, आदि गुणों के तद्भाव स्वरूप विवर्तों को परिणाम कहते हैं ।

जीवादीनां द्रव्याणां तेन प्रतिनियतेन रूपेण भवनं तद्भावः तेषां द्रव्याणां स्वभावो वर्तमानकालतयानुभूयमानस्तद्भावः परिणामः प्रतिपत्तव्यः । सच-

जीव आदि द्रव्यों का उस प्रतिनियत होरहे स्वरूप करके अन्तरंग, वहिरंग, कारणवश जो परिणमन है वह तद्भाव है । इसका तात्पर्य यह है कि उन उन द्रव्यों का विपक्षित वर्तमान काल में प्रवंत रहे स्वरूप करके अनुभव किया जारहा स्वभाव ही तद्भाव है तद्भाव को यहाँ परिणाम समझ लेना चाहिये और यों वह क्या निर्णीत हुआ इसको अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समझिये ।

तद्भावः परिणामोत्र पर्यायः प्रतिवर्णितः ।
गुणाच्च सहभुवो भिन्नः क्रमवान् द्रव्यलक्षणम् ॥ १ ॥

यहां "तद्भावः परिणामः" इस सूत्र द्वारा पर्याय का प्रति विशेष रूप से वर्णन किया है तथा वह क्रम वाला पर्याय उस सहभावी गुण से भिन्न है। यों इन दोनों सूत्रों से गुण और पर्याय का लक्षण कर "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस द्रव्यके प्रतिपादक लक्षण सूत्रका वखान कर दिया गया है। अर्थात् सहभावी गुण से क्रमभावी परिणाम निरालेहैं अतः गुणों और पर्यायों दोनोंसे सहित होरहे पदार्थ को द्रव्य कहना समुचित है।

पूर्वस्वभावपरित्यागाऽजहद्वृत्तेरुत्पादो द्रव्यस्योत्तराकारः परिणामः स एव पर्यायः क्रमवान् द्रव्यलक्षणं। स एव सहभुवो गुणादेकोऽस्तिवर्णितस्तस्य सहभावित्वात्कथंचिद्भिन्नत्वेन व्यवस्थानात्।

पूर्व स्वभावों का परित्याग करते हुये द्रव्य का कालान्तर स्थायी स्वभाव की अन्वित वृत्तिता का परित्याग नहीं करना स्वरूप अजहद्वृत्ति के रहते हुये उत्पाद होरहा सन्ता जो उत्तर वर्त्ती आकार का परिग्रह है वही परिणाम है वही पर्याय क्रमवान् होरहा सन्ता द्रव्यका लक्षण है। किन्तु वह पर्याय तो गुण नहीं कहा गया है कारण कि उस गुण को सहभावीपना होने के कारण पर्यायों से कथंचित् भिन्नपने करके व्यवस्थित किया गया है। अर्थात्-"पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितलक्षणः परिणामः" और "अन्वयिनः वा सहभाविनः गुणाः" यों भिन्न भिन्न लक्षणों अनुसार पर्याय और गुणों की व्यवस्था होरही है कथंचित् भेद, अभेद, होने के कारण परिणाम के शरीर में गुणों का ध्रौव्यपना अन्वित होरहा है और गुणों के उदर में पर्यायों का विकारशालित्व ओत प्रोत प्रविष्ट है फिर भी "लक्खणदो हवदि तस्सगाणन्तं" मानना ही पड़ता है।

नन्वेवं नयद्वयविरोधस्तृतीयस्य गुणार्थिकनयस्य सिद्धेरित्यारेकायामाह।

यहां किसी का प्रश्न उठता है कि इस प्रकार सिद्धान्त में माने गये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक यों दो नयों के स्वीकार किये जाने का विरोध आता है क्योंकि तीसरे गुणार्थिक नय की आपके कहने से सिद्धि हो जाती है। अर्थात्-जिस नय का प्रयोजन द्रव्य को जान लेना है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायों को जान कर लेना जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक है जब जैनों ने द्रव्य के आधेय हो रहे पर्यायों को जान लेने के लिये स्वतंत्रतया पर्यायार्थिक नय का निरूपण किया है तो साथ ही द्रव्योंमें वर्तरहे गुणों को विषय करने वाला तीसरा गुणार्थिक नय का भी पृथक निरूपण करना चाहिये गुणों के जान लेने को प्रयोजन सिद्धि भी सब को अभिप्रेत है इस प्रकार दीर्घ आशंका प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्दी आचार्य अग्रिम वार्तिकों को कहते हैं।

पर्याय एव च द्वेधा सहक्रमविवर्त्तितः ।
शुद्धाशुद्धत्वभेदेन यथा द्रव्यं द्विधोदितं ॥ २ ॥
तेन नैव प्रसज्येत नयद्वैविध्यवाधनं ।
संक्षेपतोन्यथा त्र्यादिनयसंख्या न वार्यते ॥ ३ ॥

सिद्धान्त यह है कि सहभाव और क्रमभाव से विवर्त को प्राप्त होरहा पर्याय ही इस कारण दो प्रकार माना गया है, अतः उत्पाद, व्यय, शाली क्रम भावी पर्यायों के समान सहभावी गुण भी पर्यायों में ही परिगणित हैं ऐसी दशा में पर्यायार्थिक नयें ही गुणों को भी विषय कर लेती हैं न्यारे गुणार्थिक नयके मानने की आवश्यकता नहीं है जिस प्रकार कि शुद्धपन अशुद्धपनके भेद करके द्रव्य दो प्रकार का कहा जा चुका है एक ही प्रकार की द्रव्यार्थिकनय करके शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य दोनों विषयभूत होजाते हैं अतः यों द्रव्यार्थिकनय के दो भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार पर्यायार्थिकनय से पर्यायों और गुणों दोनों के ग्रहण होजाने का प्रयोजन साध लिया जाता है पयः अर्थात्–पानी या दूध दोनों को एक ही पात्र द्वारा पिया जा सकता है, तिस कारण जैन सिद्धान्त में संक्षेप से अभीष्ट किये गये नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक यों द्विविधपन की वाधा का प्रसंग नहीं प्राप्त होसकेगा अन्यथा यानी संक्षेप से नहीं कह कर विस्तार से कथन करना चाहोगे तव तो नयों के प्रकारों की तीन, चार, पांच, छः, सात आदि संख्याति संख्याओं का भी निवारण नहीं किया जा सकता है। वस्तुओं में जितने भी अनन्तानन्त धर्म हैं उन सब का परिज्ञान कराने वाली अनन्ती नयें होसकती हैं यों श्रुतज्ञान के अंश स्वरूप नयों के विषयों का प्रतिपादन करना माना जाय तो जितने भी अर्थ वाचक शब्द हैं उतनी संख्याती नयें होसकती हैं अतः द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों से गुणार्थिक नय को भले ही वढ़ा लिया जाय हम जैनियों को कोई अनिष्टापत्ति नहीं हैं।

संक्षेपतो हि द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति नयद्वयवचनं गुणवचनेन वाध्यते पर्यायस्यैव सहक्रमविवर्तनवशादुगुणपर्यायव्यपदेशात् द्रव्यस्य निरूपाधित्वसोपाधित्ववशेनशुद्धाशुद्धव्यपदेशवत् । प्रपंचस्तु यथा ।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यों है कि जिस कारण संक्षेप से द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक यों दो ही नयों का सिद्धान्त में निरूपण करना कोई गुणों का कथन करने पर वाधित नहीं होजाता है। अर्थात्–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयो को मानने वाले जैन सिद्धान्तियों ने यदि द्रव्य के लक्षण में पर्यायों के साथ गुणों का भी निरूपण कर दिया है एतावता जैन सिद्धान्त में कोई वाधा नहीं आती है क्योंकि द्रव्य के साथ विवर्त करना और क्रम से विवर्त करना अथवा सहभावी अंशों और क्रमभावी अंशों की कल्पना इनकी अधीनता से पर्याय का ही गुण और पर्याय यह नाम निर्देश होजाता है, जैसे कि

द्रव्य का ही उपाधिरहितपन की अधीनता से ही शुद्धद्रव्य और विशेषणों से सहितपन के वश से अशुद्ध द्रव्य यों व्यपदेश होजाता है। देवदत्त कह देने से कुण्डलरहित और कुण्डलसहित दोनों ही अकुण्डल या कुण्डली देवदत्तों का परिग्रहण होजाता है हां उन नयों का विस्तार तो चाहे कितना भी बढ़ा लो जिस प्रकार कि शास्त्रों में वर्णित है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है सुनिये।

शुद्धद्रव्यार्थिकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकश्चेति द्रव्यार्थिको द्वेधा तथा सहभावीपर्यायार्थिकः क्रमभावी पर्यायार्थिकश्चेति पर्यायार्थिकोपि द्वेधा अभिधीयतां ततस्त्र्यादिसंख्या न वार्यत एव द्विभेदस्य पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य विवक्षायां नयत्रितयसिद्धेः। पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य द्विभेदस्य विवक्षायामित्ति कश्चित् द्वयोर्द्विभेदयोर्विवक्षायां तु नयचतुष्टयमिष्यते।

मार्गदर्शक :आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का प्रपंच यों है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक इस प्रकार पहिला द्रव्यार्थिक नय दो प्रकार का है कर्म नोकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा या पुद्गल परमाणुयें अथवा धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन शुद्ध द्रव्यों को विषय करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तथा क्रोधी आत्मा ज्ञानवान् आत्मा स्कंध आदि को जानने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तिसी प्रकार पर्यायार्थिक नय भी सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यों दो प्रकार का कथन कर लेना चाहिये सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायों को जानते रहना इनका प्रयोजन है तिस कारण नयों की तीन, चार, पांच आदि संख्याओंका भी निवारण नहीं किया ही जाता है देखिये उक्त दो भेदों वाले पर्यायार्थिक नय और केवल एक प्रकार के द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा करने पर नयों के तीन अवयव (भेद) भी सिद्ध होजाते हैं अथवा नयों की तीन संख्या को कोई विद्वान् यों परिभाषित करते हैं कि एक प्रकार की पर्यायार्थिकनय तथा शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यों दो द वाली द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा करने पर ये नयों के तीन भेद होजाते हैं इसी प्रकार उक्त दोनों नयों के शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक, सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यों दो दो भेदों की विवक्षा करने पर तो चारों प्रकारोंवालों नयें इष्ट करली जाती हैं। कोई सिद्धान्त बाधा नहीं है।

तैन नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पाद्द्रव्यार्थिकस्य त्रिविधस्य पर्यायार्थिकस्य चार्थपर्यायव्यंजनपर्यायार्थिकभेदेन द्विविधस्य विवक्षायां नयपंचकं शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकद्वयस्य ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकचतुष्टयस्य विवक्षायां नयषट्कं, नैगमादिसूत्रपाठापेक्षया नयसप्तकमिति। नयानामष्टादिसंख्यापि न वार्यते। ततो न गुणेभ्यः पर्यायाणां कथंचिद्भेदेन कथनमयुक्तं येन गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणं निरवद्यं न भवेत्।

तिस ही कारण यानी विस्तार करके निरूपण कर देने से नय पांच, छः, सात, आठ, आदि भी होसकते हैं उनको यों सम्भालिये कि नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय इन भेदों से द्रव्यार्थिकनय के तीन प्रकार हैं तथा अर्थ पर्याय को विषय करने वाली अर्थपर्यायार्थिकनय और व्यंजनपर्याय को जान

रही व्यंजनपर्यायार्थिक नय के भेद करके पर्यायार्थिक नय के दो भेद हैं । यों तीन प्रकार द्रव्यार्थिक और दो प्रकार पर्यायार्थिक नय की विवक्षा करने पर नय पांच कह दिये जाते हैं । एवं शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यों दोनों द्रव्यार्थिकनयों की तथा ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ, एवंभूत इन चारों पर्यायार्थिक नयों की विवक्षा करने पर इस ढंग से २ + ४= ६ नयों के छह अवयव होजाते हैं ।

तथैव नैगम, संग्रह, आदि सूत्र के पाठ की अपेक्षा करके नयों के सात भेद भी होजाते हैं यानी नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक यों सातों नयों का सूत्रोक्त सप्तक प्रसिद्ध ही है । नयों की आठ, नौ आदि संख्या का भी निवारण नहीं किया जा सकता है द्रव्यार्थिक के दो और पर्यायार्थिक के छह भेद मिला कर आठ भेद होजाते हैं । अनादिनित्य पर्यायार्थिक, सादिनित्यपर्यायार्थिक आदिक छह भेद पर्यायार्थिक के श्री मद्देवसेन विरचित आलापपद्धति में कहे हैं द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ, एवंभूत यों ऋषिसम्प्रदाय अनुसार नयों के नौ भेद भी स्मरण होते चले आरहे हैं । इस प्रकार नयों और उपनयों के भेदों की अपेक्षा दस, ग्यारह, बारह, आदि अनेक नय संख्याओं का व्याख्यान किया जा सकता है आलापपद्धति और नयचक्रग्रथों में इनका विस्तार देख लिया जाय 'नैगम संग्रह, आदि सूत्र की श्लोक रूप वार्त्तिकों में भी इनका विवरण किया जा चुका है तिस कारण प्रकरण में यह सिद्ध होजाता है कि सूत्रकार का पर्यायों का गुणों से कथंचित् भिन्न पने करके कथन करना अनुचित् नहीं है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुणों और पर्यायों वाला द्रव्य होता है इस प्रकार द्रव्य का लक्षण करना निर्दोष नहीं होता । अर्थात्-श्री उमास्वामी महाराज का सूत्रोक्त द्रव्यलक्षण अव्याप्ति व्याभिचार आदि सम्पूर्ण दोषों से रहित है ।

प्रतीयतामेवमजीवतत्त्वं समासतः सूत्रितसर्वभेदं ।
प्रमाणतस्तद्विपरीतरूपं प्रकल्पतां सन्नयतो निहत्य ॥ १ ॥

पंचम अध्याय के समाप्ति अवसर पर उपेन्द्रवज्रा छन्दः द्वारा ग्रन्थकार उक्त प्रकरणों का उपसंहार दिखाते हुये कहते हैं कि इस प्रकार जिस अजीव तत्व के सम्पूर्ण भेदों का श्री उमास्वामी महाराज ने संक्षेप से इस पंचम अध्याय में सूत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है तथा भेद प्रभेद सहित उस अजीव तत्त्व को युक्तिपूर्वक प्रमाणों से श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ में साध दिया गया है । "जीवाजीवा" इत्यादि सूत्र अनुसार तत्वों का निर्णय करने वाले पण्डितों को उस अजीवतत्त्व की प्रमाणों से प्रतीति कर लेनी चाहिये हां नाना प्रकार अयुक्त कल्पनाओं को करने वाले कुतर्की बावदूकों द्वारा गढ़ लिये गये अजीव तत्व के विपरीत स्वरूप का समीचीन नयों से अथवा प्रमाणों से भी खण्डन कर जैन सिद्धान्त अनुसार पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल, इन, अजीव तत्वों की प्रतिपत्ति की जानी चाहिये जीव या अजीव की प्रतीति करते सन्ते श्रद्धालु का कारणविपर्याय, स्वरूपविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास

का परित्याग कर देना चाहिये ।

इति पंचमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार तत्वार्थशास्त्र के पाँचमे अध्याय का श्री विद्यानन्दी स्वामी महाराज करके रचा गया दूसरा प्रकरणों का समुदाय स्वरूप आन्हिक यहां तक समाप्त होचुका है ।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रकाण्ड विद्वत्ता लक्ष्मी से सुशोभित होरहे श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेष रूप से रचे गये इस तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नाम के महान् ग्रन्थ में पांचमा अध्याय यहाँ तक भले प्रकार परिपूर्ण होचुका है ।

इस पांचमे अध्याय के प्रकरणों की संक्षेप से सूची इस प्रकार है कि पूर्व के चार अध्यायों में जीव तत्व का निरूपण कर चुकने पर प्रथम ही पंचम अध्याय के आदि में सूत्रकार के धर्म आदि अजीव तत्वों के प्रतिपादक सूत्र की प्रवृत्ति को ग्रन्थकार ने समुचित बताया है । चार द्रव्यों में कायत्व और अजीवत्व को घटाते हुये उनको प्रकृति के विवर्त होजाने का प्रत्याख्यान कर दिया है । साथ में अद्वैतवाद को भी लताड़ा है । वैशेषिकों के अनुसार द्रिशद्द्रव्य को स्वतंत्र तत्वालतत्व मानने की आवश्यकता नहीं है । इसके आगे द्रव्यत्व का विचार करते हुये धर्म अधर्म, आकाश, का भी द्रव्यपना पुद्गल के समान साध दिया है जीव भी स्वतंत्र द्रव्य हैं, कल्पित या भूतचतुष्टय से उत्पन्न हुये नहीं हैं । पुद्गल के रूपीपन और अन्य द्रव्यों के नित्यपन अवस्थितपन और अरूपीपन को युक्तियों से साधते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्यों का एक एक द्रव्य होना अनुमान प्रमाण से समझाया है ।

जीव पुद्गलों का सक्रियपन ध्वनित करते हुये शेष द्रव्यों के निष्क्रियत्व को उचित बताया गया है अन्यों में क्रिया का हेतु होरहा भी पदार्थ स्वयं निष्क्रिय होसकता है । यहां लगे हाथ काल द्रव्य के व्यापकत्व का निराकरण कर काल द्रव्य को भी निष्क्रिय बता दिया है हां अपरिस्पन्दस्वरूप उत्पाद आदिक्रियायें तो सम्पूर्ण द्रव्यों में होती ही रहती हैं । यहां आत्मा के क्रिया सहितपन को साधते हुये आचार्य महाराज ने वैशेषिकों के दर्शन की अच्छी धज्जियाँ उड़ायी हैं सम्पूर्णभावों को क्रियारहित मानने वाले बौद्धों को भी सुमार्ग पर लाया गया है । मध्य में अनेक अवान्तरविषयों के खण्डन मण्डन होजाते हैं । धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों की युक्तिपूर्ण सिद्धि को करते हुये ग्रन्थकार ने आकाश के प्रदेशों का अच्छा विवेचन किया है अणुओं को छोड़ कर सभी पदार्थ सांश माने गये हैं । लोक को अवधि सहित कह कर आकाश का अनन्त प्रदेशित्व बताया गया है । आगे चल कर पुद्गल के संख्याते, असंख्याते, और अनन्ते प्रदेशों को बखानते हुये अणु के प्रदेशों का युक्तिपूर्ण प्रत्याख्यान किया है हां छह पैल वाले परमाणु के शक्तिअपेक्षा छह अंश होसकते हैं अन्यथा परमाणुओं से बड़े स्कन्ध का बनना अलीक होजायगा किन्हीं किन्हीं परमाणुओं का दूसरे परमाणुओं के साथ सर्वांग संयोग होजाना भी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधासागर जी महाराज

अभीष्ट किया गया है अन्यथा असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त परमाणुओं का ठहरना झूंठा पड़ेगा।

विभु होने के कारण आकाश का स्व में ही ठहरना स्वभाव मानते हुये अन्यद्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह होना समझा कर जीवों सम्बन्धी प्रदेशों के संहार और विसर्प को युक्तियों से साधा है, आत्मा का व्यापकपना माने जाना अनुचित है। इसमें प्रत्यक्ष से ही विरोध आता है यहाँ प्रकरण अनुसार व्यवहर नय से आधार आधेय भाव को मानते हुये भी निश्चय नय करके एक को आधेय और दूसरे को आधेय माने रहने का निराकरण कर दिया है निश्चयनय तो कार्य कारणभाव को एक झगड़ा ही समझती है यों द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह होना. या स्व स्वरूप में ही अवगाह होना, अथवा कहीं भी अवगाह नहीं होना, नयविशारद पण्डितों करके विचार लिया जाय। उदासीन कारणों की प्रबल शक्ति का निरूपण करते हुये विवरण में जीव, पुद्गलों की गति और सम्पूर्ण द्रव्यों की स्थिति, अवगाहन, इन क्रियाओं में धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों का उपकारकत्व समझा कर तथा पुद्गल, जीव और काल के उपकारों को भी गिनाकर उन उन छह द्रव्यों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर लेने का संकेत किया है यहाँ वर्तनाका अच्छा विचार चलाया है साथ ही व्यवहार कालके कर्तव्यों का निरूपण भी हो सका है। परिणाम की अच्छी व्याख्या की गया है। जब अकेले परिणाम वाद स्वरूप सैनिक करके ही जैन सिद्धान्त अखिल दर्शनों पर विजय पा सकता है तो अन्य अनेक सूक्ष्म जैनसिद्धान्त महाराजों को तो स्वकीय राज्यासन पर ही विराजमान बने रहने देना चाहिये। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, को लिये हुये सदृश, विसदृश परिणाम ही जगद विजय करने के लिये पर्याप्त हैं। क्रिया और परत्वापरत्व का विचार करते हुये व्यवहार काल को साध दिया है। यों धर्म आदि द्रव्यों की अनुमान से प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सूत्रकार महाराज को जयघोषणा कर पंचम अध्याय के पहिले आन्हिक को समाप्त कर दिया है।

इसके आगे सूत्रों अनुसार स्पर्श, रस, गंध, वर्णों की यथाक्रमता का निरूपण करते हुये सभी पौद्गलिक द्रव्यों में रूप आदि चारों गुणों का अविनाभाव रूप से ठहरना समझाया है शब्द का बहुत लम्बा, चौड़ा, व्याख्यान किया गया है। वैशेषिकों के यहाँ माने गये शब्द को आकाश के गुणपन की बड़ी छीछा लेदर उड़ायी गयी है शब्दों की उत्पत्ति और गमन पद्धति का विचार किया गया है शब्द का प्रकरण बड़ा रोचक और विज्ञान सम्मत है छाया, आतप, घट, आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय है अतः पर शब्दस्फोट का विचार कर वैयाकरणों के दर्शन की अवहेलना की गयी है वाक्य के लक्षणों पर भी गम्भीर विवेचन कर अभिहितान्वय वादी और अन्विताभिधान वादी मीमांसकों का निराकरण किया गया है शब्द को आकाशगुणपन या अमूर्तद्रव्यपन अथवा स्फोट आत्मकत्व, का प्रतिविधान कर स्कन्ध स्वरूप पुद्गलपर्याय होना साध दिया है बंध, सूक्ष्मपन, आदि की युक्तियों से सिद्धि की है पुद्गलों का अणु और स्कन्ध रूप से भेद संघातों द्वारा आत्मलाभ होना बताकर नैयायिकोंके

सन्मुख अणुओं की उत्पत्ति को साधते हुये ग्रन्थकार ने स्थूल स्कन्ध के भेद से सूक्ष्मों की उत्पति होजाना साध दिया है, आवश्यक लक्षण वाले द्रव्य के लक्षण को [illegible] पूर्वक असिद्ध किया है उत्पाद आदि के सद्भाव में आपादन की गयी अनवस्था को चुटकियों में उड़ा दिया है। नित्यपन की परिभाषा निरवद्य की गयी है अर्पणा और अनर्पणा अनुसार नित्यत्व अनित्यत्व आदि का अनेकान्त सम्पूर्ण वस्तुओं में ओत पोत भरा कहा गया है संशय, विरोध, आदि का ईषत् भी अवतार नही है।

परमाणुओं के बंधने का कारण समझा कर दो अपवाद सूत्र और एक विधायक सूत्र का बहुत अच्छा विवरण कर दिया गया है यहां युक्ति और दृष्टान्तों से बंध व्यवस्था का समर्थन किया गया है परिणामवाद की प्रधानता से द्रव्य का लक्षण किया जा चुका होने पर भी वस्तु स्थिति अनुसार शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं पुनः सूत्र द्वारा किये गये दूसरे द्रव्य लक्षण का मुख्य प्रयोजन सह अनेकान्त और क्रम अनेकान्त की सम्बित्ति होना दर्शाया है निश्चयकाल का मुख्य द्रव्यपना साधते हुये अनन्त शक्तियों की अपेक्षा कालाणु का अनन्त समय सहितपना भूषित किया गया है वस्तुत कालाणुओं की अनन्त शक्तियों अनुसार होरहे जगत् के चित्र, विचित्र, कार्य प्रसिद्ध ही हैं कारणों में वास्तविक भिन्ना भिन्न शक्तियोंके माने विना अनेक कार्योंकी उत्पत्ति होना असम्भव ही है। द्रव्यों में जड़रहे गुण और पर्यायों का विवरण कर अध्याय के अन्त में संक्षेप से नयों का प्ररूपण कर दिया गया है। यों पांचमे अध्याय में कहे गये सूत्रकार के अजीव तत्वका बाधाओंको प्रमाण नयों द्वारा हटाये हुये ग्रन्थकार द्वारा प्रतीति कर लेने योग्यपना उपदिष्ट किया गया है।

"शुद्ध द्रव्यों की आकृतियां"

प्रकरण वश ग्रन्थकार के अभिप्राय अनुसार शुद्ध द्रव्यों की आकृतियों का समझ लेना भी आवश्यक है।

शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाले जैनबंधुओं को विदित होना चाहिये कि अचेतन शुद्धद्रव्यों का ध्यान करना भी शुद्धात्मा की निर्विकल्पक समाधिरूप ध्यान के अभ्यास का कारण है। अतः जब तक हमें शुद्ध द्रव्यों के आकार यानी (लम्बाई चौड़ाई और मोटाई) का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक हम उन शुद्ध द्रव्यों में अन्तस्तल स्पर्शी ध्यान नहीं जमा सकते हैं।

इस छोटे से लोकाकाशमें अनंतानंत मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य निराबाध भरे हुये हैं। संसारी जीव और स्कन्ध पुद्गलों को छोड़कर शेष जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब शुद्ध द्रव्य हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनुजीवी होकर पाये जारहे प्रदेशवत्व गुण की परणति यानी द्रव्य की व्यंजन पर्याय कुछ न कुछ अवश्य होनी चाहिये। छः द्रव्यों में से शुद्ध जीवद्रव्यों का आकार चरम शरीर के किंचित् न्यून हो रहा प्रसिद्ध ही है।

उपरिम तनुवात वलय के ठीक मध्यवर्ती ऊपरले ४५ लाख योजन लम्बे, चौड़े, गोल भाग में

अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराज रहे हैं। इस सबका ऊर्ध्व शिरोभाग-अलोकाकाश से चिपट रहा है। सबसे बड़ी अवगाहना के सिद्ध भगवान् ५२५ धनुष ऊंचे हैं। और सबसे छोटी अवगाहना वाले ३॥ साढ़े तीन हाथ के हैं। तथा मध्यम कोटि के शुद्ध परमात्माओं की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के असंख्याते प्रकार हैं।

सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध महाराज खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनों से अवस्थित हैं। भले ही कोई अन्तकृत केवली होकर सिद्ध हुये हों, वे बारहवें गुणस्थान के अन्त में संपूर्ण उपसर्गों को टाल तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानों में उनकी व्यंजन पर्याय खड्गासन या पद्मासन होजाती है। बड़े धनुषों से पौने सोलह सौ १५७५ धनुष या छोटे धनुषों से ७८७५०० सात लाख सत्तासी हजार पांचसौ मोटे तनु वातवलय के [illegible] अवगाहना वाले सिद्ध परमेष्ठी ठहर रहे हैं और उसी १५७५ धनुष ऊंचे यानी ३१५० ०० इकतीस लाख पचास हजार छोटे हाथ ऊंचे तनुवात वलय के नौ लाखवें भाग में जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सुशोभित हैं। साढ़े तीन हाथ की अवगाहना से लेकर साढ़े छह हाथ तक की अवगाहना वाले जीव चौदहवें गुणस्थान में खड्गासन रहते हैं।

"वस्तुस्वभावोऽतर्क गोचरः" वस्तु की स्वभाविक परिणतियों पर कुचोद्यों की गुंजाइश नहीं नहीं है। यदि ठिगने आदमी को लम्बा कोट या ऊंची बाड़ की टोरी पसंद आये तो उसमें कुतर्क चलाना व्यर्थ है। यों बाहुबली आदीश्वर महाराज आदि से प्रारम्भ कर श्री महावीर जम्बू स्वामी पर्यन्त अथवा भूत भविष्य काल के अनेक प्रकार व्यंजन पर्यायों वाले सिद्ध परमेष्ठियोंका ध्यान करना चाहिये।

अब जिनागम में शुद्ध द्रव्य मानेगये आकाश, पुद्गलपरमाणु, धर्म, अधर्म द्रव्यों और कालाणुओं के आकार का विचार करना है।

प्रथम उपात्त सबसे बड़े अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र है। यानी एक इंच लम्बी चौड़ी और एक इंच मोटी बरफी जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः यों छैऊ ओर समान पैल वाली होकर घनाकार नियत चौकोर है। उसी के समान जिनदृष्ट नियत मध्यम अनंतानंत राजू लम्बा और इतना ही चौड़ा तथा ठीक इतना ही ऊंचा समघन चतुरस्र अलोकाकाश है। श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती महोदय ने द्विरूपवर्गधारा में "जोवा पोग्गल काला सेढी आयास तप्पदरं" और द्विरूप घनधारा में "तत्तो पढमं मूलं सव्वागासं च जाणेज्जो" इन गाथोत्तरार्धों के अनुसार अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र मानी है। आचार सार में लिखा है कि—

व्योमा मूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्र समंघनं। सावगाह हेतुश्चानन्तानन्त प्रदेशकम्।

इसी प्रकार सबसे छोटे अवयव माने गये परमाणुकी आकृति भी बरफी के समान ठीक समघन चतुरस्र है। भले ही "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झम्" यों परमाणु को निरंश माना

गया है । अन्तिम हद्द दर्जे के छोटे परम सूक्ष्म परमाणु की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है। तभी तो एक एक प्रदेश पर अनंत अनंत परमाणुयें निरापद ठहर रही हैं। फिर भी सर्वावधिज्ञानी या केवल ज्ञानी [illegible] जो उन्हें देखेंगे उन्हें वह घन चौकोर छह पैल वाला आठ कोनोंको लिये अखंड द्रव्य प्रतीत होगा इसी बातको श्रीआचार्य वीरनंदी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने श्री आचारसार ग्रंथ के तृतीयाधिकार में लिखा है कि—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचय शक्तितः । षोढश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रिय ॥

यों परमाणु के छः पैल हैं । तभी तो परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक पैल से संसर्ग हो जाने पर छोटे, बड़े, बहुत बड़े अवयवी बनकर तैयार हो जाते हैं जैसेकि ईंटोंका ईंटोंके साथ एक देश संम्बध होजाने पर बड़े बड़े महल बन जाते हैं। यदि ईंट का दूसरी ईंट के साथ सर्वांग रूप से सम्बंध हो जाय तो कोठरी, महल, किला, ये सब ईंट के बरोबर हो जांयगे ।

इसी प्रकार परमाणु को सर्वथा निरंश माना जायगा तो, परमाणु, सरसों, मेरुपर्वत परमाणु बरोबर इन सबको के समान परिमाणु वाले बराबर होजाने का प्रसंग दूर नहीं हो सकेगा ।

"भेदादणुः" इस सूत्र अनुसार अणु की उत्पत्ति भेद से हुई मानी गई है। इस पर गंभीर विचार करने से प्रतीत होता है कि वस्तुतः परमाणु चौकोर, । भेद करने से गोल चीज नहीं बन सकती है। टुकड़ा करने पर एक ओर सपाट भींत अवश्य बन जाती है जब कि परमाणु की छैऊ भींते एकसी हैं तो उसका आकार समघन चतुरस विज्ञान से भी स्वाभाविक सहज सिद्ध होजाता है। श्लम्।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः यों छैऊ ओर चौकोने एवं घन चौकोर होरहे इस अलोकाकाश के ठीक बीच में लोकाकाश विराजमान हैं।

यदि लोकाकाश जगत् श्रेणी की पूरी समघन चतुरस्र आकृति की सूरत में होता तो 'ठीक बीच' शब्द अच्छा सुघटित होजाता किन्तु लोकाकाश चौदह राजू ऊँचा तथा अधो लोक में सात राजू लम्बा चौड़ा और मध्य लोक में एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा एवं ऊपर क्रम से चौड़ाई में बढता हुआ ब्रह्मलोक के निकट ५ राजू चौड़ा ७ राजू लम्बा होगया है। और चौदह राजू ऊपर जाकर तो सात राजू लंबा एक राजू चौड़ा होकर विषम आकृति को लिये हुये है अतः संभव योग्यतानुसार 'ठीक बीच'यों लिख दिया है, अन्यथा ऐसे पांव रसारू पतले पेट वाले कुबड़ेमनुष्यके समान विषम आकृति वाले पदार्थ का चौकोर पदार्थ के ठीक बीच में पाया जाना असंभव ही है. यदि मध्य लोक के पूर्व पश्चिम सम्बंधी अंतिम भाग से पूर्व या पश्चिम के अलोकाकाश को नापा जाय तो वह मध्य लोक के उत्तर दक्षिणवर्ती अलोकाकाश से तीन तीन राजू बढ़ जायगा । इसी प्रकार अलोकाकाश के मध्य लोक संबंधी उत्तर दक्षिण भाग की अपेक्षा ऊर्ध्व या अधोलोक के ऊपर नीचे का भाग साढे तीन, साढे तीन राजू कमती है।

छः ऊ ओर समधारा की सख्या के धारी प्रदेशों वाले घन चतुरस्र अलोकाकाश का ठीक बीच आठ प्रदेश समझलिये जांय। समघनात्मक संख्या वाले पदार्थों के ढेर का बीच आठ होसकता है। द्विरूप वर्ग धारा में पड़े हुये मात्र श्रेणी आकाश का सबसे छोटा ठीक बीच ४ प्रदेश हैं। और केवल प्रतराकाश का लघु बीच चार प्रदेश है, तथा घन सर्वाकाश का जघन्य ठीक बीच आठ प्रदेश ही होसकते हैं। आठ से कम प्रदेश उसका ठीक मध्य भाग नहीं होसकते हैं। एक एक बरफी की चारों बाजुओं

को ठीक चार दिशाओं में कर रख दी गईं चार वर्फियों के ऊपर अन्य चार वर्फियों के आकार वाले ये आठ प्रदेश विचारे चित्रा और वज्रा पृथ्वी के दोनों पाटों के बीच में हैं। अर्थात् यहां से एक हजार योजन नीचेचित्रा की जड में ऊपरले चार प्रदेश हैं। और नीचले चार प्रदेश वज्रा के उपरिमभाग में हैं। यों सर्वाकाश या लोकाकाश का ठीक बीच सुदर्शन मेरु की गोलासपाट जड़के मध्यमें पड़े हुये आठ प्रदेश हैं। प्रसंग वश त्रसनाली मध्यलोक रत्नप्रभा, स्वयंभूरमण समुद्र जम्बू द्वीप भरत क्षेत्र और आर्यखण्ड का चित्र भी समझ लेना आवश्यक है।

प्रकरण में मुझे यह कहना है, कि अलोकाकाश के मध्य में स्थित जगत् श्रेणी के घनप्रमाण असंख्यातासंख्यात नाम की संख्या को धार रहीं कालाणुओं अथवा अखण्ड धर्म-अधर्म द्रव्यों की व्यंजन पर्यायों (आकृति) अनुसार ३४३ घनराजू के लोकाकाश की कल्पना की गई है।

लोकके वहिः प्रान्त में सब (छैऊ) और तनुवातवलय वेष्टित होरहा है। वहां अन्य भी द्रव्य पाये जाते हैं। तनुवातवलय के अंतिमभागों में निवस रहे वायु कायिक जीव या निर्जीव वायु अथवा धर्म अधर्म द्रव्यों में यवहां की सृष्टि के अन्तवर्ती लोकों की आकृति क्या है ? इसका यहां विचार करना है।

देखिये- लोक का ७ राजू लम्बा १ राजू चौड़ा उपरला भाग सपाट चोकोर है। वहां के कालाणुओं या धर्मअधर्म द्रव्यों का उपरिमभाग ईट के खड्जा और पटिया के समान ठीक समतल बन रहा है। कोई ऊंचा-नीचा भाग नहीं हैं। इसी प्रकार लोकाकाश या धर्म अधर्म द्रव्यों का ७राजूलम्बा सात राजू चौड़ा अधस्तन भाग भी समतल होकर अधोवर्त्ती अलोकाकाश से छू रहा है उसमें ऊंच नीच की विषमता सर्वथा नहीं है। वहां की कालाणुयें मकराने के जड़े हुये चौकाओं के समान समतल होकर जमरही हैं। तथा लोक की दक्षिण, उत्तर वाजू की भीतें ईंटों की सपाट दीवालों के समान चिकनी होरहीं ऊपर उठी हुई हैं।

वहां के कालाणुओं और परमाणुओं के पैल चिकने होरहे एक के ऊपर एक यों सपाट एकसे जमे हुये है। ऐसी ही तत्रस्थ दोनों धर्म, अधर्म द्रव्यों सपाट चिकनी अवस्था है। खुरदरी नहीं है। जैसे कि संगमरमर की पटिया खड़ी कर दी जाती है।

किन्तु लोक के पूर्व पश्चिम भाग की वाजुएं सपाट पटिया के समान चिकनी नहीं है। क्योंकि नीचे ७ सात राजू लम्बे अधोलोक से मध्यलोक तक क्रमसे घटता हुआ लोक १ एक राजू चौड़ा रह गया है। अखंडघन चौकोर चीजों को यदि क्रमसे घटाकर तराऊपर रक्खा जायगा तो उनका जीना बनते ही घटी हो सकती है। यदि ईंटों के कोने न छीले जांय और उनको क्रम से घटाते हुए ऊपर को चिना जाय तो अवश्य ही उस रचना में ईंटों के कोने निकले रहेंगे। चूंकि ईंट को कारीगर तिरछा छील देता है सीमेन्ट से लीप देता है, अतः स्थूलदृष्टि जीवों का जीने की वाजू की ढलाऊदीवाल ऊपर से नीचे तक चिकनी सपाट बनाई दीख जाती है। -किन्तु वरफी के समान छह पैलू अठकोनी, अखण्ड, परमाणु की नौकें या पैल घिसे काटे, छीले नहीं जा सकते हैं। अतः लोक के पूर्व पश्चिम प्रान्त की

रचना जीने के समान परमाणुओं के पैलों को उभारती हुई बनी है।

यही इस चित्र में पूर्व पश्चिम की ओर रचा गया है। यों धर्म, अधर्म द्रव्यों की पूर्व पश्चिम दिशा संबंधी आकृति भी परमाणु पंक्ति बराबर सीढ़ियों के निकाल को लिये हुये जीने के समान समझी जाय-या अधर्म की सीढ़ी जैसी आकृति की सी रचना ज्ञात कर ली जाय।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मध्य लोक से पूर्व पश्चिम की ओर ब्रह्म लोक के निकट वर्त्ती प्रान्ततक ऊपर को उल्टा जीना बना लिया जाय और ब्रह्मलोक प्रणिधि से उपरिम लोक तक सीधा जीना रचा हुआ समझा जाय यों वहां जबलपुरके हनुमान ताल या बनारसके गंगा घाटोंकी पैडियों के समान प्रति प्रदेश पर एक एक परमाणु की ऊपर को घटती हुई तिरछी पंक्तिबद्ध रचना है। यों अधोलोक में सात प्रदेशपर तीन प्रदेश घटाकर रचना समझ लेना। यहां की कालाणुएं भी नोकीली उभर रहीं प्रत्येक प्रदेश पर एक एक होकर रक्खी हुई हैं।

इसी प्रकार वहां के तनुवातवलय सम्बन्धी अन्तिम भागस्थ वातकायिक जीवोंके घनाङ्गुल के असंख्यातवें भागस्वरूप असंख्यातासंख्यात प्रदेशी अवगाहना वाले शरीरों की आकृतियोंमें भी अवश्य जीना रच लिया जाय जैसे कि धर्म, अधर्म, द्रव्यों की व्यंजन पर्याय में परमाणु बराबर प्रदेशों की हीनता या वृद्धि करते हुये जीना बनगया है।

वहां निगोदिया जीव या अन्य स्थावर काय के जीवों के शरीरोंकी आकृतियां भी इसी प्रकार की पैड़ियां बनी हुई समझी जांय। तथा जो कुछ भी वहां निर्जीव वायु या कार्माण वर्गणायें, महास्कंध, आदि पुद्गल भरा हुआ है या केवली समुद्घात करते हुये आत्मा के प्रदेश वहाँ पहुँचे हैं, पूर्व, पश्चिम-दिशा संबंधी लोक के अन्तभाग में पाये जारहे इन सभी पदार्थों की आकृति भी जीना बन रही नोकीली मानी जाय। क्योंकि धर्मास्तिकाय के उतना ही बड़े होने के कारण ये पदार्थ बाहर अलोकाकाश में पांव नहीं फैला सकते हैं। दृष्टान्त इतनाही पर्याप्त है कि टेढ़े, बांके तिकोने, चौकोने नलों के भीतर भरे हुये अवयवी पानी की वैसी आकृति बन जाती है अथवा बहरहे करंट के धारी, पतले, मोटे, चौखूटे मुड़े गोल या चक्करदार, तारों में बिजली का संस्थान तदनुसार भरपूर बनता चला जाता है उनके बाहर नहीं। ३४३ घनरज्जू प्रमाण लोकाकाश के अनुसार धर्म, अधर्म, द्रव्यों की वैसी आकृति गढ़ लेने की अपेक्षा धर्म, अधर्म, द्रव्यों की तादृश मूरत अनुसार लोकाकाश की आकृति की कल्पना करना श्रेष्ठ है।

क्योंकि छहों द्रव्यों के समुदाय रूप लोक के आधार मान लिये गये लोकाकाश की अवधि कल्पित है। किन्तु धर्म, अधर्म द्रव्यों की वैसी व्यंजन पर्याय परमार्थ भूत है। जब कि लोकाकाश कोई वस्तुभूत द्रव्य नहीं है, तो उसकी व्यंजन पर्याय मानना भी कल्पना मात्र है। अतः धर्म, अधर्म की आकृति अनुसार लोक के आकार की कल्पना करनी चाहिये। धर्म, अधर्म द्रव्य तो लोकके आधीन नहीं माने जांय क्योंकि धर्म, अधर्म वास्तविक द्रव्य हैं तब तो उनकी व्यंजन पर्याय भी ठोस परमार्थ

भूत परिणाम है । पुद्गल परमाणु के सदृश ही कालाणुओं का आकार भी बरफी के समान समघन चतुरस्र है । पुद्गल परमाणु या कालाणु के अनुसार ही नाप को लिये हुये अखण्ड आकाश के प्रदेश की कल्पना करली जाय ॥

दुनियां का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जोकि आधा समय या डेढ़ समय या ढाई समय में तैयार होय, जो कोईभी छोटा बडा पूरा कार्य होगा वह पूर्ण एक समय या दो समय आदि पूरे समयों को घेर कर निष्पन्न होगा । इसी प्रकार कोई भी पौद्गलिक पदार्थ होय एक, दो, तीन आदि परमाणु से बनेगा डेढ़, ढाई साढ़े तीन आदि परमाणुओं से नहीं ।

तथा कोई भी पूर्ण आधेय अवयवी कहीं ठहरेगा तो पूरे एक दो आदि प्रदेशों पर ही निवास करेगा । आधे, डेढ़, ढाई प्रदेशों पर नहीं । तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगे तो एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक यों बैठ जांयगे डेढ़ डेढ़ प्रदेश पर नहीं । यों प्रत्येक मुमुक्षु को शुद्ध द्रव्यों का ध्यान करते हुये शुद्धात्मा के निर्विकल्पक ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

इस प्रकार श्री परम पूज्य विद्यानन्दी आचार्य कृत श्री तत्वार्थ श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थ की आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी श्री हेतसिंह तनूज न्यायदिवाकर, तर्करत्न, स्याद्वाद-वारिधि, सिद्धान्तमहोदधि आदि पदवी विभूषित पण्डित माणिकचन्द्र न्यायाचार्य कृत हिन्दी देशभाषा मय तत्वार्थ चिन्तामणि नामक टीका में पांचवा अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

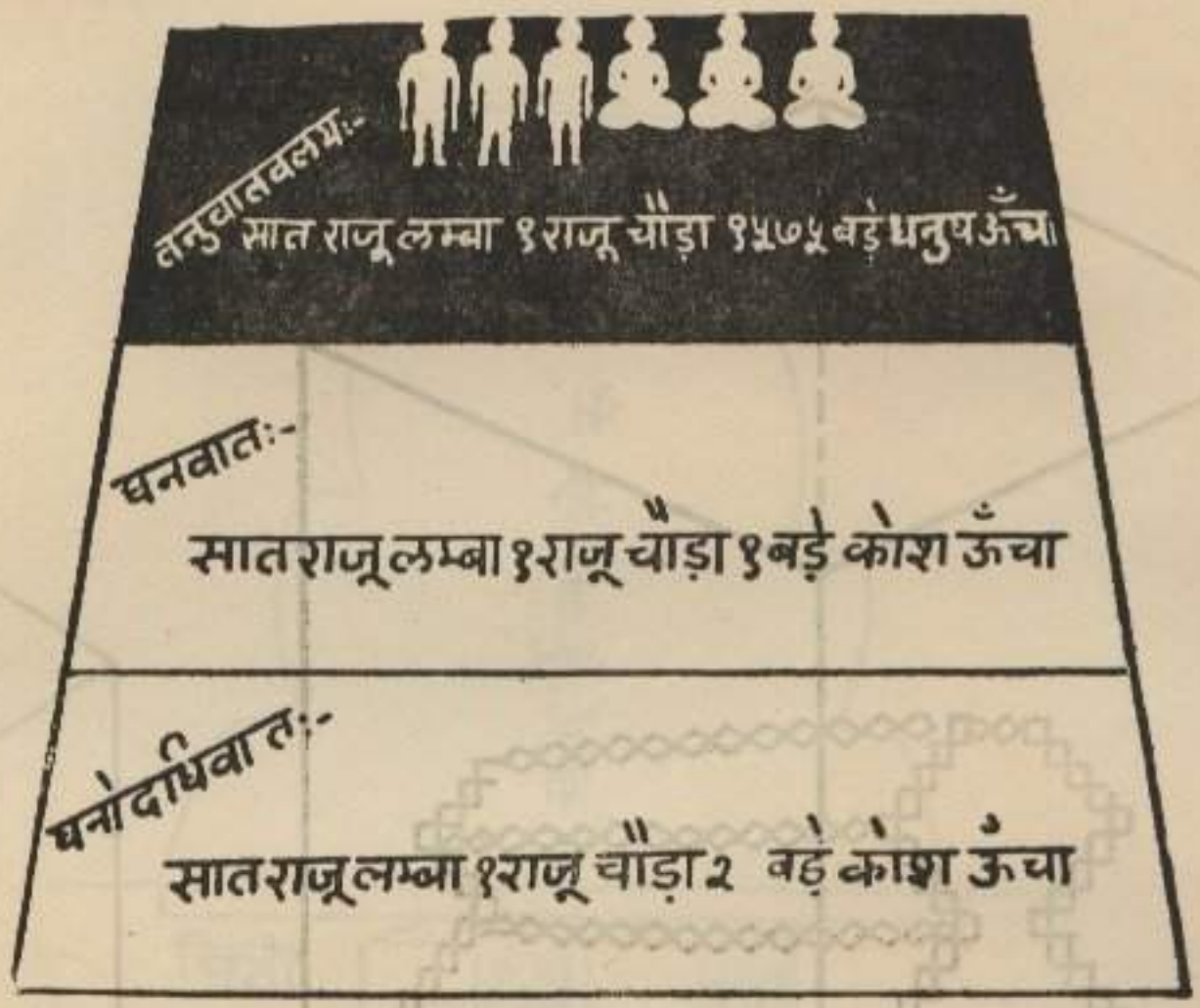
ॐ नमः सिद्धेभ्यः सिद्धेभ्यः

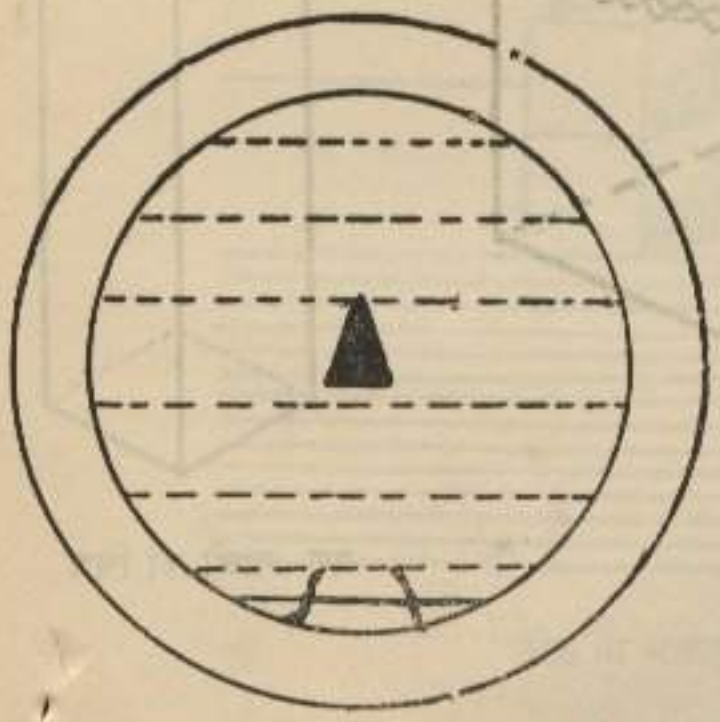
द्रव्यत्वादुद्रव्यमूचुः कतिचिदथ गुणात्केचिदाहुः क्रियातो
ब्रह्माद्वैतादजीवं निपिपिषुरपरे चिन्नटीं नाटयन्तः ।
मीमांसांचक्रिरेऽर्थः स्फुटति यत इति स्फोटमन्ये लपन्तो
जीयाच्छ्रीग्रन्थकर्ता प्रतिविदिति परः पञ्चमाध्याय एषाम् ॥
श्रीमदुमास्वामिवचःपयोधिमन्तरण पोतमाचार्यः ।
जीयाद्विद्यानन्दस्तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं रचयन् ॥

पंचमोध्यायः

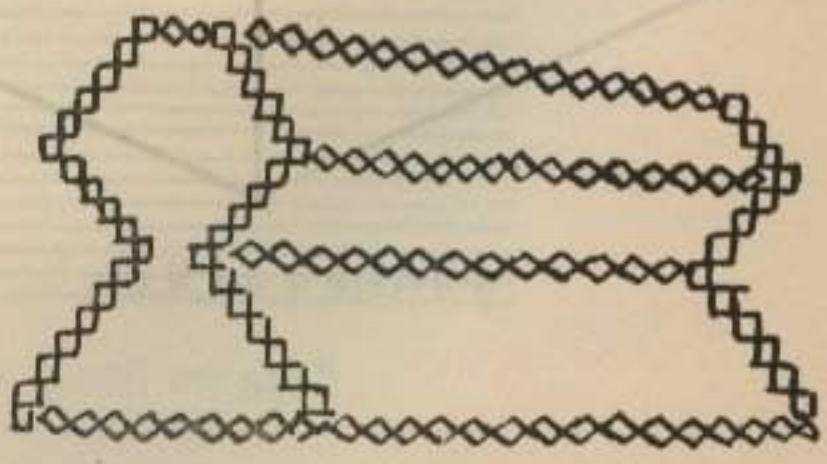
समाप्तः

पाँचवें अध्याय में आये हुए शुद्ध द्रव्यों की आकृतियाँ

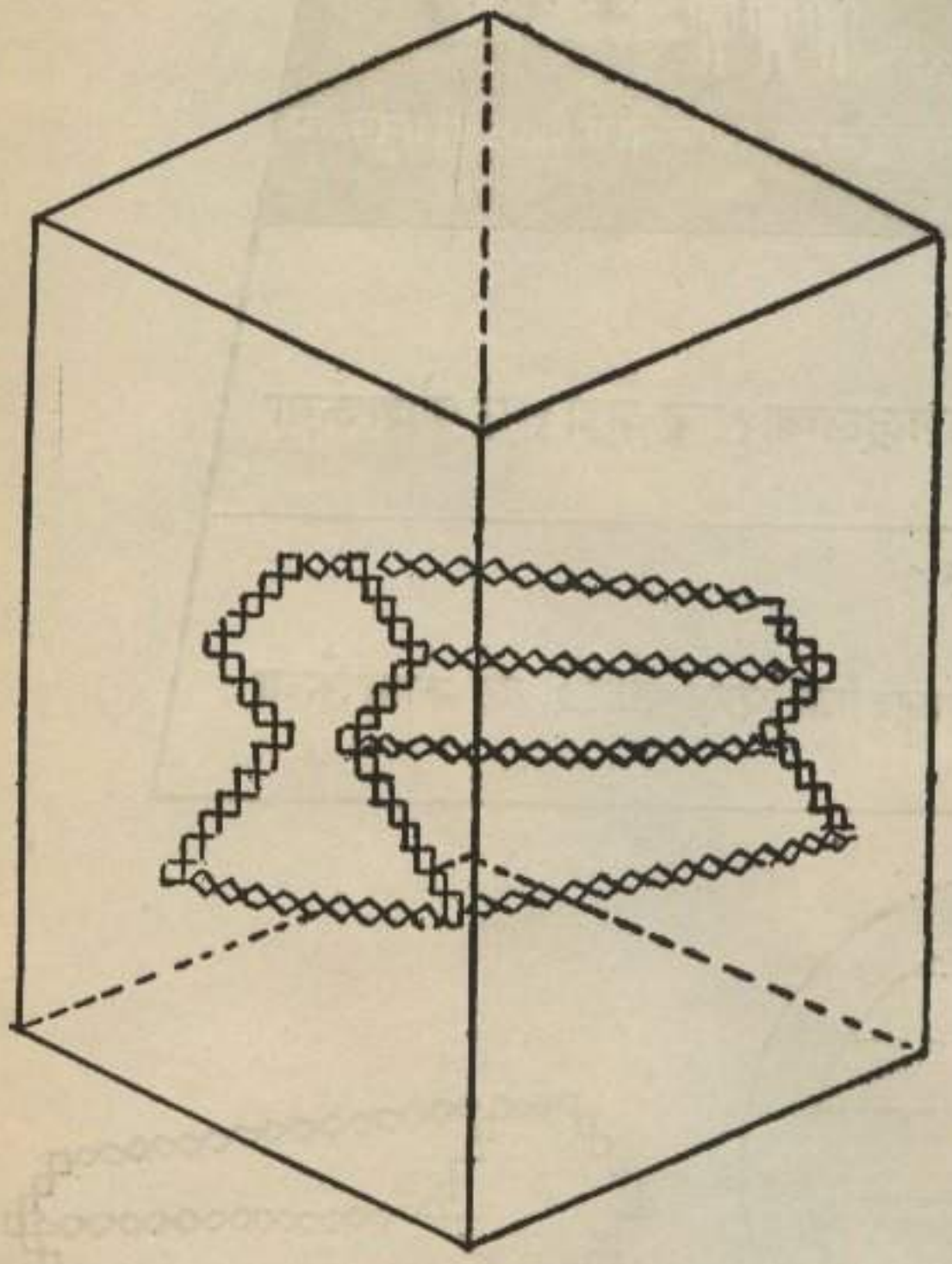




जम्बू द्वीप का नक्शा



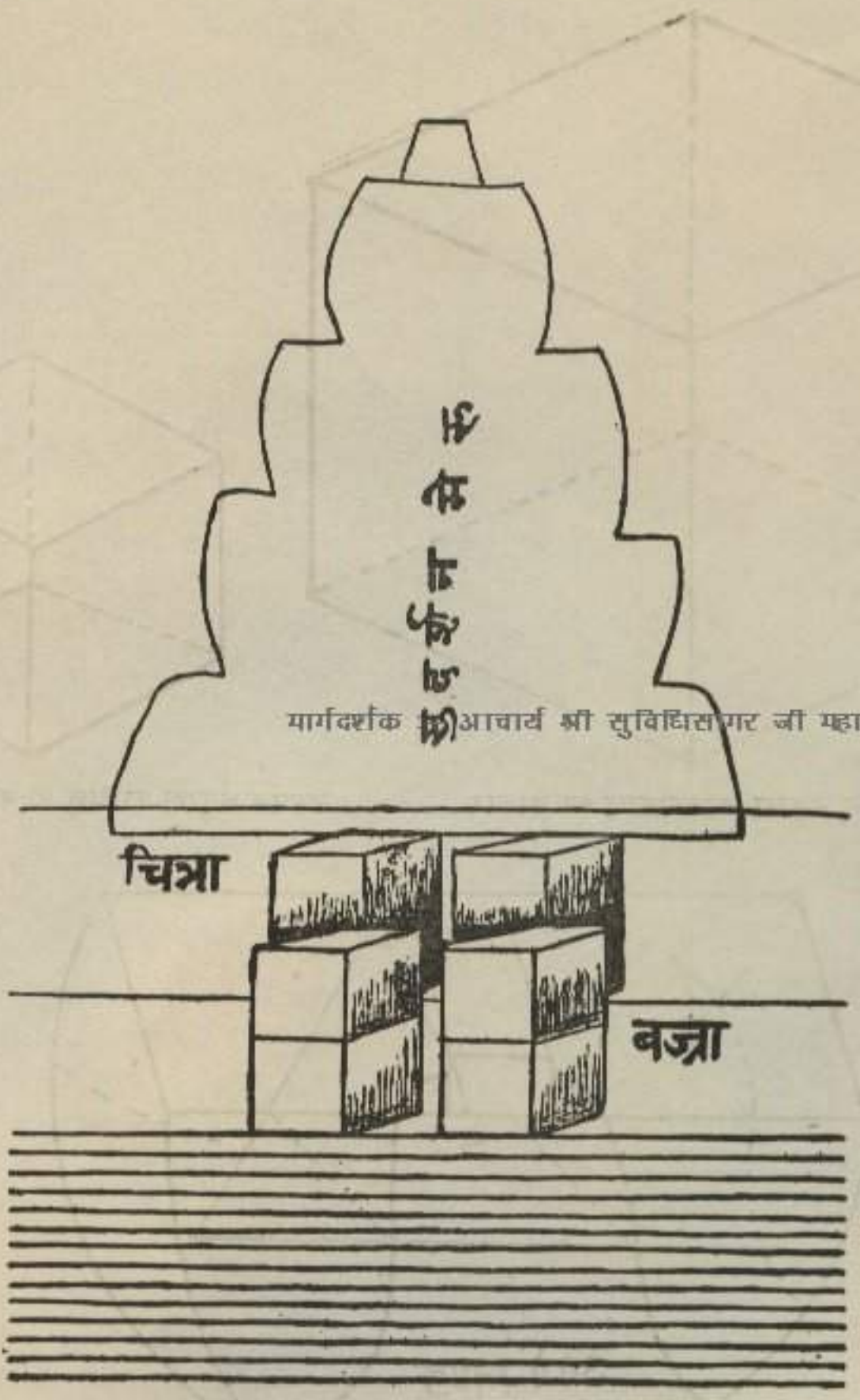
धर्म द्रव्य और उसको छहों ओर कालाणुयें



अलोकाकाश के मध्य में लोक

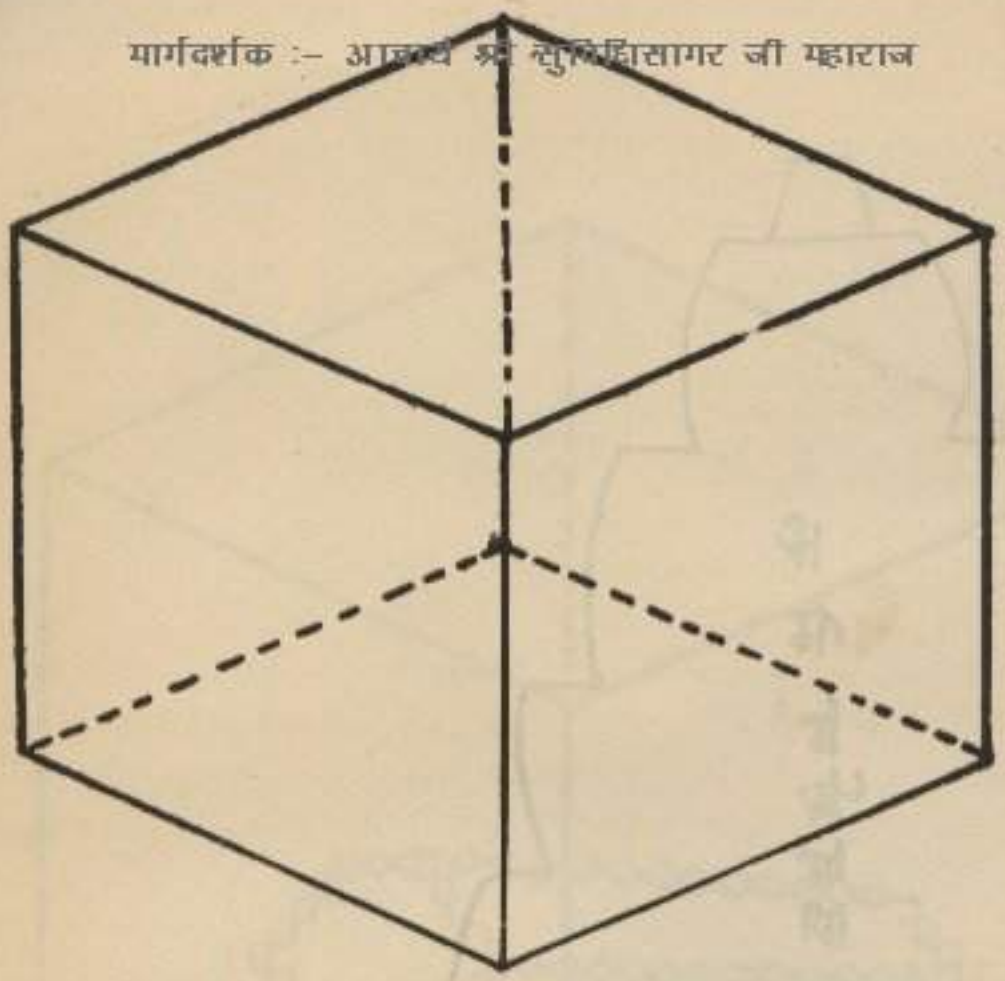


त्रस नाली का चित्र

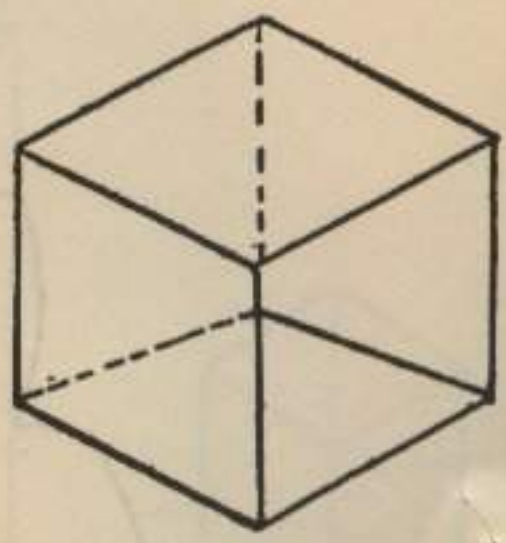


मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

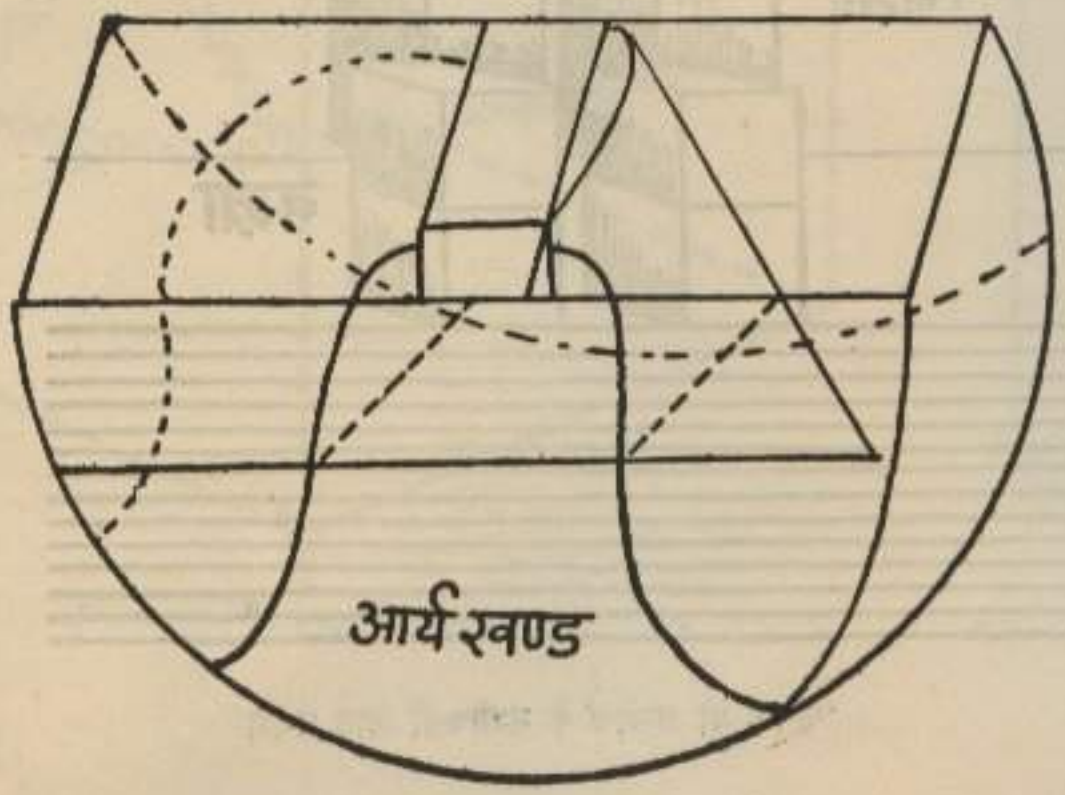
"लोक या अलोक के मध्यवर्ती आठ प्रदेश"



समघन चतुरस्र अलोकाकाश का आकार



समघन चतुरस्र कालाणु या पुद्गल परमाणु



भरत क्षेत्र की तस्वीर

ॐ

योऽविभागप्रतिच्छेदानन्तानन्त्यं परं दधत् ।
कर्महा केवलज्ञानं प्रापद्वीरोऽवतात्स नः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

इसके अनन्तर अब छठे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है। पाचमे अध्याय तक जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका है, अब तत्त्वों के प्रतिपादक "जीवाजीवा" आदि सूत्र में उनके अव्यवहित उत्तर कथन किये गये आस्रव तत्त्व के व्याख्यान का अवसर प्राप्त है उस आस्रव तत्त्व की प्रसिद्धि करने के लिये सूत्रकार महाराज छठे अध्याय का प्रारम्भ करते हुये इस आदिसूत्र का प्रारम्भ करते हैं।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (चलन) होना है वह योग कहा जाता है।

अर्थात्—संसारी आत्माओंमें एक योग नाम की पर्यायशक्ति है गोम्मटसार में "पुग्गल विवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स। जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागमकारणं जोगो" पुद्गल में विपाक करने वाले शरीर और अंगोपांग नाम कर्म की प्रकृति का उदय होने पर मन, वचन, और काय से युक्त हो रहे जीव की जो कर्म और नोकर्मों के आगमन की कारण, हो रही शक्ति है वह योग है, यह भाव योग कहा जा सकता है। इस भाव योगरूप पुरुषार्थ से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द हो जाना स्वरूप द्रव्ययोग उपजता है। ग्रहण की जा चुकीं या ग्रहण करने योग्य हो रहीं मन, वचन, कायों, की वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर आत्मा के वह कम्पस्वरूप योग उत्पन्न हुआ अनादि काल से तेरहवें गुणस्थानतक सदा कर्मनोकर्मों का आकर्षण करता रहता है। भाव योग अपरिस्पन्द आत्मक है और द्रव्ययोग परिस्पन्द आत्मक है। अवलम्ब के भेद से १ सत्यमनोयोग २ असत्यमनोयोग ३ उभयमनोयोग, ४ अनुभय मनोयोग ५ सत्यवचन योग ६ असत्यवचन योग ७ उभयवचन योग ८ अनुभयवचन योग ९ औदारिककाययोग १० औदारिक मिश्रकाययोग ११ वैक्रियिक काययोग १२ वैक्रियिक मिश्रकाय योग १३ आहारक काय योग १४ आहारकमिश्रकाययोग, १५ कार्मणकाययोग, ये योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। अतः शरीर, वचन और मन का अवलम्ब ले रहे संसारी आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया जाता है।

नन्वजीवपदार्थव्याख्यानानंतरमास्रवे वक्तव्ये किं चिकीर्षुः सूत्रकारः प्रागेव योगं ब्रवीतीत्यारेकायामिदमुपदिश्यते ।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि अजीव पदार्थ का व्याख्यान हो चुकने के अव्यवहित उत्तर काल में तो सूत्रकार को आस्रव तत्त्व का निरूपण करना चाहिये था किन्तु अब क्या करने की अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज पहिले ही से एकदम न जाने यहांपर योग का कथन कर रहे हैं ? समझ में नहीं आता। इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान कारक यह उपदेश किया जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथास्रवं विनिर्देष्टुकामः प्रागात्मनोऽजसा ।
कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याह कर्मणाम् ॥ १ ॥

अब छठे अध्याय के आदि में आस्रव तत्त्व का ही विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार महाराज सब से प्रथम "कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्ति" काय, वचन, मनों, का अवलम्ब लेकर परिस्पन्द होना योग है यों इस योग को कह रहे हैं जो कि आत्मा के निकट ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव करने का हेतु है अतः झटिति आस्रव को नहीं कह कर उसके प्राणभूत योग को कह दिया गया है। पूर्व आचार्यों की सम्प्रदाय अनुसार योग को आस्रव कहा गया है। अतः योग का लक्षण कर ही द्वितीय सूत्र द्वारा झट उसी को आस्रव कह देंगे।

आत्मनः कर्मणां ज्ञानावरणादीनामास्रवं विनिर्देष्टुकामोऽजसा प्रागेव कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याहेदं सूत्रं । तत्र योज्यते अनेनात्मा कर्मभिरिति योगो बंधहेतुर्न पुनः समाधिः युजेर्योगार्थस्य ण्यंतस्य प्रयोगात् । पुंखौ घः प्रायेणेति घस्य विधानात् । स च कायवाङ्मनःकर्म, तेनैवात्मनि ज्ञानावरणादिकर्मभिर्बंधस्य करणात् तस्य बंधहेतुत्वोपपत्तेः ।

संसारी आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषुक हो रहा मेरा परम गुरु सूत्रकार झट पहिले ही से शरीर, वचन, और मन का कर्म योग होता है, इस पदानुपूर्वी अनुसार यों यहाँ इस उक्त सूत्र को कह बैठा है। यहाँ एक ग्रन्थकार आचार्य दूसरे पूर्ववर्त्ती पूज्य आचार्य को स्थान-स्थान पर एकवचन से प्रयुक्त करते हैं तदनुसार ही मुझ देशभाषा अनुवादकार ने भी वैसा ही अर्थ लिख दिया है। हाँ, अन्य स्थलों पर एकवचन पद का अर्थ देश काल पद्धति अनुसार विनय की रक्षा करते हुये बहुवचन के अनुकूल किया गया है। काव्य का प्राण मानी गयी वक्रोक्ति से आस्रव का विशेष निर्देश करने के लिये उपात्त किये गये उस सूत्र में कहे गये योग शब्द का निरुक्तिपूर्वक अर्थ यह है कि इस योग करके आत्मा कर्मों के साथ जोड़ दिया जाता है। इस कारण योग कर्म, नोकर्म, के बन्ध का हेतु है। युजिर् योगे धातु के ण्यन्त पद अनुसार कर्म में प्रत्यय कर विग्रह करते हुये पुनः घ प्रत्यय लाकर योग शब्द को बना लिया जाय। अर्थात्–योग ही जीवों का कर्म से बंध हो जाने का प्रधान कारण है। योग नहीं होता तो सभी जीव शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी भगवान् हो जाते। यहाँ प्रकरण अनुसार फिर "युज समाधौ" इस दिवादि गण की युजधातु से योग शब्द को नहीं बनाया जाय। क्योंकि चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप समाधि तो बन्ध का कारण नहीं है प्रत्युत समाधि तो संवर का कारण है। अतः योग यानी सम्बन्ध कराना अर्थ को कह रही ण्यन्त युज धातु का प्रयोग किया गया है "पुं खौ घः प्रायेण" इस सूत्र करके यहाँ घ प्रत्यय का विधान किया गया है और यों योग शब्द की सिद्धि हो जाने से

यह योग काय, वचन, मनों, का कर्म है। उस योग करके ही आत्मा में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि कर्मों के साथ बन्ध होना किया जाता है अतः उस योग को बन्ध का हेतुपना युक्तियों से बन जाता है।

प्रधानपरिणामो योग इत्ययुक्तं, तस्यात्मबंधहेतुत्वायोगात्। प्रधानस्यैव बंधहेतुरसाविति चायुक्तं, बंधस्योभयस्थत्वसिद्धेः। तर्हि जीवाजीवपरिणामो बंध इति चेत्, सत्यं जीवकर्मणोर्बंधस्य तदुभयपरिणामहेतुकत्ववचनात्।

यहाँ कपिल मत के अनुयायी सांख्य कहते हैं कि उपर्युक्त योग तो प्रधान यानी सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की समता स्वरूप प्रकृति का परिणाम (विवर्त) है आचार्य, कहते हैं कि यों उन सांख्यों का कहना युक्ति रहित है। क्योंकि प्रकृति के विवर्त माने गये उस योग को आत्मा के बद्ध हो जाने की हेतुता घटित नहीं हो पाती है। प्रकृति का परिणाम माना गया योग भला सर्वथा उदासीन पड़े हुये परद्रव्य आत्मा को बंधन में नहीं डाल सकता है। स्वयं अपने परिणाम ही निज को बंध जाने या छूट जाने के हेतु हो सकते हैं। इस पर सांख्य यदि यों कहें कि आत्मा का बंधन होता ही नहीं है प्रकृति ही बंधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है तदनुसार वह प्रकृति का परिणाम हो रहा योग उस प्रकृति के ही बंध जाने का हेतु है। ग्रन्थकार कहते हैं कि कापिलों का यह कहना भी युक्तियों से रीता है कारण कि बंध के दोनों में ठहर जाने की सिद्धि हो रही है। संयोग, पृथक्त्व, बंध, आदि परिणतियां दो आदि पदार्थों में रहती हैं। "द्विष्ठः सम्बन्धः" सम्बन्ध दो में रहता है और "अनेकेषामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंधः" अनेक पदार्थों के कथंचित् एक हो जाने की बुद्धि को उपजाने वाला सम्बन्ध विशेष हो रहा बंध तो दो अवयव वाले अवयवार्थ में ठहरता है, यह बात सिद्ध कर दी गयी है। यहाँ कोई तटस्थ विद्वान् कहता है कि तब तो जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन दोनों का परिणाम बंध मान लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना ठीक है क्योंकि जीव और कर्म का बंध हो जाने के कारण उन जीव, कर्म दोनों के परिणाम विशेष कहे हैं। अर्थात्-आर्षजैनग्रन्थों में कहा है कि "जोगा पयडि पएसा ठिदिअणुभागा कसाअदो होंति" जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन" आत्मा के परिणाम हो रहे योग और कषाय तथा वैभाविक शक्ति को निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाओं में उपज गई कर्मत्व शक्ति ये कारण ही जीव, और कर्मों का बंध करा देते हैं। यहाँ प्रकरण में जीव के परिणाम हो रहे योग का लक्षण कर दिया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कायादिक्रियालक्षणयोगपरिणामो जीवस्यानुपपन्नो निष्क्रियत्वादिति न मंतव्यं।

यहाँ किसी नैयायिक या वैशेषिक का पूर्वपक्ष है कि जीव का काय, वचन, आदि की क्रिया स्वरूप योग नामक परिणति होना तो बन नहीं सकता है। क्योंकि जीवद्रव्य तो क्रियाओं से रहित है व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं हो सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये कारण कि—

कायादिवर्गणालंबप्रदेशस्पंदनं हि यत्।
युक्तं कायादिकर्मास्य सक्रियत्वप्रसिद्धितः॥ २॥

शरीर, वचन, मन इनके उपयोगी वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर जो जीव के प्रदेशों का कम्प होता है वही इस जीव के उक्त सूत्र अनुसार काय आदि का कर्म तो योग कहा गया समुचित है जब कि जीव के क्रिया सहितपन की पूर्वप्रकरणों में प्रमाणों से सिद्धि कर दी गयी है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपना

जाना, आना, अनेक जीवों को अनुभूत हो रहा है। शरीरधारी दूसरे जीव भी यहाँ वहाँ क्रिया करते हुये प्रतीत हो रहे हैं। श्री उमास्वामी महाराज के सूत्रों से ही जीव और पुद्गल का क्रियासहितपना निर्णीत कर दिया गया है।

जीवस्य सक्रियत्वसाधनादुपपन्नमेव हि कायादिकर्मेष्यते। कायवर्गणालंबिप्रदेशपरिस्पन्दनस्यात्मनि कायकर्मत्वाद्वाग्वर्गणालंबिनस्तस्य वाक्कर्मत्वात् मनोवर्गणापुद्गलालंबिनो मनःकर्मत्वात्। न च तस्यायोगकेवलिनि सिद्धेषु च प्रसक्तिरेषां प्रदेशपरिस्पन्दनाभावात्।

जब कि जीव के क्रियासहितपन की सिद्धि कर देने से जीव के काय आदि द्वारा क्रिया होना युक्तिपूर्ण हो रहा ही अभीष्ट कर लिया जाता है तो भी आत्मा को क्रियारहित माने जाना वैशेषिकों का अनुचित हठ है। देखिये, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों के उपयोगी हो रही आहार वर्गणा तथा तैजस, कार्मण, इन दो सूक्ष्म शरीरों के अनुकूल हो रही तैजस वर्गणा और कार्मण वर्गणा का आलम्बन कर आत्मा में हुये प्रदेशपरिस्पन्द को कायकर्म कहा गया है। एवं वचनों के उपयोगी भाषावर्गणा का अवलम्ब करने वाले उस आत्मनिष्ठ प्रदेशपरिस्पन्द को वचनकर्म माना गया है। तथा हृदय में बनने योग्य द्रव्य मन को रचने वाले मनोवर्गणा स्वरूप पुद्गलों का आलम्ब कर रहे आत्मप्रदेश परिस्पन्द को मनःकर्म कहा गया है। अतः आत्मा की विशेष क्रियायें ही योग मानी गई हैं। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि उस प्रदेश परिस्पन्दस्वरूप योग का तो चौदहमे गुणस्थान वाले अयोग केवली महाराज में और संसार अवस्था से अतीत हो रहे सिद्ध परमेष्ठियों में प्रसंग प्राप्त हो जायेगा, आचार्य कहते हैं कि उक्त प्रसंग ठीक नहीं है। क्योंकि उन अयोगकेवलियों और सिद्धों में आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द नहीं पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थानमें आत्मा अकम्प रहता है और चौदहवें गुणस्थान के पश्चात् स्वभावसे ही ऊर्ध्वगतिवाला शुद्ध आत्मा अकम्प होकर सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ उसी समय सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

तथाहि—अयोगकेवलिनो न प्रदेशस्पंदः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वात्। यस्य तु प्रदेशस्पंदः स्यात् स तथा प्रसिद्धो यथा सयोग इति युक्तिः। सिद्धनामत एव प्रदेशस्पंदाभावस्तेषामयोगव्यपदेशः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वासिद्धेरव्यपदेश्यचारित्रमयत्वात् कायादिवर्गणाभावाच्च सिद्धानां न योगो युज्यते। ततो वीर्यांतरायस्य क्षयोपशमे क्षये वा सति कायादिवर्गणालब्धितो जीवप्रदेशपरिस्पन्दो योगस्त्रिविधः प्रत्येतव्यः।

इसी सिद्धान्त को अनुमान द्वारा विशाल रूप से ग्रन्थकार यों दिखलाते हैं कि अयोग केवली के (पक्ष) प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं है (साध्य) समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति नाम के चौथे शुक्ल ध्यान का आश्रय होने से (हेतु) जिस जीव के प्रदेश का कम्प होगा वह जीव तो तिस प्रकार समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्तिध्यान का आधार नहीं हो सकता है जिस प्रकार कि अन्य तेरह गुणस्थानों वाले जीव हैं। यों तेरहवें गुणस्थान वाले सयोगकेवली हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) यह युक्ति अयोगकेवली के प्रदेश परिस्पन्द का निवारण कर देती है। अर्थात्-तेरहमें गुणस्थान के अन्त में अन्तर्मुहूर्त पहिले बादर योगों का उपसंहार कर सूक्ष्म काययोग का अवलम्ब करता हुआ सयोगी परमेष्ठी सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती नामक तीसरे शुक्ल-

ध्यान को धारता है। पश्चात्-प्राण, अपान, प्रचार आदि सूक्ष्म क्रियाओं का भी उच्छेद कर चौदहमे गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ति नामक ध्यान का आश्रय हो रहे अयोग केवली आत्मा के प्रदेशों का कम्प नहीं हो पाता है। इस ही कारण से सिद्ध आत्माओं के कम्प होने का अभाव समझा दिया गया है। अतः प्रदेशों का परिस्पन्दस्वरूप योग नहीं होने से उन सिद्धों का भी अयोग केवली इस शब्द द्वारा कथन किया जा सकता है। यद्यपि चौदहमे गुणस्थान वाले अयोग केवलीके व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ध्यान है और सिद्धों के समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्लध्यान का आश्रयपना सिद्ध नहीं है तथापि अवक्तव्य होकर अयोगपना सिद्धों में व्यवस्थित है। कारण कि सिद्ध भगवान् नहीं कथन करने योग्य चारित्र के साथ तन्मय हो रहे हैं। भावार्थ—योग नामक पर्याय शक्ति तेरहमे गुणस्थान तक ही पायी जाती है। बहिरंग क्रियाओं और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध होना चारित्र है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदयसे चारित्र गुणका विभाव परिणाम होता रहता है। संसारी जीवोंके पूज्य चारित्रका स्वरूपाचरण देश चारित्र, सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्र, अथवा सामायिक छेदोपस्थापना आदि शब्दों द्वारा निरूपण करा दिया जाता है, सिद्धों के चारित्रका शब्दों द्वारा कथन नहीं हो सकता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, चेतना, वीर्य, आदि अनुजीवी गुण भी अनादि अनन्त काल तक जीवों में ठहर रहा है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरु लघु, अव्याबाध, इन आठ गुणों में कण्ठोक्त रूप से चारित्र गुण को परिगणित नहीं किया है फिर भी अनेक निर्विकल्पक गुण आत्मा में व्यपदेश किये बिना यानी अप्रतिष्ठित हो रहे हैं के मुख्यतासे वस्तु में ही निष्ठा बनी रहना चारित्र है। अतः सिद्धिलाभ, आत्मस्वरूपप्राप्ति, चारित्र इनको शब्दों करके स्वतंत्र रूप से व्यपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। नहीं व्यपदेश करने योग्य चारित्र के साथ योगरहितपना भी तन्मय हो रहा है। आत्मा में अनेक गुण या अनन्तानन्त स्वभाव अन्तर्गूढ हो रहे हैं। सच बात तो यह है कि वस्तु के सम्पूर्ण अंशों का सर्वांग निरूपण हो नहीं सकता है। जो निर्विकल्पक या अव्यपदेश है वही परिपूर्ण है। अतः काय, वचन, आदि के उपयोगी वर्गणाओं का अवलम्ब नहीं होने से सिद्धों के योग मान लेना समुचित नहीं है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर काय आदि वर्गणाओं की लब्धि हो जाने से जीवों के प्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है जो कि काययोग, वचनयोग, मनोयोग यों तीन प्रकार का विश्वास कर लेने योग्य है। अर्थात् बारहमे गुणस्थान तक जीवों के योग का अन्तरंग कारण वीर्यान्तरायका क्षयोपशमपुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म का उदय, अक्षराद्यावरणक्षयोपशम, मन इन्द्रियावरण क्षयोपशम आदि हैं और तेरहमे गुणस्थान में अन्तराय और ज्ञानावरण कर्मों का क्षय उस योग का कारण पड़ जाता है। योग के बहिरंग अवलम्बवर्गणा आदि हैं, आवरण और अन्तराय का क्षय हो जाने पर भी तीनों प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा रखता हुआ सयोगकेवली भगवान् के आत्म प्रदेशोंकी सकम्प अवस्था रूप योग है। वहाँ काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये तीनों विद्यमान हैं। औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग ये उक्त योगों के सात भेद तेरहमे गुण-स्थान में हैं।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि उक्त तीन प्रकार के योग को हमने समझ लिया है किन्तु पाँचमे अध्याय तक जीव, अजीव, तत्त्वों का निरूपण कर चुकने पर प्रकरण प्राप्त आस्रव तत्त्व का इस समय निर्देश करना चाहिये था। इसके लिये टालमटूल क्यों की जा रही है। इस प्रकार प्रश्न होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स आस्रवः ॥२॥

जो ही पूर्व में कहा गया तीन प्रकार का योग है वही आस्रव है। अर्थात् आत्मा की योग नामक परिणति करके दूरदेशवर्त्ती कर्मनोकर्म इस आत्मा के पास खिंचे चले आते हैं अथवा समीपस्थ योग्य पुद्गलपिंड भी कर्मपने करके परिणत हो जाते हैं वह आस्रव है। आस्रवति कर्म अनेन यह निरुक्ति अच्छी है।

स आस्रव इत्यवधारणात् केवलिसमुद्घातकाले दंडकपाटप्रतरलोकपूरणकाययोगस्यास्रवत्वव्यवच्छेदः। कायादिवर्गणालंबनस्यैव योगस्यास्रवत्ववचनात्। तस्य तदनालंबनत्वात्। कथमेवं च केवलिनः समुद्घातकाले सद्वेद्यबंधः स्यादिति चेत्, कायवर्गणानिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य तन्निमित्तस्य भावात्स इति प्रत्येयं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"स आस्रवः" इस सूत्रक उद्देश्यदल में एवकार लगाकर "वह योग ही आस्रव है" इस प्रकार अवधारण करने से तेरहमे गुणस्थानवर्ती केवली के समुद्घातकाल में दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण अवस्थाओं के काययोग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर दिया गया है। क्यों कि काय आदि तीन प्रकार की वर्गणाओं का आलम्बन ले रहे ही योग के आस्रवपन का यहाँ कथन है और वह दण्ड आदि अवस्थाओं का योग तो उन वर्गणाओं का आलम्बन नहीं करता है। हाँ उससे पहिले के योग तो वर्गणाओं को आलम्बन कारण मानकर उपजते हैं। भावार्थ—जब केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाती है यदि उस समय शेष तीन अघातिया कर्मों की भी स्थिति उसके तुल्य है तब तो केवलिसमुद्घात नहीं किया जाता है। और जब अन्तर्मुहूर्त स्थितिवाले आयुकर्म से वेदनीय, नाम, गोत्र,कर्मों की स्थिति अधिक होय तब निरिच्छ आत्मपुरुषार्थ द्वारा सयोगी भगवान् चार समयों में दण्ड आकार, कपाट आकार, प्रतर आकार और लोकपूरण रूप से आत्मप्रदेशों को फैला देते हैं। पुनः उतने ही समयों में संकोच कर चारों कर्मों की स्थिति समान कर लेते हैं। उस समय का योग आस्रव नहीं है। क्योंकि उस योग की उत्पत्ति में काय आदिवर्गणायें अवलम्ब हेतु नहीं हुई हैं। वह शुद्ध योग केवल कर्मों की शक्ति का नाश करने वाले स्वभावों के धारी आत्म प्रयत्न से ही उत्पन्न हुआ है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न उठावे कि इस प्रकार दण्ड आदि अवस्थाओं के योग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर देने पर भला केवली भगवान् के समुद्घात काल में साता वेदनीय कर्म का बंध कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—"समयट्ठिदिगो बंधो,, समयियट्ठिदीसादं" यों तेरहमे गुणस्थान में एक समय स्थितिवाले सातावेदनीय कर्म का बंध कहा है और बंध आस्रवपूर्वक होता है। जब समुद्घात कालमें केवली के आस्रव ही नहीं मानते हो तो बंध कैसे होगा ? यों प्रश्न करने पर तो आचार्य कहते हैं कि गृहीत हो चुकी कायवर्गणा को निमित्त पाकर हुए आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द का वहाँ सद्भाव है, जो कि उस बंध का निमित्त है अतः उस परिस्पन्द से वह सद्वेद्य का बंध हो जाता है। केवली समुद्घात काल में सूक्ष्मयोग माना गया है। उसको निमित्त पाकर स्वल्प बंध हो गया है। दण्ड आदि योग उस बंध का निमित्त नहीं है। अतः परिस्पन्द हेतुक बंध हो जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। किन्तु केवली समुद्घात के योग को आस्रव नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वहाँ काय, वचन और मनका अवलम्ब पाकर आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द नहीं हुआ है। यों सूक्ष्मतत्त्व का

विश्वास कर लेना चाहिये। अनेक सूक्ष्म विषयों में परिज्ञप्ति सूत्रियों अनुसारी सम्मतियों शिष्य को प्रतीति कर लेना समुचित है।

कायवाङ्मनःकर्मास्रव इत्येकमेव सूत्रमस्तु लघुत्वादिति चेन्न, योग आस्रव इति सिद्धांतोपदेशप्रत्याख्यानप्रसंगात्। तर्हि योग आस्रव इत्यस्तु निरवद्यत्वादिति चेन्न, केवलिसमुद्घातस्याप्यास्रवत्वप्रसंगात् तस्य लोके योगत्वेन प्रसिद्धेः संदेहाच्च कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव इत्यपि न श्रेयः, संदेहप्रसक्तेः। कायवाङ्मनःकर्म योग इत्यपि संकेतं कुर्यात् न चैवं तद्युक्तं तस्य योगलक्षणत्वेन निर्देशात्। संबंधस्यात्मनि निष्क्रियेऽपि भावात्स एवास्रवो युक्त इति चेन्न, आत्मनो निष्क्रियत्वनिराकरणात्तत्र तत्कर्मण एव भावात्। ततो योगविभाग एव श्रेयान् निःसंदेहार्थत्वात् तदन्यस्यापि योगस्यास्तित्वसंप्रतिपत्तेश्च।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि "कायवाङ्मनःकर्मास्रवः" शरीर वचन और मन का कर्म ही आस्रव है, इस प्रकार एक ही सूत्र बनाया जाओ, इसमें लाघव है, दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र होगा और तत् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन माने गये पुल्लिग सः शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त ग्रन्थों में योग आस्रव है ऐसा आम्नाय पूर्वक उपदेश चला आ रहा है उस आगम प्रसिद्ध अर्थ के परित्याग का प्रसंग आ जावेगा। आगम में योग को आस्रव और कर्मों के आगमन के कारण को योग कहा जा रहा है। अतः सूत्रकार को भी योग का लक्षण करते हुए उसी को आस्रव कहने के लिये बाध्य होना पड़ा है। धार्मिक उपदेशों की आम्नाय का प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये। पुन शंकाकार यदि यों कहे कि आम्नाय की रक्षा करते हुये सूत्रकार करके योग आस्रव है इतना ही सूत्र निर्दोष होने के कारण बनाया जाय अथवा कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव "काय, वचन, मन, इनका कर्म होना योग ही आस्रव है। योगविभाग नहीं करते हुये इस प्रकार दो सूत्रों का एक योग कर निर्दोष निर्देश हो जाओ। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो सम्पूर्ण योगों के आस्रवपन का प्रसंग आजावेगा। केवलिसमुद्घात के अवसर पर हुए औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाय योग, कार्मणकाययोगों को भी आस्रवपन का प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है। लोक में उस केवलिसमुद्घात के योगों की योगपने करके प्रसिद्धि हो रही है। यहाँ "सूक्ष्मयोगत्वेन प्रसिद्धेः" पाठ अच्छा दीखता है। श्री अकलंकदेवने राजवार्त्तिक में केवलिसमुद्घात काल के योगों को सूक्ष्मयोगपन की इष्टि करना लिखा है। एक बात यह और है कि संदेह हो जाने के कारण "कायवाङ्मनःकर्मयोगः आस्रवः" यह कहना भी श्रेष्ठ नहीं है। देखिये इसमें संदेह हो जाने का प्रसंग आता है कि काय, मन, वचनों, की क्रिया का सम्बन्ध हो जाना आस्रव है? या काय, वचन, मन, की क्रिया की एकाग्रता (समाधि) आस्रव है? अतः उक्त लाघव करने पर काय, वचन, मनों की क्रिया योग है यह भी संकेत करना पड़ेगा किन्तु इस प्रकार संकेत करना तो युक्त नहीं पड़ेगा। प्रत्युत उस शरीर, वचन, मन, के अवलम्ब से हुई आत्मा की क्रिया को योग का लक्षणपने करके कण्ठोक्त निरूपण करना आवश्यक पड़ जाता है। यदि कोई यों कहे कि योग का अर्थ सम्बन्ध माना जाय तब तो वैशेषिक मत अनुसार क्रिया रहित माने गये आत्मा में सम्बन्ध का सद्भाव है। अतः क्रियारहित आत्मा के साथ वह काय, वचन, मनों, की क्रिया का सम्बन्ध ही आस्रव माना जाय यह युक्त जचता है। ग्रन्थकार कहते

हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि आत्मा के क्रियारहितपन का निराकरण किया जा चुका है। उस आत्मा में उन मन, वचन, कायों के अवलम्ब से हुई प्रदेश परिस्पन्द स्वरूप क्रिया का सद्भाव है तिस कारण उद्देश्यदल और विधेयदल को धार रहे न्यारे न्यारे दो सूत्रों को बना कर योग विभाग करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है। सभी संदेहों का निकाल देना इस योग विभाग का प्रयोजन है। दूसरी बात यह है। कि दो सूत्र बनाने से इस सिद्धान्त की भी भले प्रकार प्रतिपत्ति हो जाती है कि आत्मा का योग नामक व्यापार केवल, शरीर, वचन मनों, के अवलम्ब से हुई क्रिया ही नहीं है साथ ही उनसे अन्य भी निराले योग का अस्तित्व है जो कि केवलीसमुद्घात काल में प्रसिद्ध है "फलमुख गौरवं न दोषाय" संदेह की निवृत्ति और अन्य योगका सद्भाव इन फलों को धार रहा यह दो सूत्र बनाने का गौरव दोषाधायक नहीं है।

कुतः पुनर्यथोक्तलक्षणो योग एवास्रवः सूत्रितो न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह।

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की आम्नाय अनुसार सूत्रकार ने जिस योग का लक्षण प्रथम सूत्र में कहा है केवल उस एक योग को ही द्वितीय सूत्र करके श्री उमास्वामी महाराजने क्यों आस्रव कह दिया है? मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,आदि को भी आस्रव कहना चाहिये था जब कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पाँचोंको बंध का हेतु माना गया है। बंध के सभी हेतुओं को आस्रव कहना चाहिये। किन्तु मिथ्यादर्शन आदि को आस्रव नहीं कह कर केवल योग को ही आस्रव मानना उचित नहीं दीखता है। इस प्रकार प्रश्न प्रवर्त्तनेपर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहते हैं उसको सुनिये।

स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम्।
पुंसोऽत्रानुप्रवेशेन मिथ्यात्वादेरशेषतः ॥ १ ॥

आत्मा के निकट कर्मों के आगमन का कारण वह आत्मा प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग ही यहाँ प्रकरण में आस्रव अच्छा कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि बन्धहेतुओं का सम्पूर्ण रूपसे इस योग में अनुप्रवेश हो जाता है इस कारण मिथ्यात्व आदि को कण्ठ से नहीं कहा है। अर्थात्–कर्म नोकर्मों के आगमन का कारण वस्तुतः योग ही है। आत्मा के मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, ये परिणाम तो उस योग में ही विशिष्टता को उपजा देते हैं, आत्मा के योग को जब मिथ्यादर्शन का प्रसंग मिल जाता है तो यह आत्मा "मिच्छत्त हुण्ड संढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं। सुहुमतियं वियलिंदीणिरयदु-णिरयाउगं मिच्छे" इन सोलह प्रकृतियों का बंध कर लेता है अन्यथा नहीं। असम्भव पदार्थ की भी कल्पनावश सम्भावना करने वाला कवि कह सकता है कि आत्मा में यदि योग नहीं होता और मिथ्यादर्शन, अविरति, बने भी रहते तो भी आत्मामें अणुमात्र का बंध नहीं हो सकता था अतः प्रधान शक्तिशाली योग को आस्रव कह देने से ही मिथ्यादर्शन आदि उस योग में ही अन्तर्भूत हो रहे समझ लिये जाते हैं।

मिथ्यादर्शनं हि ज्ञानावरणादिकर्मणामागमनकारणं मिथ्यादृष्टेरेव न पुनः सासादन-सम्यग्दृष्ट्यादीनां। अविरतिरप्यसंयतस्यैव कात्स्न्येनैकदेशेन वा। न पुनः संयतस्य, प्रमादोऽपि प्रमत्तपर्यंतस्यैव नाप्रमत्तादेः, कषायश्च सकषायस्यैव न शेषस्योपशांतकषायादेः, योगः पुनरशे-

पतेः सयोगकेवल्यंतस्य तत्कारणमिति स एवास्रव प्रोक्तोऽत्र शास्त्रे संक्षेपादशेषास्रवप्रतिपत्त्यर्थत्वान्मिथ्यादर्शनादेस्त्रैव योगेऽनुप्रवेशात् तस्यैव मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितस्य केवलस्य च कर्मागमनकारणत्वसिद्धेः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देखिये आत्मा का मिथ्यादर्शन परिणाम विचारा मिथ्यादृष्टि जीव के ही ज्ञानावरण, मिथ्यात्व प्रकृति, आदि कर्मों के आगमन का कारण है किन्तु फिर द्वितीय गुणस्थानवर्त्ती सासादन से सम्यग्दृष्टि या तृतीय गुणस्थानवर्त्ती सम्यङ्मिथ्यादृष्टि आदिक जीवों के ज्ञानावरण आदि का आस्रवण हेतु वह मिथ्यादर्शन नहीं है अतः मिथ्यात्व को कर्म आगमन का हेतु कह देने से अव्याप्तिदोष आ जायेगा। इसी प्रकार बंध का हेतु मानी गयी अविरति भी संयम रहित जीवों के ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आस्रवण हेतु है किन्तु फिर पूर्ण रूप से संयमी हो रहे छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अथवा एक देश करके देशसंयमी हो रहे श्रावक के ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण वह अविरति कथमपि नहीं है। प्रमाद भी मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त मुनियों पर्यन्त ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आगमन करता है किन्तु अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि संयमियों के निकट कर्मों का आगमन हेतु प्रमाद नहीं है। तथा कषाय भी दशमे गुणस्थान तक कषायवाले जीवों के ही कर्म बंध का हेतु हो सकेगी। शेष बच रहे ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्त्ती उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, और सयोग केवली जीवों के कर्म आगमन का हेतु कषाय नहीं है। हाँ, योग तो फिर मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त अशेषरूप से जीवों के उस कर्म, नोकर्मों के आगमन का कारण है इस कारण इस तत्त्वार्थ शास्त्र ग्रन्थ में सूत्रकार करके वह योग ही आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है चूंकि संक्षेप से सम्पूर्ण आस्रवों की प्रतिपत्ति हो जाना इसका प्रयोजन है। पृष्ठ लग्न मिथ्यादर्शन, अविरति आदि का इस योग में ही प्रवेश हो जाता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति आदि करके पीछे रंगे जा चुके केवल योग को ही कर्मों के आगमन का कारणपना सिद्ध है पीले लाल या हरे रंग से रंगा हुआ वस्त्र जैसे वस्त्र ही कहा जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से धड़ाधड़ कर्म नोकर्मों को खींच रहा योग भी पुनः मध्य मध्य में यथायोग्य मिथ्यादर्शन आदि भावों से रंगा जा रहा सन्ता भिन्न प्रकार के कर्मों का आगमनहेतु बन रहा है अतः योग को ही आस्रव कह रहे सूत्रकार के पूर्ववर्त्ती वचन का "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥" इस उत्तरवर्त्ती वचन के साथ कोई पूर्वापर विरोध दोष नहीं आता है।

कीदृशः स योगः पुण्यस्यास्रवः कीदृशश्च पापस्येत्याह ।

मानू कोई जिज्ञासु पूंछता है कि पुण्य, और पाप यों कर्म दो प्रकार के हैं सो बताओ कि किस प्रकार का वह योग पुण्य का आस्रव है ? और किस जाति का वह योग पाप के आस्रव का हेतु है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का परिभाषण करते हैं।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अहिंसा भाव, सत्य भाषण, शास्त्र विनय, आत्म चिंतन, आदि शुभ परिणामों से बनाया गया शुभ योग तो पुण्य का आस्रव हेतु है और हिंसा करना, झूंठ बोलना, मारने का विचार, आदि अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ अशुभ योग पाप का आस्रव (आस्रव हेतु) है।

सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्, मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात्। स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आस्रवो वेदितव्यः।

सम्यग्दर्शन, ब्रह्मचर्य, हित भाषण, तपोरुचि, आदि से अनुकूल होकर रंग दिया गया आत्म-प्रदेशकम्पस्वरूप योग तो शुभ योग है क्योंकि वह विशुद्धि का अंग है। अर्थात् वह शुभ योग विशुद्धि का कारण है, पूर्व विशुद्धि से उत्पन्न हुआ होने से विशुद्धि का कार्य है और स्वयं विशुद्धि स्वभाव है। तथा मिथ्यादर्शन, मैथुनप्रयोग, चोरी आदि से अनुरंजित हो रहा योग अशुभ योग समझा जाता है क्योंकि वह अशुभ योग संक्लेश का कारण और संक्लेश का कार्य तथा स्वयं संक्लेशस्वरूप होने से संक्लेश का अंग है। भावार्थ—जैसे ब्रह्मचर्य परिणाम पहिली आत्मविशुद्धि से उपजा है पीछे आत्मविशुद्धि का कारण है। ब्रह्मचर्य स्वयं तत्काल में विशुद्धि स्वरूप है। ब्रह्मचर्य से आनन्द उपजता है। इसकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, आदि स्वयं विशुद्धि, आनन्द, स्वरूप हैं। यह अभेदान्वय अच्छा जँचता है। इसी प्रकार व्यभिचार विभाव भी संक्लेश से उपजा है पुनः संक्लेश को उपजावेगा उस समय भी संक्लेश स्वरूप है। (दुःखमेव वा) व्यभिचार से दुःख होगा इसकी अपेक्षा व्यभिचार स्वयं दुःख है यह साहित्य अच्छा है। अतः ब्रह्मचर्ययुक्त आत्मा का व्यापार शुभ योग है और व्यभिचार युक्त आत्मकम्प अशुभ योग है। वह शुभ, अशुभ, योग भविष्य में कहे जाने वाले पुण्यकर्म और पापकर्म का आस्रव हो रहा समझ लेना चाहिये। अर्थात्—"सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं" "अतोऽन्यत्पापम्" इन सूत्रों अनुसार कहे जाने वाले पुण्य कर्म और पापकर्म का आस्रव हेतु शुभ योग और अशुभ योग हैं। यह तात्पर्य इस सूत्र द्वारा ज्ञात हो जाता है।

एतेन स्वस्मिन् दुःखं परत्र सुखं जनयन् च पुण्यस्य, स्वस्मिन् सुखं परस्मिन् दुःखं च कुर्वन् पापस्यास्रव इत्येकांतो निरस्तः। विशुद्धिसंक्लेशात्मकस्यैव स्वपरस्थस्य सुखासुखस्य पुण्य-पापास्रवत्वोपपत्तेरन्यथातिप्रसंगात्। तदुक्तं-"विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं। पुण्य-पापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः" ॥ इति तदेवं।

इस उक्त कथन करके इस एकान्त का भी निराकरण कर दिया गया है कि अपने में परोपकार, उपवास, तपस्या, तीर्थयात्रा, आतपनयोग, केशलोंच, कायोत्सर्ग आदि करके दुःख उपजा रहा और दूसरे जीवों में विनय, सत्कार, उपकार, स्तुति, आज्ञापालन, भोजन कराना, अनुकूलवर्तन, आदि करके सुख को उपजा रहा जीव पुण्य का आस्रव करता है तथा अपने में भोग, उपभोग, द्वारा सुख को कर रहा और दूसरे आत्माओं में हिंसा, झूंठ, चोरी आदि करके दुःख को कर रहा जीव पाप का आस्रव करता है तथा अन्य भी नीति, अनीति मार्गों का अवलम्ब लेकर स्व, पर, में सुख दुःख उपजाये जाते हैं। इनसे पुण्य, पाप, का आस्रव होता है यह एकान्त ठीक नहीं है। क्योंकि तपश्चरण, उपवास, आदि से कुछ स्व को दुःख भी होय किन्तु वे पुण्य या संवर के ही सम्पादक हैं और स्वानुभूति या स्वरूपाचरण से तो आत्मा को स्वयं विशेष आह्लाद उपजता है एतावता कोई पाप नहीं चढ़ बैठता है। गुरु यदि विद्यार्थी को थप्पड़ मार देता है या डाक्टर रोगी के फोड़े को चीर देता है एतावता गुरु या वैद्य को पाप नहीं लग बैठता है। सर्वत्र विशुद्धि और संक्लेश से पुण्य पाप के बंधों की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अपने या दूसरे में स्थित हो रहे विशुद्धि स्वरूप ही सुख दुःखों को पुण्य का आस्रवपना बनता है और

अपने में या दूसरे में स्थित हो रहे संक्लेश स्वरूप ही सुख दुःखों को पाप का आस्रवपना मान लेना उचित है। अन्यथा यानी इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारों से पुण्य पापों के आस्रव की व्यवस्था करने पर तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। अचेतन दूध, कांटे आदि भी पुण्य पापों से बँध जायंगे। वीतराग मुनि भी बंध को प्राप्त हो जायंगे जो कि इष्ट नहीं है। उक्त एकान्तों का खण्डन करते हुये श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में उस अनेकान्त को। यों कहा है कि स्व और पर में स्थित हो रहे सुख अथवा दुःख यदि विशुद्धि के अंग हैं तब तो पुण्य का आस्रव मानना उचित है तथा निज या दूसरे में किये जाकर प्रतिष्ठित हुए सुख दुःख, यदि आर्त्त, रौद्र परिणाम रूप संक्लेश के अंग हैं तब पाप का आस्रव हो जाना युक्ति पूर्ण है। यदि इस प्रकार व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तब तो तुम अर्हन्त देव के शासन में। सुख दुःख, उपजाना व्यर्थ पड़ेगा। अर्थात्—विशुद्धि अंग या संक्लेश अंग नहीं होने से कोई भी सुख, दुःख किसी भी कर्म का आस्रव नहीं करा सकते हैं। देवागम स्तोत्र में "पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः" पर प्राणियों में दुःख उपजाने से पाप का बंध और दूसरे जीवों में सुख उपजाने से यदि पुण्य का बंध माना जायेगा तब तो अचेतन हो रहे कांटे, कंकड़, लट्ठ आदि भी पाप से बंध जायंगे और दूध, पेड़ा, गदेला भूषण, आदि सुखकारक पदार्थ भी पुण्य का बंध कर लेगें अन्यथा तुम्हारा एकान्त हाथ से जाता है "पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः" यदि स्वयं अपने में दुःख उपजाने से पुण्य का बंध माना जाय और स्वयं सुख उपजाने से नियम से पाप का आस्रव माना जाय तब तो उक्त निमित्त अनुसार वीतराग सम्यग्ज्ञानी मुनि अथवा संतोषी विद्वान् भी उन पुण्य पापों से बंध जायंगे क्योंकि मुनि महाराज कायक्लेश, आतपनयोग, उपवास, केशलोंच, आदि करके स्व में दुःख उपजाते हैं तथा संतोष, स्वानुभूति, अलौकिक आत्मीय आनन्द अनुभव से विद्वान् को स्वयं सुख भी उपज रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो, केशलोंच, कायोत्सर्ग या परीषहों द्वारा वीतराग मुनि को उतना दुःख नहीं उपजता है जितना कि निर्बल पुरुष अनुमान लगाया करते हैं। पुत्र का विवाह करनेवाला पुरुष, पुत्र को उत्पन्न कर रही माता, धन को कमाने वाला व्यापारी, विद्या को उपार्जन करनेवाला छात्र, धान्य या भुस को उपजा रहा किसान इत्यादिक जीव ही अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि का ध्येय रखते हुये मध्यपाती दुःखों को जब नहीं गिनते हैं तो आत्म सिद्धि का परमलक्ष्य रखते हुये मुनिमहाराज को शृगाली या व्याघ्री भी भक्षण करती रहे एतावता उधर पीड़ा की ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं है। हाँ वेदना की ओर उपयोग जायेगा तो मुनि अपने ध्येय से स्खलित समझे जायेंगे इसी प्रकार उद्भट विद्वान् को शास्त्रों के रहस्य या संतोष, ख्याति, प्रतिष्ठा, जैनधर्म का गौरव आदि से अद्भुत अलौकिक आनन्द मिलता है। श्री जिनेन्द्रदेव की अर्चा करनेवाला, स्वाध्यायप्रेमी, तपस्वी, सत्यव्रती, ब्रह्मचारी, परोपकारी, निःस्वार्थ अध्यापक, गुरुविनयी, अतिथि सत्कारी, आदि जीवों को स्व संवेद्यविलक्षण आनन्द अनुभूत होता रहता है। हां जो साधु नामधारी अपना कान फाड़ लेते हैं एक हाथ को सदा ईश्वर के नाम पर ऊंचा उठाये रहते हैं, पंचाग्नि तपतपते हैं, ऐसे स्वकीय दुःखों से तो महापाप का बंध होता है तथा अन्यायपूर्वक भोगोपभोग भोगना, डांके चोरी से माल हड़पना, मद्यपान, आदि क्रियाओं द्वारा निज में सुख उपजाने से भी महान् पाप का आस्रव होता है किन्तु संतोष, अध्यापन, अर्चा, आदि द्वारा स्वकीय सुखों से अथवा उपवास, कायक्लेश, आदि स्वकीय दुःखों (दुःखाभासों) से पुण्य उपजता है। बात यह है कि विशुद्धि और संक्लेश अनुसार पुण्य पाप की व्यवस्था है-"विशुद्धसंक्लेशांगं" इत्यादि कारिका अनुसार भगवान् समन्तभद्राचार्य ने उक्त स्याद्वाद सिद्धान्त को ही पुष्ट किया है। आत्मा में जब वीतराग

भाव या परमविशुद्धि उपजती है तब तो पुण्य या पाप किसी का भी बंध नहीं होता है प्रत्युत संवर और निर्जरा होते हैं। यों पुण्य, पाप के आस्रव का सिद्धान्त निर्णीत हो चुका है तिस कारण इस प्रकार होने पर जो हुआ उसे आगे वार्तिक द्वारा सुनिये।

शुभः पुण्यस्य विज्ञेयोऽशुभः पापस्य सूत्रितः।
संक्षेपाद्द्विप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः॥ १॥

शुभ परिणामों से सम्पादित हुआ शुभ योग पुण्य का आस्रव समझ लिया जाय और अशुभ योग पाप का आस्रव हो रहा विशेषतया जान लिया जाय जो कि सूत्र द्वारा कह दिया है। संक्षेप से वह आस्रव दो प्रकार का भी है तथापि प्रत्येक वह आस्रव दो प्रकार का माना जाता है कारण दल में शुभ योग अशुभ योग अनुसार कार्य कोटि में भी आस्रव, पुण्यास्रव, पापास्रव दो दो प्रकार हैं अथवा काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इन तीनों आस्रवों में से प्रत्येक के पुण्यास्रव और पापास्रव यों दो दो भेद हैं। यहाँ "संक्षेपात्त्रिप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः" यह पाठ अच्छा जचता है। संक्षेप से वह आस्रव काय परिस्पन्द, वचनपरिस्पन्द, कायावलंब-आत्मप्रदेशपरिस्पंद, यों तीन प्रकार का भी हो रहा प्रत्येक के पुण्यास्रव, पापास्रव, यों दो दो भेदों अनुसार दो भेद वाला है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कायादियोगस्त्रिविधः शुभाशुभभेदात् प्रत्येकं स द्विविधोऽपि द्विविध एवास्रवो विज्ञेयः। पुण्यपापकर्मणोः सामान्यादाश्रूयमाणयोर्द्विविधत्वेन सूत्रितत्वात्।

काय अवलम्बी, वचन अवलम्बी, मन अवलम्बी यों योग तीन प्रकार का है। शुभ योग और अशुभ योग के भेद से वह प्रत्येक दो प्रकार का होता हुआ भी पुण्यास्रव और पापास्रव अनुसार दो प्रकार का ही समझ लेना चाहिये क्योंकि शास्त्रपरम्परा द्वारा सामान्य रूप से पुण्य और पाप इन दो कर्मों को ही आचार्य आम्नाय अनुसार सुना जा रहा है। परमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त और जाति अपेक्षा असंख्यात तथा उत्तर प्रकृति भेद अनुसार एकसौ अड़तालीस व उदय अपेक्षा एकसौ बाईस एवं बंध अपेक्षा एकसौ बीस कर्मों को पुण्यकर्म और पापकर्म यों दो ही प्रकारों करके सूत्रों द्वारा कहा गया है। इस छठे अध्याय के अन्तिम दो सूत्रों को देख लीजिये। यहाँ केवल पुण्यास्रव और पापास्रव इन दो भेदों का ही निरूपण किया गया है।

कुतः पुनः शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्यास्रवो जीवस्येति निश्चीयत इत्याह।

सूत्रकार ने उक्त सूत्र करके जो सिद्धान्त कहा है क्या वह राजाज्ञा के सदृश यों ही ननु, न च, कुतः, लगाये विना ही स्वीकार कर लिया जाय? यदि नहीं तो फिर बताओ कि जीव का शुभ योग पुण्य का आस्रव और अशुभ योग जीव के पाप का आस्रव है इस दर्शन का किस प्रमाणसे निर्णय कर लिया जाता है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रंथकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधानवचन को कहते हैं।

शुभाशुभफलानां नुः पुद्गलानां समागमः।
विशुद्धेतरकायादिहेतुस्तत्त्वात्स्वदृष्टवत्॥ २॥

शुभ और अशुभ फलों के सम्पादक पुद्गलों का आत्मा के निकट समागम होना (पक्ष) विशुद्ध

और उनसे न्यारे अविशुद्ध होरहे काय आदि हेतुओं से किया गया है (साध्य) तत्त्वात् यानी शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होने (हेतु) स्वयं अनुभूत कर देखे गये पथ्य, अपथ्य, भोजन आदि के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-जैसे आरोग्य या रोग के सम्पादक पथ्य, अपथ्य, पदार्थों का भोजन विचारा विशुद्ध, अविशुद्ध, कायादि करके ही हुआ सन्ता इष्ट अनिष्ट फलदायी पुद्गलों का समागम है उसी प्रकार आत्मा शुभ अशुभफल वाले पुद्गलों का समागम भी विशुद्ध और संक्लिष्ट काय, वचन, मन, करके किया है यह उक्त सूत्र के ऐदंपर्य में युक्ति कह दी गई है।

जीवस्य शुभफलपुद्गलानामास्रवो विशुद्धकायाध्यवसानाद्यंतरंगबहिरंगकृतः शुभफल-पुद्गलास्रवत्वात्स्वयं दृष्टशुभफलपथ्याहारादिसमागमवत्। तथैवाशुभफलपुद्गलसमागमो जीवस्या-विशुद्धकारणकृतः अशुभफलपुद्गलसमागमत्वात् स्वयं दृष्टाशुभफलापथ्याहारादिवदित्यनुमानात्त-न्निश्चयः। न तावदत्रासिद्धो हेतुः शुभस्य विशुद्धिरूपस्याशुभस्य च संक्लेशात्मनः परिणामस्य स्वसंवेदनसिद्धस्य कारणानां पुद्गलानां समागमस्य शुभाशुभफलस्य प्रसिद्धेस्तद्भवभावित्वान्य-थानुपपत्तेः।

जीव के शुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होरहा (पक्ष) विशुद्ध काय का अवलम्ब करना, वीर्यान्तराय क्षयोपशम, शरीर नामकर्म उदय, वाग्लब्धि, नो इन्द्रियावरणक्षयोपशम, शरीर, वर्गणायें, अविरति, कषाय, अध्यवसाय, द्रव्य, क्षेत्र, आदिक अन्तरंग कारणों करके किया गया है (साध्य) शुभ फलदायी पुद्गलों का आस्रव होने से (हेतु) स्वयं देखे जा चुके शुभ फलवाले पथ्य आहार, पुस्तक प्राप्ति, तीर्थ यात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, सुपुत्र लब्धि, निरवद्य यशोलाभ, आदि इष्ट पदार्थों के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त) प्रायः सम्पूर्ण इष्ट अर्थों की प्राप्ति का कारण विशुद्धि से अलंकृत होरहा पुण्य विशेष है। आहार, पान आदि का प्रयोग द्वारा जैसे आस्रव कर लिया जाता है उसी के कुछ सदृश योग्य पुत्र, पत्नी, यात्रावसर, वाणिज्य लाभ प्रकरण आदि का समागम भी उसी पुण्यशालिनी आत्म विशुद्धि से साध्य हो रहे कार्य हैं। यहाँ कर्मों के आस्रव पर विशेष लक्ष्य है। इस अनुमान से शुभ आस्रव का कारण साध दिया जाता है। तिसी प्रकार आत्मा के निकट अशुभ फल वाले पुरुषों का समागम (पक्ष) जीव के अविशुद्ध यानी संक्लिष्ट कारणों करके बनाया गया है (साध्यदल) अशुभफलवाले पुद्गलों का समागम होने से (हेतु) स्वयं देखे गये अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, अपथ्यपान, वेश्या प्रसंग, कंटक, टोटा, कलह कारिणी स्त्री, आदि पदार्थों की प्राप्ति के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इन उक्त दोनों अनुमानों से उस सूत्रोक्त अभिप्राय का निश्चय कर लिया जाता है। इन दो अनुमानों में प्रयुक्त किया गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है यानी पक्ष में हेतु ठहर जाता है क्योंकि स्वसम्बोधन प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध हो रहे विशुद्धि स्वरूप शुभ परिणाम और संक्लेशस्वरूप अशुभ परिणाम के कारण हो रहे पुद्गलों के शुभ अशुभ फल वाले समागम को मन्दमति पुरुषों को भी प्रसिद्धि हो रही है अन्यथा उक्त कार्य-कारण भाव नहीं माना जायेगा तो उन विशुद्ध या संक्लिष्ट कारणों के होने पर उन शुभाशुभ पुद्गलों के समागम का होना बन नहीं सकता है। यों हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव बन रहा है अन्वय, व्यतिरेक को घटित करते हुये कार्य कारणभाव भी इनमें संगत हो रहा है। यों पक्ष में प्रकृत हेतु वर्त रहा है।

ननु चात्मनि शुभाशुभफलपुद्गलसमागमस्यात्मविशेषगुणकृतत्वान्न शुभाशुभकायादियोगकृतत्वं युक्तमिति चेन्न, तस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामव्यतिरेकेणासंभवात् । धर्माधर्मौ तद्व्यतिरिक्तावेवेति चेन्न, भावधर्माधर्मयोर्विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वात् । द्रव्यधर्माधर्मयोः पुद्गलस्वभावत्वात्, समागमस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामानुगृहीतस्य कायादियोगकृतत्वोपपत्तेः । स्वप्रसिद्धशुभाशुभफलपथ्यापथ्याहारादिपुद्गलसमागमस्य तत्कृतत्वनिश्चयात्तदभावे सर्वथा तदनुपपत्तेः ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप पूर्वक प्रश्न करते हैं कि आत्मा में शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का समागम होना तो आत्मा के विशेष गुण हो रहे धर्म अधर्म, (अदृष्ट) करके किया गया है। आत्मा के बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, गुण भी सहायक हो सकते हैं इस कारण उक्त सूत्र अनुसार शुभाशुभ फल वाले पुद्गलों के आस्रव का शुभ अशुभ काययोग, वचनयोग और मनोयोग करके किया जाना उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस पुण्य पाप स्वरूप पुद्गलों के समागम हो जाने का विशुद्ध और संक्लेश परिणामों से अतिरिक्त अन्य कारणों करके असम्भव है। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से व्यतिरिक्त हो रहे धर्म, अधर्म नामक गुण हैं ही। आत्मा में पाये जा रहे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, इन नौ विशेष गुणों का आत्मा से सर्वथा भेद है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से भी अदृष्ट सर्वथा भिन्न है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जैन सिद्धान्त में पुण्य, पाप कर्मों के भाव कर्म और द्रव्य कर्म ये दो भेद माने गये हैं। कर्मों का उदय होने पर आत्मा के हुये क्षमा, दया, दान, स्वनिंदा, परनिंदा, स्वप्रशंसा, क्रोध, अज्ञान, रागद्वेष, आदि परिणाम तो भाव कर्म हैं और भाँग, गरिष्ठ भोजन, आदि के समान ज्ञानावरण आदि पुद्गल पिण्ड द्रव्य कर्म हैं। आत्मा के परिणाम हो रहे धर्म, अधर्म, स्वरूप पुण्य, पाप, हमारे यहाँ विशुद्धि और संक्लेश स्वरूप स्वीकार किये गये हैं तथा कार्मण स्कन्ध द्रव्य स्वरूप धर्म, अधर्म, को पुद्गलों का स्वभाव होना अभीष्ट किया गया है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से अनुग्रह को प्राप्त हुये उस कर्मनोकर्मों के आस्रव का काय आदि योगों करके किया जाना बन जाता है कारण कि स्वयं निज में प्रसिद्ध हो रहे शुभ फल वाले पथ्य आहार, विहार और अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, पान, आदि पुद्गलों के समागम का उन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि करके किया जाना निश्चित हो रहा है। उन काय आदि योगों का अभाव होने पर, अन्य सभी प्रकारों से उन पुद्गलों के आस्रव हो जाने की सिद्धि नहीं हो सकती है। वैद्यक विषय को थोड़ा भी जानने वाले स्त्री, पुरुष, या स्वास्थ्य का पाठ पढ़ने वाले विद्यार्थी इस बात का निश्चय कर लेते हैं कि शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का आगमन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि योगों द्वारा सम्पादित होता है अतः उक्त सूत्र का प्रमेय इन अनुमानों से सिद्ध कर दिया है।

द्वैविध्यात्तत्फलं चैवमास्रवो द्विविधः स्मृतः ।
कायादिरखिलो योगः सोऽसंख्येयो विशेषतः ॥३॥

यों योगों का द्विविधपना हो जाने से उसका फल और आस्रव भी दो प्रकार का शास्त्रों में कहा गया चला आ रहा समझा जाता है। अर्थात्—शुभ अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ योग दो प्रकार है तदनुसार आस्रव भी दो प्रकार है और पुण्य पाप फल भी दो प्रकार है वह काय योग, वचन योग,

मनोयोग, यों तीनों प्रकार का सम्पूर्ण योग तो विशेष रूप से परिगणित करने पर असंख्येय भेदों वाला है। अर्थात् विशुद्धि, अविशुद्धि, के कषायाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं इनसे विशिष्ट हो रहा योग असंख्यातासंख्यात प्रकार का है अथवा स्वयं व्यक्तिरूप से योग श्रेणी के असंख्यातमे भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात हैं "सेढि असंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि होंति सव्वाणि" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

ज्ञानावरणवीर्यांतराययोः कर्मणोरिह ।
क्षयोपशमतोऽनंतभेदयोः स्पर्द्धकात्मनोः ॥४॥
प्रादुर्भावादनंतः स्याद्योगोऽनंतनिमित्तकः ।
अनंतकर्महेतुत्वादनंतात्मास्रवत्वतः ॥५॥

अभव्य राशि से अनन्त गुणे और सिद्धराशि से अनन्तमे भाग कर्मप्रदेशोंके पिण्ड होरहे तथा अनन्त भेदों वाले स्पर्द्धक आत्मक तथा अनन्त भेदोंवाले ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से उत्पत्ति होनेके कारण यहाँ प्रकरण में योग अनन्त संख्या वाला भी समझा जायगा। अर्थात् अनन्तानन्त कर्मों के क्षयोपशम से उपजे हुये तीनों योगों को अनन्त प्रकार का कहा जा सकता है। जिस योग के निमित्त कारण अनन्तानन्त हैं वे कार्य होरहे योग भी अनन्तानन्त होंगे इनको अष्टसहस्री में इस सूक्ष्म-कार्यकारण भाव को निरखिये। अथवा दूसरी बात यह है कि श्रेणी के असंख्यातमे भाग प्रमाण योगों में से किसी भी योग से अनन्तानन्त कार्योंका आस्रव होता है अतः अनन्त कर्मोंके आगमन का हेतु होने से योग भी अनन्त प्रकार का कहा जायगा। कार्य अनन्त हैं तो कारण भी अनन्त होंगे। "भिन्नकार्याणां भिन्न-कारणप्रभवत्वावश्यम्भावात्" तथा तीसरी बात यह है कि अनन्तानन्त आत्माओं के निकट कर्मनोकर्मों का आस्रव करा रहे न्यारे न्यारे योग अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त संसारी आत्माओं में प्रत्येक के श्रेणी के असंख्यातमे भाग योगों में से प्रतिसमय कोई एक योग अवश्य होगा जबकि अनन्तानन्त जीव प्रतिक्षण योगों द्वारा कर्मों का आस्रव कर रहे हैं अतः वे योग व्यक्तिभेदेन अनन्तानन्त ही कहे जायेंगे। यों तीन उपायों का अनन्तानन्तपना व्यवस्थित कर दिया गया है।

असंख्येयोऽप्यसंख्याताध्यवसायात्मकोऽङ्गिनाम् ।
संख्यातश्च यथायोगं संक्षेपाद्विविधोऽप्यम् ॥६॥

संसारी प्राणियों के कषायाध्यवसाय स्थान जाति अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण हैं व्यक्ति रूप से या अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा भले ही अनन्तानन्त होवें अतः असंख्यात अध्यवसाय स्थान आत्मक होरहा योग भी असंख्यातासंख्यात संख्या वाला माना जायेगा तथा वह योग सामान्य रूप से एक प्रकार, दो प्रकार, पन्द्रह प्रकार, यों शब्दवाच्य संख्या का अतिक्रमण नहीं कर संख्यातभेद वाला भी है। अति-संक्षेप से भेदों की गणना करने पर यह योग यहाँ सूत्र में दो प्रकार भी कह दिया है जो कि भेदों की गणना का उपलक्षण है।

स्वामिद्वैविध्याच्च द्विविधो योग इत्याह ।

योगधारी स्वामियों के द्विविधपने से भी योग दो प्रकार का समझा जाता है—इस बात को स्वयं सूत्रकार अग्रिम सूत्रद्वारा स्पष्ट कह रहे हैं। साथ ही उन कर्मों के आस्रव की संज्ञा भी प्रसिद्ध कर दी जायगी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥४॥

क्रोध आदि कषायों के साथ वर्त रहे मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर दशमे गुणस्थान तक जीवों के संसारपर्यटन कारक साम्परायिक कर्मका आस्रव होता है और कषाय रहित हो रहे ग्यारहमे, तेरहमे गुणस्थान वाले जीवों के संसारभ्रमण नहीं कराने वाले ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् कषायवान जीवों के हो रहा आस्रव संसार वृद्धि का कारण है और अकषाय जीवों के एक समय स्थिति वाला सातावेदनीय कर्म का आस्रव तो केवल आना, चले जाना मात्र है। पहिले समय में सद्वेद्य का बंध होकर दूसरे समय में झटिति ही उसकी निर्जरा हो जाती है। पूर्वबद्ध कर्मों का उदय आने पर हुये अनुभाग रस में उस साता वेदनीय का मन्द अनुभाग भी सम्मिलित हो जाता है जो कि अविद्यमानवत् है।

यथासंख्यमभिसंबंधमाह ।

इस सूत्र के उद्देश्य विधेयदलों का यथासंख्य दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अर्थात् इतरेतरयोग वाले दो पदों का यथाक्रम से अन्वय लगा लो। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

ससांपरायिकस्य स्यात्सकषायस्य देहिनः।
ईर्यापथस्य च प्रोक्तोऽकषायस्येह सूत्रितः ॥५॥

देहधारी कषाय सहित जीव के वह साम्परायिक कर्म का आस्रव होगा और कषायरहित शरीरधारी जीव के ईर्यापथ कर्म का आस्रव होगा जो कि श्री उमास्वामी महाराज ने यहाँ प्रकरण में इस सूत्र से बहुत अच्छा कह दिया है।

इह सूत्रे स आस्रवः सकषायस्य जीवस्य सांपरायिकस्य कर्मणः स्यात्, अकषायस्यर्म पुनरीर्यापथस्येत्यास्रवस्योभयस्वामिकत्वात् द्वयोः प्रसिद्धिः ॥

इस सूत्र में कषायसहित जीव के साम्परायिक कर्मों का वह आस्रव होना कह दिया जाता है और अकषाय जीव के फिर ईर्यापथकर्म का आस्रव हो सकेगा बताया गया है। इस प्रकार आस्रव के दोनों स्वामियों के हो जाने से दोनों भेदों की प्रसिद्धि हो जाती है।

कषणादात्मनां घातात्कषायः कुगतिप्रदः ।
क्रोधादिः सह तेनात्मा सकषायः प्रवर्तनात् ॥२॥
कषायरहितस्तु स्यादकषायः प्रशांतितः ।
कषायस्य क्षयाद्वेति प्रतिपत्तव्यमागमात् ॥३॥

"कष हिंसायां" धातु से कषाय शब्द व्युत्पन्न किया है। आत्मा का या आत्मा के गुणों का कषण यानी घात कर देने से ये क्रोध आदिक कषाय कहे जाते हैं। क्रोध आदि चारों ही कषाय खोटी नरकगति और तिर्यग् गति को सुलभता से देते हैं। अर्थात् कषाय नाम सार्थक है। कृष् विलेखने धातु से भी प्राकृत "कसाअ" शब्द के उपयोगी उक्त शब्द बनाया जा सकता है। सुख दुःख स्वरूप धान्यों को उपजाने वाले लम्बे चौड़े संसार रूप कर्म खेत का कर्षण करने यानी जोतने के कर्ता क्रोध आदि कषाय हैं और "कष हिंसायां" धातु के अनुसार आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र गुणों का घात करने से चार कषायें कही जाती हैं। उन क्रोधादिकों के साथ प्रवृत्ति करने से आत्मा भी कषायसहित कहा जाता है। हाँ क्रोध आदि कषायों से रहित हो रहा जीव तो अकषाय होगा जो कि चारित्र मोहनीय कर्म के भेद हो रहे पौद्गलिक कषायों के उपशम से अथवा क्षय से वह अकषाय होता है। इस प्रकार सूक्ष्म प्रमेयों का प्रतिपादन करने वाले आगम से जीव का सकषायपन और कषायरहितपन भलेप्रकार समझ लेना चाहिये। आदि के गुणस्थान से दशमे गुणस्थान तक के जीव सकषाय हैं और शेष ऊपरले गुणस्थानों के जीव अकषाय हैं। ग्यारहमे गुणस्थान में कषायों का उपशम है और आगे के गुणस्थानों में क्षय है।

समंततः पराभूतिः संपरायः पराभवः।
जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकं ॥४॥
कर्म मिथ्यादृगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत्।
कषायपिच्छिले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते ॥५॥

सम · परा + इण् + घञ् + ठण् अथवा सम् + पर + इण् + अच् + ठण = यों साम्परायिक शब्द के व्युत्पत्ति अनुसार खण्ड हो सकते हैं। कर्मों करके जीव का समन्ततः यानी सब ओर से जो पराभव अर्थात्-तिरस्कार हो जाना है वह सम्पराय है यह निरुक्ति द्वारा सम्पराय का अच्छा अर्थ कह दिया है। यह सम्पराय जिसका प्रयोजन है वह कर्म साम्परायिक है। सम्पराय शब्द से प्रयोजन अर्थ में ठण प्रत्यय कर दिया है। मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त जीवों के कषाय का उदय होते सन्ते योग वश से आ रहे कर्म गीले चमड़े में धूल के समान स्थिति को प्राप्त करते हुये चुपट जाते हैं। कारण कि कषायों से सचिकण (लिबलिबे) होरहे जीव में कर्म स्थिति को प्राप्त होरहे सन्ते साम्परायिक कहे जाते हैं। गीला चमड़ा, गीला कपड़ा, कीच आदि में आपतित हो रही धूल कुछ काल की स्थिति को लिये हुये सम्बद्ध हो जाती है उसी प्रकार रागद्वेष, स्वरूप स्वकीय चिपकाहट से आत्म कर्मों को आबद्ध कर लेता है। वट वृक्ष का गीला, चिपकना, दूध जैसे अन्य पदार्थों के श्लेष का हेतु है अथवा बड़ की छाल, बहेड़ा, हर्र, फिटकिरी ये वस्त्र में टेसू, मंजीठ, आदि के रंग चिपट जाने के कारण हैं तथैव क्रोध आदिक परिणाम भी आत्मा के साथ कर्मों का श्लेष करा देते हैं।

ईर्या योगगतिः सैवं पन्था यस्य तदुच्यते।
कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्ककुड्येश्मवच्चिरं ॥६॥

योगमात्रनिमित्त तु पुंस्यास्रवदपि स्थितं ।
न प्रयात्यनुभागं वा कषायाऽसत्त्वतः सदा ॥७॥

ईर्यापथ शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है कि ईरण ईर्या "ईर गतौ कम्पने च" धातु से ण्य प्रत्यय कर ईर्या शब्द बना लिया जाय। ईर्या का अर्थ योगों अनुसार गति होना है। इस प्रकार जिस कर्म का वह ईर्या ही पन्था यानी द्वार है वह ईर्यापथ कर्म कहा जाता है। इस अकषाय जीव के जिस कर्म का आस्रव होता है वह ईर्यापथ कर्म समझा जाओ। सूखी भीत के पसवाड़े पर पत्थर का जैसे सम्बन्ध नहीं होसकता है उसी प्रकार अकषाय आत्मा में केवल योग को निमित्त पाकर आस्रव कर रहा भी कर्म चिरकाल तक तो स्थितिको प्राप्त नहीं होता है और अनुभाग को भी प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सर्वदा कषायों के उदय का सद्भाव नहीं है। "ठिदिअनुभागा कसाअदो होंति" कषायों से कर्मों के स्थितिबंध और अनुभागबन्ध होते हैं। ग्यारहमे, गुणस्थानों में योग को निमित्त पाकर सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है किन्तु उसमें स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते हैं हाँ योग द्वारा स्थूल शरीर, वचन और मन के उपयोगी आये हुये आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाओं के स्कंधों में तो स्थिति पड़ जाती है नोकर्मों की स्थिति पड़ने में अकषाय भाव कारण नहीं है। किन्तु "णवरि दु समयट्ठिदीणं गलिदवसेसा हु मेत्त ठिदिबंधो गुणहाणीणदिवड्ढं संचयमुदयं च चरिमह्मि" नोकर्मों की स्थिति के कारण तो वहाँ अकषाय जीवों के विद्यमान हैं। खाई हुई रोटी, दाल, या पिये गये दूध, पानी, आदि में प्रविष्ट हो रहीं आहार वर्गणाओं के अनुभाग या स्थिति बंध के कारण कुछ आत्मीय पुरुषार्थ और शारीरिक रचना विशेष हैं उसी प्रकार अन्य वर्गणाओं के स्थिति, अनुभागों में भी अन्तरंग बहिरंग, कारण जोड़ लेने चाहिये। श्रुतज्ञान का परिशीलन कीजिये, मन्थन करने से अमृत की प्राप्ति होगी।

कषायपरतंत्रस्यात्मनः सांपरायिकास्रवस्तदपरतंत्रस्येर्यापथास्रव इति सूक्तं । कथं पुनरात्मनः कस्यचित्पारतंत्र्यमपरस्यापारतंत्र्यं वात्मत्वाविशेषेऽप्युपपद्यत इत्याह ।

कषायों से पराधीन हो रहे आत्मा के साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है और उन कषायों के परतंत्र नहीं हो रहे आत्मा के ईर्यापथ नाम का आस्रव होता है। इस प्रकार उक्त सूत्र में श्री उमास्वामी महराज ने बहुत अच्छा कह दिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि जब जीवपना सम्पूर्ण सकषाय, अकषाय, आत्माओं में विशेषता रहित होकर एकसा है तो भी फिर किसी एक आत्मा का परतंत्र होना और दूसरी आत्मा का परतंत्र नहीं होना भला कैसे युक्त बन सकता है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

कषायहेतुकं पुंसः पारतंत्र्यं समंततः ।
सत्त्वांतरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥८॥
कषाविनिवृत्तौ तु पारतंत्र्यं निवर्त्यते ।
यथेह कस्यचिच्छांतकषायावस्थितिक्षणे ॥९॥

इस प्रकरण में जीव का सब ओर से परतंत्रपना (पक्ष) कषायों को हेतु मान कर उपजा है (साध्य) अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखता हुआ परतंत्रपना होने से (हेतु) जैसे कि यहाँ लोक में

कमल के मध्य में प्राप्त हुआ चक्षुरिन्द्रियविषयलोलुपी भ्रमर अपनी लोभ कषायों के अनुसार परतंत्र हो रहा है (अन्वयदृष्टान्त)। हां कषायों के उदय रूप से विशेषतया निवृत्ति हो जाने पर तो परतंत्रता निवृत्त हो जाती है जैसे कि यहाँ जगत् में किसी एक जीव के कषायों की शान्त अवस्था के समय में परतंत्रता नहीं पायी जाती है (व्यतिरेक दृष्टान्त)। यों अन्वय व्यतिरेक द्वारा जीवों की पराधीनता का कारण कषायों का उदय सिद्ध कर दिया है।

संसारिणो जीवस्य पारतंत्र्यं विवादापन्नं कषायहेतुकं सत्त्वांतरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्द-वाच्यत्वात् पद्ममध्यगभ्रमरस्य तत्पारतंत्र्यवत्। निःकषायस्य यतेर्दस्युकृतेन रक्षादिपरतंत्रत्वेन व्यभिचार इति चेन्न, सत्त्वांतरानपेक्षित्वेन विशेषणात्। वीतरागस्याघातिकर्मपारतंत्र्येणानेकांत इति चेन्न, तस्य पूर्वकषायकृतत्वात्।

संसारी जीव की विवाद में प्राप्त हो रही यह दृश्यमान परतंत्रता (पक्ष) स्वकीय कषायभावों को निमित्त पाकर उपज गई है (साध्य) अन्य जीवों की नहीं अपेक्षा रखते सन्ते परतंत्रता इस शब्द का वाच्य होने से (हेतु) कमल के मध्य में प्राप्त हो रहे भौंरे को उस कषाय हेतुक परतंत्रता के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस निर्दोष अनुमान से जीवों की परतंत्रता के अभ्यन्तर कारण का निरूपण कर दिया गया है। यदि यहां कोई व्यभिचार दोष उठावे कि कषाय रहित संयमी की चोर करके की गई रक्षा, धर्म्य ध्यान पालन, शरीर त्राण आदि की परतंत्रता करके व्यभिचार हो जायेगा। कोई अवसर पर ऐसा प्रकरण आ गया है जब चोर ने मुनि की रक्षा करने के अभिप्राय से मुनियों को रोक लिया था "प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणात्शूकरः स्वर्गमग्र्यं" पूर्व भव में मुनि आवास दान के अभिप्राय और इस भव में रक्षण के अभिप्राय करके शूकर ने सौधर्म स्वर्ग प्राप्त किया था यह दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वहां हेतु का अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखते हुये यह विशेषण घटित नहीं हो पाता है। हमने उस परतंत्रता का अन्य सत्त्वों की नहीं अपेक्षा रखनेवालेपन करके विशेषण दे रखा है जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखती हुई परतंत्रता होगी वह अवश्य स्वकीय कषायों से ही बनाई गई है। ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द स्वामीने आप्तपरीक्षा में भी शरीर आदि हीन स्थान का परिग्रह करना, क्रोधी, लोभी हो जाना, हँसना, रोना, मूर्खता, निर्बलता, मोह, आसक्ति, आदि पराधीनताओं का अन्तरंगकारण कषायों को बताया है। यदि पुनः कोई व्यभिचार दोष उठावे कि वीतराग हो रहे तेरहमे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अघाति कर्मों की परतंत्रता करके व्यभिचार आता है सयोग केवली परतंत्र तो हैं किन्तु उनके कषायों का उदय नहीं है। ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थान वाले मुनि भी कषायोदय के बिना ही अज्ञान, अदर्शन, के और अघातिया कर्मों के पराधीन हो रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वीतराग मुनियों की वह परतंत्रता भी पूर्व समयवर्त्ती कषायों करके की गई है। पहिली अवस्थाओं में हुई कषायों के अनुसार उन कर्मों में स्थिति और अनुभाग डाले थे। उन कर्मों का अब उदय आ रहा है अतः इस परतंत्रता में भी परम्परया कषाय कारण हैं अतः उक्त हेतु निर्दोष है।

महेश्वरसिसृक्षापेक्षित्वात्संसारिजीवपारतंत्र्यस्य सत्त्वांतरानपेक्षित्वमसिद्धमिति चेन्न, महेश्वरापेक्षित्वस्य संसारिणामपाकृतत्वात्।

यहाँ कोई वैशेषिक या नैयायिक हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष लगाते हैं कि संसारी जीवों की परतंत्रता तो महेश्वर की सृजने की इच्छा की अपेक्षा रखनेवाली है अतः अन्य जीवों की अपेक्षा नहीं रखनापन यह हेतु का विशेषण पक्ष में नहीं रहा इस कारण असिद्ध दोष हुआ। भले ही इसको विशेषणासिद्ध दोष कह दिया जाय। व्यास जी ने कहा है कि "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥" यह संसारी प्राणी अज्ञान है। अपने सुखदुःखों का स्वयं प्रभु नहीं है ईश्वर से प्रेरित होता हुआ पराधीन होकर स्वर्ग या नरक को चला जाता है। गीताकार ने भी कहा है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" कर्म ही करते जाओ उनका फल ईश्वर देगा यों ईश्वर की सिसृक्षा अनुसार सम्पूर्ण संसारी जीव पराधीन हो रहे हैं अतः जैनों का हेतु असिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकों को नहीं कहना चाहिये क्योंकि संसारी जीवों के महेश्वर या ईश्वर की सिसृक्षा के अपेक्षी होने का खण्डन कर दिया गया है। कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशाविशिष्टत्व आदि सभी हेतु दूषित हैं। पूर्व प्रकरणों में कार्यों के निमित्त कारणपने से ईश्वर को नहीं सधने दिया है। आप्त-परीक्षा में भी कर्तृवाद का बहुत अच्छा निराकरण कर दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो संसारी जीव अपने कषायभावों करके उपात्त किये गये कर्मों के उदय अनुसार पराधीन होरहे हैं। अनादि काल से धारा प्रवाह रूप करके कषायों से कर्मबन्ध और कर्मोदय से कषायें यों पराधीनता का अन्वय चला आ रहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नित्यशुद्धस्वभावत्वाज्जीवस्य कर्मपारतंत्र्यमसिद्धमिति चेन्न, तस्य संसाराभावप्रसंगात्। प्रकृतेः संसार इति चेन्न, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात् तस्या एव मोक्षस्यापि घटनात्। न च प्रकृतिरेव संसारमोक्षभागचेतनत्वाद्घटवत्। चेतनसंसर्गविवेकाभ्यां सा तद्भागेवेति चेत्, तर्हि यथाप्रकृतेश्चेतनसंसर्गात्पारतंत्र्यलक्षणः संसारस्तथा चेतनस्यापि प्रकृतिसंसर्गात् तत्पारतंत्र्यं सिद्धं, संसर्गस्य द्विष्ठत्वात्।

यहाँ पक्ष की असिद्धि को दिखलाते हुये सांख्य विद्वान् कहते हैं कि जीव सर्वदा शुद्धस्वभाव है। शुद्ध, उदासीन, भोक्ता, चेतयिता, द्रष्टा, ऐसा आत्मा हमारे यहाँ माना गया है अतः जीव का कर्मों करके परतंत्रपना सिद्ध नहीं है। इस कारण जैनों का हेतु आश्रयासिद्ध है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नित्य ही शुद्ध मानने पर उस आत्मा के संसार के अभाव हो जाने का प्रसंग आवेगा जो कि दृष्ट और इष्ट प्रमाण से विरुद्ध पड़ता है। यदि कपिल मतानुयायी यों कहें कि संसार में आत्मा तो अन्य सभी पदार्थों से अलिप्त रहता है जैसे कि जल से कमलपत्र अलग रहता है यह जो कुछ जन्म, मरण, इष्ट वियोग, और अनिष्ट संयोग, भूख, प्यास, अध्ययन, दान, पूजा, शरीर ग्रहण आदि अवस्था-स्वरूप संसार है यह सब सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति का है आत्मा निर्विकार है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों प्रधान के ही संसार होना मान लेने पर आत्मा की कल्पना करने के व्यर्थपन का प्रसंग आ जावेगा। मोक्ष भी उस प्रकृति की ही घटित हो जायगी सभी पुरुषार्थों को जब प्रकृति सम्भाल लेगी तो आत्मतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है। ऐसे अवसर को पाकर यदि सांख्य यों कह बैठें कि अच्छी बात है प्रकृति ही संसार और मोक्ष को धार लेगी हम आत्मा को संसारी या मुक्त मानते ही नहीं हैं। प्रकृति ही संसार करती है और प्रकृति ही आत्मा से चरितार्थाधिकार होकर मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्मा में ज्ञान, सुख, आदि का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं रहता है। केवल पुरुष का स्वरूप चैतन्य विद्यमान रहता है "चैतन्यं पुरुष-

स्य स्वरूपं, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं" ऐसे हमारे यहाँ आगम वचन हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना कारण कि प्रकृति ही (पक्ष) संसार और मोक्ष को धारने वाली कथमपि नहीं है (साध्य) अचेतन होने से (हेतु) घट के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा अचेतन प्रकृति के ही संसार या मोक्ष हो जाने का अभाव साध दिया गया है। यदि कापिल यों कहे कि चेतन पुरुष का संसर्ग हो जाने से वह प्रकृति ही उस संसार अवस्था को धार लेती ही है "तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिव"। तथा विवेकज्ञान यानी प्रकृति और पुरुष के भेद का परिज्ञान हो जाने से वह प्रकृति ही मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। गाय के गले में रस्सी ही बँध जाती है और रस्सी ही छूट जाती है एतावता गाय का बन्धन या मोचन कह दिया जाता है वस्तुतः गाय अपने स्वरूप में वैसी की वैसी ही है। आचार्य कहते हैं कि यों कहो तब तो जिस प्रकार चेतन का संसर्ग हो जाने से प्रकृति का आत्मा के परतंत्र हो जाना स्वरूप संसार होना माना गया है उसी प्रकार प्रकृति का संसर्ग हो जाने से चेतन आत्मा का भी उस प्रकृति के पराधीन होजाना स्वरूप संसार सिद्ध हुआ जाता है क्योंकि कोई भी संसर्ग होय वह दो में अवश्य ठहरता है दो आदि पदार्थों से न्यून अर्थ में सम्बन्ध नहीं ठहर पाता है यों जैन सिद्धान्त अनुसार आत्मा और कर्म दोनों के ही संसार या मोक्ष होना घटित हो जाता है। मलिन सुवर्ण या वस्त्र से मल जब लग जाता है तब दोनों ही स्वकीय गुणों से च्युत होकर विभावपरिणति को धार लेते हैं और प्रयोगों द्वारा मल को अलग कर देनेपर शुद्ध सुवर्ण या स्वच्छ वस्त्र के समान मल भी अपने स्वरूप में निमग्न हो रहा झगड़े टण्टों से रहित होकर मुक्त होजाता है अतः आत्मा के भी परतंत्रता स्वरूप संसार सिद्ध हुआ इस बात को सांख्य स्वीकार करें हम स्याद्वादी तो प्रथम से ही पुद्गल की मोक्ष स्वीकार करते हैं "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्र की सैंतालीसवीं वार्त्तिक को देखो अतः हमारा उक्त हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नन्वेवं प्रकृतिपारतंत्र्येण व्यभिचारस्तस्य कषायहेतुकत्वाभावादिति न मंतव्यं, कापिलानां कषायस्य क्रोधादेः प्रकृतिपरिणामतयेष्टत्वात् तत्पारतंत्र्यस्य कषायहेतुकत्वसिद्धेः। स्याद्वादिनां तु कषायस्य जीवपरिणामत्वेऽपि कर्मलक्षणप्रकृतेः पारतंत्र्यस्य तत्प्रकृतत्वोपपत्तेः कथं तेन व्यभिचारः? कषायपरिणामो हि जीवस्य कर्मणां बंधमादधानो यथा तत्पारतंत्र्यं कुरुते तथा कर्मणोऽपि जीवपरतंत्रत्वमिति न व्यभिचारिसाधनं कषायहेतुकत्वनिवृत्तौ निवर्तमानत्वादन्यथा मुक्तात्मनोऽपि पारतंत्र्यप्रसंगात्। जीवन्मुक्तस्यापि हि शांतकषायावस्थाकाले पारतंत्र्यनिवृत्तिरुपलभ्यते। "जीवन्नेव हि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते" इति प्रसिद्धेः।

यहाँ कपिल पुनः उक्त हेतु में व्यभिचार दोष उठाते हैं कि आप जैनों के "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्दवाच्यत्वात्" हेतु का प्रकृति की परतंत्रता करके व्यभिचार दोष आता है। देखिये संसार अवस्था में प्रकृति परतंत्र होरही है किन्तु वह परतंत्रता विचारी कषायों को हेतु मान कर उपजी नहीं है कषायें तो जीव के हो सकती हैं जड़ प्रकृति के नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि आप कपिल मतानुयायियों के यहाँ क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि कषायों को प्रकृति का परिणाम होरहेपन करके इष्ट किया गया है प्रसन्नता, लाघव, राग, द्वेष, मोह, दीनता, शोक, ये सब विकार उस सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणवाली प्रकृति के परिणाम माने गये हैं अतः उस प्रकृति के परतंत्रपन का कषाय नामक हेतुओं से उपजना सिद्ध हो जाता है। हम जैनों के यहाँ तो प्रथम से ही प्रमाण और व्यवहार नय के विषयोंका प्रतिपादन करने वाले तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोमट्टसार, आदि में तो क्रोध आदि को आत्मा का ही विभाव परिणाम कहा है। हाँ निश्चय नय के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करने वाले समय-

सार ग्रन्थ में क्रोध आदि को पुद्गल का विकार कह दिया है उसकी अपेक्षा को समझ लेना योग्य है। किन्तु सांख्यों के यहाँ तो क्रोध, हर्ष, अहंकार, लोभ को प्रकृति का सर्वांग विवर्त इष्ट किया है अतः कापिलों को तो व्यभिचार दोष कथमपि नहीं उठाना चाहिये। बात यह है कि स्याद्वादियों के यहाँ भले ही कषाय को जीव का परिणाम होना माना गया है तो भी कर्मस्वरूप प्रकृति का परतंत्रपना उस कषाय करके किया गया बन जाता है अर्थात्–कषायें जीव को परतंत्र करती ही हैं साथ ही उन कषायों करके जीव के साथ बंध गई कर्मस्वरूप प्रकृति भी उन कषायों द्वारा ही पराधीन हो सकी है अतः उस प्रकृति या प्रकृतिबंध को प्राप्त हुये कर्मों की उस परतंत्रता करके भला किस प्रकार व्यभिचार हो सकता है? अर्थात्—नहीं? कारण कि जीव का कर्मों के साथ बंध को आधान कर रहा कषाय परिणाम जिस प्रकार उस जीव की परतंत्रता को कर देता है उसी प्रकार कर्मों का भी जीवों के पराधीन बने रहने को कर देता है। गीले चून में पड़ा हुआ पिसा नोंन जैसे चून को अपने पराधीन कर देता है उसी प्रकार स्वयं नोंन भी चून के पराधीन हो जाता है इस कारण हमारे हेतु नोंनों का हेतु व्यभिचार दोष वाला नहीं है। व्यभिचार दोष के निवारणार्थ हेतु में विपक्षव्यावृत्ति घटित हो रही है। साध्य हो रहे कषाय हेतुकत्व की निवृत्ति होनेपर "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति परतंत्रपन" हेतु की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। अर्थात्—जो कषायों को हेतु मानकर नहीं उपजा है वह परतंत्र नहीं है। रुपया को सन्दूक या तिजोरी में बंद कर दो, रत्न को डिब्बी में बंद कर दो एतावता वे कोई परतंत्र नहीं हैं। परतंत्रपना प्रायः जीवों में ही लागू होता है। एक बात यह भी है कि जहाँ कहीं भी रुपया, द्वयणुक, रत्न, आदि हैं वे स्वाधीन हैं अन्य प्राणियों ने उन रुपये आदि को यदि पराधीन कर दिया है तो "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति" यह हेतु का विशेषण उसकी व्रण चिकित्सा कर देता है। कषायों के दूर हो जाने पर अवश्य ही परतंत्रता दूर हो जाती है अन्यथा यानी कषायों की निवृत्ति हो जाने पर भी यदि परतंत्रता मानी जायेगी तो मुक्त आत्मा के भी पुनः परतंत्र बने रहने का प्रसंग आ जावेगा जोकि किसी को भी इष्ट नहीं है जब कि कषायों की उपशान्त अवस्था या क्षीण अवस्था हो जाती है उस अवसर पर ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानवाले मुनि के ही परतंत्रता की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। कषायों का क्षय हो जाने पर तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवाले जीवित होकर भी मुक्त हो रहे जीवन्मुक्त सर्वज्ञ के परतंत्रता की निवृत्ति प्रतीत हो जाती है। अन्य दर्शन वाले भी स्वीकार करते हैं कि जीवित हो रहा ही विद्वान् (सर्वज्ञ) संहर्ष यानी राग या लौकिक सुख और आयास यानी द्वेष या दुःख से विशेषरूपेण मुक्त हो जाता है। "वि" का अर्थ यहाँ वर्तमान में स्वल्प भी राग द्वेष का सद्भाव नहीं पाया जाकर भविष्य के लिये भी राग, द्वेष, का सर्वथा परिक्षय है। यह सिद्धान्त सभी दार्शनिकों के यहाँ प्रसिद्ध है यों व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा भी प्रकृत हेतु का व्यतिरेक गुण पुष्ट कर दिया गया है।

साध्यसाधनविकलमुदाहरणमिति च न शंकनीयं, पद्ममध्यगतस्य भृंगस्य तद्गंधलोभकषायहेतुकत्वेन तत्संकोचकाले पारतंत्र्यसत्त्वांतरानपेक्षिणः प्रसिद्धत्वात्। ततोऽनवद्यमिदं साधनं।

उक्त अनुमान में कहा गया पद्म के मध्य में प्राप्त होरहा भौंरा यह दृष्टान्त तो साध्य और साधन से रीता है इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि पद्म के मध्य में प्राप्त होरहे भ्रमर की उस कमल गन्ध में लग रही लोभ कषाय को हेतु मान कर हुई परतंत्रता की बालकों तक को प्रसिद्धि है जो कि परतंत्रता अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखती है इस कारण गन्ध की लोभ कषाय अनुसार कमल में बैठे हुये पुनः सूर्य अस्त हो जाने पर संकुचित हुये पद्म में परतंत्र हो गये भौंरे में अन्य प्राणियों

की नहीं अपेक्षा रखता हुआ परतंत्रपना हेतु भी रह जाता है और कषायहेतुकपना साध्य भी ठहर जाता है तिस कारण उक्त हेतु निर्दोष है जो संसारी जीव की परतंत्रता का कषायों द्वारा होना साध देता है हाँ जो अकषाय जीव हैं वे परतंत्र नहीं हैं।

तत्र सांपरायिकास्रवस्य के भेदा इत्याह।

सूत्रकार के प्रति किसी शिष्य का प्रश्न है कि महाराज बताओ कि आदि में कहे गये साम्परायिक आस्रव के कौन कौन से भेद हैं? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर उन भेदों का परिज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अपने विषयों में व्यापार कर रहीं पाँच संख्या वाली स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, ये इन्द्रियां और चार संख्यावाले क्रोध, मान, माया, लोभ ये आगे कहे जाने वाले कषाय तथा पाँच संख्या वाले हिंसा से अविरति, झूंठ से अविरति, चोरी से अविरति, अब्रह्म का अत्याग और परिग्रह का अप्रत्याख्यान स्वरूप ये अव्रत एवं सम्यक्त्व क्रिया आदि पचीस संख्या वाली क्रियायें ये उन्तालीस पूर्व-साम्परायिक आस्रव के भेद हैं अर्थात् कषायसहित जीवों के इनके द्वारा आस्रव होता है।

इन्द्रियाणि पंचसंख्यानि कषायाश्चतुःसंख्याः अव्रतानि पंचसंख्यानि क्रियाः पंचविंशतिसंख्या इति यथासंख्यमभिसंबंधः।

"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" इस इतरेतर योग समास वाले उद्देश्य दल का "पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः" इस विधेय दल के साथ यथाक्रम से अन्वय करने पर यों अर्थ कर लिया जाता है कि पाँच संख्या वाली भाव इन्द्रियां हैं कषायों की संख्या चार है पाँच संख्या वाले अव्रत हैं क्रियाओं की गणना पचीस है। इस प्रकार उद्देश्य, विधेय, पदों की संख्या के अनुसार दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

सांपरायिकमत्रोक्तं पूर्वं तस्येंद्रियादयः।
भेदाः पंचादिसंख्याः स्युः परिणामविशेषतः ॥१॥

यहाँ प्रकरण में सकषाया आदि सूत्र अनुसार पहिले साम्परायिक आस्रव कहा जा चुका है उसके पाँच आदि संख्यावाले इन्द्रिय आदिक चार भेद हो सकते हैं जो कि अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार हुई आत्मा की विशेष परिणतियों से उन्तालीस प्रकार होजाते हैं।

न हि जीवस्येंद्रियादिपरिणामानां विशेषोऽसिद्धः परिणामित्वस्य वचनात्। कारणविशेषापेक्षत्वाच्च स्पर्शादिषु विषयेषु पुंसः स्पर्शनादीनि पंच भावेंद्रियाणि तदुपकृतौ वर्तमानानि द्रव्येंद्रियाणि पंचेंद्रियसामान्योपादानादुक्तलक्षणानि प्रत्येतव्यानि।

जीव के इन्द्रिय कषाय आदि विशेष परिणतियों का होना असिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये आर्ष शास्त्रों में जीव के परिणामीपनका निरूपण किया गया है अर्थात् "परिणमदिकमेणप्पा" "जीवकृतं परिणामं" परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि, परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या, परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च" जीव के परिणाम होने का प्रतिपादन करने वाले ऐसे आगमवाक्य मिलते हैं। स्वयं सूत्रकारने जीव को द्रव्य कहते हुये गुणपर्यायवाले पदार्थ को द्रव्य कहा है हम जैन तो सांख्यों के समान आत्मा को कूटस्थ नहीं मानते हैं अतः परिणामी आत्मा के इन्द्रियाँ, कषाय, अव्रत और क्रियायें ये विवर्त सम्भव जाते हैं। एक बात यह भी है कि ये इन्द्रिय आदिक आस्रव के द्वार अन्य कारण विशेषों की अपेक्षा रखते हैं अतः कारण विशेषों की अपेक्षा रखने वाला कोई परिणाम विशेष यानी कार्य ही हो सकता है आत्मा की स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियां इन स्पर्श आदि विषयों में प्रवर्त रही हैं उन भावेन्द्रियों का उपकार (सहायता) करने में व्यापार कर रहीं पाँच द्रव्येन्द्रियां हैं जिनके कि लक्षण या भेदों का निरूपण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है यहाँ सूत्र में सामान्य रूप करके "इन्द्रिय" पद का ग्रहण कर देने से भावेन्द्रियों के साथ द्रव्येन्द्रियां भी पकड़ ली जाती समझ लेनी चाहिये भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों द्वारा भी आस्रव होता है भावेन्द्रियों के उपयोग के बिना अकषाय जीवों की द्रव्येन्द्रियां आस्रव की सहायक नहीं हो पाती हैं।

तानि वीर्यांतरायेंद्रियज्ञानावरणक्षयोपशमान्नामकर्मविशेषोदयाच्चोपजायमानानि कषायेभ्यो मोहनीयविशेषोदयादुत्पद्यमानेभ्यः कथंचिद्भिद्यंतेनियतविषयत्वाच्च। कषायाः पुनरनियतविषया वक्ष्यमाणास्ततो भिन्नलक्षणानि हिंसादीन्यव्रतानि च वक्ष्यंते। क्रियास्तत्राभिधीयंते पंचविंशतिः।

अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय और इन्द्रियज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग आदि विशेष नामकर्म उदय से उपज रही सन्ती वे पांचों द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियाँ इन मोहनीय कर्म की विशेष प्रकृतियों के उदय से उपज रहे क्रोध आदि कषायों से कथंचित् भेद को प्राप्त हो रही हैं कषायों से इन्द्रियों के भिन्न होने में एक यह भी कारण है कि पांचों इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द, नियत हैं। हाँ मन का विषय नियत नहीं है जो कि यहां पांच इन्द्रियों में प्रथम से ही नहीं गिना गया है किन्तु अग्रिम ग्रन्थ में कही जाने वाली कषायें तो फिर नियत विषय वाली नहीं हैं। चाहे जिस किसी पदार्थ पर लोभ या क्रोध किया जा सकता है मायाचार और अभिमान भी सभी पदार्थों में किये जा सकते हैं जैसे कि मन इन्द्रिय द्वारा चाहे जिसका विचार कर लिया जाता है तिस कारण इन्द्रियों से कषाय भिन्न हैं तथा हिंसा, अनृत आदि अव्रत आगे सातमे अध्याय में कहे जायेंगे, ये पांच अव्रत भी उन इन्द्रियों और कषायों से भिन्न लक्षण वाले हैं। त्रसहिंसा, संकल्पीहिंसा, स्थूलझूंठ, परस्त्री आदि के परित्याग की यदि कोई प्रतिज्ञा नहीं ली है तो जीवों की निरर्गल अव्रत स्वरूप परिणति है जैसे कि पूजन, अध्ययन, दान, नहीं करने वाले श्रावकों की पुण्य क्रिया नहीं करना स्वरूप प्रमाद परिणतियां अशुभ कर्मों का आस्रव कराती रहती हैं। पच्चीस क्रियायें भी उक्त तीनों से निराली हैं। इन्द्रिय विषय लोलुपता, क्रोधादि कषायें, हिंसा आदि अव्रत, और सम्यक्त्व मिथ्यात्व, आदि क्रियायें ये सब आत्मा की परिणतियां न्यारी-न्यारी अनुभूत हो रही हैं। विवेक ज्ञानियों को ये उन्तालीस भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं जो कि साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। अब ग्रन्थकार उन भेदों में कहीं गई पच्चीस क्रियाओं को अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं सो सुनिये।

तत्र चैत्यश्रुताचार्यपूजास्तवादिलक्षणा ।
सम्यक्त्ववर्धनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया ॥२॥
कुचैत्यादिप्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्धनी ।
सा मिथ्यात्वक्रिया बोध्या मिथ्यात्वोदयसंस्तुता ॥३॥
कायादिभिः परेषां यद्गमनादिप्रवर्तनं ।
सदसत्कार्यसिद्ध्यर्थं सा प्रयोगक्रिया मता ॥४॥

उन पच्चीस क्रियाओं में पहिली सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, प्रयोग क्रिया, समादान क्रिया, ईर्यापथ क्रिया, ये पांच क्रियायें हैं तहां जिन विम्ब, आप्तोपज्ञशास्त्र, निर्ग्रन्थ आचार्य, इनकी पूजा करना, स्तुति करना, दर्शन करना, ध्यान करना आदि स्वरूप प्रशंसनीय सम्यक्त्व क्रिया है जो कि विद्वानों करके सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली समझी गई है। तथा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि की प्रतिष्ठा करना, श्री जिनेन्द्र देव के अतिरिक्त अन्य देवताओं की स्तुति करना, पूजा करना आदि जो भी कोई मिथ्यात्व को अधिक बढ़ाने वाली क्रियायें हैं वह मिथ्यात्व क्रिया है जो कि पूर्व में बँधे हुये मिथ्यात्व कर्म के उदय को अच्छा आश्रय पाकर हुई मिथ्यादृष्टि जीवों के यहां प्रख्यात हो रही समझ लेनी चाहिये। प्रशस्त और अप्रशस्त कार्यों की प्रसिद्धि करने के लिये काय, वचन, आदि करके दूसरे जीवों की जो गमन, आगमन, आदि प्रवृत्ति करा देना है वह तीसरी प्रयोग क्रिया मानी गयी है।

नुः कायवाङ्मनोयोगान्नो निवर्तयितुं क्षमाः ।
पुद्गलास्तदुपादानं स्वहेतुद्वयतोऽथवा ॥५॥
संयतस्य सतः पुंसोऽसंयमं प्रति यद्भवेत् ।
आभिमुख्यं समादानक्रिया सा वृत्तघातिनी ॥६॥
ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका ।
इति पंचक्रियास्तावच्छुभाशुभफलाः स्मृताः ॥७॥

अपने अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम एवं अंगोपांग कर्म का उदय तथा बहिरंग कारण माने गये योग वर्गणा, भोजन, आदि यों दोनों कारणों से आत्मा के काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इनकी निवृत्ति नहीं कराने के लिये अर्थात्—योगों अनुसार मन, वचन, काय, को बनाने के लिये समर्थ हो रहे जो पुद्गल हैं उनका ग्रहण करना समादान क्रिया है। अथवा संयमी हो रहे सन्ते प्रशस्त आत्मा का जो अविरति के प्रति अभिमुख होना है वह समादान क्रिया है वह चारित्र का घात करने वाली मानी गयी है। उस ईर्यापथ यानी जीवदया पालते हुये धर्मार्थ मार्ग में चल रहे संयमी की गमन कर्म को हेतु मान कर उपजी हुई क्रिया तो उन क्रियाओं में पांचमी ईर्यापथ क्रिया अच्छी कही गयी है। इस प्रकार कोई शुभ फलों और अशुभ फलों को देने वाली ये पहिली पांच क्रियायें तो ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण की जा रहीं चली आ रही हैं।

क्रोधावेशात्प्रदोषो यः सांतः प्रादोषिकी क्रिया ।
तत्कार्यत्वात्सहेतुत्वात् क्रोधादन्या ह्यनीदृशात् ॥८॥

प्रादोषिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, यह दूसरा क्रिया पंचक है तिनमें क्रोध का आवेश आजाने से जो हृदय में दुष्टता रूप प्रदोष उपजता है वह अन्तरंग की प्रादोषिकी क्रिया है। यदि यहाँ कोई यों कटाक्ष करे कि कषायों में क्रोध गिना ही दिया गया है फिर क्रियाओं में क्रोध स्वभाव प्रादोषिकी क्रिया का ग्रहण करना तो पुनरुक्त हुआ, आचार्य समझाते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि प्रादोषिकी क्रिया में क्रोध कारण पड़ता है उस क्रोध का कार्य प्रादोषिकी क्रिया है विशेषता यह भी है कि क्रोध तो कदाचित् सर्प, भेड़िया, आदि के बिना कारण ही उपज जाता है किन्तु प्रदोष यानी दुष्टता या पिशुनता तो कुछ न कुछ निमित्त पाकर उपजती हैं अतः हेतुसहित हो रही होने के कारण इस प्रादोषिकी क्रिया सारिखे नहीं होरहे क्रोध कषाय से यह प्रदोष क्रिया भिन्न है।

प्रदुष्टस्योद्यमो हंतुं गदिता कायिकी क्रिया ।
हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया ॥९॥
दुःखोत्पादनतंत्रत्वं स्यात्क्रिया पारितापिकी ।
क्रिया सा तावता भिन्ना प्रथमा तत्फलत्वतः ॥१०॥
प्राणातिपातिकी प्राणवियोगकरणं क्रिया ।
कषायाच्चेति पंचैताः प्रपत्तव्याः क्रियाः पराः ॥११

प्रदोष करके युक्त होरहे सन्ते बढ़िया दुष्ट पुरुष का दूसरों को मारने के लिये जो उद्यम करना है वह कायिकी क्रिया कही गयी है। तथा हिंसा के उपकरण होरहे शस्त्र, विष, आदि का ग्रहण करना अधिकरण क्रिया मानी गयी है। दूसरे प्राणियों को दुःख उपजाने पर उसके अधीन जो परिताप होत है वह पारितापिकी क्रिया है तितने से ही वह पहिली क्रिया भिन्न हो जाती है क्यों कि वह उसका फल है। अर्थात् क्रोध के आवेश से दूसरे को मारने का उद्यम किया गया उससे हिंसा के उपकरणों को पकड़ा पुनः उससे जीवों को दुःख उपजाया यों उक्त क्रियायें परस्पर में एक दूसरे से भिन्न हैं। पांचमी आयुः प्राण, इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, और श्वासोच्छ्वास प्राण इनका वियोग कर देना प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँचों ही क्रियायें कषायों से भिन्न समझ लेनी चाहिये। कषायें कारण हैं और उक्त पाँचों क्रियायें कार्य हैं अन्य अव्रत आदि से भी ये क्रियायें भिन्न हैं।

रागार्द्रस्य प्रमत्तस्य सुरूपालोकनाशयः ।
स्याद्दर्शनक्रियास्पर्शे स्पृष्टधीः स्पर्शनक्रिया ॥१२॥
एते चेंद्रियतो भिन्ने परिस्पंदात्मिके मते ।
ज्ञानात्मनः कषायाच्च तत्फलत्वात्तथाऽव्रतात् ॥१३॥

क्रियाओं का तीसरा पंचक दर्शन क्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपातन क्रिया और अनाभोग क्रिया इस प्रकार है। राग से द्रवीभूत हो गये प्रमादी जीव का रमणीय पदार्थ के सुन्दर रूपों के आलोकन करने में अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है। छूने योग्य पदार्थ के स्पर्श करने में रागी जीव की जो छूते रहने के लिये बुद्धि होना (टकटकी लगे रहना) है वह स्पर्शन क्रिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि पाँच इन्द्रियों में चक्षुःइन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय को गिन लिया गया है उन्हीं में ये दर्शन, स्पर्शन, क्रियायें गतार्थ होजावेंगी यों उनका पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है अथवा कषायों या अव्रतों में भी इन क्रियाओं का अन्तर्भाव हो सकता है पृथक् इनका निरूपण क्यों किया जा रहा है ? इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि अपरिस्पन्द आत्मक इन्द्रियों से ये परिस्पन्द आत्मक दोनों क्रियायें भिन्न मानी गयी हैं पहिले पाँच इन्द्रियों में ज्ञान आत्मक इन्द्रियों का ग्रहण है किन्तु यहाँ इन्द्रियविज्ञान पूर्वक हुये दर्शन, स्पर्शन आत्मक परिस्पन्द को क्रियाओं में लिया गया है अतः ज्ञान आत्मक इन्द्रियों से ये क्रियायें भिन्न हैं। यह भी एक तर्क है। तथा कषाय या अव्रतों से भी उक्त क्रियायें भिन्न हैं क्योंकि ये क्रियायें उन अव्रत और कषायों के फल हैं "तेषां फलानि तत्फलानि तेषां भावस्तत्फलत्वं" कभी कभी क्रियाओं से भी कषायें और अव्रत उपज जाते हैं अतः ये क्रियायें उनकी कारण भी हैं "तानि फलानि यासां ताः तत्फलाः तासां भावस्तत्फलत्वं तस्मात्तत्फलत्वात्" यों "तत्फलत्व" पद का विग्रह किया जा सकता है।

अपूर्वप्राणिघातार्थोपकरणप्रवर्तनं।
क्रिया प्रात्ययिकी ज्ञेया हिंसाहेतुस्तथा परा ॥१४
स्त्र्यादिसंपातिदेशेंतर्मलोत्सर्गः प्रमादिनः।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समंतानुपातिकी ॥१५॥
अदृष्टे यो प्रमृष्टे च स्थाने न्यासो यतेरपि।
कायादेः सा त्वनाभोगक्रिया सैताश्च पंच ताः ॥१६॥

प्राणियों का घात करने के लिये तलवार, तोप, बन्दूक, पिस्तौल, मशीनगन, बम, टारपीडो, सुरंग, विषाक्त गैस, आदि अपूर्व उपकरणों की प्रवृत्ति करना तो प्रात्ययिकी क्रिया समझनी चाहिये, तिसी प्रकार हिंसा का हेतु होरही यह क्रिया भी उन कषाय और अव्रतों से भिन्न है। समर्थ होरहे भी प्रमादी पुरुष का स्त्री, पुरुष, पशु आदि का सम्पात (गमनागमन) हो रहे प्रदेशों में जो अन्तरंग मल, मूत्र, सिंघाणक आदि मलों का त्याग करना है वह यहाँ समन्तानुपातिकी क्रिया इष्ट की गई है। असंयमी पुरुष हो चाहे संयमी भी साधु क्यों न हो उस यति का भी बिना देखे हुये और बिना शुद्ध किये हुये स्थान में शरीर, पुस्तक, आदि का जो स्थापन कर देना है वह तो पाँचवीं या पन्द्रहवीं प्रसिद्ध अनाभोग क्रिया है। ये भी प्रसिद्ध होरहीं पांच क्रियायें हैं जो कि वे अन्य क्रियाओं और इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, से भिन्न होरहीं मानी गयी हैं।

परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत्।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता ॥१७॥

पापप्रवृत्तावन्येषामभ्यनुज्ञानमात्मना।
स्यान्निसर्गक्रियालस्यादकृतिर्वा सुकर्मणां ॥१८॥
पराचरितसावद्यप्रकाशनमिह स्फुटं।
विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः ॥१९॥

क्रियाओं का चौथा पंचक स्वहस्त क्रिया, निसर्ग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादकी क्रिया, अनाकांक्षिकी क्रिया इस प्रकार है तिनमें दूसरों से करने योग्य कार्य का जो स्वयं करना है वह यहां स्वहस्त-क्रिया मानी गयी है। इस क्रिया में पाप की प्रधानता है ऐसा पण्डितों का विचार है। दूसरों की पाप में प्रवृत्ति कराने के लिये स्वयं आत्मा करके जो अन्य पुरुषों को अनुमति दे देना है वह निसर्ग क्रिया है अथवा आलस्य से श्रेष्ठ कर्मों का नहीं करना भी निसर्ग क्रिया है। तथा दूसरों करके आचरे गये पाप सहित कर्मों का स्पष्ट रूप से प्रकाश कर देना यहां विदारण क्रिया है जो कि इतर क्रियाओं से या इन्द्रिय आदिक से भिन्न हैं हां आत्मा की विशुद्धि से दूसरे की हित कामना रखते हुये यदि विद्यार्थी, पुत्र, मित्र, श्रोता, आदि की सावद्य क्रियाओं को प्रकट किया जायेगा तो विदारण क्रिया नहीं समझी जायेगी अतः आत्मा विशुद्धि से भिन्न अवस्थाओं में कालुष्य होने पर विदारण क्रिया समझी जाय।

आवश्यकादिषु ख्यातामर्हदाज्ञामुपासितुं।
अशक्तस्यान्यथाख्यानादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥ २० ॥
शाठ्यालस्यवशादर्हत्प्रोक्ताचारविधौ तु यः।
अनादरः स एव स्यादनाकांक्षक्रियाविदां ॥ २१ ॥
एताः पंच क्रियाः प्रोक्ताः परास्तत्त्वार्थवेदिभिः।
कषायहेतुका भिन्नाः कषायेभ्यः कथंचन ॥ २२ ॥

छः आवश्यक, पांच समिति, आदि कृत्यों में बखानी गयी श्री अर्हन्तदेव की आज्ञा का परिपालन करने के लिये असमर्थ हो रहे प्रमादी जीव का अन्य प्रकारों करके व्याख्यान कर देने से आज्ञा-व्यापादिकी क्रिया हो जाती है। अर्थात्—कोई-कोई पण्डित स्वयं नहीं कर सकने की अवस्था में जिन-वाणी के वाक्यों का दूसरे प्रकारों से ही अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। "जिनगेहो मुनिस्थितिः" के स्थान पर, "जिनगेहे मुनिस्थितिः" कह देते हैं उद्दिष्ट त्याग के प्रकरण में न जाने क्या-क्या उद्दिष्ट का अर्थ करते हैं अतः अपनी अशक्ति या कषायों के वश होकर जिनागम के अर्थ का परिवर्तन करना महान् कुकर्म है। तथा तीर्थंकर अर्हन्तदेव करके निर्दोष कही गयी आचार क्रिया की विधि में शठता या आलस्य के वश से जो अनादर करना है वही तो विद्वानो के यहां अनाकांक्षा क्रिया कही जा सकती है। ये स्वहस्त क्रिया आदि पांच क्रियायें तत्त्वार्थशास्त्र के वेत्ता विद्वानों करके भले प्रकार अन्य क्रियाओं से भिन्न कह दी गयी हैं। ये क्रियायें कषायों को हेतु मान कर उपजती हैं अतः क्रोध आदि कषायों से किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं। कषायें कारण हैं और ये क्रियायें कार्य हैं इनका मिथः कार्य कारणभाव सम्बन्ध है।

छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद्भवेत् ।
परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारंभक्रिया मता ॥२३॥
परिग्रहाविनाशार्था स्यात्पारिग्रहिकी क्रिया ।
दुर्वक्तृकवचो ज्ञानादौ सा मायादिक्रिया परा ॥२४॥

आरम्भ क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, माया क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया, ये क्रियाओं का पांचमा पंचक है इनमें पहिली आरम्भ क्रिया का अर्थ यह है कि प्राणियों के छेदन, भेदन, मारण आदि क्रियाओं में जो अपने चित्त का आसक्त होना है अथवा दूसरे करके उन छेदन आदि क्रियाओं के करने में हर्ष मानना है वह यहां आरम्भ क्रिया मानी गयी है। क्षेत्र, धन, आदि परिग्रह का नहीं विनाश करने के लिये जो प्रयत्न होगा वह पारिग्रहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन, आदि में जो दुष्ट-वक्तापन या खोटे मायाचार अनुसार वचन कहते हुये वंचना करना है यह अन्य क्रियाओं से न्यारी माया क्रिया है। माया क्रिया के आदि में माया शब्द पड़ा हुआ है अतः इस क्रिया में वक्रता यानी मायाचार की प्रधानता है।

मिथ्यादिकारणाविष्टदृढीकरणमत्र यत् ।
प्रशंसादिभिरुक्तान्या सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥२५॥
वृत्तमोहोदयात्पुंसामनिवृत्तिः कुकर्मणः ।
अप्रत्याख्या क्रियेत्येताः पंच पंच क्रियाः स्मृताः ॥२६॥

मिथ्यामतों के अनुसार मिथ्यादर्शन आदि के कारणों में आसक्त होरहे पुरुष का इस मिथ्या मत में ही प्रशंसा, सत्कार, पुरस्कार आदि करके जो दृढ करना है कि तुम बहुत अच्छा काम कर रहे हो यों अदृढ़ को दृढ़ कर देना है वह यहाँ 'मिथ्या दर्शन क्रिया कही गयी है जो कि अन्य क्रियाओं से न्यारी है। संयम को घातने वाले चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होजाने से आत्माओं के जो कुकर्मों से निवृत्ति नहीं होना है वह अप्रत्याख्यानक्रिया है इस प्रकार ये पाँच क्रियायें ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण होरही चली आचुकी हैं यों यहाँ तक पाँच पंचकों अनुसार पचीस क्रियाओं का लक्षण पूर्वक निर्देश कर दिया गया है। विशेष यह कहना है कि "स्मृताः" शब्द का यह अभिप्राय है कि सर्वज्ञ के उपदेश की धारा से ऋषि-सम्प्रदाय अनुसार अब तक जैन सिद्धान्त के विषयों का स्मरण होता चला आ रहा है कितनी ही धार्मिक बातें यदि उपलब्ध शास्त्रों में नहीं लिखी हैं और वे कुलक्रम या जैनियों की आम्नाय अनुसार चली आरही हैं तो वे भी प्रमाण हैं। देखिये लाखों करोड़ों, स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का निर्दोषपना पुरुषा पंक्ति से कहा जारहा आज तक धारा प्रवाह रूप से चला आता है तो वह असंकर होरही वंश परम्परा प्रामाणिक ही समझी जायगी। आज कल के सभी निर्दोष स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का शास्त्रों में तो उल्लेख नहीं है अतीन्द्रियदर्शी मुनियों का सत्संग भी दुर्लभ है अतः यह कुलीनता जैसे वृद्धपरम्परा द्वारा उक्त होरही प्रमाण मान ली जाती है उसी प्रकार चून, बूरा, पिसा हुआ मसाला, दूध, घी, आदि के शुद्ध बने रहने की तीन दिन, पाँच दिन, दो घड़ी, आदि की काल मर्यादा को भी आम्नाय अनुसार प्रमाण मान

लिया जाता है। क्रियाकोश में किन-किन बातों को कहाँ तक लिखा जा सकता है बुद्धिमानों को चाहिये कि "अनादौ सति संसारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना" ऐसे प्रमाणाभास देकर जाति, कुल, व्यवस्था को ढीला नहीं करें। लोटा मांजना, हाथ मटियाना, सूतक पातक से की गयीं अशुद्धियां, म्लेच्छ संसर्ग की अशुद्धि आदि के प्रत्याख्यान का उपाय इन असंख्य प्रकरणों को कहाँ तक शास्त्रों में देखते फिरोगे। जिस किसी लौकिक क्रिया से सम्यग्दर्शन और चारित्र में हानि नहीं होय वह सभी लौकिक विधि प्रमाण मानी गयी है। इसी प्रकार खड़े हो कर पूजन करना, बैठ कर शास्त्रजी पढ़ना, अचित्तद्रव्य से पूजा करना, आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन, विसर्जन आदि क्रियाओं में चली आ रही आम्नाय ही प्रमाण समझी जाती है। कहीं-कहीं तो शास्त्रों के लिये भी प्रमाणता को देने वाली आम्नाय मानी गयी है अतः मूलसंघ सम्प्रदाय का पद भी बहुत ऊँचा है। सभी विषयों में शास्त्रों की साक्षी माँगना अथवा आचमन, तर्पण, गुह्यांग पूजा आदि मिथ्यात्व वर्द्धक क्रियाओं के पोषक चाहे जिस शास्त्रको प्रमाण मान बैठना समुचित नहीं है। क्वचित् जैन मन्दिरों में अजैन देवों की मूर्तियां न जाने किस किस देश, काल, राजा, प्रबल प्रजा की विपरीत स्थिति से कैसे कैसे [illegible] हैं जिसकी अभी तक कोई चिकित्सा नहीं हो पायी है। सिद्धक्षेत्र गिरनार जी पर्वत पर हिन्दुओं और मुसलमानों तक का आधिपत्य है। जैनों की निर्बलता से कितने ही तीर्थ, शास्त्र, जिनालय, जिनबिम्ब नष्ट किये जा चुके हैं। अब भी कितने ही जिनायतनों पर विधर्मियों का अधिकार है। जीव हिंसा, अविनय की जाती है। इसी प्रकार समीचीन शास्त्रों में भी भ्रष्ट साहित्य का प्रक्षेप किया गया है अथवा किसी जैनाभास भट्टारक या विद्वान् को वैसा प्रक्षेप करने के लिये बाध्य होना पड़ा है। प्रकरण में यही कहना है कि समीचीन शास्त्रों से जिन क्रियाओं में कोई बाधा नहीं आती है-वृद्ध परम्परा द्वारा स्मरण हुई चली आरहीं वे सभी धार्मिक क्रियायें प्रमाण हैं तभी तो बड़े-बड़े आचार्य स्मृताः, आम्नाताः, जिणेहि णिद्दिट्ठं, आदि पदों से पूर्व सम्प्रदायप्राप्त प्रमेय का प्रतिपादन करते हैं।

ननु चेंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपंचमात्रप्रसंग इति चेन्न, अनेकांतात्। नामस्थापनाद्रव्येंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावत्वाभावात् द्रव्यार्थादेशात्पर्यायार्थादेशात्तेषां क्रियास्वभावत्वात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि सूत्र में प्रथम कहे गये इन्द्रिय, कषाय, और अव्रतों की भी क्रिया स्वरूप करके निवृत्ति नहीं है अर्थात्—इन्द्रिय आदि भी क्रिया स्वभाव हैं अतः क्रियाओं के कहने करके ही उनका प्रयोजन प्राप्त हो जाता है तो फिर उन इन्द्रिय आदिकों का ग्रहण करना व्यर्थ है यों सूत्रकार को इतना लम्बा सूत्र बना कर केवल व्यर्थ के प्रपंच रखने का ही प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यह कोई एकान्त नहीं है कि इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, ये क्रिया स्वरूप ही होवें, क्योंकि नाम इन्द्रिय, स्थापना इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय, और नाम कषाय, स्थापना कषाय, द्रव्यकषाय, तथा नाम अव्रत, स्थापना अव्रत, द्रव्य अव्रत, इनको परिस्पन्द स्वरूप नहीं होने से क्रिया स्वभावपना नहीं है। अर्थात्—सभी अर्थों के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, ये चार भेद बखाने जा सकते हैं। पहिले तीन में क्रिया नहीं पायी जाती है। देखिये नाम इन्द्रिय आदि में नाम होने के कारण क्रिया नहीं है। स्थापना में भी मुख्य क्रिया नहीं पायी जाती है यह वही है ऐसा वचन या ज्ञान ही स्थापना में प्रवर्तता है आगामी काल में होनेवाले द्रव्य निक्षेप स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, में तो वर्तमान की क्रिया नहीं है अतः द्रव्यार्थिकनय

द्वारा कथन करने पर ये क्रिया स्वभाव नहीं हैं हां भाव स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को कर रही पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से उन इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को क्रिया स्वरूपपना है अतः इनके क्रिया स्वरूप होने का ही एकान्त नहीं है, नयों की विवक्षा अनुसार अनेकान्त है। अतः सूत्रकार के ऊपर प्रपंच मात्र कहने का दोष प्राप्त नहीं होता है। क्रिया है स्वभाव जिनका वे क्रिया स्वभाव हुये, यों बहुव्रीहि समास करते हुये पुनः भाव में त्व प्रत्यय कर उनका जो भाव है वह "क्रियास्वभावत्व" है यह वृत्ति की जाय।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किं च, द्रव्यभावास्रवत्वभेदाच्चेंद्रियादीनां क्रियाणां च न क्रियाः तत्प्रपंचमात्रं इंद्रियादयो हि शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वाद्द्रव्यास्रवाः क्रियास्तु कर्मादानरूपाः पुंसो भावास्रवा इति सिद्धांतः। कायवाङ्मनःकर्म योगः स आस्रव इत्यनेन भावास्रवस्य कथनात्।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय, कषाय, आदिकों को द्रव्यास्रवपना है और क्रियाओं को भावास्रवपना है। इस कारण इन्द्रिय आदिक और पच्चीस कषायों का भेद हो जाने से क्रियायें उन इन्द्रिय आदिकों का या क्रियाओं का इन्द्रिय आदिक विस्तार मात्र नहीं है जब कि इन्द्रिय आदिक नियम से शुभ आस्रव और उससे इतर अशुभ आस्रव के परिणामों की ओर अभिमुख होने के कारण द्रव्यास्रव हैं और क्रियायें तो आत्मा के निकट कर्मों का ग्रहण करा देना स्वरूप होती हुई भावास्रव हैं यह जैन सिद्धान्त प्रस्फुट है। काय, वचन, और मन की कम्पस्वरूप क्रिया योग है तथा वही आस्रव है यों छठे अध्याय के इन पहिले दो सूत्रों करके भावास्रव का कथन किया गया है। ऐसी दशा में इन्द्रिय आदिकों का प्रपंच क्रियायें या क्रियाओं का प्रपंच इन्द्रिय आदि नहीं हैं प्रत्युत वे क्रियायें भावास्रव होती हुई द्रव्यास्रव हो रहे इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों से विभिन्न हैं।

द्रव्यास्रव एव योगः कर्मागमनभावास्रवस्य हेतुत्वादिति चेन्न, आस्रवत्यनेनेत्यास्रव इति करणसाधनतायां योगस्य भावास्रवत्वोपपत्तेः। एवमिंद्रियादीनामपि भावास्रवत्वप्रसंग इति चेन्न, तेषां क्रियाकारणत्वेन द्रव्यास्रवत्वेन विवक्षितत्वात्। आस्रवणमास्रव इति भावसाधनतायां क्रियाणां भावास्रवत्वघटनात्।

यहाँ कोई विद्वान् आक्षेप करता है कि योग तो द्रव्यास्रव ही है क्योंकि कर्मों के आगमन स्वरूप भावास्रव का वह हेतु है। भावास्रव का हेतु द्रव्यास्रव माना गया है अतः परिस्पन्द क्रिया स्वरूप योग द्रव्यास्रव ही होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आङ् उपसर्ग पूर्वक "स्रुगतौ" धातु से करण में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द बनाया गया है जिस करके कर्मों का आगमन होता है वह आस्रव है इस प्रकार करण में आस्रव शब्द का साधन करते सन्ते योग को भावास्रवपना बनता है। पुनः कोई विद्वान् यदि आक्षेप करे कि यों तो इन्द्रिय आदिकों को भी भावास्रवपने का प्रसंग आजावेगा इन्द्रिय आदि करके भी कर्मों का आगमन होता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे इन्द्रिय आदिक तो कम्पस्वरूप योग क्रिया के कारण हैं इस कारण इन्द्रिय आदि को द्रव्यास्रवपने करके विवक्षा की जा चुकी है। हाँ आस्रव होना यानी आगमन होना मात्र आस्रव है यों भाव में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द की सिद्धि करने पर तो क्रियाओं को भावास्रवपना घटित होजाता है।

कार्यकारणभावाच्चेंद्रियादिभ्यः क्रियाणां पृथग्वचनं युक्तं इन्द्रियादिपरिणामा हेतवः क्रियाणां तेषु सत्सु भावादसत्यभावादिति निगदितमन्यत्र।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक बात यह भी है कि इनका कार्यकारणभाव होने से भी इन्द्रिय आदिक से क्रियाओं का पृथक् निरूपण करना सूत्रकार का युक्तिपूर्ण कार्य है। देखिये क्रियाओं के कारण इन्द्रिय, कषाय, आदिक परिणाम हैं। इनमें परस्पर अन्वयः यतिरेक घट रहा है। उन इन्द्रिय, कषाय, आदिकों के होने पर क्रियाओं का सद्भाव यानी उपजना होता है। इन्द्रिय आदिकों के नहीं होने पर क्रियाओं का सद्भाव नहीं है इस बात को अन्य प्रकरणों में भले प्रकार कहा जा चुका है यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, तदभावेऽप्यप्रमत्तादीनामास्रवसद्भावात्। एकद्वित्रिचतुरिंद्रियासंज्ञिपंचेंद्रियेषु यथासंभवं चक्षुरादींद्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिंसादिपूर्वककर्मादानश्रवणात्।

यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में केवल इन्द्रियों का ग्रहण ही बना रहो कषाय, अव्रत, क्रियाओं, का ग्रहण करना व्यर्थ है पाँच इन्द्रिय परिणतियों से ही सभी आस्रव होजायेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन इन्द्रिय परिणतियों का अभाव होते हुये भी सातवें गुणस्थान वाले अप्रमत्त से आदि लेकर दशमे गुणस्थानतक संयमियों के आस्रव का सद्भाव पाया जाता है तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवों में यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मानसिक विचारों के नहीं होते हुये भी क्रोध आदि कषायों और हिंसादि अविरति तथा अन्य मिथ्यात्वादि क्रियाओं को पूर्ववर्त्ती कारण मानकर कर्मों का ग्रहण होना शास्त्रों में सुना जाता है। एकेन्द्रिय जीव के रसना आदि चार इन्द्रियाँ और मन नहीं हैं, द्वीन्द्रिय जीव के घ्राण आदि तीन इन्द्रियाँ और अनिन्द्रिय मन नहीं पाया जाता है इसी प्रकार अन्य असंज्ञी पर्यन्त जीवों के भी इन्द्रियों की विकलता पायी जाती है जब द्रव्येन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो भावेन्द्रियाँ कहाँ से होंगी यह व्यतिरेकव्यभिचार हुआ अतः सभी इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रियाओं का सूत्र में ग्रहण करना अनिवार्य है।

कषायाणां सांपरायिकभावे पर्याप्तत्वादन्याग्रहणमिति चेन्न, सन्मात्रेपि कषाये भगवत्प्रशांतकषायस्य तत्प्रसंगात्। न च तस्येन्द्रियकषायाव्रतक्रियास्रवाः संति, योगास्रवस्यैव तत्र भावात्। चक्षुरादिरूपाद्यग्रहणं वीतरागत्वात्।

यहाँ कोई आपेक्ष उठाता है कि सकषाय जीव के साम्परायिक आस्रव होता कहा गया है अतः साम्परायिक आस्रव के होने में केवल कषायें ही पर्याप्त हैं अन्य इन्द्रिय, अव्रत, और क्रियाओं का ग्रहण करना सूत्रकार को उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ग्यारहमें गुणस्थानमें कषायों की सत्तामात्र रहने पर भी अच्छी शान्त हो गयी हैं कषायें जिन की ऐसे भगवान् उपशान्तकषाय मुनि महाराज के उस साम्परायिक आस्रव के हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। वस्तुतः विचारा जाय तो उस ग्यारहमे गुणस्थान वाले मुनि के भाव इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियायें हैं ही नहीं। अतः इन्द्रिय आदिकों के अनुसार होने वाला साम्परायिक आस्रव उन उपशान्तकषाय भगवान् के नहीं है हां केवल योग को ही कारण मान कर होने वाले ईर्यापथ आस्रव का ही वहां सद्भाव है यद्यपि ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे गुणस्थानों में चक्षुः, कर्ण, आदि इन्द्रियां हैं तथापि वीतराग होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूप आदि का ग्रहण करना स्वरूप उपयोग नहीं होता है रागी, द्वेषी, जीवों की ही इन्द्रियों द्वारा उपयोग स्वरूप परिणतियाँ होती हैं उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी अथवा ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानों में धकाधक शुक्लध्यान प्रवर्त रहा है, शुद्ध आत्मा की परिणति में उपयोग निमग्न होरहा है

इन्द्रिय जन्य उपयोग मानने पर उपशमक, क्षपक अवस्थायें बिगड़ी जाती हैं अतः अन्वयव्यभिचार हो जाने के भय से केवल कषायों का ही ग्रहण करना पर्याप्त नहीं है।

अव्रतवचनमेवेति चेन्न, तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वादिंद्रियकषायक्रियावचनस्य। तदेवमिंद्रियादय एकान्नचत्वारिंशत्संख्याः साम्परायिकस्य भेदा युक्ता एव वक्तुं संग्रहात्।

केवल क्रियाओं के कहने से भी प्रयोजन नहीं सधा और केवल इन्द्रियों का ग्रहण करने से भी सूत्रोक्त अभिप्राय नहीं निकल सकता है। उक्त सूत्र में केवल कषायों को ही साम्परायिक का भेद मानने पर भी दोष आते हैं। ऐसी दशा में एक बचे हुये अव्रत के ग्रहण का ही आक्षेप क्यों न कर लिया जाय? सम्भव है इससे सभी प्रयोजन सध जाँय। ऐसी भावना रखता हुआ कोई कटाक्ष करता है कि उक्त सूत्र में केवल अव्रत का ही कथन किया जाय इन्द्रिय, कषाय और क्रियाओं का उपादान करना व्यर्थ है कषाय सहित जीवों के केवल अव्रत को ही हेतु मान कर साम्परायिक कर्म का आस्रव हुआ करता है। आचार्य कहते हैं कि यों तो नहीं कहना क्योंकि उन अव्रतों की प्रवृत्ति होने के निमित्तों का निर्देश करने के लिये सूत्रकार महाराज ने इन्द्रिय कषाय, और क्रियाओं को सूत्र में कण्ठोक्त किया है। अर्थात्–इन्द्रिय, कषाय, और क्रियाओं से जीवों की अव्रत में प्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म राग की अवस्थामें भाव हिंसा दशमे गुणस्थान तक पाई जाती है असत्य वचन, अनुभयवचन, बारहवें तक माने गये हैं तेरहमे गुणस्थान में भी अनुभयवचनयोग अनुभय मनोयोग हैं शीलों का पूर्ण स्वामित्व चौदहमे में माना गया है अतः यद्यपि अव्रत से ही साम्परायिक आस्रव का प्रयोजन सध सकता है फिर भी अव्रतों की प्रवृत्ति का कारण होरहे इन्द्रिय आदिकों का कथन करना आवश्यक है। कदाचित् अव्रतों से भी इन्द्रियलोलुपता, कषायें या क्रियायें हो जाती हैं। तिस कारण इस प्रकार स्पष्ट कथन कर संग्रह करने की विवक्षा से साम्परायिक आस्रव के इन्द्रिय आदिक उन्तालीस संख्या वाले भेदों को कहने के लिये उक्त सूत्र बनाना युक्त ही है एक एक का कथन कर देने से ही सूत्रकार का अभिप्रेत अर्थ नहीं सध पाता है।

कुतः पुनः प्रत्यात्मसंभवतामेतेषामास्रवाणां विशेष इत्याह।

सूत्रकार महाराज के प्रति मानू किसी का प्रश्न है कि प्रत्येक रागी आत्माओं में ये इन्द्रिय आदिक साम्परायिक आस्रव जब सामान्य रूपसे सम्भव रहे हैं तो फिर किस कारण से इन आस्रवों की विशेषता होजाती है? जिससे कि कोई विशेष सुखी होता है अन्य अल्प सुखी होता है तीसरा दुःखी होता है कोई वैसा ही काम करने वाला दूसरे नरक जाता है कोई पांचमे नरक जाता है भगवान् की पूजा या पात्र दान करने से कोई भोगभूमि के सुख भोगता है इतर दूसरे स्वर्ग को जाता है इत्यादि प्रकार से आस्रवों में अन्तर किस प्रकार पड़ा? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र द्वारा गम्भीर प्रमेय को कहते हैं।

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषताओं से उस-आस्रव की विशेषता हो जाती है। अर्थात् अत्यन्त बढ़े हुये क्रोध आदि परिणाम तीव्रभाव हैं क्रोध, हास्य,

इन्द्रियलोलुपता आदि की अल्पप्रवृत्ति मन्दभाव है; जान-बूझ कर राग, द्वेष, पूजा, दान आदि परिणतियों का होना ज्ञातभाव है; नहीं जान कर हिंसा, असत्यभाषण, कषाय, आदि विकारों का होजाना अज्ञातभाव है; जिसका अवलम्ब या आश्रय पाकर आत्मा प्रयोजनों को साधता है वह द्रव्य अधिकरण है; जीव, पुद्गल, धर्म , अधर्म, आकाश, काल, इन द्रव्यों की शक्तियों को वीर्य कहते हैं। यहां प्रकरण अनुसार जीव और पुद्गल द्रव्यों की शक्ति का ग्रहण करना चाहिये। हाँ "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्" इस न्याय सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों में भी जीव और पुद्गल परिणतियों के अनुकूल अनेक वस्तुभूत शक्तिशाली स्वभावों के मानने पर तो सभी अजीवों की नियत शक्तियाँ साम्परायिक आस्रव में विशेषताओं को उपजा देती हैं इनके तारतम्य अनुसार आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। राग, द्वेष की परिणति, शिष्ट अशिष्ट प्राणियों का संसर्ग, देश, काल, आदि बहिरंग कारणों की पराधीनता, आत्मीय पुरुषार्थ आदि कारणों के वश से किन्हीं किन्हीं आत्माओं में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाओं के तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेषता और वीर्यविशेषता हो जाती है। तदनुसार कर्मों के आस्रवों में विशुद्धि संक्लेशांगों से अन्तर पड़ता हुआ असंख्यात प्रकार के सुख दुःख आदि फलों की विशेषताओं को उपजा देती हैं। लोक में भी एक ही विद्यालय में पढ़ने वाले और एक ही भोजनालय में भोजन करने वाले छात्रों की ज्ञान सम्पत्ति और शारीरिक सम्पत्ति तथा सदाचार प्राप्ति में अनेक प्रकार के अन्तर देखने में आते हैं। इन सब के कारण तीव्रता, मन्दता आदि को लिये हुये अन्तरंग, बहिरंग कारणों की संयोजना है अतः सूत्रकार महाराज ने तीव्रभाव आदि करके आस्रवों की विशेषता सूत्र द्वारा अच्छा सूचन किया है अन्यथा अनेक शंकाओं का निराकरण दुःसाध्य ही हो जाता।

अतिप्रबृद्धक्रोधादिवशात्तीव्रः स्थूलत्वादुद्रिक्तः परिणामः, तद्विपरीतो मन्दः, ज्ञानमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तिर्ज्ञातं, मदात्प्रमादाद्वा अनवबुद्ध्य प्रवृत्तिरज्ञातं, अधिक्रियंतेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं प्रयोजनाश्रयं; द्रव्यं,द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यं। भावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, भुजिवत्, तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञातभावो अज्ञातभाव इति।

कर्मों की उदीरणा वश अत्यधिक बढ़े हुये क्रोध अभिमान आदि के वश से तीव्र होरहा यानी स्थूल होने के कारण उद्रेक (जोश) को प्राप्त हो चुका परिणाम तीव्र कहा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग कारणों की उदीरणा के वश से जीवों के उत्कट यानी तीव्र परिणाम होजाते हैं तथा उससे विपरीत हो रहा यानी उदीरणा के कारण नहीं मिलने पर अनुद्रेक परिणति है वह मन्दभाव है। केवल जान लेना मात्र अथवा यह प्राणी मारने योग्य है यों जान कर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। इन्द्रियों का व्यामोह करने वाले मदिरा,भांग, सुलफा, अफीम आदि का उपयोग करने से उत्पन्न हुये मद करके अथवा प्रमाद से नहीं जानकर हिंसा आदि में प्रवृत्ति का होना अज्ञात भाव है। आत्माओं के प्रयोजन जिस प्रस्तुतद्रव्य में अधिकार को प्राप्त हो रहे हैं वह प्रयोजन का आश्रय होरहा द्रव्य अधिकरण है। आत्मा आदि द्रव्य की निज सामर्थ्य को वीर्य माना गया है। यहाँ सूत्रमें "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावादि" इस द्वन्द्वघटित पद के अन्त में पड़े हुये भाव शब्द का प्रत्येक के साथ पीछे सम्बन्ध कर लेना चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त इनको भोजन करा दो यहाँ भोजन क्रिया का प्रत्येक तीनों व्यक्तियों में सम्बन्ध कर दिया जाता है इसी प्रकार तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, और अज्ञातभाव यों पदों का विन्यास कर लिया जाय।

युगपदसंभवाद्भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेन्न, बुद्धिविशेषव्यापारात्तस्य तद्विशेषणत्वोपपत्तेः । न हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिंगाभावादेको भावः सत्तालक्षण एवेति युक्तं, भावद्वैविध्यात् । द्विविधो हि स्याद्वादिनां भावः परिस्पंदरूपोऽपरिस्पंदरूपश्च । तत्रापरिस्पंदरूपोऽतर्द्रव्याणामस्तित्वमात्रमनादिनिधनं तदेकं कथंचिदिति माभूद्विशेषकं, परिस्पंदरूपस्तु व्ययोदयात्मकस्तीव्रादीनां विशेषकः कायादिव्यापारलक्षणः सकृदुपपद्यते, कायादिसत्त्वस्य च तस्याभिमतत्वात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां कोई शंका उठाता है कि भाव तो द्रव्य का आत्मभूत परिणाम है वह सदा एक ही रहता है अतः भाव शब्द का एक ही साथ तीव्र, मन्द आदि अनेकों के साथ विशेषण हो जाना असम्भव है जिस प्रकार कि एक गोत्व यानी गोपना कोई अनेक खण्ड, मुण्ड, आदि गो द्रव्यों की विशेषता करने वाला नहीं है यह गोत्व तो केवल सभी व्यक्तियों में अन्वित हो रहा सन्ता केवल "गाय है गाय है बैल है बैल है" ऐसे ज्ञान और शब्द योजनाओं का हेतु है तिसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः। धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" सत् सत्, सन् सन्, सती, सती ऐसे आकार वाले ज्ञान और शब्द योजना होने देने का केवल हेतु हो रहा भाव भी तीव्र आदि का विशेष करने वाला नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धि में विचार कर लेने के अनुसार एक पदार्थ भी अनेक रूप से विवक्षित कर लिया जाता है। विशेष-विशेष बुद्धियों का व्यापार हो जाने से उस भाव को उन तीव्र आदि परिणामों का विशेषणपना घटित हो जाता है।|देखो भाव एक ही प्रकार का नहीं है जैसा कि वैशेषिकों ने एक सत्त्व मान रखा है कि सत्-सत् ये प्रत्यय विशेषताओं से रहित होकर द्रव्य, गुण, कर्मों, में एक सा होता है जड़ या चेतन पदार्थों में एक सी ठहर रही उस सत्ता की विशेषताओं के ज्ञापक चिन्हों का अभाव है इस कारण सत्ता स्वरूप भाव एक ही है इस प्रकार नैयायिक या वैशेषिक का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है कारण कि भाव दो प्रकार के माने गये हैं स्याद्वादियों के यहाँ हलन, चलन, आदि परिस्पन्द स्वरूप और रुचि, तत्त्वज्ञान, सामायिक, उपशम, आदि अपरिस्पन्द स्वरूप यों नियम से दो प्रकार के भाव गिनाये हैं "वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र से भी यह बात ध्वनित हो चुकी है उन दो भावों में सम्पूर्ण द्रव्यों के अन्तरंग में अनादि अनन्त काल तक परिणम रहा केवल अस्तित्वमात्र है वह भाव सम्पूर्ण सत्ताओं का संग्रह कर एकत्रित किया गया महासत्ता स्वरूप कथंचित् एक है इस कारण वह एक महासत्ता रूप भाव भले ही तीव्र आदि परिणामों की विशेषताओं को कराने वाला नहीं होवे किन्तु दूसरा व्यय, उत्पाद स्वरूप हो रहा परिस्पन्द स्वरूप भाव तो तीव्र आदिकों का विशेष करने वाला हो जावेगा जो कि परिस्पन्द काय, वचन, आदि का अवलम्ब लेकर व्यापार करना स्वरूप है उस परिस्पन्द आत्मक भाव का युगपत्पना बन जाता है क्योंकि वह भाव काय आदि का सत्त्व है ऐसा अभीष्ट किया गया है।

कायवाङ्मनःकर्मयोगाधिकारात्कथं तस्य विशेषकत्वमिति चेत् बौद्धाद् व्यापारात् भेदेनापोद्धारसिद्धेः । आत्मनोऽव्यतिरेकाद्वा तीव्रादीनां भावत्वसिद्धेः ।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि "कायवाङ्मनःकर्म योगः" काय, वचन, मनों के अवलम्ब से हुआ परिस्पन्द स्वरूप योग है इसका अधिकार चला आ रहा है दूसरे सूत्र द्वारा उस परिस्पन्द को आस्रव कह दिया गया है ऐसी दशा में उस परिस्पन्द को विशेषताओं का सम्पादकपना भला कैसे बन

जायेगा ? यों कहने पर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से भेद करके भेद भाव की सिद्धि हो जाने के कारण वह परिस्पन्द ही विशेषक हो जाता है "देवदत्तः पठति" देवदत्तेन पठ्यते' यहाँ जैसे बुद्धि अनुसार कुछ परिणतियों का लक्ष्यकर स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य की विवक्षा कर ली जाती है उसी प्रकार बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से परिस्पन्द की विशेषताओं अनुसार तीव्र आदि भावों का अन्तर पड़ जाता है। अथवा एक बात यह है कि आत्मा से अभिन्न होने के कारण तीव्र आदिकों का भी भावपना सिद्ध है ऐसी दशा में अनेक आत्माओं के यथायोग्य तीव्र स्वरूप भाव या मन्द स्वरूप भाव युगपत् सम्भवते सन्ते आस्रवों की विशेषताओं को कर देते हैं भाव का सिद्धान्त अर्थपरिणतियां हैं जो कि परिणामी द्रव्यों से अभिन्न हैं अतः बुद्धि सम्बन्धी व्यापार की नहीं अपेक्षा रखते हुए भी वस्तुभूत तीव्र आदि आत्मक भावों द्वारा आस्रवों में विशेषतायें उपज बैठती हैं। कारण भेद से कार्य भेद हो जाना अनिवार्य है कारण शक्तियों में व्यर्थ की पर्यालोचना नहीं चल सकती है।

किं च, भावस्य भूयस्त्वात् असंख्येयलोकपरिमाणो हि जीवस्यैकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे भावः श्रूयते। ततो युक्तं भावस्य युगपत्तीव्रादीनां विशेषकत्वं। एकत्वेऽपि वा भावस्य परेष्टया बुद्ध्यानेकत्वकल्पनान्न चोद्यमेतत्।

एक बात यहाँ यह भी है कि जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविकरूप से भाव परिणतियाँ बहुत सी हैं। जीव के एक एक भी कषाय, इन्द्रिय, अव्रत, आदि परिणाम में असंख्यात लोकों के प्रदेशों बराबर असंख्यातासंख्यात नामक संख्या परिमाण को धार रहे भाव हैं ऐसा आर्षशास्त्रों में सुना जा रहा है एक एक कषायाध्यवसायस्थान के लिये असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान नियत हैं अतः अनेक आत्माओं या एक आत्मा के अनेक गुण अथवा उन गुणों के प्रतिपक्षी कर्मों के उदय अनुसार हुये भाव युगपत् अनेक हो सकते हैं। तिस कारण भाव को युगपत् तीव्र आदिकों का विशेषकपना युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अतः दूसरे नैयायिक या वैशेषिकों की अभीष्टता करके भाव का एकपना होते हुये भी बुद्धि कर के अनेकपन की कल्पना कर देने से यह उक्त चोद्य हम जैनों के ऊपर नहीं चल सकता है हम दो, तीन, ढंगों से उक्त चोद्य के नहीं लागू होने को समझा चुके हैं।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वान्न पृथग्ग्रहणमिति चेन्न, तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवभेदज्ञापनार्थत्वात् पृथक्त्वं तद्ग्रहणस्य। वीर्यवतो ह्यात्मनस्तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायत इति प्राण-व्यपरोणादिष्वास्रवफलभेदो ज्ञायते। तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः। इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वाद्वार्यवत्तीव्रादीनामपि पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात् तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानंत्यसिद्धिः। कथं ? अनुभाग-विकल्पादास्रवस्यानंतत्वात्तत्कार्यशरीरादीनामनंतत्वोपपत्तेः।

यहाँ कोई पण्डित आशंका करता है कि वीर्य तो आत्मा का ही परिणाम है अधिकरण होरहे जीव के कह देने से ही उसके परिणाम माने गये वीर्य का ग्रहण हो ही जाता है परिणामों वाला ही परिणामी जीव अधिकरण हो सकता है अतः आस्रव के उक्त विशेषकों में वीर्य का पृथक् ग्रहण करना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूप से उस वीर्य वाले आत्मा को प्राणिहिंसा, असत्यभाषण आदि क्रियाओं के करने में भिन्न भिन्न प्रकार का आस्रव होता है इस बात

को समझाने के लिये उस वीर्य का पृथक् रूप से ग्रहण करना समुचित है जब कि वीर्य वाले आत्मा के तीव्र, तीव्रतर, आदि परिणाम विशेष उपज जाते हैं इस कारण हिंसा, झूठ, अचौर्य आदि कृत्यों में आस्रव के फलों का भेद जान लिया जाता है और तिस ही प्रकार से यानी आस्रव के फल में भेद हो जाने की अपेक्षा से ही तीव्र, मंद आदि के पृथक् रूपेण ग्रहण करने की भी सिद्धि होजाती है अन्यथा यानी आस्रवों के फलों के भेद का ज्ञापन करना यदि सूत्रकार को अभीष्ट नहीं होता तो जीव नामक अधिकरण के स्वभाव हो जाने के कारण वीर्य परिणति के समान तीव्र आदिकों का भी पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता, जब कि यह नियम है कि भिन्न कार्यों का होना भिन्न कारणों पर ही अवलम्बित है तिस कारण निर्णय हुआ कि अनुभाग शक्ति अनुसार भिन्न भिन्न फल वाले उन आस्रवों का निमित्त मिल जाने से आत्मा के शरीर, मुखाकृति, सुख, दुःख, आदि के अनन्तपन की सिद्धि हो जाती है। किस प्रकार होजाती है ? इसका उत्तर यह है कि कषायों अनुसार पड़ गये अनुभागों के विकल्प से आस्रव का अनन्तपना हो जाता है और अनन्त आस्रवों से उनके कार्य हो रहे शरीर, वचन, इष्ट, अनिष्ट प्राप्ति, वियोग, आदि का अनन्तपना सयुक्त बन जाता है। तभी तो जगत् में अनेक प्रकार के शरीर, भिन्न-भिन्न मुखाकृतियां, न्यारी न्यारी जाति के सुखदुःख, पृथक् पृथक् प्रकृतियां, मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, पाण्डित्य के न्यारे न्यारे ढंग, वक्तृत्वकला, लेखन कला आदि फल होरहे प्रतीत होरहे हैं। यद्यपि इनमें आत्म पुरुषार्थ भी कुछ कारण पड़ जाता है फिर भी तीव्र आदि भावों अनुसार न्यारी न्यारी अनुभाग शक्तियों को लिये हुये हुआ अनन्त कार्यों को करने वाला कर्म का आस्रव ही अन्तरंग कारण प्रधान माना गया है। कर्मों की बड़ी विचित्र शक्ति है आज कल जितने मनुष्य दृष्टिगोचर होरहे हैं किसी भी एक की दूसरे से आकृति (सूरत मूरत) नहीं मिलती है इस प्रकार सूक्ष्मता से विचारने पर बन्दर, बैल, घोड़ा, हाथी, कबूतर,तोता, चूहा, यहां तक कि चींटी, मक्खी, वृक्ष, बेल, अंकुर, गेहूँ, चना, आम, अमरूद आदिकों की भी आकृतियां न्यारी न्यारी हैं पूर्व कालों में भी जितने मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बन्दर आदि हो चुके हैं और भविष्य काल में भी जितने होंयगे उनकी भी आकृति, गति, मति, आदि प्रायः भिन्न भिन्न प्रकार की ही होचुकी और होंगी। जगत् में कारण के विना कोई कार्य नहीं होता है इन सब अनन्ते प्रकार के कार्यों का अन्तरंग कारण इस सूत्र में समझा दिया गया है। कर्म सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों से यह रहस्य छिपा नहीं रहता है। सांचे में ढाले गये रुपये, पैसे, खिलौना, आदि जड़ पदार्थ भले ही एक से बना लिये जायं किन्तु कर्मविपाक से होने वाली जीवों की विचित्र परिणतियाँ तो वास्तविक मूल कारणों पर अवलम्बित हैं।

कुतः पुनः सांपरायिकास्रवाणां विशेषः किं हेतुकेभ्यश्च प्रपंच्यत इत्याह ।

यहाँ कोई जिज्ञासु पूंछता है कि किस कारण से फिर साम्परायिक आस्रवों के विशेषों का यहां विस्तार किया जा रहा है ? और वे आस्रव की विशेषताओं को करने वाले तीव्र आदि भाव भला किन हेतुओं से उपज रहे वैसे विशेषक बन बैठते हैं ? बताओ। अर्थात्—आस्रवों में अन्तर डालने वाले तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष इन पंचम्यन्त पदों के वाच्यार्थों का हेतु क्या है ? और यहां इनसे हुये आस्रवों के विशेषों का प्रपंच क्यों किया जा रहा है ? यों दो प्रश्नों के उत्तरों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्त्तिकों द्वारा समाधान को कहते हैं।

तीव्रत्वादिविशेषेभ्यस्तेषां प्रत्येकमीरितः ।
बंधः कषायहेतुभ्यो विशेषो व्यासतः पुनः ॥१॥

स युक्तः सूत्रितश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः।
तच्च कर्म नृणां तस्मादिति हेतुफलस्थितिः ॥२॥

जीव के कषायों को हेतु मान कर हुये तीव्रपन, मंदपन, आदि विशेषों से प्रत्येक-प्रत्येक उन आस्रवों का विशेष या साम्परायिक कर्मों का बंध विशेष हो रहा कह दिया गया है हाँ विशेष-विशेष वह कर्म बंध होना तो फिर इस सूत्र में विस्तार से सूचित किया गया है जो कि पूर्व उपार्जित कर्मबंध की अनुकूलता से चित्र विचित्र प्रकार का बंध हुआ युक्त ही है और भविष्य में भी जीवों के कर्मबंध अनुसार पुनः वे कर्म उपजेंगे और उन बँधे हुये कर्मों से पुनः जीवों को फल प्राप्त होगा यों द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म यह हेतु फल की व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है यदि मोक्षोपयोगी संवर और निर्जरा के कारण उपस्थित नहीं किये जायंगे तो यह धारा अनन्तानन्त काल तक इसी प्रकार चली जायगी। अतः उत्तर हो जाता है कि तीव्रत्व आदि के कारण कषायें इन्द्रियाँ आदि हैं और आस्रवों के विशेषों का विस्तार अनेक प्रकार की हेतुफल व्यवस्था का परिज्ञान कराने के लिये सूत्र में कह गया है। भावार्थ—नाना कषाय या द्रव्य, क्षेत्र, आदि परिस्थितियों अनुसार हुये तीव्रभाव, मंदभाव, आदि कारणों से कर्म के आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। किसी आत्मा में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, और क्रियाओं की तीव्रता हो जाती है। सिंह में क्रोध की तीव्रता है और हिरण के क्रोध मन्द है, प्रचण्ड गृहस्थ और प्रशान्त मुनि के भावों में अन्तर है। कोई आत्मा जान करके इन्द्रिय, कषाय, आदि में प्रवृत्ति करता है उसके महान् आस्रव होता है। उस समय मछलियों को नहीं भी मार रहे धीवर से भूमि को जोत रहा किसान अल्प पापी है। कचित् आकर्षक योग के भी अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ जाते हैं अज्ञात भाव में इन्द्रिय आदिकों की प्रवृत्ति होने पर अल्प आस्रव होता है विशेष अधिकरणों के होने पर भी आस्रव में विशेष हो जाता है जैसे कि परस्त्री गामी पुरुष के वेश्या का आलिंगन करने में अल्पास्रव है किन्तु राजपत्नी, गुरुपत्नी, या आर्यिका के आलिंगन करने पर महान् पाप आस्रव होता है। चोर किसी सेठ का द्रव्य चुराता है उसमें उतना दुष्कर्म आस्रव नहीं होता है जितना कि गुरुद्रोह, मित्रद्रोह करते हुये अपने परम हितैषी गुरु या मित्र का द्रव्य चुरा लेने पर महान् पाप आस्रव होता है। कचित् ज्ञात भाव की अपेक्षा एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय जीवों के अज्ञात भावों से पाप अधिक लग जाता है। इसी प्रकार विशेष वीर्य होने पर वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले पुरुष के इन्द्रिय आदि का व्यापार होने पर महान् आस्रव होता है सातमे नरक तक जा सकता है किन्तु हीन संहनन वाले पुरुष द्वारा पाप कर्म किये जाने पर अल्प आस्रव होता है तीसरे नरक तक ही जा सकता है। इसी प्रकार, क्षेत्र, काल, आदि से भी आस्रव में विशेषता हो जाती है। घर में ब्रह्मचर्य का भंग करने पर अल्प आस्रव होता है किन्तु विद्यालय, स्वाध्यायशाला, देवस्थान, तीर्थमार्ग और तीर्थ स्थानों में व्यभिचार प्रवृत्ति करने पर उत्तरोत्तर महान् पाप का आस्रव होगा। इसी प्रकार प्रातः काल, मध्याह्न काल, स्वाध्याय काल, सामायिक काल में भी कर्मों के आस्रव का तारतम्य है उक्त कार्य कारण भाव की विशुद्धि, संक्लेशभावों अनुसार पुण्य, पाप, दोनों में व्यवस्था कर लेनी चाहिये तभी तो कर्मों के बंध की विचित्रता सध सकेगी, देवागम के "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः" इस श्लोक की अष्टसहस्री में ग्रन्थकार ने कर्मसिद्धान्त का अच्छा विवेचन किया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीवस्य भावास्रवो हि स्वपरिणाम एवेंद्रियकषायादिस्तीव्रत्वादिविशेषात्। प्रपंचतः पुनः

कषायविशेषकारणाद्विशिष्टो जातः । स च कर्मबंधानुसारतोऽनेकप्रकारो युक्तः सूत्रितः। कर्म पुनर्नृणामनेकप्रकारं कषायविशेषाद्भावकर्मण इति हेतुफलव्यवस्था। परस्पराश्रयान्न तद्व्यवस्थेति चेन्न, बीजांकुरवदनादित्वात्कार्यकारणभावस्य तत्र सर्वेषां सप्रतिपत्तेश्च ।

जीव के इन्द्रिय, कषाय, आदि स्वरूप हो रहा भावास्रव तो उस जीव का निज परिणाम ही है जो कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि विशेषों से विशेषताओं को लिये हुये है। विस्तार से विचार करने पर तो यह जान लिया जाता है कि वह भावास्रव विशेष कषाय स्वरूप कारणों से विशिष्ट हो चुका है अतः कर्म बंध के अनुसार से वह भावास्रव अनेक प्रकार है जो कि सूत्र द्वारा श्री उमास्वामीमहाराज ने समुचित कह दिया है। हाँ जीवों के फिर कर्म तो अनेक प्रकार के हैं जो कि भावकर्म होरहे कषाय विशेषों से उपज जाते हैं। अर्थात् कषाय विशेषों से द्रव्य कर्म बंधते हैं और फल काल में द्रव्य कर्मों का उदय आने पर आत्मा में क्रोध आदि भावकर्म उपज जाते हैं इस प्रकार कषाय और कर्मों में कार्य कारण व्यवस्था होरही है। यदि कोई बालक यहाँ यों आक्षेप करे कि यहां तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ द्रव्यकर्म से भावकर्म हुये और भावकर्मों से द्रव्यकर्म हुये यही तो इतरेतराश्रय है जैसे कि दीपक कब जले जब दियासलाई मिले और दियासलाई की डिब्बी अंधेरे में कब मिले जब दीपक जल चुके इसकारण वह हेतुफलव्यवस्था नहीं हुई। ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीज और अंकुर के समान यह द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारणभाव अनादि काल से चला आरहा है। उस कार्यकारणभाव में सभी वादी प्रतिवादी पण्डितों की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर जैसे बीज अंकुर में कोई अन्योन्याश्रय नहीं है जिस बीज से जो अंकुर हुआ है उस अंकुर से वही बीज नहीं उपजता है किन्तु न्यारा ही बीज उपजता है सादृश्य से भले ही उसको बीज कह दिया जाय न्यारे न्यारे अंकुरों से भिन्न भिन्न बीज और भिन्न भिन्न बीजों से पृथक् पृथक् अंकुर उपज रहे हैं। कार्य के प्रतिबन्धक अन्योन्याश्रय को हम भी दोष मानते हैं किन्तु यहां वह दोष अणुमात्र भी नहीं है जिस भाव कर्म से द्रव्यकर्म बंधा है वह फल काल में दूसरे ही भाव कर्म को उपजावेगा और उस भाव कर्म से अन्य ही पौद्गलिक कर्मों का बंध होगा यों कोरे शब्दसादृश्य से अन्योन्याश्रय नहीं होजाता है। यहां वस्तु व्यवस्था न्यारी न्यारी है अतः तीव्र, मन्द, आदि सूत्र द्वारा अनन्त प्रमेय को सूचित करा देना श्री सूत्रकार महाराज का अतीव प्रशस्त कार्य है।

किं पुनरत्राधिकरणमित्याह ।

उक्त सूत्र में कहे गये तीव्र मंद आदि को हमने समझ लिया है किन्तु फिर अधिकरण को नहीं समझा है अतः बताओ कि यहां प्रकरण अनुसार अधिकरण भला क्या पदार्थ है? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

यहाँ आस्रव के प्रकरण में अधिकरण हो रहे तो जीव और अजीव पदार्थ हैं अर्थात्-जिस द्रव्य का अवलम्ब लेकर आस्रव उपजता है वह द्रव्य यहाँ अधिकरण कहा जाता है यद्यपि जीव द्रव्य के ही सर्व आस्रव होते हैं फिर भी जीव द्रव्य का आश्रय लेकर जो आस्रव उपजता है उसका अधिकरण जीव

और अजीव द्रव्य को आश्रय मान कर जो कर्मों का आस्रव होता है उसका अधिकरण अजीव द्रव्य माना जाता है जीवों और हिंसा, देवपूजा, आदि के उपकरण हो रहे अजीवों का अवलम्ब पाकर आस्रवविशेष हुआ करते हैं।

द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, पर्यायापेक्षया बहुत्वनिर्देशात्। नहि जीवद्रव्यसामान्यमजीवद्रव्यसामान्यं वा हिंसाद्युपकरणभावेन सांपरायिकास्रवहेतुत्वेनाधिकरणत्वं प्रतिपद्यते केनचित्पर्यायेण विशिष्टेनैव तस्य तथाभावप्रतीतेः।

यहाँ कोई पूँछता है कि जब मूल पदार्थ जीव अजीव दो हैं तो फिर 'जीवाजीवौ' इस प्रकार द्विवचनान्त पद के ही कहने का प्रसंग प्राप्त हुआ गौरवाधायक "जीवाजीवाः" ऐसा बहुवचनान्तपद सूत्रकार ने क्यों कहा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग तो नहीं देना क्यों कि पर्यायों की अपेक्षा से यहाँ बहुवचन का निर्देश किया गया है। जीव अजीवों की पर्यायें ही तो अधिकरण हैं सामान्य जीवद्रव्य अथवा सामान्य अजीव द्रव्य तो हिंसा आदि के उपकरण भाव करके साम्परायिक आस्रव के हेतुपनेसे अधिकरणता को प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु किसी न किसी पर्याय से विशिष्ट हो रहे पने करके ही उन जीव अजीवों की तथा भाव यानी आस्रवहेतुद्रव्यत्वेन प्रतीति हो रही है अतः पर्यायों की विवक्षा अनुसार बहुवचन कहा गया है। पर्यायें अनेक हैं।

सामानाधिकरण्यं तदभेदार्पणया जीवाजीवास्तदधिकरणमिति। सर्वथा तद्भेदेऽभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः।

उन जीव, अजीवों का अधिकरण के साथ अभेद बने रहने की विवक्षा से समान अधिकरणपना बन जाता है। जीव अजीव ही तो उस आस्रव के अधिकरण हैं उन उद्देश्य और विधेयदलों का सर्वथा भेद होने पर सामानाधिकरण्य नहीं बन पाता है जैसे कि भरतक्षेत्र और सिद्धशिला अथवा आकाश और ज्ञान का समानाधिकरणपना नहीं है तथा सर्वथा अभेद होने पर भी समान विभक्ति या समान वाच्यार्थ अनुसार समानाधिकरणपना नहीं बनता है जैसे कि बुद्धि के साथ ज्ञान का, घट के साथ कलश का सामानाधिकरण्य नहीं है तभी तो वैयाकरणों के यहाँ उद्देश्य विधेय पदों के अर्थ में कथंचित् व्यभिचार प्रवर्तने पर सामानाधिकरण्य लक्षणा कर्मधारय वृत्ति उपजती है नीलाम्बरं यहाँ नीलपन को छोड़ कर वस्त्रपना धौले वस्त्रों में है और वस्त्रों को छोड़ कर नीलपना कम्बल, स्याही, आदि अन्य पदार्थों में भी ठहर जाता है अथवा नील रंग के नष्ट हो जाने पर भी वस्त्र ठहरा रहता है। ज्ञानों का परिवर्तन होते हुये भी आत्मा वह का वही बना रहता है अतः कथंचित् भेदाभेद होने से जीवों और अजीवों के साथ अधिकरण का सामानाधिकरण्य है।

तत्त्वेभिर्निर्धारणार्थः सूत्रे सामर्थ्यान्निर्देशः। तेषु तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेषु यदधिकरणं तस्य जीवाजीवात्मकत्वेन निर्धारणात्। तदेव दर्शयति।

वह अधिकरण तो इन जीव अजीवों, करके निर्धारण करने के लिये सूत्र में कहा गया है निर्धारण जिससे होता है उस के वाचक पद से षष्ठी या सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं यहाँ भी विना कहे ही सामर्थ्य से तीव्र, मंद आदि पंचम्यन्त पद को सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त बना लिया जाय और प्रथमान्त

आस्रवः के स्थान में आस्रवस्य यों षष्ठी विभक्ति का विपरिणाम कर लिया जाय तदनुसार यह अर्थ हो जाता है कि उन तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष इन में जो अधिकरण हैं उसका जीव, अजीव, स्वरूपने करके निर्धारण किया गया है। जाति, गुण, क्रिया, और संज्ञाओं करके समुदाय से एक देश अवयव का जो पृथक् करना है वह निर्धारण है। तथा उस आस्रव के अधिकरण जीव अजीव हैं। उसी सिद्धान्त को स्वयं ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा दिखलाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्राधिकरणं जीवाजीवा यस्य विशेषतः।
साम्परायिकभेदानां विशेषः प्रतिसूत्रितः ॥१॥

उन तीव्र आदि विशेषकों में जिस आस्रव के विशेष रूप से जीव और अजीव अधिकरण हो रहे हैं उस साम्परायिक आस्रव के भेदों की विशेषता को करने वाला एक प्रतिविशेष इस सूत्र द्वारा कहा जा चुका है।

तदधिकरणं जीवजीवा इति प्रतिपत्तव्यं।

आस्रव का वह अधिकरण तो जीव और अजीव पदार्थ हैं इस प्रकार जिज्ञासुओं को इस सूत्र द्वारा समझ लेना चाहिये।

तत्राद्यं कुतो भिद्यते इत्याह।

उन जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रवों के मध्य में आद्य हो रहे जीवाधिकरण का किन-किन हेतुओं से भेद प्राप्त हो जाता है? इस प्रकार श्रद्धालु शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को यों स्पष्ट कह रहे हैं।

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रि-स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

आदि में होने वाला जीवाधिरण आस्रव तो संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ और योग तथा कृत, कारित, अनुमोदना एवं कषायें इनके विशेषों करके एक एक के प्रति तीन वार पुनः तीन वार पुनः अपि तीन वार अनन्तर चार वार गिनती करते हुये एक सौ आठ भेद वाला हो जाता है। अर्थात्-प्रमाद वाले जीव का हिंसा, असत्य आदि में प्रयत्न का आवेश करना संरम्भ है। हिंसा आदि के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है। हिंसा आदि का प्रथम प्रारम्भ कर देना आरम्भ है। काय परिस्पन्द, वाक् परिस्पन्द, और मनोवलम्ब परिस्पन्द करके योग तीन प्रकार का कहा जा चुका है। अपनी स्वतंत्रता से किये गये कार्य को कृत कहते हैं, दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा कर बनाया गया कारित है, अन्य करके किये जा रहे हिंसा आदि का प्रतिषेध नहीं कर अभ्यन्तर में उसकी अनुमोदना करने में लगरहा मानस परिणाम अनुमत समझा जाता है। क्रोधादि कषायों को समझाया जा चुका है विशेष का सर्वत्र अन्वय हो रहा है तीन बार संरम्भ, समारम्भ, आरम्भों करके, तीन बार योग विशेषों के साथ, यथाक्रम से तीन बार कृत, कारित अनुमोदना विशेषों के अनुसार, चार बार कषाय विशेषों करके गणना की अभ्यावृत्ति करते हुये एकसौ

आठ भेद हो जाते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में प्रमाद के प्रकरण में कहे गये संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट यहाँ भी लगाये जा सकते हैं।

आद्यग्रहणमनर्थकमुत्तरसूत्रे परवचनसामर्थ्यात्सिद्धेरिति चेन्न, विस्पष्टार्थत्वात्तस्य। तदग्रहणे हि प्रतिपत्तिगौरवप्रसंगः। परवचनसामर्थ्यादनुमानात्संप्रत्ययात्परशब्दस्येष्टवाचिनोऽपि भावात्तद्वचनादाद्यसंप्रत्ययाऽसिद्धेः सूक्तमिह ग्रहणं।

यहाँ कोई शंका करता है कि सूत्र में आद्य शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि आगे कहे जाने वाले उत्तरवर्त्ती "निर्वर्तनानिक्षेप" आदि सूत्र में पर शब्द के कहने की सामर्थ्य से ही अर्थापत्त्या यहाँ आद्य शब्द का अर्थ सिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूपेण स्पष्ट करने के लिये इस सूत्र में आद्य पद का ग्रहण किया गया है। यदि उस आद्य पद का ग्रहण नहीं करते तो कठिनता से प्रतिपत्ति होती अतः अर्थकृत गौरव हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। देखिये उत्तर सूत्र में परवचन की सामर्थ्य से यहाँ अनुमान प्रमाण से ही आद्य शब्द के प्रथम अर्थ की समीचीन प्रतीति हो सकती थी, यहाँ विचारिये कि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में हेतु का उपलम्भ, व्याप्तिग्रहण, व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान, निगमन यों अनेक ज्ञान उपजाने पड़ते तब कहीं बिना कहे ही आद्य का अर्थ अर्थापत्त्या सिद्ध होता और अनेक स्थूल बुद्धि वाले शिष्य तो उस अर्थ की प्रतिपत्ति ही नहीं कर पाते अतः परानुग्रह में प्रवर्त रहे सूत्रकार महाराज स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने के लिये आद्य शब्द का कण्ठोक्त प्रतिपादन कर देते हैं। एक बात यह भी है कि अगिले सूत्र में इष्ट अर्थ को कहने वाले भी पर शब्द का सद्भाव है अतः उस पर शब्द के कहने से आद्य शब्द के अर्थ की समीचीन प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है इस कारण यहाँ सूत्र में श्री उमास्वामी महाराज ने आद्य शब्द का ग्रहण बहुत अच्छा कर दिया है।

प्रमादवतः प्रयत्नावेशः प्राणव्यपरोपणादिषु संरंभः, क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समारम्भः, प्रथमप्रवृत्तिरारंभश्चादय आद्यकर्मणि द्योतनत्वात्। संरंभणं संरंभः, समारंभणं समारंभः, आरंभणमारंभ इति भावसाधनाः संरंभादयो, योगशब्दो व्याख्यातार्थः कायवाङ्मनःकर्म योग इति। कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं, कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षं, अनुमतशब्दः प्रयोक्तर्मानसव्यापारप्रदर्शनार्थः, क्वचिन्मौनव्रतिकवत्तस्य वचनप्रयोजकत्वासंभवात् कायव्यापारेऽप्रयोक्तृत्वान्मानसव्यापारसिद्धेः।

प्रमाद वाले जीव का स्वपर के प्राणवियोग आदि में जो प्रयत्न का आवेश (उत्साह विशेष) होना है वह संरम्भ है। साध्यभूत क्रिया के साधनों का भले प्रकार अभ्यास करना यानी अनभ्यस्त को जो अभ्यस्त करना है वह समारम्भ है। शुभ अशुभ क्रियाओं के करने में प्रथम प्रवृत्ति करना आरम्भ है। च, आङ्, प्र, आदिक उपसर्ग आदि में होने वाली क्रिया के द्योतक हो जाते हैं "निपाता द्योतका भवन्ति" आरम्भ शब्द में पड़ा हुआ आङ् निपात आद्य कर्म का द्योतक है। संरम्भण क्रिया मात्र संरम्भ है सम् उपसर्ग पूर्वक रभ धातु से या रभि धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर संरम्भ शब्द बना लिया जाता है। इसी प्रकार समारम्भ मात्र क्रिया करना समारम्भ है यहां भी सम्, आङ्, उपसर्ग पूर्वक रभि धातु से भाव

में घञ् प्रत्यय करके समारम्भ को साध लिया जाता है। आरम्भ मात्र क्रिया कर देना आरम्भ है। आङ् पूर्वक रभ धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर आरम्भ शब्द का साधन कर लिया जाता है। यों संरम्भ आदि शब्द शुद्ध धात्वर्थ मात्र को कह रहे भाव साधन हैं। "कायवाङ्मनःकर्म योगः" इस सूत्र में योग शब्द का अर्थ यों बखाना जा चुका है कि काय, वचन, मनों के अवलम्ब से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है। इस सूत्र में पड़े हुये कृत शब्द का निरूपण तो कर्त्ता की स्वतंत्रता की प्रतिपत्ति कराने के लिये है अर्थात्-आत्मा ने स्वतंत्र होकर उस कार्य को स्वयं किया है और कारित शब्द का कथन दूसरों के प्रयोग की अपेक्षा कर कार्यसिद्धि कराने के लिये है अनुमत शब्द तो प्रयोक्ता के मानसिक व्यापारों का प्रदर्शन कराने के लिये है कहीं कहीं मौन व्रती पुरुष के समान उस अनुमोदक को वचन बोलने का प्रयोजकपना असम्भव है। कार्य द्वारा व्यापार करने में प्रयोक्ता नहीं होने से इसके मानसिक व्यापारों की सिद्धि हो जाती है। अर्थात्-जैसे चुप होकर आंखों से देख रहा पुरुष उस कार्य का निषेध नहीं करने से अपने मन में उसकी अनुमोदना करता रहता है यह शरीर का कोई व्यापार नहीं करता है वचन भी नहीं बोलता है केवल मन में अभ्यन्तर परिणामों द्वारा उस कार्य के होने देने में अनुमोदन करता रहता है ये तीन त्रिक हुये।

कषंत्यात्मानमिति कषायाः प्रोक्तलक्षणाः। विशेषशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत्, तेन संरंभादिविशेषैर्योगविशेषैः कृतादिविशेषैः कषायविशेषैरेकशः प्रथममधिकरणं भिद्यत इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते। एतदेवाह।

सार्वदर्शिक :-आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चौथा चतुष्क इस प्रकार है कि आत्मा जो कषते रहते हैं यानी आत्मा के स्वाभाविक परिणामों की हिंसा करते रहते हैं इस कारण वे कषाय हैं। कषायों का लक्षण दूसरे अध्याय में बहुत अच्छा कहा जा चुका है। "द्वंद्वादौ द्वंद्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते" इस नियम अनुसार यहां द्वन्द्व के अन्त में पड़े हुये विशेष शब्द की प्रत्येक पूर्व पद में परिसमाप्ति कर देनी चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त को भोजन करा दो यहां भोजन क्रिया का उक्त तीनों व्यक्तियों में परिपूर्ण रूप से अन्वय हो जाता अर्थात्-प्रत्येक को भर पेट भोजन कराया जाता है ऐसा नहीं है कि एक के पेट भरने योग्य भोजन को ही तीनों में तिहाई तिहाई बांट दिया जाय, तिस कारण संरम्भ आदि विशेषों करके और योग विशेषों करके तथा कृत आदि विशेषों करके एवं कषायविशेषों करके एक एक प्रति तीन आदि भेदों घटित करते हुये पहिले जीवाधिकरण आस्रव को भिन्न भिन्न कर लिया जाता है इस प्रकार सूत्र का अर्थ व्यवस्थित हो जाता है। इस बात को ही ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं उसको सावधान होकर सुनिये।

जीवाजीवाधिकरणं प्रोक्तमाद्यं हि भिद्यते।
संरंभादिभिराख्यातैर्विशेषैस्त्रिभिरेकशः ॥१॥
योगैस्तन्नवधा भिन्नं सप्तविंशतिसंख्यकं।
कृतादिभिः पुनश्चैतदभवेदष्टोत्तरं शतं ॥२॥
कषायैर्भिद्यमानात्मचतुर्भिरिति संग्रहः।
कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे ॥३॥

पूर्वसूत्र करके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है उन में आदि का जीवाधिकरण तो बखाने गये तीन संरंभ आदि विशेषों करके एक-एक प्रति तीन योग विशेषों से भिन्न हो रहा सन्ता नौ प्रकार भिन्न हो जाता है। वह नौ प्रकार का पुनः कृत आदि विशेषों करके भिन्न हो रहा सन्ता सत्ताईस संख्या वाला हो कर भिन्न हो जाता है। पुनः यही सत्ताईस संख्या वाला आस्रव स्वयं अपने चार प्रकार के भेदों को प्राप्त हो रही कषायों करके आठ ऊपर सौ यानी एक सौ आठ प्रकार हो कर भेद को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार कषाय स्थानों के सम्पूर्ण भेदों का सर्वज्ञ प्रतिपादित परमोत्कृष्ट जिनागम में संग्रह कर लिया गया है। अर्थात्-क्रोध,मान, माया, लोभ, चार कषायों के भी अनन्तानुबन्धी आदि चार चार भेदों से अथवा असंख्यात लोक प्रमाण कषाय जातियों से गुणा करने पर हुये असंख्यात भेदों का इन्हीं एकसौ आठ में संग्रह कर लिया जाता है ऐसा प्ररूपण जैन सिद्धान्त में सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त चला आ रहा है।

जीवाधिकरणं संरंभादिभिस्त्रिभिर्भिद्यमानं हिंसास्रवस्य तावत् त्रिविधं। हिंसायां संरंभः समारंभः आरंभश्चेति। तदेव योगैस्त्रिभिः प्रत्येकं भिद्यमानं नवधावधार्यते कायेन संरंभो वाचा संरंभो मनसा संरंभ इति, तथा समारंभस्तथा चारंभ इति। तदेव नवभेदं कृतादिभिर्भिन्नं सप्तविंशतिसंख्यं कायेन कृतकारितानुमताः संरंभसामारंभारंभाः, तथा वाचा मनसा चेति। पुनश्चैतत्सप्तविंशतिभेदं कषायैः क्रोधादिभिश्चतुर्भिर्भिद्यमानात्मकं भवेदष्टोत्तरशतं क्रोधमानमायालोभैः कृतकारितानुमताः कायवाङ्मनसा संरंभसमारंभारंभा इति।

हिंसा अवलम्ब आस्रव के संरंभ आदिक तीनों करके भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता जीवाधिकरण तो तीन प्रकार का है जो कि हिंसा करने में प्रयत्नावेश स्वरूप संरम्भ करना और साधनों का एकत्रीकरण रूप समारम्भ करना तथा हिंसा में आद्य प्रक्रम स्वरूप आरम्भ करना यों तीन प्रकार है वही तीनों प्रकार का जीवाधिकरण तीन योगों करके प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता नौ प्रकार का यों निर्णीत कर लिया जाता है कि १ काय करके संरम्भ होना २ वचन करके संरम्भ होना ३ मन करके संरम्भ होना यों तीन संरम्भ हुये तिसीप्रकार ४ काय करके समारम्भ ५ वचन करके समारम्भ ६ मन करके समारम्भ यों तीन समारम्भ हुये तिस ही ढंग से ७ काय करके आरम्भ ८ वचन करके आरम्भ ९ मन करके आरम्भ यों तीन आरम्भ हुये सब मिला कर नौ हुये, उन नौऊ भेदों को कृत आदिक के साथ भिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो कृत के साथ नौ और कारित के साथ नौ एवं अनुमत के साथ नौ यों सत्ताईस संख्या वाला जीवाधिकरण आस्रव हुआ। अकेली काय के साथ कृत, कारित, अनुमोदन और संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ की गणना कर देने से नौ भेद हुये तिसी प्रकार वचन और मन से भी गणना अभ्यावृत्ति कर देने पर सत्ताईस भेद हो जाते हैं फिर भी इन सत्ताईस भेदों को क्रोधादि चार कषायों के साथ प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहे स्वरूप एक सौ आठ भेद हो जायंगे। क्रोध,मान,माया, लोभों करके कृत, कारित, अनुमोदना होती हुई काय, वचन, मनों द्वारा संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ स्वरूप जीवाधिकरण आस्रव हैं। इनका प्रस्तार पूर्वक परिवर्तन यों किया जा सकता है कि प्रथम ही सबसे पहिलों के साथ क्रोधादि चार कषायों को भुगता दिया जाय पुनः कृत को छोड़ कर कारित पर आजाना चाहिये पश्चात्-अनुमोदना पर संक्रमण कर लिया जाय ये बारह काय योग पर हुये इसी प्रकार बारह वचन योग पर और बारह मनोयोग पर लगा कर छत्तीस भेद संमारम्भ के हो जाते हैं। इसी प्रकार छत्तीस भेद समारम्भ और छत्तीस भेद आरम्भ के करते हुये सब एक सौ आठ भेद होजाते हैं।

तथैवानृतादिष्वव्रतेषु योज्यं। एवं कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे संग्रहः कृतो भवति। तदप्यष्टोत्तरशतं प्रत्येकमसंख्येयैः कषायस्थानैः प्रतिभिद्यमानसंख्येयमिति जीवाधिकरणं व्याख्यातं।

जिस प्रकार हिंसा अनुकूल आस्रव में एक सौ आठ भेद लगा दिये हैं तिस ही प्रकार झूंठ, चोरी, आदि अव्रतों में भी जोड़ लेना चाहिये। इस ही प्रकार कषायाध्यवसाय स्थान के सम्पूर्ण भेदों का परमागम में संग्रह कर लिया गया समझा जाता है। वे एकसौ आठों भेद भी प्रत्येक के असंख्याते कषाय स्थानों करके विशेषतया भेद को प्राप्त होरहे सन्ते असंख्यातलोक प्रमाण हो जाते हैं इस प्रकार जीवाधिकरण का विस्तार से व्याख्यान कर दिया है। अर्थात् जगत् के अनन्तानन्त कार्य स्वतंत्रतया पुद्गलों करके भी सम्पादित होते हैं किन्तु वैशेषिक जिन कार्यों का ईश्वर करके किया जाना मान बैठे हैं वे सम्पूर्ण कार्य असंख्यात या अनन्तानन्त आस्रवों के धारी जीवों करके बुद्धिपूर्वक या अबुद्धि पूर्वक बना लिये जाते हैं छऊ द्रव्यों में अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। सूरज, चन्द्रमा, को नीचे भूमि पर उतार लेना, घोड़े के सींग उपजा देना, जड़ में ज्ञान धर देना आदि असम्भव कार्यों को न तो ईश्वर ही कर सकता है और न कोई जीवात्मा ही या पुद्गल कर सकता है ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कहना अलीक है अनन्त शक्तिमान् सभी द्रव्य हैं असंख्याती कषाय जातियों अनुसार हुये कर्मों के आस्रवों करके यह संसारी जीव चित्र विचित्र कार्यों का सम्पादन कर देता है इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जीव एव हि तथा परिणामविशेषकर्मणामास्रवतां तत्कारणानां च हिंसादिपरिणामानामधिकरणतां प्रतिपद्यते न पुनः पुद्गलादिस्तस्य तथापरिणामाभावात्। संरंभादीनां वा क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरंजनादधिकरणाभावो नीलपटादिवत्।

कारण कि यह संसारी जीव ही तिस प्रकार परिणाम विशेषों करके आगमन कर रहे कर्मों का और उन कर्मों के कारण हो रहे हिंसा, झूंठ, क्रोध, इन्द्रियलोलुपता आदि परिणामों के अधिकरणपन को को प्राप्त हो रहा है किन्तु फिर पुद्गल द्रव्य, काल द्रव्य आदि तो उन आस्रवित कर्मों के और उनके कारण हिंसा आदि परिणामों के अधिकरण नहीं हैं क्योंकि उन पुद्गल आदिकों के तिस प्रकार आस्रव के अनुकूल परिणाम हो जाने का अभाव है। बात यह है कि क्रोध, असत्यभाषण, आदिक से आलीढ होरहे स्वतंत्र कर्ता जीवों करके किये गये संरम्भ आदि आस्रवों का उस आत्मा के साथ अनुरंजन हो जाने से जीवों के अधिकरणपना बन जाता है जैसे कि नीलपट, लवणमिश्रितव्यंजन आदि हैं अर्थात्-नील रंग से रंजित कर देने पर जैसे पट नीला हो जाता है आकाश नीला नहीं होता है नोंन का अनुराग हो जाने से दाल या साग तो नोंन का अधिकरण हो जाते हैं कसेंड़ी, थाली नहीं। तिसी प्रकर संरंभ या क्रोध आदि का अनुरंजन जीव में हो रहा है।

न चैषां जीववितर्तानामास्रवादिभावे जीवस्य तद्व्याघातः सर्वथा तेषां तद्भेदाभावात्। नहि नीलगुणस्य नीलिद्रव्यमेवाधिकरणं तत्रैव नीलप्रत्ययप्रसंगात्। नीलः पट इति संप्रत्ययात्तु पटस्यापि तदधिकरणभावः सिद्धस्तस्य नीलिद्रव्यानुरंजनान्नीलद्रव्यत्वपरिणामात्तद्भावोपपत्तेः कथंचिदभेदसिद्धेः।

यहाँ कोई शंका करता है कि जीव के परिणाम हो रहे इन संरम्भ आदिकों को यदि आस्रव या उनका कारण आदि होना माना जायेगा तब तो जीव के आस्रव आदि होने का उनको व्याघात प्राप्त होगा। अर्थात्—जीव के परिणामों के जो आस्रव हैं वे जीव के आस्रव नहीं कहे जा सकते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझ बैठना क्योंकि सभी प्रकारों से उन जीव विवर्तों के उनको भेद नहीं कह दिया है वे जीव के भी भेद हो सकते हैं देखिये नील गुण का अधिकरण केवल नील द्रव्य ही नहीं है जो कि दुकानों पर दस रुपया सेर बिकता है यदि नील द्रव्य में ही नील गुण रहता तो उस नील रंग के डेल (ढील) में ही नीलज्ञान के होने का प्रसंग होता अन्यत्र नील का ज्ञान नहीं होसकता था किन्तु नील से रंगे हुये वस्त्र में भी "यह नील है" ऐसा ज्ञान होता है तिस कारण "कपड़ा नील" ऐसी समीचीन प्रतीति होजाने के कारण कपड़े को भी तो उस नील का अधिरणपना सिद्ध है नीलगुण वाले नीलद्रव्य का पीछे रंग देना हो जाने से उस पट के भी नील द्रव्यपन का परिणाम हो जाता है अतः पट में उस नीलपन के परिणाम की उपपत्ति हो गई है कारण कि नील और नीलवान् में कथंचित् अभेद सम्बन्ध की सिद्धि की जा चुकी है।

सर्वथा तद्भेदेऽपि पटे संयुक्तनीलीसमवायान्नीलगुणस्य नीलः पट इति प्रत्ययो घटत एवेति चेन्न, आत्माकाशादिष्वपि प्रसंगात्। तैर्नीलद्रव्यसंयोगविशेषाभावान्न तत्प्रसंग इति चेत्, स कोऽन्यो विशेषः संयोगस्य तथापरिणामात्। तथाहि, परिणामित्वं हि तंतुषु तत्संयुक्तमन्यत्रोपचारात्। न च नीलः पट इत्युपचरितः प्रत्ययोऽस्खलद्रूपत्वाच्छुक्लः पट इति प्रत्ययवत् तद्बाधकाभावाद्विशेषात्। तत्सूक्तं यथा नील्या नीलगुणः पटे नील इति च तस्य तदधिकरणभावस्तथा संरंभादिष्वास्रवो जीवेष्वास्रव इति वास्रवस्य तेऽधिकरणं जीवपरिणामानां जीवग्रहणेन ग्रहणादधिकरणं जीवा इत्युपपत्तेः अन्यथा तत्परिणामाग्रहणप्रसंगादिति।

यहाँ गुण और गुणी के भेद को मान रहा वैशेषिक आक्षेप करता है कि उन नील और नीलवान् का सर्वथा भेद मानने पर भी नील रंग से घुले हुये पानी में डोब दिये गये वस्त्र में संयुक्त हो गये नीली द्रव्य में नील गुण का समवाय होरहा है अतः कपड़ा नीला ही है यह प्रत्यय संयुक्त समवाय सम्बन्ध से सुघटित हो जाता ही है नील गुण नील में रहा और वस्त्र में नील संयुक्त होरहा है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो आत्मा, आकाश आदि में भी नीलपने के ज्ञान हो जाने का प्रसंग आजावेगा नील द्रव्य उन आकाश आदि के साथ संयुक्त होरहा है अतः संयुक्त समवाय सम्बन्ध से वस्त्र के समान आत्मा आदिक भी नीले हो जायेंगे जो कि इष्ट नहीं हैं। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन आत्मा, आकाश, आदि के साथ नील द्रव्य का विशेषजाति का संयोग नहीं है केवल प्राप्ति हो जाना मात्र सामान्य संयोग है पट के साथ नील द्रव्य का विशेष संयोग है जो कि हर्र, फिटकिरी, पानी और पट की स्वच्छता आकर्षकता आदि कारणों से विशेष जाति का होजाता है अतः आत्मा नील है यह प्रसंग नहीं आने पाता है यों काणादों के कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि वह संयोग की विशेषता भला तिस प्रकार परिणमन हो जाने के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है ? अर्थात् पट की नील स्वरूप परिणति है और आत्मा या आकाश की नील परिणति नहीं है। इसी को स्पष्ट कर और भी यों कह दिया जाता है कि कपड़े के तन्तु-तन्तुओं में वह नीली द्रव्य उपचार के सिवाय मुख्य रूप से संयुक्त हो

रहा है आत्मा आदि में नील द्रव्य उपचार से संयुक्त है किन्तु पट में संयुक्त होकर वह बंध गया है पट नीला है यह ज्ञान उपचरित (गौण) नहीं है क्योंकि यह प्रतीति स्खलित नहीं होती है जैसे कि धौला पट है इस प्रतीति को स्खलित नहीं होने के कारण अनुपचरित माना जाता है बाधक प्रमाणों का अभाव जैसे धौला कपड़ा इस प्रतीति में है वैसा ही नीला कपड़ा इस प्रतीति में भी है कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—वैशेषिकोंने नील रंग से रंगे हुये कपड़े में नील को उपचरित माना है नील कमल में या नील मणि में जैसे नील रूप का समवाय है वैसा रंगे हुये नील वस्त्र में नहीं है "सिंहो माणवकः" "गौर्वाहीकः" "अन्नं वै प्राणाः" के समान "नीलः पटः" भी उपचरित है किन्तु आचार्य समझाते हैं कि संयोग होजाने पर पुनः बंध परिणति अनुसार पट में भी नील का समवाय होजाता है किन्तु आत्मा के साथ नील द्रव्य की बंध परिणति नहीं होपाती है तिस कारण यह सिद्धान्त बहुत अच्छा कहा जा चुका है कि जिस प्रकार नील द्रव्य का नील गुण उस पट में भी नील बुद्धि को करता हुआ नीला बना देता है इस कारण उस पट को उस नील का अधिकरणपना प्राप्त है तिसी प्रकार संरम्भ आदिकों में जो आस्रव होरहा है वह जीवों में ही आस्रव है इस कारण जीव के परिणाम वे संरम्भ आदिक ही आस्रव के अधिकरण हैं यों कहने पर भी वे जीव आस्रव के अधिकरण हो जाते हैं "अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र में जीव पद का ग्रहण करने से जीव के परिणामों का ग्रहण हो जाता है जीव और जीव परिणामों में कथंचित् अभेद है अतः जीव भी आस्रवों के अधिकरण हैं यह युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अन्यथा यानी सूत्र अनुसार जीवों को ही पकड़ा जायेगा तो जीवों के उन संरम्भ आदि परिणामों का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है यहां तक जीवाधिकरण आस्रव का प्रतिपादन कर दिया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ततः परमधिकरणमाह ।

आदि के जीवाधिकरण आस्रव का निरूपण हो चुका है उससे परले द्वितीय अजीवाधिकरण का स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

दो भेद वाली निर्वर्तना और चार भेद वाला निक्षेप तथा दो भेद वाला संयोग एवं तीन भेद वाला निसर्ग यों ग्यारह प्रकार का परला अजीवाधिकरण आस्रव है। अर्थात्-जो बनाई जाय वह निर्वर्तना है। निक्षेप का अर्थ स्थापन किया जाना है। जो मिला दिया जाय वह संयोग है और जो प्रवृत्ति में आवे वह निसर्ग है। इस प्रकार इन अजीव अधिकरणों का अवलम्ब पाकर आत्मा के आस्रव उपजता है तिस कारण यह अजीवाधिकरण आस्रव कहा जाता है। भाव में भी उक्त शब्दों की सिद्धि है।

अधिकरणमित्यनुवर्तते । निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा सामानाधिकरण्येन वैयाधिकरण्येन वाधिकरणसंबंधः कथंचिद्भेदाभेदोपपत्तेः। द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।

"अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र से अधिकरण इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिससे कि परला अजीवाधिकरण मूलगुण निर्वर्तना आदि ग्यारह भेदों को धार रहा प्रतीत हो जाता है। इस सूत्र में पड़े हुये निर्वर्तना आदि शब्दों की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय अथवा भाव में युट्,

घञ्, घञ्, घञ्, प्रत्यय कर निर्वर्तना आदि शब्दों का साधन कर लिया जाय। समानाधिकरणपने करके अथवा व्यधिकरणपने करके उद्देश्यदल का विधेयदल होरहे अधिकरण के साथ सम्बन्ध कर लिया जाय क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार उद्देश्य विधेयदलों का कथंचित् भेद अभेद आत्मक सम्बन्ध बन रहा है। अर्थात्-ये निर्वर्तना आदि शब्द जब कर्म में प्रत्यय कर साधे गये हैं तब तो निर्वर्तना और अजीवाधिकरण का समानाधिकरणपने से अन्वय किया जाता है जो निर्वर्तना बनाई जा चुकी है वही तो अधिकरण होरहा आस्रव का अवलम्ब है किन्तु जब निर्वर्तना आदि शब्द भाव में साधे गये सन्ते शुद्ध धातु अर्थ को कह रहे हैं तब व्यधिकरणपने से सम्बन्ध होगा अधिकरण में निर्वर्तना आदि रहते हैं यानी इन भावों से अधिकरण विशिष्ट होरहा है "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" इस पद का विग्रह यों किया जाय, पहिले "द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च" यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "द्विचतुर्द्वित्रयः" यह पद बना लिया जाय पुनः द्विचतुर्द्वित्रयः भेदाः एषां ते "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" यों अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमासवृत्ति करते हुये निर्देश हुआ जान लेना चाहिये।

कश्चिदाह—परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात्, पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकमिह सूत्रे परवचनात्तयोरेकतरवचनाद्द्वितीयस्यार्थापत्तिसिद्धेः पूर्वपरयोरन्योन्याविनाभावित्वात्। न चेयमर्थापत्तिरनैकांतिकी क्वचिद्व्यभिचारचोदनात् सर्वत्र व्यभिचारचोदनायाः प्रयासमात्रत्वात् परस्परापेक्षयोर व्यभिचारात्।

यहाँ कोई पण्डित लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि इस सूत्र में पर शब्द का कथन करना व्यर्थ है क्योंकि पूर्ववर्त्ती "संरम्भ आदि" सूत्र में आद्य शब्द को कण्ठोक्त किया गया है जब संरम्भ आदिक आदि के जीवाधिकरण हैं तो बिना कहे ही अर्थापत्ति से या परिशेष न्याय से सिद्ध होजाता है कि निर्वर्तना आदिक दूसरे अजीवाधिकरण हैं संक्षिप्त सूत्र में ऐसी छोटी छोटी बातें कहां तक कहते फिरोगे। अथवा इस सूत्र में यदि पर शब्द का कथन करते हो तो पहिले के "आद्यं संरम्भ" आदि सूत्र में आद्य शब्द का निरूपण व्यर्थ है क्योंकि उन पर या आद्य दोनों में से किसी एक का कथन कर देने से परिशिष्ट द्वितीय की अर्थापत्ति से ही सिद्धि होजाती है कारण कि पूर्व और पर दोनों का परस्पर में अविनाभावसहितपना है किसी भी एक को कह देने से दूसरे अविनाभावी का बिना कहे ही परिज्ञान हो जाता है। कश्चित् के ऊपर यदि कोई यों कहे कि यह अर्थापत्ति तो व्यभिचार दोष वाली है देखिये बादलों के गर्जने से कदाचित् मेघ बरस जाता है और कभी नहीं भी बरसता है इसी प्रकार काली घटा वाले मेघों के घिर जाने पर भी कभी कभी वृष्टि नहीं होपाती है अज्ञात की ज्ञप्ति कराने वाले या सूचना देरहे स्वर, ताराकंप, स्वप्नदर्शन, शकुन होना, आंख लहकना, शनि, राहु, दशायें आदि ज्ञापक सूचक हेतुओं के व्यभिचार होरहे देखे जाते हैं भरे घड़ों के मिल जाने पर भी कार्य बिगड़ जाते हैं डेरी सूधी आंख लहकने पर भी विपरीत फल मिलता है हथेली के खुजाने पर भी रुपया नहीं मिलता है अतः कोरा-अनुमान (अन्दाज) लगाते फिरना उचित नहीं है। इस कटाक्ष के उत्तर में कश्चित् की ओर से यह समाधान है कि अर्थापत्ति प्रमाण यह व्यभिचार दोष वाला नहीं है किसी किसी अर्थापत्त्याभास में व्यभिचार का प्रश्न उठा देने से सभी निर्दोष अर्थापत्तियों में भी व्यभिचार आजाने का कुचोद्य उठाना केवल व्यर्थ परिश्रम करते रहना है वृष्टि उत्पादक घन घटाओं से अवश्य वृष्टि होवेगी यदि कोई नहीं वृष्टि बरसाने वाली या आंधी आदि प्रतिबन्धकों वाली मेघ मालाओं को नहीं पहिचान सके तो इस अपनी भूल को

अर्थापत्ति के माथे नहीं मढ़ देना चाहिये जो पदार्थ अविनाभाव अनुसार परस्पर की अपेक्षा को लिये हुए अन्यथानुपपन्न हैं उनमें कभी व्यभिचार नहीं आता है अतः इस सूत्र का पर शब्द या पूर्व सूत्र का आद्य शब्द व्यर्थ है यह कश्चित् का आक्षेप खड़ा रहता है।

पूर्वपरयोरंतराले मध्यमस्यापि संभवान्नाविनाभाव इत्यप्ययुक्तं, मध्यमस्य पूर्वपरोभयापेक्षत्वात् पूर्वमात्रापेक्षया तस्य परत्वोपपत्तेः परमात्रापेक्षया पूर्वत्वघटनादव्यवहितयोः पूर्वपरयोरविनाभावसिद्धिः।

यहाँ आद्य और पर के अविनाभाव को बिगाड़ता हुआ कोई पण्डित यदि कश्चित् के ऊपर यह कटाक्ष करे कि पूर्व और पर के अन्तराल में मध्यम पदार्थ की भी सम्भावना है अतः पूर्व और पर का अविनाभाव नहीं ठहरा। कश्चित् कहते हैं कि यह कटाक्ष करना भी अयुक्त है क्योंकि मध्यम तो पूर्व, पर, इन दोनों की अपेक्षा रखता है अतः पूर्व पर दोनों के साथ भले ही मध्यम का अविनाभाव समझ लिया जाय एतावता पूर्व और पर के अविनाभाव में कोई क्षति नहीं पड़ती है। एक बात यह भी है कि मध्यम भी पूर्व और पर दोनों में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है जैसे कि भूत भविष्य कालों में वर्तमान काल गर्भित होजाता है केवल पूर्व की अपेक्षा से उस मध्यम को पर पना है और केवल पर की अपेक्षा से मध्यम को पूर्वपना घटित होरहा है यों अव्यवहित होरहे पूर्व पर दोनों का ही अविनाभाव सिद्ध हुआ अभीतक कश्चित् ही कहे जा रहे हैं।

परशब्दस्य संबंधार्थत्वान्नानर्थक्यमित्यपि न साधीयो निवर्त्याभवात्। परसंबंधमधिकरणमिति वचनं हि स्वसंबंधमधिकरणं निवर्तयति न चेह तदस्ति, तथावचनाभावात्। एतेन प्रकृष्टवाचित्वं परशब्दस्य प्रत्युक्तं तन्निवर्त्यस्याप्रकृष्टस्यावचनात्। इष्टवाचित्वमपि तादृशमेवानिष्टस्य निवर्त्यस्याभावात्। न च प्रकारातरमस्ति यतोऽत्र परवचनमर्थवत्स्यादिति।

सूत्रकार द्वारा पर शब्द का व्यर्थ ही निरूपण होजाने पर यदि कोई यों लीपा पोती करे कि यह पर शब्द का प्रयोग तो सम्बन्ध के लिये है बिना सम्बन्ध के मारा मारा फिरता। अतः व्यर्थ नहीं है। अर्थात्-पर शब्द नहीं होता तो इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं होसकता था "वाक्यं तु संबन्धाभिधेयवद्भवति"। अथवा सूत्रकार को निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण से सम्बन्ध करना है अतः सम्बन्ध करने के लिये यहाँ पर शब्द कहा गया है। कश्चित् कहते हैं कि पर शब्द की सार्थकता के लिये किया गया यह समाधान भी अधिक श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कोई निवृत्ति करने योग्य या व्यवच्छेद होता तब तो किसी पद का प्रयोग करना सार्थक है। जब यहाँ कोई निर्वर्तनीय नहीं है तो बिना प्रयत्न के ही निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण के साथ सम्बन्ध जुड़ जायेगा। संरम्भ आदि जीवाधिकरण के साथ इन निर्वर्तना आदि के सम्बन्ध होजाने का भय तो रहा नहीं क्योंकि पूर्व सूत्र में संरम्भ आदि के साथ आद्य शब्द पहिले से ही लग बैठा है तिस कारण परिशेष से यहाँ अजीवाधिकरण ही लागू होगा पर शब्द व्यर्थ पड़ा। बात यह है कि पर शब्द का प्रयोग करने पर पर सम्बन्धी अधिकरण यह कथन करना नियमसे स्व के साथ सम्बन्ध कर रहे अधिकरण की तो निवृत्ति कर सकता है अन्य की नहीं किन्तु यहाँ वह स्व अधिकरण का प्रकरण ही नहीं है क्योंकि तिस प्रकार स्व अधिकरण का कथन नहीं किया गया है। कश्चित्

ही कहें जा रहे हैं कि इस उक्त कथन करके यदि पर शब्दको प्रकृष्ट अर्थ का वाचक भी मान लिया जाय तो भी उस पर शब्द की सार्थकता का निराकरण हो जाता है क्योंकि उस प्रकृष्ट से निराला निवर्तनीय अपकृष्ट का तो यहाँ कोई निरूपण नहीं किया गया है अतः प्रकृष्ट अर्थ की अपेक्षा भी पर शब्द सार्थक नहीं होसका। यदि पर शब्द को इष्ट अर्थ का वाची माना जाय तो भी वह वैसा का वैसा ही निराकृत होजाता है क्योंकि यहाँ कोई निवर्तनीय अनिष्ट नहीं है। यदि यहाँ कोई अनिष्ट होता तो उस अनिष्ट की निवृत्ति करने के लिये इष्टवाची पर शब्द का कथन सार्थक होता भले ही "परं धाम गतः" के पर का अर्थ इष्ट कर लिया जाय किन्तु फल कुछ नहीं निकला। इनके अतिरिक्त अब कोई पर शब्द की सार्थकता को पुष्ट करने वाला अन्य प्रकार शेष नहीं रहा है जिससे कि यह पर शब्द का प्रयोग करना सफल होजाता। यहाँ तक कश्चित् पण्डित सूत्रकार के पर शब्द की व्यर्थता को पुष्ट कर चुका है।

सोऽप्ययुक्तवादी, परवचनस्यान्यार्थत्वात्। परं जीवाधिकरणादजीवाधिकरणमित्यर्थः तेनाद्याजीवाधिकरणादिदमपरं जीवाधिकरणमिति निवर्तितं स्यात्। जीवाजीवप्रकरणात्तत्सिद्धिरिति चेत्, ततोऽन्यस्याजीवस्यासंभवात्। इष्टवाचित्वाद्वा परशब्दस्य नानर्थक्यमनिष्टस्य निर्वर्तनादनिष्टजीवाधिकरणत्वस्य निर्वर्त्यत्वात्। एतदेवाह।

अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि वह बड़ी देर से पर शब्द को अनर्थक कह रहा कश्चित् पण्डित भी युक्तिपूर्वक कहने की टेव रखने वाला नहीं है क्योंकि पर शब्द का कथन करना यहां "अन्य" इस अर्थ के लिये है जिसका तात्पर्य अर्थ यह निकलता है कि जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण आस्रव निराला है तिस अन्य अर्थ को कहने वाले पर शब्द करके आदि के जीवाधिकरण से यह अजीवाधिकरण भिन्न है। इस प्रकार यहां "पर" शब्द का प्रयोग कर देने से जीवाधिकरण आस्रव की निवृत्ति कर दी जावेगी, उन संरम्भ आदि से ये निर्वर्तना आदि न्यारे हैं यह भी पर शब्द करके समझ लिया जाय। यदि यहां कोई यों कहें कि "अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र अनुसार जीव और अजीव का प्रकरण होने से ही उस जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण के भिन्न पने की सिद्धि होजावेगी यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रकरण से तो अजीव को अन्य हो जाने का असम्भव है जीवमें भी निर्वर्तना आदिक घटित होजाते हैं। इस समाधान में कुछ अस्वरस होने से वा शब्द करके दूसरा समाधान करते हैं कि अथवा इष्ट का वाचक होने से पर शब्द का व्यर्थपना नहीं है पहिले जो कश्चित् ने इस समाधान पर आपेक्ष किया था कि यहां कोई निवर्तनीय नहीं है उस पर हमारा यह कहना है कि इष्ट वाची पर शब्द करके अनिष्ट की निवृत्ति होरही है। निर्वर्तना आदि में अनिष्ट होरहे जीवाधिकरणपन की पर करके निवृत्ति कर दी जाती है। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा यों स्पष्ट कर कहते हैं। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि पूर्व और पर के अन्तराल में पाया जारहा मध्यम पदार्थ भी वस्तुभूत है लोक या पूर्ण आकाश के मध्यप्रदेश आठ यथार्थ हैं। भूत और भविष्य काल के बीच में एक समय वर्तमान काल भी सत्यार्थ है; कोरा आपेक्षिक नहीं है। जगत् के छोटे से छोटे कार्य की पूर्ण उत्पत्ति होने में एक समय अवश्य लगजाता है अतः तीव्र गति से चौदह राजू तक या मन्द गति से निकटवर्ती दूसरे प्रदेश तक परमाणु की जाने की क्रिया से परिच्छिन्न हुआ व्यवहार काल का सब से छोटा अखण्ड अंश एक समय वर्तमान काल वास्तविक है। कल्पित नहीं।

ततोऽधिकरणं प्रोक्तं परं निर्वर्तनादयः ।
द्व्यादिभेदास्तदस्य स्यादजीवात्मकमेव हि ॥१॥

उन पूर्व सूत्रोक्त संरम्भ आदि जीवाधिकरण से भिन्न होरहे ये निर्वर्तना आदिक अधिकरण सूत्रकार महाराज करके बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं तिस कारण इस अजीवाधिकरण के दो, चार आदि भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, आदि नियम से अजीवस्वरूप ही हैं।

निर्वर्तना द्विधा, मूलोत्तरभेदात्। निक्षेपश्चतुर्धा, अप्रत्यवेक्षणदुःप्रमार्जनसहसानाभोगभेदात्। त एते निर्वर्तनादयो द्व्यादिभेदाः परमाद्यजीवाधिकरणादिष्टमधिकरणमस्याजीवात्मकत्वात्।

मूलगुण निर्वर्तना अधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण इन भेदों से निर्वर्तना दो प्रकार की है। मूलगुणनिर्वर्तना अधिकरण के शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान ये पांचभेद हैं तथा काष्ठ, पाषाण की मूर्तियां बनाना या स्त्री, पशु, पक्षी, मनुष्यों आदि के चित्र निर्माण करना यों उत्तरगुण निर्वर्तना अधिकरण आस्रव अनेक प्रकार है तथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमार्जननिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण इन भेदों से निक्षेप चार प्रकारका है। जन्तु हैं या नहीं हैं इस प्रकार चक्षु से नहीं देख कर निक्षेप और कोमल उपकरण की नहीं अपेक्षा रखते हुये खोटे प्रमार्जन अनुसार निक्षेप कर देना तथा विना विचारे सहसा मल, मूत्र, पात्र आदि का निक्षेप कर देना तथैव विना देखे उपकरण आदि का स्थापन कर देना ये निक्षेप अधिकरण हैं। खाने पीने की वस्तुओं के संयोग का अधिकरण और अन्य उपकरणों के संयोग का अधिकरण यों दो प्रकार संयोग है। काय, वचन, मन इन तीन का निसर्ग यानी मनचाहा कहीं भी मन चलाना या कुछ भी वचन बोल देना या चाहे जहाँ शरीर का निसर्ग कर देना यों तीन प्रकार निसर्गाधिकरण है। ये सब दो आदि भेद वाले वे निर्वर्तना आदि तो आदि के जीवाधिकरण से न्यारे या इष्ट होरहे अधिकरण हैं इनको अजीव आत्मक होने से अजीवाधिकरणपना इष्ट किया गया है।

नन्वेवं जीवाजीवाधिकरणद्वैविध्याद् द्वावेवास्रवौ स्यातां न पुनरिंद्रियादयो बहुप्रकाराः कथंचिदास्रवाः स्युः सर्वांश्च कषायानपेक्षानपि वा जीवाजीवानाश्रित्य ते प्रवर्तेरन्नित्यारेकायामिदमाह।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण यों दो प्रकार अधिकरणों के होजाने से आस्रव भी दो ही होंगे फिर इन्द्रिय, कषाय, आदिक बहुत प्रकार के आस्रव तो कैसे भी नहीं होसकते हैं अथवा यों छोटे-छोटे कारणों से आस्रवों के भेद कर दिये जायेंगे तो कषायों की नहीं अपेक्षा रखने वाले भी जीवों और अजीवों का आश्रय पाकर वे आस्रव प्रवर्त जावेंगे, इस प्रकार आशंका के प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

जीवाजीवान्समाश्रित्य कषायानुग्रहान्वितान्।
आस्रवा बहुधा भिन्नाः स्युर्नृणामिंद्रियादयः ॥२॥

कषायों की सहकारिता से सहित होरहे जीव और अजीवों का अच्छा आश्रय लेकर संसारी जीवों के इन्द्रिय, कषाय, आदिक हो रहे आस्रव बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अर्थात्-अन्त-

रंग बहिरंग कारणों अनुसार हुये आस्रवों के अनेक भेद हैं। कषाय रहित जीवों के साम्परायिक आस्रव नहीं होने पाता है।

बहुविधक्रोधादिकषायानुग्रहीतात्मनां जीवाजीवाधिकरणानां बहुप्रकारत्वोपपत्तेस्तदाश्रितानामिंद्रियाद्यास्रवाणां बहुप्रकारत्वसिद्धिः। तत एव मुक्तात्मनोऽकषायवतो वा न तदास्रवप्रसंगः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बहुत प्रकार यहाँ तक कि असंख्यात प्रकार के क्रोध आदि कषायों से अनुग्रह को प्राप्त होरहे जीवों के आस्रव के अवलम्बकारण जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण बहुत प्रकार बन रहे हैं अथवा अनेक प्रकार के क्रोधादि कषायों से अनुग्रहीत स्वरूप जीवाधिकरणों और अजीवाधिकरणों का बहुत प्रकार सहितपना उचित है। जीवाधिकरणों पर जैसे कषायों का अनुग्रह है उसी प्रकार भक्त, पान, उपकरण, शरीर आदि पर भी कषायों की सहकारिता है। तभी ये अजीव अधिकरण अनेक आस्रव हो जाते हैं। हाँ, जिन अजीवों पर कषायों का अनुग्रह नहीं है वे अजीव कथमपि आस्रव नहीं हैं। कषाय रहित जीवों के कोई भी जीव या अजीव अधिकरण आस्रव नहीं है। इस कारण उन अधिकरणों के आश्रित होरहे इन्द्रिय आदि आस्रवों के बहुत प्रकारपन की सिद्धि होजाती है। तिस ही कारण से यानी कषायों की सहकारिता मिलने पर इन्द्रिय आदि आस्रवों के होने का नियम होने से मुक्त जीव सिद्ध परमेष्ठियों के अथवा कषायोदय से रहित होरहे ग्याहमे, तेरहमे, चौदहमे गुणस्थान वाले अकषाय जीवों के उस साम्परायिक आस्रव हो जाने का प्रसंग नहीं आता है।

कुतस्ते तथा सिद्धा एवेत्याह।

किस कारण से वे साम्परायिक आस्रव के भेद मान लिये गये इन्द्रिय आदिक तिस प्रकार यानी आस्रवभेदपने करके सिद्ध ही हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अगली वार्त्तिक को कहते हैं।

बाधकाभावनिर्णीतेस्तथा सर्वत्र सर्वदा।
सर्वेषां स्वेष्टवत्सिद्धास्तीव्रत्वादिविशिष्टवत् ॥३॥

सभी देशों में, सभी कालों में और सभी जीवों के तिस प्रकार इन्द्रिय आदि को आस्रवपन की सिद्धि के बाधक प्रमाणों के अभाव का निर्णय होरहा है जैसे कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि धर्मों से विशिष्ट होरहे साम्परायिक आस्रव के भेदों का निर्णय होरहा है सभी वादी प्रतिवादियों के यहाँ अपने-अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि तिसी प्रकार यानी "असम्भवद्बाधकत्वात्" होती है। विशेषतया परोक्ष पदार्थों की सिद्धि तो बाधकों का असम्भव होजाने से ही होती है। कोई करोड़पति सेठ अपने सभी रुपयों को सबके सम्मुख उछालता या गिनाता नहीं फिरता है, मानसिक आधियों या पीड़ाओं को कोई हाथों पर धर कर नहीं दिखला देता है, सभी पापाचार या पुण्याचार सब के प्रत्यक्ष गोचर नहीं होरहे हैं, द्रव्यों के उदर में अनेक स्वभाव, अविभाग प्रतिच्छेद, परिणमन, छिपे हुये पड़े हैं बाधकों का असम्भव होजाने से ही उनका सद्भाव मान लिया जाता है।

यथैव हि तीव्रमंदत्वादिविशिष्टाः सांपरायिकास्रवस्य भेदाः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धास्तथा जीवाजीवाधिकरणाः सर्वस्य तत एवेष्टसिद्धेः।

कारण की जिस प्रकार तीव्रत्व, मंदत्व, आदि विशेषणों से सहित होरहे साम्परायिक आस्रव के अनेक भेद उस बाधक प्रमाणों के असम्भवने का अच्छा निर्णय होजाने से सिद्ध हैं उसी प्रकार जीवाधिकरण अजीवाधिकरण ये भेद भी असम्भवद्बाधक होजाने से सिद्ध होजाते हैं। सभी विद्वानों के यहाँ उस बाधक प्रमाणों का असम्भव होजाने से ही अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि कर ली जाती है। अर्थात्—क्वचित्, कदाचित्, किसी, एक व्यक्ति को बाधकप्रमाणों का असम्भव तो भ्रान्ति ज्ञानों में भी होजाता है सीप में चांदी का ज्ञान करने वाले पुरुष के उस समय वहां कोई बाधक प्रमाण नहीं उपजता है। बहुत से व्यक्तियों के कई भ्रान्ति ज्ञानों में तो उस पूरे जन्म में भी बाधा खड़ी नहीं होती है। रेल गाड़ी में जा रहे किसी मनुष्य को कासों में जल का ज्ञान हो गया फिर उस मार्ग से कभी लौटना हुआ ही नहीं जिससे कि निर्णय किया जाता। कैई भोली स्त्रियां पीतल की अंगूठी को सोने की ही जन्म भर समझती रहीं बेचने या परखाने का अवसर भी नहीं मिला। अतः सभी कालों में, सभी देशों में, और सभी व्यक्तियों के, बाधकाभाव को प्रमाणता का प्रयोजक कहा गया है। यहां भी सब स्थानों पर सभी कालों में सभी जीवों के बाधक प्रमाणों का असम्भव हो जाने से साम्परायिक आस्रव के भेदों की सिद्धि कर दी गई है।

एवं भूमा कर्मणामास्रवो यं सामान्येन ख्यापितः सांपरायी।
तत्सामर्थ्यादन्यमीर्यापथस्य प्राहुर्ध्वस्ताशेषदोषाश्रयस्य ॥४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यों उक्त प्रकार सामान्य रूप से व्याख्या कर प्रसिद्ध कर दिया गया यह कर्मों का साम्परायिक आस्रव बहुत प्रकार का है। उस साम्परायिक आस्रव के कथन की सामर्थ्य से ही बिना कहे यह जान लिया जाता है कि जिसने अनेक दोषों का आस्रवपना नष्ट कर दिया है ऐसे ईर्यापथ के आस्रव को सूत्रकार महाराज बहुत अच्छा भिन्न कह रहे हैं। अर्थात्—यदि कोई यों कहे कि "इन्द्रियकषायाः" आदि इस सूत्र से प्रारम्भ कर पांच सूत्रों में श्री उमास्वामी महाराज ने साम्परायिक आस्रव का ही विस्तृत निरूपण किया है दूसरे ईर्यापथ आस्रव के भेदों का कोई व्याख्यान नहीं किया है, इस पर ग्रन्थकार का कहना है कि अनेक कारण या विशेषणों से जितने साम्परायिक के भेद हो जाते हैं उतने ईर्यापथ के नहीं। ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे, गुणस्थानों में केवल सातावेदनीय कर्म का एक समय स्थिति वाला आस्रव होता है जो कि राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, अदान, नीचाचरण, भवधारण करना, शरीर रचना करना आदि दोषों से रहित है अतः परिशेष न्याय से ही जान लिया जाता है कि सूत्रकार साम्परायिक से ईर्यापथ को भिन्न कह रहे हैं जो प्रमेय अर्थापत्ति से लब्ध हो जाता है उसको थोड़े शब्दों द्वारा अपरिमित अर्थ को कहने वाले सूत्रों करके कण्ठोक्त करना समुचित नहीं है। ग्रन्थकार ने इसी रहस्य को इस शालिनी वृत्त द्वारा ध्वनित कर दिया है।

यथोक्तप्रकारेण सकषायस्यात्मनः सामान्यताऽस्यास्रवस्य ख्यापने सामर्थ्यादकषायस्य तैरीर्यापथास्रवसिद्धिरिति न तत्र सूत्रकाराः सूत्रितवंतः, सामर्थ्यसिद्धस्य सूत्रणे फलाभावादतिप्रसक्तेश्च। विशेषः पुनरीर्यापथास्रवस्याकषाययोगविशेषाद्बोद्धव्यः।

कषाय सहित जीवों के होरहे सामान्य रूप से आम्नाय अनुसार पूर्व कथित प्रकारों करके साम्परायिक आस्रव का विज्ञापन कर चुकने पर बिना कहे ही सामर्थ्य से उन्हीं सूत्रों करके कषाय रहित जीव के ईर्यापथ आस्रव की सिद्धि होजाती है इस कारण सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज वहाँ सूत्रों

द्वारा ईर्यापथ का निरूपण नहीं कर चुके हैं। अर्थात्-ईर्यापथ का व्याख्यान करने के लिये न्यारे सूत्रों के बनाने की आवश्यकता नहीं है। शब्दों की सामर्थ्य से ही जो पदार्थ अर्थापत्ति या परिशेष द्वारा सिद्ध हो जाता है उसको सूत्रों करके सूचन करने में कोई फल विशेष नहीं है। दूसरा दोष यों भी है यों बड़ा भारी अतिप्रसंग भी होजायेगा अर्थात्-छोटे-छोटे प्रमेयों को भी यदि सूत्रों करके कहा जायेगा तो क्रिया, कारक सभी पदों का प्रयोग करना अनिवार्य होगा अनुवृत्ति, आकर्षण, अध्याहार, अधिकार, उपस्कार, इनके द्वारा प्राप्त होचुके अर्थोंको कहने के लिये भी सूत्र में अनेक पदों का प्रयोग करना पड़ेगा यों सूत्र क्या वह विस्तृत टीकाग्रन्थ बन जायेगा, पुनरुक्त दोषों की भरमार आपड़ेगी अतः सामर्थ्य से सिद्ध होरहे पदार्थ के लिये मुनि का कर्म मौनव्रत ही श्रेष्ठ है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने बहुत अच्छा लिखा है "तत्परमभिधीयमानं साध्यसाधने संदेहयति" व्यर्थ अधिक बोलना अच्छा नहीं है, गम्भीर अल्प उच्चारण करने से ही वचनों की शक्तियाँ रक्षित रहती हैं उदात्त अर्थ वाले पद की विशद व्याख्या कर चेंथरा कर देने से श्रोताओं की ऊहापोह शालिनी बुद्धि का विकास नहीं होने पाता है अन्न का कुटकर, पिस कर, मड़ कर, सिककर, झुरकुट होचुका है फिर भी रोटी, पूड़ी, पुआ, गूझा, आदि को पुनः शिला लोढ़ी करके बट कर या खल्लड़ से कूट कर खाने वालों को वह आनन्द नहीं आ पाता है जो कि स्वकीय दाँतों से चबाकर, लार मिलाते हुये भोक्ता को आस्वादन का सुख मिलता है हाँ दन्तरहित बुड्ढों की बात न्यारी है। अतः ईर्यापथ को विशेष रूप से कहने की सूत्रकार ने आवश्यकता नहीं समझी है। ईर्यापथ आस्रव के विशेषों को पुनः कषायरहित पन और योगों की विशेषताओं से समझ लेना चाहिये। बड़ी अवगाहना वाले या

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सर्वोदयसागर जी महाराज

प्रकृष्ट परिस्पन्दवाले मुनि के अधिक सातावेदनीय कर्म प्रदेशों का आस्रव होगा, मन्द योग होने पर अल्प ईर्यापथ आस्रव होगा। कषायों की उपशान्ति और क्षीणता से भी सम्भवतः ईर्यापथ में अन्तर पड़ जाय जैसे कि ग्यारहमे या बारहमे गुणस्थान वाले मुनि की निर्जरा में अन्तर है।

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

इस प्रकार छठमे अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप प्रथम आह्निक यहाँ तक परिपूर्ण हुआ।

बीजांकुरवदनादी भावद्रव्यास्रवौ मिथो हेतू।
संक्लेशविशुद्ध्यङ्गौ भ्रमति भवे जीव आत्मसात्कुर्वन् ॥१॥

सामान्य रूप से कर्मों के आस्रवों के भेदों को सूत्रकार कह चुके हैं। अब कोई जिज्ञासु पूँछता है कि सम्पूर्ण साम्परायिक आस्रवों को आत्मा क्या एक ही प्रकार के प्रणिधान करके उपार्जन कर लेता है? अथवा क्या अनेक कर्मों के आस्रवणार्थ आत्मा के विशेष व्यापार होते हैं? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर कर्मों के विशेष आस्रवभेदों के हेतुभूत आत्मपरिणामों की विवेचना करते हुये सूत्रकार प्रथम ही आदि के ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को कहते हैं।

तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

उन ज्ञान और दर्शनों में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं। अर्थात्—अपने या दूसरों के ज्ञान और दर्शनों में अथवा ज्ञानवान्, दर्शनवान्, जीवों में एवं ज्ञान या दर्शन के कारणों में जो प्रदोष आदि किये जायेंगे उनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का आस्रव होगा यानी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों में अनुभाग रस अधिक पड़ेगा, दूषितआत्मा को पिशुनता (चुगली करना) परिणति तो प्रदोष है जैसे कि कोई पुरुष ज्ञानवान्, दर्शनवान् पुरुषों की या सज्जनों के ज्ञान दर्शन गुणों की प्रशंसा कर रहा है उसको सुन कर अन्य कोई खोटा पुरुष पिशुनता दोष अनुसार उन सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करता है यह पिशुनतापूर्ण बड़ा भारी दोष प्रदोष है। ज्ञान दर्शन अथवा इनके साधन पुस्तक, विद्यालय, चश्मा, अञ्जन आदि के विद्यमान होने पर भी "नहीं जानता हूँ नहीं हैं" इत्यादि कथन कर देना निह्नव है। देने योग्य भी अभ्यस्त विज्ञान को किसी निन्द्यकारणवश दूसरे को जो नहीं देना है वह मात्सर्य है। ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का वचन, कायों करके विनय गुण कीर्तन प्रकाशन नहीं करना आसादन है। प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगा देना उपघात है। ये छः दोष यदि ज्ञान में होंगे तो ज्ञानावरण के और सत्तालोचन आत्मक दर्शन में होंगे तो दर्शनावरण कर्म का आस्रव कराने वाले समझे जायेंगे।

आस्रवा इति संबंधः। के पुनः प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनयोरित्युच्यते—कस्यचित्तत्कीर्तनानंतरमनभिव्याहरतोंऽतःपैशुन्यं प्रदोषः, परातिसंधानतो व्यपलापो निह्नवः, यावद्याथावद्देयस्याप्रदानं मात्सर्यं विच्छेदकरणमंतरायः, कायवाग्भ्यां ज्ञानिवर्जनमासादनं, प्रशस्तस्यापि दूषणमुपघातः। न चासादनमेव स्याद्दूषणं सतो विनयाद्यनुष्ठानलक्षणत्वात्।

"आस्रवाः" इस शब्द का यहाँ "तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः" के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये "सोपस्काराणि वाक्यानि" वाक्य अपने छः कारक या यथायोग्य न्यून कारकों के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये अश्रूयमाण, उपयोगी, शब्दों का यहां वहां से आकर्षण कर लेते हैं चाहे तो "स आस्रवः" इस सूत्र से भी आस्रव शब्द का मण्डूकप्लुति न्याय अनुसार सम्बन्ध किया जा सकता है अतः उन ज्ञान और दर्शनों के विषय में हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं यह इस सूत्र का अर्थ होजाता है। कोई जिज्ञासु पूँछता है कि वे ज्ञान और दर्शन में होने वाले प्रदोष आदि फिर कौन से हैं? जो कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रवक हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार यों समाधान कहते हैं। साक्षात् या परम्परया मोक्ष प्राप्ति के कारण होरहे उन ज्ञानों या दर्शनों का कीर्तन करने पर पश्चात् किसी एक असहिष्णु कषायवान्, पिशुनता की टेव रखने वाले, जीवका अन्तरंग में पिशुनतास्वरूप परिणाम प्रदोष है। दूसरे के किसी छोटे से निमित्त का अभिप्राय कर ज्ञान का अपलाप (होते हुये मुकर जाना) करना निह्नव है। जो कुछ भी जिस भी किसी प्रकार से देने योग्य ज्ञान या दर्शन का अच्छा दान नहीं करना मात्सर्य है। अर्थात्—स्वयं ज्ञान का अच्छा अभ्यास कर लिया है वह ज्ञान दूसरों को देने योग्य भी है कोई गोप्य या गर्हणीय नहीं है विनीत अभिलाषुक पात्र भी ज्ञानदान योग्य उपस्थित हैं ऐसी दशा में जो ज्ञान को नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य (ईर्षा डाह) है। अपनी कलुषता से समीचीन ज्ञानों के विच्छेद का कर देना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का काय या वचन कर के वर्जन करना आसादन है। प्रशंसाप्राप्त भी ज्ञान को दूषण लगा देना उपघात है। यदि यहां कोई यों शंका उठावे कि ऐसा लक्षण करने पर तो

उपघात विचारा आसादन दूषण ही हुआ, आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कह सकते हो क्योंकि ज्ञान गुण को प्रशस्त जानते हुये भी विनय प्रकाश, प्रशंसावचन आदि नहीं करना आसादन का लक्षण है और उपघात तो ज्ञान इसका "अज्ञान या कुज्ञान ही है" इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के नाश कर देने का अभिप्राय रखना है। यों प्रदोष आदि के निर्दोष लक्षण हैं।

तदिति ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशः सामर्थ्यादन्यस्याश्रुतेः। ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवास्तत्प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनप्रदोषादय इत्यभिसंबंधात्। समासे गुणीभूतयोरपि ज्ञानदर्शनयोरार्थेन न्यायेन प्रधानत्वात् तच्छब्देन परामर्शोपपत्तिः।

सूत्र में पड़े हुये पूर्व परामर्शक तत् शब्द करके ज्ञान और दर्शन का स्मृति पूर्वक कथन हो जाता है। कण्ठोक्त विधेयदल में पड़े हुये "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस शब्द की सामर्थ्य से उद्देश्य दल के तत् शब्द द्वारा ज्ञान दर्शनों का प्रतिनिर्देश हो जाता है। पूर्व सूत्र में कहे गये निर्वर्तना आदि का नहीं। क्योंकि श्रौत औशनसानुमित में श्रौत विधि बलवान् है यहां अन्य किसी शब्द का प्रकरणोपयोगी श्रुतज्ञान के अनुकूल श्रवण नहीं हो रहा है। उनके प्रदोष आदि अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के प्रदोष आदिक तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं। इस प्रकार पदों का उद्देश्य विधेय दलों अनुसार सम्बन्ध हो जाने से विना कहे सामर्थ्य करके तत् पद के निर्दिष्ट अर्थ ज्ञान और दर्शन समझ लिये जाते हैं। यद्यपि "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस समासघटित पद में ज्ञान और दर्शन गौण हो चुके हैं क्योंकि "ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने,ज्ञानदर्शनयोः आवरणे इति ज्ञानदर्शनावरणे" यों द्वन्द्व समास करते हुये पुनः तत्पुरुषसमास में उत्तर पदार्थ प्रधान हो जाता है और पूर्व पदार्थ गौण हो जाते हैं तथापि प्रकरण प्राप्त अर्थ सम्बन्धी न्याय करके ज्ञान और दर्शन की प्रधानता है। न्याय शास्त्र में शब्द सम्बन्धी न्याय करके तत्पुरुष समास के उत्तरपद की ही प्रधानता विवक्षित नहीं है अतः तत् शब्द करके ज्ञान और दर्शन का परामर्श होना बन जाता है जो ज्ञान या ज्ञानवान् अथवा ज्ञान साधन का अवलम्ब लेकर प्रदोष आदि किये गये हैं वे ज्ञानावरण कर्मों के आगमन हेतु हैं और सामान्य सत्ता आलोचनस्वरूप दर्शन या दर्शनवाले जीव अथवा दर्शन के साधनों का अवलम्ब लेकर प्रदोष आदि किये जायेंगे वे दर्शनावरण कर्मों का आस्रव करावेंगे। ये प्रदोष आदि उपलक्षण हैं अन्य भी आचार्य, उपाध्याय, पाठक, गुरुओं के साथ शत्रु भाव, अकाल में अध्ययन करना, अरुचि पूर्वक पढ़ना, पढ़ते हुये भी आलस्य करना, आदर नहीं रखते हुये तत्त्वार्थ सुनना, अपने कुत्सित पक्ष को पकड़े रहना, सत्पक्ष को छोड़ देना, कपट से ज्ञानाभ्यास करना, पाण्डित्य का कोरा अभिमान करना, आदिक भी ज्ञानावरण के आस्रव हैं इसी प्रकार देव या गुरु के दर्शन में मात्सर्य करना, किसी के दर्शन में अन्तराय डालना, आंखों को हानि पहुंचाना, दीर्घ निद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टि को दूषण लगाना, आदि दर्शनावरण के आस्रव माने जाते हैं।

सामान्यतः सर्वकर्मास्रवस्येंद्रियाव्रतादिरूपस्य वचनादिह भूयोऽपि तत्कथनं पुनरुक्तमेवेत्यारेकायामिदमुच्यते।

यहाँ कोई आशंका उठाता है कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण कर्म एकसौ बीसों के आस्रव इन्द्रिय, अव्रत, आदि स्वरूप का कथन पहिले ही "इन्द्रियकषाया" आदि सूत्र करके कर दिया है फिर भी इस सूत्र

करके उन आस्रवों का कथन करना तो पुनरुक्त दोष ही है इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके यह समाधान कहा जाता है।

विशेषेण पुनर्ज्ञानदृष्ट्यावरणयोर्मताः।
तत्प्रदोषादयः पुंसामास्रवास्तेऽनुभागगाः ॥१॥

विशेष करके सूत्रकार द्वारा जीवों के फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव होरहे जो तत्प्रदोष, तन्निन्हव, आदिक माने जा चुके हैं वे सब आस्रव अनुभाग को प्राप्त होरहे सन्ते समझ लेने चाहिये। भावार्थ—तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि का आस्रव होरहे अवसर पर अन्य भी वेदनीय आदि कर्म आते रहते हैं किन्तु प्रदोष आदि के होने पर ज्ञानावरण कर्मों से अनुभाग अधिक पड़ेगा शेष कर्मों में न्यून अनुभाग बंध होगा अतः प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण कर्मों के प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध होजाने का नियम नहीं है फिर भी अनुभाग बंध का नियम कर देने से तत्प्रदोष आदि और ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव का कार्य कारण भाव विचार लिया जाता है।

सामान्यतोऽभिहितानामप्यास्रवाणां पुनरभिधानं विशेषतः प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनामष्टानामप्यास्रवप्रतिपत्त्यर्थम्। एते चास्रवाः सर्वेऽनुभागगाः प्रतिपत्तव्याः कषायास्रवत्वात्। पुंसामिति वचनात् प्रधानादिव्युदासः।

यद्यपि सामान्य से आस्रवों को कहा जा चुका है फिर भी उनका इस छठे अध्याय में दशमे सूत्र से प्रारम्भ कर सत्ताईसमे सूत्र तक विशेष रूप से कथन करना तो प्रत्येक ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के भी आस्रव होने की प्रतिपत्ति कराने के लिये है। ये विशेष रूप से कहे जा रहे सभी आस्रव अनुभाग बंध के अनुकूल शक्ति को प्राप्त कर रहे समझ लेने चाहिये क्योंकि "ठिदि अणुभागा कसाअदो होंति" प्रदोष, शोक, माया, आदि कषायों अनुसार हुये ये आस्रव हैं। कषायों का प्रभाव कर्मों की अनुभाग शक्ति पर पड़ता है अतः व्यभिचार या अतिप्रसंग दोष को स्थान नहीं मिल पाता है। इस वार्त्तिक में "पुंसां" यानी जीवों के आस्रव होना माना गया है अतः "पुंसां" इस कथन से प्रधान प्रकृति या अवस्तुभूत संतान आदि के आस्रव होने का निराकरण कर दिया है। अर्थात्-कपिल मतानुयायी आत्मा को सर्वदा शुद्धनिरंजन स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुण, रजो गुण, तमोगुण, स्वरूप प्रकृति के ही आस्रव के बंध, संसार, मोक्ष, ये व्यवस्थायें स्वीकर करते हैं। बौद्ध सन्तान के आस्रव होना कहते हैं। यहाँ जीवों के कर्मों का आस्रव कह देने से इनका निराकरण होजाता है।

कथं पुनस्ते तथावरणकर्मास्रवहेतव इत्युपपत्तिमाह।

अब यहाँ कोई तर्की पूंछता है कि वे प्रदोष आदि फिर उन आवरण कर्मों के आगमन हेतु भला किस प्रकार समझे जा सकते हैं? या किस प्रमाण से उनका हेतुहेतुमद्भाव निर्णीत कर लिया जाय? बताओ। इस प्रकार तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उसकी युक्ति पूर्वक सिद्धि करे देते हैं।

यत्प्रदोषादयो ये ते तदावरणपुद्गलान्।
नरान्नयंति बीभत्सुप्रदोषाद्या यथा करान् ॥२॥

जिस विषय के जो प्रदोष आदि होंगे वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को कषायवान् आत्मा के निकट प्राप्त करा देते हैं जिस प्रकार कि हिंसक या जुगुप्सित पदार्थ में हुये प्रदोष आदिक इन हाथों को वहाँ ले जाते हैं। अर्थात्–"जीवस्य ज्ञानविषयकप्रदोषादयः (पक्षः) ज्ञानावरणादि-पुद्गलान् जीवान्नयन्ति (साध्यं) ज्ञानादिप्रदोषत्वात् (हेतुः) ये यत्प्रदोषादयः ते तदावरणपुद्गलान् जीवान्नयन्ति (द्विकर्मक णिच् प्रापणे धातु) यथा बीभत्सुप्रदोषाद्याः करान् नयन्ति (व्याप्तिपूर्वकमुदाहरणम्) जीव के ज्ञानादि विषयों में होरहे प्रदोष, निह्नव, आदिक (पक्ष) संसारी आत्मा में ज्ञानावरण आदि पुद्गलों को प्राप्त करा देते हैं (साध्य) क्योंकि ज्ञान आदि में हुये ये प्रदोष आदि हैं (हेतु) जो जिसमें प्रदोष आदि हुये हैं वे उस उस गुण का आवरण करने वाले पुद्गलों को उन जीवों के निकट प्राप्त करा देते हैं (व्याप्ति) जैसे कि ग्लानियुक्त पदार्थ में हुये प्रदोष आदि अपनी नाक या आँख के निकट हाथों को प्राप्त करा देते हैं (अन्वय दृष्टान्त)। लज्जायुक्त स्त्री लज्जा कराने वाले पुरुष को देख कर झट हाथ उठा कर अपना घूंघट खींच लेती है। ग्लानि कारक, भयकारक, हिंसक या अतीव अग्राह्यपदार्थ में प्रदोष, निह्नव, आदि होजाते हैं तब कषायवान् आत्मा शीघ्र अपने हाथों को अपने पास खींच लेता है या हाथों से उन घृणित पदार्थों को ढंक देता है यों अनुमान प्रमाण से इस सूत्रोक्त सिद्धान्त की उपपत्ति कर दी गई है।

ये यत्प्रदोषादयस्ते तदावरणपुद्गलानात्मनो ढौकयंति यथा बीभत्सुस्वशरीरप्रदेशप्रदोषादयः करादीन्। ज्ञानदर्शनविषयाश्च कस्यचित्प्रदोषादय इत्यत्र न तावदसिद्धो हेतुः क्वचित्कदाचित्प्रदोषादीनां प्रतीतिसिद्धत्वात्। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्। अशुद्ध्यादिपूतिगंधिविषयैः प्रदोषादिभिस्तदन्यप्राणिविषयकराद्यावरणाढौकनहेतुभिर्व्यभिचारीति चेन्न, घ्राणसंबंधदुर्गंधपुद्गलप्रदोषादिहेतुकत्वात् तत्पिधायककराद्यावरणढौकनस्य, दोषाद्यभावे तदधिष्ठानसंभूतबाह्याशुच्यादिगंधप्रदोषानुपपत्तेः। तद्विषयत्वपरिज्ञानायोगात् तदन्यविषयवत्।

जो जिस विषय में प्रदोष आदि हुये हैं वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को जीवों के पास ले जाते हैं जिस प्रकार कि जुगुप्सित अपने शरीर के प्रदेशों में हुयीं प्रदोष, निह्नव, आदि परिणतियां अपने हाथ, पांव, आदि को उस स्थान पर ले जाती हैं ज्ञान और दर्शन विषय में हुये किसी जीव के प्रदोष आदि हैं इस कारण उस जीव के निकट ज्ञानावरण, दर्शनावरण पुद्गलों का आस्रव करा देते हैं इस प्रकार पांच अवयवों वाला यह अनुमान है। इस अनुमान में कहा गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है क्योंकि किसी न किसी कषायवान् आत्मा में कभी न कभी पिशुनता आदि दोषों की प्रतीति हो जाना सिद्ध है अतः प्रदोष आदिकों का सद्भाव पाया जाना हेतु प्रदुष्ट आत्मा में रहता है अतः स्वरूपासिद्ध नहीं है। यद्विषय प्रदोषादित्व यह हेतु व्यभिचारी भी नहीं है क्योंकि विपक्ष में वृत्ति होजाने का अभाव है जो कषाय रहित जीव आवरण पुद्गलों का आस्रव नहीं करते हैं उन में प्रदोष आदि नहीं पाये जाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि अशुद्धि ग्रस्त, घृणित आदि दुर्गन्ध विषयों में हुये प्रदोष आदिक तो उनसे अन्य प्राणियों के विषयभूत हाथ आदि आवरणों के प्राप्त कराने के कारण हो रहे हैं अतः इन अनिष्ट गंध वाले पदार्थों में हुये प्रदोष आदिकों करके जैनों का हेतु व्यभिचारी हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घ्राण इन्द्रिय में सम्बन्धी होगये दुर्गन्धी पुद्गल विषय में हुये प्रदोष आदिक ही उस घ्राण को ढकने वाले हाथ, वस्त्र, आदि आवरणों की गति प्रेरणा कराने के हेतु हैं दोष आदिकों के नहीं होने पर उनके आश्रय से उत्पन्न हुये बहिरंग अशुद्ध आदि गंधों में प्रदोष हो जाना नहीं

बन सकता है कारण कि उन प्रदेशों की अधिकरणभूत विषयता के परिज्ञान का अयोग है जैसे कि उससे भिन्न पड़े हुये दूरवर्त्ती उदासीन विषयों में प्रदोष आदि नहीं उपजते हैं। भावार्थ—किसी आक्षेपक ने यहाँ उक्त हेतु का उन प्रदोष आदि से व्यभिचार उठाया था जो कि अशुद्ध दुर्गन्ध, घृणित, मलमूत्र, आदि पुद्गलों में प्रदोष आदि हुये हैं क्योंकि वे प्रदोष आदि तो हैं किन्तु दुर्गन्ध मल मूत्र आदि में कोई पुद्गलों का आस्रव नहीं होता है और न हाथ, पांव, आवरण ही उन पुद्गलों में आस्रवित होजाते हैं प्रत्युत उन दुर्गन्ध पदार्थों से भिन्न होरहे प्राणियों के हाथ, पांव, आदि में गतियां उन से होजाती हैं। कोई व्यक्ति तो दुर्गन्ध पदार्थों से घृणा कर भाग जाता है, कोई हाथ को नाक से लगा लेता है। इस व्यभिचार का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने यों कहा है कि दुर्गन्ध पदार्थ के अंश नाक में आये हैं तभी अन्य प्राणियों के हाथ, पांव, आदि में क्रिया होकर अपनी नाक को उन से ढक लिया गया है अपने घृणा आदि दोषों के बिना बाह्य पदार्थ में प्रदोष आदि नहीं होपाते हैं, घृणा नहीं करनेवाले या दुर्गन्ध में निवास करने वाले जीवों को उस पदार्थ के अनिष्ट गन्धपन का परिज्ञान नहीं होने पाता है अतः यह बात सिद्ध होजाती है कि जिस आत्मा के जिस विषय में प्रदोष आदि होंगे उस आत्मा को उस विषय के आवारक पुद्गलों का समागम करा ही देवेंगे, मात्सर्य करने से शरीर के अवयवों में क्रिया होजाती है जैसे कि समझाने वाले वक्ता को श्रोताओं या प्रमेय अर्थ के आवेश के अनुसार चेष्टायें करनी पड़ती हैं। आसादन और उपघात करने पर टेढ़े मेढ़े हाथ, पांव, नसें, हृदय की धड़कन आदि क्रियायें करते हुये पौद्गलिक अवयवों में प्रेरणा होजाती है। क्रोध करने वाला जीव झट, लाठी, बेंत आदि को पकड़ता है या क्रोध पात्र पर थप्पड़ या घूंसा मार देता है। गुणी पुरुषों को देख कर विनीत पुरुष शीघ्र हाथ जोड़ता है, मस्तक नवाता है कई बार किसी किसी जीव को ऐसा विचार होजाता है कि मैं अमुक पुरुष को नमस्कार या उसकी विनय क्रिया नहीं करूंगा किन्तु वह प्रभावशाली, उत्तमर्ण, गुणगरिष्ठ, उपकारी पुरुष को जब सन्मुख पाजाता है तो बिना चाहे भी उसको विनीत और नतमस्तक होना पड़ता है। मनोज्ञ या गुप्त अंगों के प्रकट होजाने की सम्भावना होजाने पर झट अपना हाथ उनको ढक लेता है, मनुष्य के पेट में साजी मक्खी के चले जाने पर उदराशय उसको अपनी क्रिया करके फेंक देता है वमन होजाती है हाँ चिरैया, छपकली को कै नहीं होती है। छींक या जंभाई आने पर कई मनुष्य नाक, मुंह से हाथ लगा लेते हैं। अधिक प्यास लगने पर ओठों पर जीभ फेर ली जाती है। तीव्र भूख और प्यास में यह लोलुपी जीव अन्न, पान, पदार्थों को शीघ्र खींच लेता है। भगवान् के सम्मुख भक्तिवश प्राणी नृत्य करने लग जाता है। मुख पर मक्खी के बैठते ही उसके उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। गीले खेत में पड़े हुये बीज में जन्म ले गया जीव यहां वहां से अपने वनस्पतिकाय शरीर उपभोगी पदार्थों को खींच लेता है, सोने चांदी की खानों के पृथिवीकायिक जीव अपने शरीर उपयोगी पदार्थों या हजारों-कोस दूरवर्ती चांदी, सोने की घिस कर गिरगयी चूर का आकर्षण कर लेते हैं, सोता हुआ युवा पुरुष जाड़ा लगने पर निकट रक्खे हुये वस्त्र को खींच कर ओढ़ लेता है, भूंखा बालक माता के स्तनों की ओर मुंह कर दूध को चूस कर खींच लेता है, माता प्रेमवश बच्चे को चुपटा लेती है। जगत् में कषायें चित्र विचित्र कार्यों को कर रही हैं। प्रकरण में यही कहना है कि प्रदोष आदिक उस जीव के ज्ञानावरण आदि का आस्रव करा देवेंगे, उक्त हेतु में कोई व्यभिचार दोष नहीं है।

तत एव न विरुद्धं सर्वथा विपक्षावृत्तेरविरुद्धोपपत्तेः। विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात्संदिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, साध्याभावे साधनाभावप्रतिपादनात्।

तिस ही कारण से यानी विपक्ष में वृत्ति नहीं होने से यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि एक देशत्वेन या सर्वदेशत्वेन सभी प्रकारों से विपक्ष में हेतु का वर्तना नहीं होने के कारण अविरुद्ध होना बन जाता है। यहाँ उक्त हेतु को संदिग्ध व्यभिचारी बनाता हुआ कोई चोद्य उठाता है कि विपक्ष में वर्त जाने के बाधक अभाव हो जाने से यह हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है "संदिग्धा विपक्षे व्यावृत्तिर्यस्य" जिस हेतु का विपक्ष से व्यावृत्ति होना संदेह प्राप्त है लोक में किसी पुरुष या स्त्री के विषय में व्यभिचार का संदेह हो जाना भी एक दोष माना गया है उसीप्रकार शास्त्र में हेतु का संदिग्धव्यभिचार दोष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि साध्य का अभाव होने पर विपक्ष में साधन के अभाव बने रहने का प्रतिपादन किया जा चुका है। अर्थात्—जिस आत्मा में जिन गुणों के आवरण करने वाले पुद्गलों का समागम नहीं होरहा है उस आत्मा में उन गुणों के दूषक प्रदोष आदिकों का अभाव है यों व्यतिरेक व्याप्ति अनुसार हेतु का विपक्ष में नहीं वर्तना स्वरूप ब्रह्मचर्य गुण निर्णीत हो चुका है।

यस्य यद्विषयाः प्रदोषादयस्तस्य तद्विषयास्तदविघैव न पुनस्तदावरणपुद्गलः सिद्धयेत् ततो न तत्प्रदोषादिभ्यो ज्ञानदर्शनयोरावरणपुद्गलप्रसिद्धिरिति न शंकनीयं, तदावरणस्य कर्मणः पौद्गलिकत्वसाधनात्। कथं मूर्तं कर्मामूर्तस्य ज्ञानादेरावरणमिति चेत्, तदविद्यामूर्तं कथमिति समः पर्यनुयोगः। यथैव मूर्तस्यावारकत्वे ज्ञानादीनां शरीरमावारकं विप्रसज्यं तथैवामूर्तस्य सद्भावे तेषां गगनमावारकमासज्येत। तदविरुद्धत्वान्न तत्तदावारकमिति चेत्, तत एव शरीरमपि तद्विरुद्धस्यैव तदावारकत्वसिद्धेः।

यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी अपने स्वपक्ष का अवधारण करते हैं कि जिस जीव के जिस विषय में हो रहे प्रदोष, निन्हव, आदि दोष हैं उसके उन विषयों का आवरण कर रही तो अविद्या ही है किन्तु फिर उन गुणों का आवरण करने वाला कोई कार्मणस्कन्ध स्वरूप पुद्गल सिद्ध नहीं हो पायेगा तिस कारण उन ज्ञान या दर्शन में हुये प्रदोष आदिकों से ज्ञान और दर्शन का आवरण करने वाले ज्ञानावरण पुद्गलों की प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि अद्वैतवादियों को हृदय में ऐसी शंका नहीं रखनी चाहिये क्योंकि उन ज्ञान आदि का आवरण करने वाले कर्मों का पुद्गल द्रव्य से निर्मितपना साधा जा चुका है। "अप्रतीघाते" सूत्र के विवरण में "कर्मपुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते परतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारदिबंधवत्" यों कर्म को पौद्गलिक सिद्ध कर दिया है और भी कई स्थलों पर कर्मों का पुद्गलात्मकपना निर्णीत कर दिया है। आगे भी "सकषायत्वाज्जीवः" आदि सूत्र के अलंकार में "पुद्गलाः कर्मणो योग्यः केचित् मूर्तार्थयोगतः, पच्यमानत्वतः शालिबीजादिवदितीरितं" आदि कहा जावेगा। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि अमूर्त हो रहे ज्ञान, दर्शन, आदि का आवरण करने वाला भला मूर्त कर्म किस प्रकार हो सकता है? मूर्त सूर्य के ही मूर्त बादल आवारक हो सकते हैं घर की भींते या छते विचारीं मूर्तशरीर, भूषणों, वस्त्रों को छिपा लेती हैं आकाश को नहीं। यों वेदान्तियों के कहने पर तो हम जैन भी चोद्य उठावेंगे कि आपके यहाँ वे अविद्या, भेदविज्ञान, मोह, आदिक भला अमूर्त हो रहे किस प्रकार एकत्वज्ञान

प्रतिभासाद्वैत, आदि का आवरण कर देते हैं ? बताओ। यों आप अद्वैतवादियों के ऊपर भी हम जैनों की ओर से वैसा का वैसा ही समान पर्यनुयोग उठा दिया जा सकता है कोई अन्तर नहीं है जिस ही प्रकार तुम अद्वैतवादी यह अभियोग उठाओगे कि मूर्त को यदि ज्ञान आदिकों का आवारक होना माना जायेगा तो जीव सम्बन्धी शरीर को भी ज्ञान आदिकों के आवारकपने का विशेषतया प्रसंग आजावेगा "शरीरं पुस्तकादिकं वा ज्ञानादेरावारकं स्यात् मूर्तत्वात्कार्मणस्कंधवत्" अतः अमूर्त का आवरण करनेवाला मूर्त नहीं हो सकता है यह सिद्धान्त मान लो, तिस ही प्रकार हम जैन भी तुम्हारे ऊपर यह प्रसंग उठा सकते हैं कि अमूर्त अविद्या आदि का सद्भाव होने पर ज्ञान आदिकों का आवरण होना मानोगे तो अमूर्त आकाश को भी उन ज्ञान आदिकों के आवारकपन का चारों ओर से प्रसंग आजावेगा अथवा अमूर्त ज्ञान का दूसरा अमूर्त ज्ञान आवारक बन बैठेगा "गगनादिकं ज्ञानान्तरं च ज्ञानादेरावारकं स्यात् अमूर्तत्वात् अविद्यावत्" जो कि तुमने इष्ट नहीं किया है। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि गगन आदिक तो उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध नहीं हैं अतः वे उनके आवरण नहीं हो सकते हैं यों कहने पर तो हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारण से यानी ज्ञनादिक का विरोधी नहीं होने से मूर्त शरीर भी ज्ञान आदि का आवारक नहीं है जो उन ज्ञान आदि से विरुद्ध पदार्थ होगा उसी को उन ज्ञान आदिकों के आवारकपने की सिद्धि है। भावार्थ— अपने प्रासाद में भींते, किवाड़, सींकचे, सांकलें और सिपाही हैं तथा कारागृह में भी वैसे ही भींते आदि हैं किन्तु वे अपने विरुद्ध हैं और अपने घर के सींकचे आदि अविरुद्ध हैं मित्र या स्नेही सम्बन्धी भी अपने बंधु को रोक लेता है। राजकर्मचारी भी अपराधी को रोके रहते हैं किन्तु इन दोनों में महान् अन्तर है। वस्तुतः देखा जाय तो शरीर भी एक छोटे प्रकार का आवारक है। हिंसक क्रूर जीवों के शरीरों अनुसार संयमपालन नहीं हो सकता है। अपने शरीर के बन्धन अनुसार स्त्रियों की आत्मा भी सर्वोच्च पद को नहीं पा सकती है। भावना होते हुये भी देव-देवियों के शरीर संयम नहीं पलने देते हैं। रोग ग्रस्त शरीर अनेक अड़चनें उपजाता है। अनेक प्राणियों के आत्माओं की समानता होने पर भी उनके न्यारे न्यारे शरीरों की परवशता से भिन्न-भिन्न प्रकार जघन्यविचार उपजते रहते हैं। वैज्ञानिक पण्डित भी शरीर आकृति के अनुसार तादृश भावों का उपजना आवश्यक मानते हैं वे वीर क्रूर, विशेष ज्ञानी, पुरुषों के मस्तक, हृदय, के अवयवों को देखते हैं मोल लेलेते हैं। आयुष्य कर्म द्वारा शरीर में कैद कर दिया गया आत्मा स्वतंत्र या चाहे जहाँ नहीं जा पाता है। हमें सर्वत्र शरीर को लाद कर जाना पड़ता है। अतीव स्थूल पुरुष सम्मेद शिखर जी की वन्दना पांवों चल कर नहीं कर पाता है। भोजन या शयन के लिये भले ही शरीर को साथ ले लिया जाय किन्तु ज्ञानाभ्यास सामायिक, संयमपालन आदि क्रियाओं के लिये यह भारी शरीर हमें खींचना, ढोना, पड़ता है हाँ समितिपालन, शास्त्रश्रवण, तीर्थगमन, आहारदान, दीक्षाधारण, तपश्चरण आदि कर्तव्यों में शरीर उपयोगी पड़ता है इस कारण यह ज्ञानादिकों का आवारक नहीं माना गया है। अन्यदृष्ट कारणों में अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार आजाने से अन्यथानुपपत्ति के बल पर पौद्गलिक कर्मों को ही ज्ञान आदि का आवारकपना सिद्ध हो जाता है।

मार्गदर्शक : श्री विद्यानन्द मुनिराज

स्यान्मतं ज्ञानादेर्वर्तमानस्य सतोऽप्यविद्याद्युदये तिरोधानात्तदेव तद्विरुद्धं तदावरणं युक्तं न पुनः पौद्गलिकं कर्म तस्य तद्विरुद्धत्वासिद्धेरिति। तदसत् तस्यापि तद्विरुद्धत्वप्रतीतेः सुरादिद्रव्यवद्।

सम्भवतः अद्वैतवादियों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा में सत्ता रूप से विद्यमान होरहे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भी ज्ञान आदिकों का अविद्या आदि का उदय हो जाने पर तिरोभाव होजाता है। जैसे कि डिब्बी में रत्न का तिरोधान हो गया है। सांख्य भी आविर्भाव, तिरोभाव, को स्वीकार करते हैं उत्पाद, विनाश, को नहीं। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" आत्मा में सत् हो रहे ज्ञान का ही अविद्या, अहंकार, ममता, तवता, विवेकाख्याति आदि से आवरण हो गया है अतः वे अविद्या आदिक ही उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध होरहे सन्ते उनके आवरण समुचित कहे जा सकते हैं किन्तु फिर जैनों के यहां माने गये पौद्गलिक कर्मों को आवरण कहना युक्त नहीं क्योंकि उन पौद्गलिक कर्मों को उन ज्ञान आदिकों का विरोधीपना सिद्ध नहीं है जैसे कि शरीर, पुस्तक, उपनेत्र (चश्मा), विद्यालय, भोजन, ब्राह्मी, बादाम, आदि पौद्गलिक पदार्थ ज्ञान के विरोधी नहीं हैं। यों कह चुकने पर आचार्य बोलते हैं कि अद्वैतवादियों का वह मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है कारण कि मदिरा, भांग, आदि द्रव्यों के समान उन पौद्गलिक कर्मों को भी उन ज्ञान आदिकों के विरोधीपन की प्रतीति होरही है सभी पुद्गल न तो ज्ञान के सहायक हैं और विरोधी भी नहीं हैं। हां, नियत पुद्गल ज्ञान के सहायक भी हैं और कोई कोई ज्ञान के विरोधी भी हैं। अनेक पुद्गलों से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रों को सहायता प्राप्त होती है और कितने ही पौद्गलिकपदार्थों से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रों को सहकारिता मिलती है। कोई एकान्त नहीं है। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म अवश्य ही ज्ञानादि गुणों के आवारक हैं यह निर्णीत विषय है।

ननु मदिरादिद्रव्यमविद्यादिविकारस्य मदस्य ज्ञानादिविरोधिनो जनकत्वात् परंपरया तद्विरुद्धं न साक्षादिति चेत्, पौद्गलिकं कर्म तथैव तद्विरुद्धमस्तु तस्यापि विज्ञानविरुद्धाज्ञानादि-हेतुत्वात् तस्य भावावरणत्वात्। न च द्रव्यावरणापाये भावावरणसंभवेऽतिप्रसंगात्। मुक्तस्यात-त्प्राप्तेरपि वारणात्। तस्य सम्यग्ज्ञानसात्मीभावे मिथ्याज्ञानादेरत्यंतमुच्छेदात्तस्योदये तदात्मनो भावावरणस्य सद्भावात्।

वे ही पण्डित पुनः अपने पक्ष का अवधारण करते हैं कि मदिरा, भांग, गांजा, आदि द्रव्य तो ज्ञान स्वस्थता, विचारशालिता, आदि के विरोधी होरहे और अविद्या, नशा, आदि विकारों के धारी मद के जनक होने के कारण परम्परा करके उन ज्ञानादि के विरोधी हैं। मदिरा आदि द्रव्य अव्यवहित रूप से ज्ञानादि के विरोधी नहीं हैं। अर्थात्—मदिरा आदिक द्रव्य पहिले अविद्या आदि विकार स्वरूप मद को उपजाते हैं और वह मद पुनः ज्ञान आदि की उत्पत्ति में विरोध ठानता है अतः अविद्या आदि को ही आवरण मानो, पौद्गलिक कर्म को नहीं। यों स्वपक्ष को पुष्ट कर रहे अन्यवादियों के कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो पुद्गल द्रव्य से उपादेय हुआ कर्म भी तिस ही कारण यानी ज्ञान आदि के साथ विरोध ठान देने से उन ज्ञान आदिकों का विरोधी सिद्ध हो जाओ क्योंकि उन कर्मों को भी विज्ञान के विरुद्ध होरहे अज्ञान आदि का हेतुपना प्राप्त है। भाव आवरण स्वरूप ही वह अज्ञान है द्रव्य आवरण होरहे पौद्गलिक कर्मों का अभाव मानने पर अज्ञान, राग, द्वेष, आदि भाव आवरणों का होना नहीं सम्भवता है अति प्रसंग हो जायेगा। मुक्त जीव के भी उन अज्ञानादिकों की अप्राप्ति का निवारण हो जायेगा अर्थात्—द्रव्य आवरणों के बिना भी यदि भाव आवरण होने लगें तो कर्म विनिर्मुक्त सिद्ध पर-मेष्ठी के भी अज्ञान, राग, द्वेषविकार बन बैठेंगे। वैशेषिकों ने योगज प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं "योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः" युक्त के कोई अविद्या या

अज्ञान का सम्बन्ध नहीं माना है अतः युक्त ऐसा पाठ भी हो तो कोई क्षति नहीं है क्योंकि उस मुक्त या युक्त जीव के सम्यग्ज्ञान के साथ तदात्मकपना हो जाने पर मिथ्याज्ञान, राग आदि का अत्यन्त उच्छेद हो गया है। वर्तमानकाल में किंचित् भी मिथ्याज्ञान नहीं है, भविष्य में भी मिथ्याज्ञान कथमपि नहीं उपज सकेगा यही मिथ्याज्ञान आदि का अत्यन्त उच्छेद है। उन द्रव्यावरणों का उदय होने पर उस समय आत्मा के अज्ञान, क्रोध, आदि भावावरण का सद्भाव पाया जाता है अतः सिद्ध होता है कि प्रवाह से प्रवर्त रहे ज्ञान आदि का अविद्या के उदय होने पर निरोध हो जाने से जैसे उस अविद्या को ज्ञान आदि का विरोधी मान लिया जाता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म को भी ज्ञान आदि से विरुद्ध मान लिया जाय। मदिरा, अपथ्य भोजन, आदि पुद्गल इसके दृष्टान्त हैं। आत्मा के द्रव्यस्वरूप आवरण लग रहे हैं तभी भाव आत्मक आवरणों का सद्भाव पाया जाता है। अज्ञान आदि दोष और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का हेतुहेतुमद्भाव अनादिकाल से बीजांकुरवत् चला आ रहा है "दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्" इस देवागमस्तोत्र की कारिका का विवरण करते हुये ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री में इस "कार्यकारण भाव" को अच्छा समझा दिया है।

कुतो द्रव्यावरणसिद्धिरिति चेत्, नात्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसंबंधनिबंधनस्तत्स्वभावान्यथाभावस्वभावत्वादुन्मत्तकादिहेतुकोन्मादादिवदित्यनुमानात्। मिथ्याज्ञानादिहेतुकापरमिथ्याज्ञानादिव्यभिचारभेदमनुमानं समीचीनमिति चेन्न, तस्यापि परापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् तदभावे तदनुपपत्तेः। परापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसंतानवत्। कामिन्यादिभावेनोद्भूतैरुन्मादादिभिरनेकांत इति चेन्न, तेषामपि परंपरया तन्वीमनोहरांगनिरीक्षणादिनिबंधनत्वात् तदभावे तदनुपपत्तेः, ततो युक्तमेव तद् ज्ञानदर्शनप्रदोषादीनां तदावरणकर्मास्रवत्ववचनं युक्तिसद्भावाद्बाधकाभावाच्च तादृशान्यवचनवत्।

यहाँ कोई आक्षेपकर्ता पण्डित पूंछता है कि जैनों के यहां द्रव्य आवरणों की सिद्धि भला किस प्रमाण से की जावेगी ? बताओ यों प्रश्न होने पर हम उत्तर करते हैं कि संसारी आत्मा के होरहे मिथ्याज्ञान, अहंकार, दुःख, भय, आदिक तो (पक्ष) विशेष जाति के पुद्गलों के सम्बन्ध को कारण मानकर उपजे हैं (साध्य) आत्मा के उन सम्यग्ज्ञान, मार्दव, अतीन्द्रिय, सुख आदि स्वभावों से अन्यप्रकार के वैभाविक भावों स्वरूप होने से (हेतु) उन्मत्त कराने वाले धतूरा, चण्डू, मद्य, आदिक हेतुओं से उपजे उन्मत्तता, चक्कर आना, तमारा, मद, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से द्रव्य आवरणों की सिद्धि कर दी जाती है। यदि यहाँ कोई इस अनुमान में यों दोष लगावे कि मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, आदि हेतुओं करके उपजे दूसरे मिथ्याज्ञानों से व्यभिचार हो जायेगा अर्थात—दूसरे मिथ्याज्ञानों में हेतु तो रह गया किन्तु पुद्गल विशेषों से उपजता स्वरूप साध्य नहीं रहा वहां पहिले के मिथ्याज्ञानों से (भावावरणों से) दूसरे मिथ्याज्ञान उपजे हैं। कभी द्वेष से द्वेष, दुःख से दुःख, क्रोध से क्रोध, अज्ञान से अज्ञान की धारायें चलती जाती हैं। इनमें पौद्गलिक कर्म कारण नहीं पड़ते हैं अतः व्यभिचार दोष हो जाने के कारण यह जैनों का अनुमान समीचीन नहीं है। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे दूसरे, तीसरे मिथ्याज्ञान भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक कर्मों का उदय होते रहते सन्ते ही उपजे हैं यदि आत्मा में धारा प्रवाह रूप से उदय प्राप्त हो रहे वे पौद्गलिक कर्म नहीं होते तो उन मिथ्याज्ञानों की उत्पत्ति होना नहीं बन सकता था जैसे कि उत्तरोत्तर परिपाक प्राप्त हो रहे उन्मादक

धतूरे आदि के रस की लहरों का सद्भाव होने पर ही उन द्रव्यों से किये गये उन्माद आदि की सन्तान बड़ी देरतक बनी रहती है। एक रोग से और भी कई रोग उपज जाते हैं यहां भी अभ्यन्तर पौद्गलिक वात, पित्त, कफ, दोषों से ही उन रोगों की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। भूंख से भूंख और उससे भी अधिक भूंख अथवा प्यास के उपर प्यास जो लगती है इनमें भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक पित्ताग्नि का संधुक्षण होते रहना अन्तरंग कारण है। पुनरपि कोई व्यभिचार दोष उठाता है कि कामिनी, सम्पत्ति, सिंह, आदि भावों में हुये राग, द्वेष, परिणामों करके उत्पन्न हुये उन्माद ईर्षा, भय, आदि करके व्यभिचार हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे उन्माद आदिक भी परम्परा करके सुन्दरी, तन्वी, स्त्री के मनोहर अंगों का समोह निरीक्षण करना आदि को कारण मान कर उपजे हैं। उन मनोहर अंगों के सकषाय निरीक्षण आदि का अभाव होने पर उन उन्माद आदि की उत्पत्ति होना नहीं बन पाता है। मुनियों या बालकों के स्त्री, सर्प, धन, आदिसे वे भाव नहीं उपजते हैं अतः उन्मत्तक पुरुष को भले ही हृदय हारिणी कामिनी में हुई अभिलाषासे साक्षात् उन्माद, चिन्ता, गुण कथन, उद्वेग, सम्प्रलाप, आदिक होवें किन्तु उनका परम्परया कारण पौद्गलिक कामिनीपिण्ड ही है। जैन सिद्धान्त तो यहाँ इस प्रकार है कि अनेक कार्यों को चलाकर आत्मा अपने प्रमादों अनुसार करता है उससे कर्मबन्ध होता है। कामिनी को देखने पर कामुक के पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय आजाने से उन्माद आदि कामचेष्टायें होने लग जाती हैं। संसारी जीव के प्रतिक्षण पूर्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मों का उदय बना रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन निमित्तों को पाकर पौद्गलिक कर्मों को वैसी वैसी रस देने योग्य परिणतियां होजाती हैं जैसे कि भोजन, पान, पदार्थों का पित्ताग्नि, स्वच्छवायु वाला प्रदेश, नीरोग शरीर, व्यायाम, पाचनचूर्ण, अथवा दूषित जल, वात, पित्त, कफ, के दोष, निकृष्टवायु, रुग्ण शरीर, विषमकाल, रोगस्थान, चिन्ता, आदि निमित्तों अनुसार नाना प्रकार के विपाकों को धार रहा परिणमन होजाता है। अतः ज्ञान आदि के विरोधी पौद्गलिक द्रव्य ही आवरण मानने पड़ते हैं अविद्या नहीं। नैयायिक या वैशेषिक के यहां माने गये धर्म, अधर्म संज्ञक गुण भी आत्मा को परतंत्र नहीं कर सकते हैं जो जिसका गुण है वह उसको परतंत्र नहीं कर सकते हैं। तिस कारण उक्त सूत्र द्वारा श्रीउमास्वामी महाराज का यह निरूपण करना युक्त ही है कि उन ज्ञान या दर्शन में हुये प्रदोष, निह्नव आदिक उन उन ज्ञान दर्शनों का आवरण करने वाले कर्मों के आस्रव हैं क्योंकि सूत्रकार के इस सिद्धान्तवचन में युक्तियों का सद्भाव है तथा बाधक प्रमाणों का अभाव है जैसे कि तिस प्रकार के युक्त और निर्बाध अन्य वचनों का कहना समुचित है। ग्रन्थकार ने अपनी विद्वत्ता से यह भी एक अनुमान बना दिया है कि सूत्रकार के अन्य वचनों समान (दृष्टान्त) इस सूत्र का निरूपण भी (पक्ष) युक्ति पूर्ण और निर्बाध होने के कारण (हेतु) समुचित ही है (साध्य)॥

अथासद्वेद्यास्रवसूचनार्थमाह।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पश्चात् वेदनीय कर्म का नाम निर्देश है। वेदनीय कर्म के सद्वेद्य और असद्वेद्य दो भेद हैं। अनुकूलवेदनीय होरहे लौकिक सुख का कारण सद्वेद्य है और असद्वेद्य का उदय होने पर जीवों के प्रतिकूल वेदनीय दुःख उपजते हैं अब असद्वेद्य कर्म के आस्रव की सूचना देने के लिये श्रीउमास्वामी महाराज उस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

स्वयं अपने में या पर में अथवा दोनों में स्थित हो रहे दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, बध, परिदेवन, ये परिणतियाँ असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। संसारी जीव का पीड़ा स्वरूप परिणाम दुःख है। अनुग्रह करने वाले चेतन या अचेतन पदार्थ के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर दीनता परिणाम शोक है। तिरस्कार आदि को निमित्त पाकर हुये कलुषित परिणाम वाले जीव का मानसिक पश्चात्ताप करना ताप कहा जाता है। परिताप से उत्पन्न हुये बहुत रोना, आंसू डालना, विलाप करना, अंग विकार आदि करके प्रकट क्रन्दन करना आक्रन्दन है। आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, बलप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण का वियोग कर देना वध है, संक्लेश परिणामों का अवलम्ब कर गुणस्मरण पूर्वक बखानते हुये जो स्वयं और दूसरों को अनुग्रह करने की अभिलाषा कराने वाला दयनीय रोना है वह परिदेवन है। ये स्व में होंय या क्रोध आदि के आवेश से दूसरे में उपजा दिये जांय अथवा कषाय वश दोनों में उपज जांय तब असद्वेद्य कर्म का प्रकृत जीव के आस्रव हो जाता है।

पीड़ालक्षणः परिणामो दुःखं, तच्चासद्वेद्योदये सति विरोधि द्रव्याद्युपनिपातात्। अनुग्राहकबांधवादिविच्छेदे मोहकर्मविशेषोदयादसद्वेद्ये च वैक्लव्यविशेषः शोकः, स च बांधवादिगताशयस्य जीवस्य चित्तखेदलक्षणः प्रसिद्ध एव। परिवादादिनिमित्तादाविलांतःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः, स चासद्वेद्योदये क्रोधादिविशेषोदये च सत्युपपद्यते। परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापांगविकाराभिव्यक्तं क्रंदनं, तच्चासद्वेद्योदये कषायविषयोदये च प्रजायते। आयुरिंद्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः, सोऽप्यसद्वेद्योदये च सति प्रत्येतव्यः। संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहणं हा नाथ नाथेत्यनुकंपाप्रायं परिदेवनं, तच्चासद्वेद्योदये मोहोदये च सति बोद्धव्यं।

पीड़ा स्वरूप परिणति दुःख कहा जाता है। वह दुःख तो असद्वेद्य कर्म का उदय होते सन्ते विरोधी द्रव्य आदि का प्रसंग मिल जाने से उपज जाता है। अनुग्रह करने वाले बन्धुजन, इष्ट पदार्थ आदि का वियोग हो जाने पर मोहनीय कर्म का विशेष होरहे शोक का उदय होने से और पूर्व संचित असातावेदनीय का उदय होते सन्ते हुआ विक्लव परिणाम शोक है। बांधव आदि में जिस जीव का अभिप्राय संसक्त होरहा है उस बन्धुजन का वियोग हो जाने पर जीव के चित्त को खेद होजाना स्वरूप वह शोक प्रसिद्ध ही है। निंदा, तिरस्कार, पराभव आदि निमित्तों से हुये कलुषित अन्तःकरण के धारी जीव का तीव्र पश्चात्ताप करना ताप है तथा उस ताप का होना अन्तरंग में असद्वेद्य कर्म का उदय होने पर और चारित्रमोहनीय को क्रोध आदि विशेष प्रकृतियों का उदय हो जाने पर बन जाता है। परिताप से उपजे प्रचुर अश्रुपात वाले विलाप, अंग विकार आदि करके प्रकट चिल्लाना आक्रन्दन है। वह आक्रन्दन अन्तरंग में पूर्व संचित असद्वेद्य का उदय होने पर और कषाय विशेष का उदय होते सन्ते ठीक उपज जाता है। आयुः, इन्द्रिय, बल; श्वासोच्छ्वास, इन प्राणों का वियोग करना बध है। वह बध भी असद्वेदनीय कर्म का उदय होते सन्ते हो जाना समझ लेना चाहिये। तथा संक्लेश परिणामों में तत्पर होरहा और अपने या दूसरों को अनुग्रह कराने वाला एवं हाय नाथ कहाँ गये, हाय नाथ कहां हो, इस प्रकार बहुभाग अनुकम्पा को लिये हुये प्रलाप करना परिदेवन कहा गया है। और तैसे ही वह परिदेवन भी आत्मा में असद्वेदनीय कर्म का उदय होने पर और मोहनीय कर्म का उदय होते उपज रहा समझ लेना चाहिये।

तदेवं शोकादीनामसद्वेद्योदयापेक्षत्वाद्दुःखजातीयत्वेऽपि दुःखात्पृथग्वचनं मोहविशेषोदयापेक्षत्वात् तद्विशेषप्रतिपादनार्थत्वात् पर्यायार्थादेशाद्भेदोपपत्तेश्च नानर्थकमुत्प्रेक्षणीयं। तथैवाक्षेपसमाधानवचनात् वार्तिककारैर्दुःखजातीयत्वात्सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसंबंधेन जात्याख्यानात् कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्चेति।

तिस कारण इस प्रकार यद्यपि संचित असद्वेदनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले होने से ये शोक, ताप, आदिक सभी दुःख की ही विशेष जातियां हैं अतः सूत्र में दुःख का ग्रहण कर देने से ही सभी दुःख जातियों का संग्रह हो जाता है इन शोक आदिक का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है तथापि विशेष-विशेष मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने से और उन दुःखों के कतिपय विशेष भेदों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन होने से तथा पर्यायार्थिक नय अनुसार निरूपण कर देने की अपेक्षा भेद बन गया होने से सूत्रकार ने शोक आदि का दुःख से पृथक् प्ररूपण कर दिया है। अतः शोक आदि का उच्चारण व्यर्थ है यह बैठेठाले उत्प्रेक्षा नहीं कर लेनी चाहिये, राजवार्त्तिक ग्रन्थ को बनाने वाले श्री अकलंकदेव महाराज ने तिस ही प्रकार आक्षेप का समाधान किया है। राजवार्त्तिक ग्रन्थ की इस प्रकार वार्त्तिक है "दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसम्बन्धेन तज्जात्याख्यानात्" दुःखों की जाति के विशेष होने से सम्पूर्ण शोक आदिकों का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है। श्री अकलंकदेव महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि दुःख की कितनी ही एक विशेष व्यक्तियों का सम्बन्ध करके उस दुःख जाति का सूत्र में सूचन कर दिया गया है जैसे कि "गौः" कह देने पर यदि कोई भोला पुरुष उन विशेष व्यक्तियों को नहीं समझता है तो उसको समझाने के लिये खण्ड गाय, मुण्ड गाय, धौली गाय आदि कह दिया जाता है। इसी सम्बन्ध में राजवार्त्तिककार की दूसरी वार्त्तिक यह है कि "कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्च" सामान्य से विशेषों का कथंचित् अन्यपना बन रहा है जैसे कि रूपवान् द्रव्य या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा मृत्तिका से घट, कपाल आदि विशेष अभिन्न हैं और नियत आकृति और नियत अर्थक्रिया, न्यारी संज्ञा, स्वलक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा सामान्य मृत्तिका से घट, कपाल, आदि भिन्न हैं तिसी प्रकार सामान्य की अपेक्षा दुःख से आदि अभिन्न हैं तथा प्रतिनियत कारण, नियत विषय, विशेष प्रतिकूलतायें आदि की अपेक्षा साधारण दुःख से असाधारण शोक आदि भिन्न भी हैं अतः सूत्रकार करके शोक आदि का न्यारा प्रतिपादन करना समुचित है।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदोपपत्तेः। तयोरभेदे तावदात्मैव दुःखपरिणामात्मको दुःखयतीति दुःखं, भेदे तु दुःखयत्यनेनास्मिन्वा दुःखमिति, सन्मात्रकथने दुःखनं दुःखमिति।

यह भी श्री अकलंक देव महाराज का वार्त्तिक है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः" दुःख, शोक, आदि शब्दों की कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण और भाव में सिद्धि करते हुये उनके वाच्य का सद्भाव जान लेना चाहिये क्योंकि पर्यायवान् और पर्याय के भेद और अभेद की विवक्षा बन रही है। जिस समय पर्यायवान् और पर्याय का अभेद मानना विवक्षित होगा तब तो दुःख परिणति स्वरूप हो रहा आत्मा ही दुःख है। कारण कि चुरादि गण की "दुःख तत्क्रियायां" धातु से कर्ता में अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द को बना लिया गया है। दुःखयति इति दुःखं

जो स्वतंत्रतया तदात्मक होकर दुःख परिणत है वह आत्मा ही दुःख है। हाँ जिस समय पर्यायवान् और पर्याय के भेद की विवक्षा है तब तो दुःख क्रिया जिस करके की जा रही है अथवा दुःख क्रिया जहाँ हो रही है वह दुःख है इस प्रकार करण अथवा अधिकरण में भी अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द की सिद्धि कर ली जाती है। "विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः" विवक्षा से कारक प्रवर्त्त जाते हैं सुन्दर पुस्तक स्वयं पढ़ती है, पुस्तक को पढ़ता है, पुस्तक करके पढ़ता है, पुस्तक से पढ़ता है, पुस्तक में पढ़ता है। यों विवक्षा अनुसार कारकों की प्रवृत्ति है। विवक्षा भी कारण बिना यों ही अंटसंट नहीं बन बैठती है। नियत प्राणियों में ही अपने पुत्र, पिता, पत्नी, पति, जामाता, गुरु आदि विवक्षा की जा सकती है। मन चाहे जिस किसी में नहीं। विवक्षा के अवलम्ब भिन्न-भिन्न परिणमन हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर पार्थक्य और अपार्थक्य की विशिष्ट परिणमन ही उनमें न्यारे-न्यारे कारकों की विवक्षा का योग करा देते हैं दुःख पर्याय और दुःख पर्याय वाले की अभेद विवक्षा और भेद विवक्षा अनुसार कर्तृवाच्य, करणवाच्य, आदिक अर्थों में प्रसिद्ध होरहा दुःख शब्द व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न कर लिया जाता है। तथा शुद्ध क्रिया स्वरूप अर्थ के सत्तामात्र का कथन करने पर दुःखनं दुःखं यो भाव में निरुक्ति करते हुये दुःख शब्द को साध लिया जाता है एवं भूत नय जैसे गौ, शुक्ल, जीव, आदि शब्दों के भी अर्थों को गमनात्, शुचि-भवनात्, जीवनात्, यों क्रियाओं की ओर ढुलका ले जाती है उसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्या-दसंपृक्तं तु कारकैः, धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" यह भाव वाच्य प्रत्यय भी सन्मात्र कहने में शब्द को खींच ले जाती हैं सब की अन्तरंग भित्तियां पदार्थों की सूक्ष्म परिणतियां हैं। किसी अकर्मक धातु से भी कृदन्त में कर्म वाच्य प्रत्यय हो सकते हैं।

शोकादिष्वपि कर्तृकरणाधिकरणभावसाधनत्वं प्रत्येयं।

दुःख शब्द के समान शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन, आदि शब्दों में भी कर्ता, करण, अधिकरण, और भाव में प्रत्यय कर सिद्धि हो जाना जान लिया जा, अर्थात्—भ्वादिगण की "शुचि शोके" इस धातु से कर्ता में घञ् प्रत्यय कर शोक शब्द को बना लिया जाय। इष्ट वियोग जन्य दुःख विशेष परिणति का स्वतंत्र कर्ता आत्मा शोक है। शोचति इति शोकः एवं शुच्यते अनेन अस्मिन् वा इति शोकः, शोचनमात्रं वा शोकः, यों निरुक्ति भी की जा सकती है। यद्यपि भाव और कर्म का व्याकरण में विरोध सा दिखलाया गया है सकर्मक धातुओं से कर्म में प्रत्यय हो सकते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव में प्रत्यय हो सकते हैं "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पाणिनीय व्याकरणं) तथापि पचनं, गमनं, पठनं, दोहनं, नयनं आदि सकर्मक धातुओं से भी भाव में युट् प्रत्यय लाये गये हैं। इसी प्रकार अकर्मक धातुओं से भी कर्म की विवक्षा होने पर कर्म वाच्य प्रत्यय लाये जा सकते हैं। जब यह नियम कर दिया गया है कि विवक्षाओं अनुसार कर्ता, कर्म, भाव, अधिकरणपन का आरोप होसकता है तो स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई दोष ही नहीं आपाता है। ये सब आरोप पदार्थों के अनेक बहिरंग, अन्तरंग, निमित्तों अनुसार हुये सूक्ष्म परिणमनों पर अवलम्बित हैं "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्"। इसी प्रकार "तप दाहे" या "तप उपतापे" धातु से कर्ता, करण, आदि में घञ् प्रत्यय कर ताप शब्द को साध लिया जाय तथा "क्रदि आह्वाने रोदने च" या "क्रदि वैक्लव्ये" धातु से कर्ता आदि अर्थों का द्योतक युट् प्रत्यय कर आक्रन्दन शब्द का निर्वचन कर लिया जाय, एवं भ्वादि गण की "वध" धातु या अदादि गण की "हन हिंसागत्योः" धातु से वध आदेश करते हुये कर्त्ता आदि में वध शब्द को

बना लिया जाय, परि उपसर्ग पूर्वक दिव धातु से कर्त्ता आदि में ल्युट् प्रत्यय कर परिदेवन शब्द साधु सिद्ध कर लिया जाय।

तदेकांतावधारणोऽनुपपन्नमन्यतरैकांतसंग्रहात्। पर्यायैकांते हि दुःखादिचित्तस्य कर्तृत्वसंग्रहः करणादित्वसंग्रहो वा स्यान्न पुनस्तदुभयसंग्रहः। तत्र कर्तृत्वसंग्रहस्तावदयुक्तः करणाद्यभावे तदसंभवात्। मनः करणं संतानोऽधिकरणमित्युभयसंग्रहोऽपि श्रेयान्, कर्तृकाले स्वयमसतः पूर्वविज्ञानलक्षणस्य मनसः करणत्वायोगात् षण्णामनंतरातीतं विज्ञाने यद्धि तन्मन इति वचनात्। संतानो न वस्तु ततोऽधिकरणत्वानुपपत्तेः खरविषाणवत्।

यदि दुःख आदिकों की कर्ता ही या कर्म ही में निरुक्ति कर सिद्धि कर देने के एकान्त का अवधारण किया जावेगा तो अभिप्रेत अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है क्यों कि एकान्तवादियों ने पर्याय और द्रव्य आत्मक वस्तु के दोनों अंशों में से एक ही एकान्त का समीचीनतया ग्रहण कर रक्खा है। देखिये केवल पर्याय का ही एकान्त किया जायगा तब तो दुःख, ज्ञान आदि स्वरूप चित्त को कर्त्तापने का संग्रह हो सकेगा अथवा दुःख आदि चित्त को करण, अधिकरण, आदिपने का संग्रह हो सकेगा किन्तु फिर उन दोनों का संग्रह तो नहीं हो सकेगा। अब यह विचारना है कि उनमें पहिला कर्तापने का संग्रह करना तो अयुक्त है क्योंकि पर्याय एकान्त में आत्म द्रव्य के विना कर्तापने का संग्रह नहीं हो सकता है। करण आदि का अभाव होने पर उस कर्त्तापने का असम्भव है। बौद्धों के यहाँ क्षणिक पक्ष अनुसार क्षणभंगी पर्यायों में कर्तापन, करणपन आदि अवस्थायें नहीं बन पाती हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि मन इन्द्रिय को करण और विज्ञान की सन्तान को अधिकरण मानते हुये यों दोनों का संग्रह हो जायगा। ग्रन्थकार करते हैं कि यह उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कर्त्ता कारक के काल में स्वयं अविद्यमान होरहे पूर्वकालीन विज्ञान स्वरूप मन के करणपन का अयोग है। आपने जैनों के भाव मन समान विज्ञान को ही मन माना है। बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार कथन किया गया है कि छह आयतन या छह विज्ञानों के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती जो विज्ञान हैं वह मन है। वैशेषिकों के मनोद्रव्य समान या जैनों के द्रव्यमन समान कोई स्वतंत्र मन पदार्थ बौद्धों के यहाँ नहीं माना गया है अतः मन,तो करण हो नहीं सकता है जब कि कर्त्ता के समय में पूर्व क्षणवर्त्ती विज्ञान स्वरूप मन का ध्वंस हो चुका है। दूसरा विज्ञान की सन्तान को जो अधिकरण कहा गया है वह भी ठीक नहीं पड़ता है। क्योंकि सन्तान कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं माना गया है पहिले पीछे मरे हुये मुर्दों की पंक्ति जैसे कोई परमार्थ स्वरूप मनुष्यों की धारा नहीं है तिस कारण खरविषाण के समान अवस्तुभूत सन्तान को अधिकरणपना नहीं बन पाता है।

चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणमित्यपि न श्रेयस्तस्यापि तत्काले स्थित्यभावात्। यदि पुनर्दुःखादि चित्तं कर्तृ स्वकार्योत्पादने तत्समानसमयवर्त्ति चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणं व्यवहारमात्रात्। परमार्थतस्तु न किंचित्कर्तृ करणादि वा भूतिमात्रव्यतिरेकेण भावानां क्रियाकारकत्वायोगात्। भूतिर्येषां क्रिया सैव चोद्यते इति वचनात्। सर्वस्याकर्तृत्वादिव्यावृत्तेरेव कर्तृत्वा-

दिव्यवहारणादिति मतं, तदपि न दुःखादिचित्तस्य कश्चक्षुरादिर्न कर्तुरणाधिकरणे तस्य बहिर्भूत-रूपादिज्ञानोत्पत्तौ करणत्ववचनात् । नापि मनस्तस्य दुःखादिचित्तसमानकालासंभवात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि चक्षु आदिक तो करण हैं दुःख आदि चित्त का अधिकरण शरीर है। आचार्य कहते हैं कि यह कारकों की उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं है क्योंकि उन चक्षु आदि या शरीर की भी उस दुःख आदि के काल में स्थिति नहीं है। घट की उत्पत्ति करने में कुछ काल तक ठहरने वाले दण्ड, चक्र, भूतल, ही करण या अधिकरण होते हैं क्षणिक पदार्थ कुछ कार्यकारी नहीं हैं। यदि फिर बौद्धों का यह मन्तव्य होय कि दुःख आदि चित्त ही अपने कार्य उत्पादन करने में कर्त्ता है और उस कर्त्ता के उसी समान समय में वर्त रहे चक्षुआदि करण हैं तथा तत्कालीन क्षणिक शरीर अधिकरण होजाता है। केवल व्यवहार से यों कर्त्ता, करण, अधिकरण भाव हैं पारमार्थिक रूप से विचारा जाय तब तो न कोई कर्त्ता है और न कोई करण, अधिकरण आदि हैं। जैनों के यहाँ भी निश्चय अनुसार कोई भिन्न-भिन्न कारकों की व्यवस्था नहीं मानी गयी है। केवल क्षण-क्षण में होते रहने के सिवाय पदार्थों को क्रिया के कारकपन का अयोग है। हम बौद्धों के यहां ग्रन्थों में ऐसा कथन पाया जाता है कि जिन पदार्थों की क्षण-क्षण में उत्पत्ति होना ही क्रिया है और वही कारक है तथा वह ही उपजना मात्र व्यवहार में अनेक व्यपदेशों से कहा जाता है। नैरात्म्यवादी या अन्यापोहमती बौद्धों के यहां अकर्त्तापन, अकरणपन, आदि की व्यावृत्ति का ही कर्त्तापन, करणपन, आदि निर्देशों से व्यवहार किया जाता है। यहां तक कि सभी विद्वानों के यहां अतद्व्यावृत्ति को ही तत् कहा गया है। धनाढ्य का अर्थ "निर्धन नहीं" इतना ही है। नीरोग का अर्थ "अधिक रोगी नहीं" एतावन् मात्र है। घट का कर्त्ता कुलाल है इसका तात्पर्य यही समझा जाय कि कुम्हार घट का अकर्त्ता नहीं है, यों बौद्धों का मन्तव्य होने पर आचार्य कहते हैं कि वह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि दुःख आदि चित्त स्वरूप कर्त्ता के चक्षु आदिक तो करण और अधिकरण नहीं हो सकते हैं कारण कि बौद्धों के यहाँ विज्ञान से बाहर होरहे रूप आदि के ज्ञान की उत्पत्ति में उन चक्षु आदि के करणपन का कथन किया गया है। तथा मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि दुःख आदि चित्त के उसी समान काल में उस अनन्तर अतीत विज्ञान स्वरूप मन का असम्भव है अतः पर्याय का एकान्त करने पर दुःख, शोक, आदि की कर्त्ता करण आदि में निरुक्ति नहीं हो सकती है। पहिले अनुभूत किये गये अर्थ के नष्ट हो चुकने को चिन्त रहे अन्वयी पुरुष के शोक आदिक होते हैं किन्तु क्षणिकवाद में स्मरण होना नहीं सम्भवता है स्मरण नहीं होने से शोक आदिक नहीं हो सकते हैं।

ननु रूपादिस्कंधपंचकस्य युगपद्भावादुःखाद्यनुभवात्मकस्य वेदनास्कंधस्य पूर्वस्य कर्तृत्वमुत्तरदुःखाद्युत्पत्तौ तस्यैव चाधिकरणत्वं सर्वस्य स्वाधिकरणत्वात् । दुःखादिहेतोर्बहिरर्थ विज्ञप्तिलक्षणस्य वेदनास्कन्धस्य चोत्तरात्कार्यात्पूर्वस्य मनोव्यपदेशमर्हतः करणत्वं युक्तमेवेति चेन्न, निरन्वयनष्टस्य कर्तृकरणत्वविरोधात् । स्वकार्यकाले तदनाशे वा क्षणभंगविघातः ।

पुनः बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते हुये कहते हैं कि रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, इन रूप आदि पांचों स्कन्धों की युगपत् उत्पत्ति होती रहती है जब कि

पांच विज्ञानों की धारायें चल रही हैं तो दुःख, शोक, आदि के अनुभव स्वरूप पूर्व समयवर्त्ती वेदना-स्कन्ध को उत्तर समयवर्त्ती दुःख आदि की उत्पत्ति में कर्त्तापन है और उसी वेदनास्कन्ध को दुःख आदि की उत्पत्ति में अधिकरणपना है। सब को स्व में अपना-अपना अधिकरणपना प्राप्त है साथ ही दुःख आदि के हेतु होरहे बहिरंग अर्थ विज्ञान स्वरूप वेदनास्कन्ध को करणपना समुचित ही है जो कि वेदनास्कन्ध उत्तर समयवर्त्ती उस कार्य से पूर्व समय में वर्त रहा संता मन इस नाम निर्देश के योग्य होरहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अन्वय रहित होकर नष्ट हो चुके वेदना-स्कन्ध के कर्त्तापन और करणपन का विरोध है। उत्तर समयवर्त्ती अपने कार्य के काल में पूर्व समयवर्त्ती उस वेदनास्कन्ध स्वरूप कर्त्ता या करण का नाश नहीं माना जावेगा तब तो बौद्धों के यहां पदार्थों के क्षण में नष्ट हो जाने स्वभाव का भंग होजावेगा जिसको कि बौद्ध कथमपि सहन नहीं कर सकते हैं।

आशीर्वाद : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथैव स्वभावस्य भावस्य स्वात्मैवाधिकरणमित्यप्यसंभाव्यं, शक्तिवैचित्र्ये सति तस्य तदुपपत्तेः तस्याधेयत्वशक्त्याधेयता व्यवस्थितेरधिकरणशक्त्या पुनरधिकरणत्वस्थितिः संवृत्या तदुपपत्तौ परमार्थतो न कर्त्रादिसिद्धिरिति न दुःखादीनां कर्तादिसाधनत्वं।

तिस ही प्रकार स्वभाव या भाव का अधिकरण स्वकीय आत्मा ही है। यह भी बनना बौद्धों के यहाँ असम्भव है। हां भावों की शक्तियों का चित्र विचित्रपना होने पर तो उस भाव का स्वयं अधिकरणपना बन जाता है क्योंकि अपनी आधेयता रूप शक्ति करके उस भाव का आधेयपना व्यवस्थित होरहा है और अधिकरणपन शक्ति करके फिर अधिकरणपना स्व में व्यवस्थित है। तभी तो कांच पानी को धार लेता है घाम को नहीं। वस्त्र घाम को रोक लेता है; जल को नहीं। स्त्री गर्भ धारण कर लेती है पुरुष नहीं; यों गांठ की वास्तविक परिणति अनुसार आकाश में निज की आधेयत्व और अधिकरणत्व शक्ति करके ही स्व प्रतिष्ठा बन रही है। यदि बौद्ध वस्तु शून्य कोरी कल्पना करके उस आधेयपने या अधिकरणपन की प्रसिद्धि करेंगे तब तो परमार्थ रूप से कर्त्ता आदि की सिद्धि नहीं हो सकी। इस प्रकार बौद्धों के क्षणिकपक्ष में दुःख, शोक, आदि शब्दों की कर्त्ता, करण, आदि में सिद्धि नहीं होसकती है। यहाँ तक अनित्य एकान्त पक्ष में या पर्याय का एकान्त स्वीकार करने पर दुःख आदि शब्दों की निरुक्ति नहीं बन सकी कह दी गयी है। अब नित्यपन के एकान्त का अवधारण करने में दोष उठाते हैं।

नित्यत्वैकांतेऽपि न तत्संगच्छते निरतिशयात्मनः कर्तृत्वानभ्युपगमात्। केनचित्सहकारिणा-ततो भिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्य पूर्वाकर्तृत्वावस्थातोऽप्रच्युतेः कर्तृत्वविरोधात्। प्रच्युतौ वा नित्यत्वविघातात् तदभिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्यैव कृतेरनित्यतैव स्यात्। कथंचित्तस्य नित्य-तायां परमताश्रयणं दुर्निवारं।

सांख्यमतियों के यहाँ नित्यपन के एकान्त पक्ष में भी वह दुःख, शोक, आदि में कर्त्तापन करण-पन नहीं संगत हो पाता है। क्योंकि शक्तियाँ, स्वभाव, परिणतियाँ स्वरूप अतिशयों से रहित होरहे आत्मा का कर्तापन स्वीकार नहीं किया गया है। क्रिया में स्वतंत्र होकर व्यापार कर रहा पदार्थ कर्त्ता कहा जाता है। अतिशयों से रीता कूटस्थ पदार्थ कथमपि कर्त्ता नहीं हो सकता है। किसी एक सहकारी कारण से उस कर्त्ता में अतिशय किया माना जावेगा, तो प्रश्न उठता है। कि वह अतिशय कर्ता से भिन्न-

किया गया है ? या कर्ता से अभिन्न किया गया है ? प्रथम पक्ष अनुसार सहकारी कारण करके यदि कर्त्ता से भिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तो उस कर्त्ता की पूर्ववर्तिनी अकर्त्तापन अवस्था से प्रच्युति नहीं होने के कारण कर्त्तापन का विरोध है। जैसे तटस्थ असंख्य पदार्थ उस कर्त्ता से भिन्न पड़े हुये हैं उसी प्रकार वह नया उपजा अतिशय भी निराला पड़ा रहेगा। पहिले का कूटस्थ अकर्तृपन हट नहीं सकता है। यदि गाँठ के अकर्तृपन की प्रच्युति मानोगे तो उस कूटस्थ आत्मा के नित्यपन का विघात हुआ जाता है। हाँ द्वितीय पक्ष अनुसार सहकारी कारणों करके उस आत्मा से अभिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तब तो उस कर्त्ता आत्मा का ही किया जाना होने से आत्मा का अनित्यपना ही हो जावेगा इन उक्त दोनों दोषों के निवारणार्थ उस आत्मा का कथंचित् नित्यपना इष्ट करोगे तब तो दूसरे स्याद्वादियों के मत का आश्रय पकड़ना कथमपि दुःख से भी निवारणीय नहीं हुआ "अंध सर्पविल प्रवेश" न्याय से स्याद्वाद की शरण लेना आवश्यक हो जाता है तभी तो कहा गया है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदोपपत्तेः"।

एतेन प्रधानपरिणामस्य महदादेः करणत्वं प्रत्युक्तं, स्याद्वादानाश्रयणे कस्यचित्परिणामानुपपत्तेः। अप्रसाधनात्। तत एव नाधिकरणत्वं कर्मता वा तस्येति विचिंतितं।

इस उक्त कथन करके सांख्यों के यहाँ माने गये प्रधान के परिणाम हो रहे महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, आदि का करणपना खण्डित कर दिया गया है कारण कि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय नहीं लेने पर किसी भी पदार्थ का परिणाम होना नहीं बनता है। इस को हम कई स्थलों पर भले प्रकार साध चुके हैं। पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रुवत्व स्वरूप परिणामों की उत्पत्ति होना नित्यानित्यात्मक पदार्थ में बनता है। तिस ही कारण से अर्थात्—अनेकान्त का तिरस्कार कर एकान्त पक्ष पकड़ लेने से सांख्यों के यहाँ उन महत्तत्त्व आदि का अधिकरणपना अथवा कर्मपना नहीं सध सकता है इस बात का भी विशेष रूप से चिंतन कर दिया जा चुका है।

एतेन स्वतो भिन्नानेकगुणस्यात्मनः कर्तृत्वं व्यवच्छिन्नं, नित्यस्यानाधेयाप्रहेयातिशयत्वात्। तत एव न मनसः करणत्वं दुखाद्युत्पत्तौ सर्वथाप्यनित्यत्वप्रसंगात्। दुःखाधिकरणत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नं पूर्वं तदनधिकरणस्वभावस्यात्यागे तद्विरोधात्, त्यागे नित्यत्वक्षतेः सर्वथापत्तेः। ततोऽनेकात्मन्येवात्मनि दुःखादीनि संसृतौ संभाव्यते नेतरत्र।

इस उपर्युक्त निर्णय करके अपने से सर्वथा भिन्न हो रहे अनेक गुणों वाले आत्मा का भी कर्तापन निरस्त कर दिया गया है क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ के (में) नवीन अतिशयों का आधान नहीं होसकता है और पूर्व अतिशयों का परित्याग भी नहीं हो सकता है। अर्थात्—वैशेषिकों के यहाँ सर्वथा नित्य आत्मा के बुद्धि आदि चौदह गुण सर्वथा भिन्न माने गये हैं जब तक आत्मा पूर्व अतिशयों का त्याग कर उत्तर स्वभावों को ग्रहण नहीं करेगा तब तक उसके कर्तापन, करणपन, नहीं बन सकते हैं। परिणामी जल में तो अग्नि का सन्निधान हो जाने पर शीत अतिशय की निवृत्ति और उष्ण अतिशय का प्रादुर्भाव होजाता है। नैयायिक या वैशेषिक के यहां आत्मा को परिणामी नहीं माना गया है। तिस ही कारण से दुःख, शोक, आदि की उत्पत्ति में मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि करण मानने पर

मन को सभी प्रकारों से अनित्यपन का प्रसंग आता है। अनित्य पदार्थ ही पहिली अकरण अवस्था को त्याग कर क्रिया के साधकतमपन अवस्था को ले सकता है तथा कर्तापन या करणपन के समान आत्मा को दुःखों का अधिकरणपना भी नहीं बन पाता है क्योंकि जब तक पहिले के उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव का त्याग नहीं किया जायगा तब तक उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव हो जाने का विरोध है। हां पहिले के अकर्तापन, अकरणपन, अनधिकरणपन, स्वभावों का त्याग माना जायेगा तब तो वैशेषिकों के यहां सर्वथा नित्यपन के नष्ट हो जाने की आपत्ति आजावेगी तिस कारण सिद्ध होजाता है कि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म आत्मक आत्मा में दुःख आदिक परणतियां संसार अवस्था में सम्भव रही हैं प्रकृति, बुद्धि, या अपरिणामी आत्मा, नित्यात्मा अथवा अन्य जड़ पदार्थों में दुःख, शोक, आदिक परिणाम नहीं सम्भवते हैं।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशवशाद्भवंति स्वघातनवत् स्वदास्यादिताडनवत् स्वाधमर्णनिरोधकोत्तमर्णवच्च।

क्रोध, अभिमान आदि के आवेश के वश से स्वयं अपने में, पर में और दोनों में वे दुःख आदिक परिणाम स्थित हो जाते हैं जैसे कि आत्महत्या करने वाले जीव के स्वयं को तीव्र क्रोध हो जाने से अपना घात करना हो जाता है यह स्व में स्थित हो रहे क्रोध का उदाहरण है। क्रोध के आवेश से अपने दासी, भृत्य, आदि का ताड़न कर जैसे दूसरों में दुःख आदि उपजाये जाते हैं वैसे ही अन्य भी परस्थ दुःख आदि हैं यह परस्थ दुःख आदि का उदाहरण है। तीसरे उभयस्थ दुःख आदि को यों समझिये कि जैसे अपने अधमर्ण (कर्जदार) को रोक रखने वाला उत्तमर्ण होता है यानी कर्ज देने वाला सेठ कर्ज नहीं चुकाने वाले को देर तक चारक बन्धन (बंदीखाने) में रोक देता है ऐसी क्रिया करने में दोनों को दुःख उपजता है। पाठ को नहीं अभ्यस्त करने वाले उद्दण्ड छात्र को पीटने पर शान्त प्रकृतिक गुरु और शिष्य दोनों को दुःख उपजता है यों "आत्मपरोभयस्थानि" का विवरण कर लेना चाहिये।

असद्वेद्यस्येत्यत्र विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनर्थको निर्देश इति चेन्न, विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात् विदेश्चेतनार्थे चुरादित्वात्तस्येदं वेद्यते इति वेद्यं न पुनरवगमनलाभविचारणसद्भावार्थानां वेत्ति-विंदति-विनत्ति-विद्यतीनामन्यतमग्रहणं येनानर्थको निर्देशः स्यात्।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि असच्च तद्वद्यं इति असद्वेद्यं यों यहाँ असद्वेद्य शब्द में विदि, विद्लृ आदिक धातुओं के अर्थ अवगमन, लाभ, आदिक हैं इन में से किसी भी अर्थ का संग्रह करनेपर अभीष्ट अर्थ की संगति नहीं मिल सकती है। इस कारण सूत्रकार द्वारा वेद्य शब्द का निर्देश करना निरर्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चेतन अर्थ में वर्त रही विद धातु का यहां ग्रहण है (इकस्तिपौ धातुनिर्देशे) चेतन अर्थ में वर्त रही विद धातु चुरादि गण की है। उस धातु से ण्यन्त करते हुये कर्म में निरुक्ति कर पुनः कृदन्त में वेद्य शब्द बना लिया जाता है। सातवेदनीय या असातवेदनीय कर्मों का जीवों को संचेतन होता रहता है इस कारण यह वेद्य कर्म है। किन्तु यहाँ फिर विद् अवगमने, विद्लृ लाभे, विद विचारणे, विद् सत्तायां, इन ज्ञान, लाभ, विचारना, सद्भाव अर्थों वाली वेत्ति (अदादिगण) और विन्दति तुदादिगण) विन्दन्ति या विन्ते रुधादिगण) विद्यते (दिवादिगण) की धातुओं में से किसी एक का भी ग्रहण नहीं है जिससे कि सूत्रकार का निर्देश कर देना व्यर्थ होजाता।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वादनिष्टफलप्रादुर्भावकारणत्वाच्च विशेष्यते । असच्च तद्वेद्यं च तदिति ।

जगत् में अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाले अप्रशंसनीय पदार्थ से अनिष्ट फलों को उपजाने वाले बहुत प्रकार के कारण हैं। तदनुसार अप्रशस्त होने से और अनिष्ट फलों की उत्पत्ति के कारण होने से वह असात वेदनीय कर्म विशेष-विशेष प्रकार का होजाता है जो असत् यानी अप्रशस्त होरहा सन्ता चेतना करने योग्य है इस कारण वह तो असद्वेद्य है। यों कर्मधारय समास वृत्ति कर लेनी चाहिये।

अत्र सूत्रे दुःखाभिधानामादौ प्रधानत्वात् । तस्य प्राधान्यं तद्विकल्पत्वादितरेषां शोकादीनां । शोकादिग्रहणस्यान्यविकल्पोपलक्षणार्थत्वादन्यसंग्रहः । के पुनस्तेऽन्ये ? अशुभप्रयोगपैशुन्यपरपरिवादाः कृपाविहीनत्वं अंगोपांगछेदनतर्जनसंत्रासनानि । तथा भर्त्सनतक्षणविशसनबंधनसंरोधननिरोधाद्यैर्मर्दनभेदनवाहनसंघर्षणानि तथा विग्रहे गौरुयविधानं परात्मनिंदाप्रशंसने चैव संक्लेशजननमायुर्बहुमानत्वं च सुखलोभात् बह्वारम्भपरिग्रहविश्रंभविघातनैकशीलत्वं पापक्रियोपजीवननिःशेषानर्थदण्डकरणानि तद्दानं च परेषां पापचारैर्जनैश्च सह मैत्री तत्सेवासंभाषणसंव्यवहाराच्च संलक्ष्याः ।

इस सूत्र में सब के प्रथम दुःख पद का निर्देश करना तो प्रधान होने के कारण हुआ है क्योंकि उस दुःख से न्यारे कहे गये शोक आदिक तो उसी दुःख के भेद प्रभेद हैं। अतः दुःख ही आदि में प्रधान बोला जाता है। हाँ शोक आदि का ग्रहण करना तो दुःख के अन्य संग्रहीत विकल्पों का उपलक्षण या ग्रहण करने के लिए है। इस कारण अनुपातों का भी संग्रह होजाता है। दुःख के वे अन्य भेद प्रभेद फिर कौन से हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यों समझिये कि अशुभ क्रियाओं का प्रयोग करना, पैशुन्य (चुगली) करना, दूसरों की निन्दा तिरस्कार करना, कृपा से रहितपना, अंग या उपांगों का छेदना, ताड़ना, अधिक त्रास देना तथा डरावना, कुत्सित प्रभाव डालना, छीलना, काटना, बांधना, खूब रोक देना, जाने आने में विघ्न डालना, आदि करके मर्दन करना, भेदना, लादना, मार घसीटना, आदि हैं यथा शरीर में रूखापन लाना या लड़ाई करते हुये प्रकृति में रूखापन ले आना परायी निन्दा और अपनी प्रशंसा ही किये जाना एवं संक्लेश उपजावना, आयु को बहुत मानना तथैव सुख के लोभ से बहुत आरम्भपरिग्रह रखना विश्वास को विघात करने की एक टेव रखना, पाप क्रियाओं से आजीविका चलाना, सम्पूर्ण अनर्थदण्डों को किये जाना तथा उन पापोपदेश आदि को दूसरों के लिये अर्पण करना, उन पापाचारियों की सेवा करना, पापियों के साथ सम्भाषण करना, और अधिक व्यवहार से भले प्रकार पहिचानने योग्य क्रियाओं का सेवन करना इत्यादि बहुत सी कुत्सित क्रियाओं का शोक आदि पदों द्वारा उपलक्षण हो जाता है।

ते एते दुःखादयः परिणामाः स्वपरोभयस्थाः असद्वेद्यस्य कर्मण आस्रवाः प्रत्येतव्याः । प्रपंचतोऽन्यत्र तदभिधानात् ।

वे सब ये दुःख शोक आदिक परिणाम यदि स्व में दूसरे में अथवा दोनों में स्थित हो जाते

हैं तो असातवेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। इस प्रकरण का विस्तार से निरूपण अन्य ग्रन्थों में वहाँ वहाँ कह दिया है।

अथ दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वं किमागममात्रसिद्धमाहोस्विदनुमानसिद्धमपीत्याशंकायामस्यानुमानसिद्धत्वमादर्शयति।

इस के अनन्तर अब यहाँ किसी की आशंका उठती है कि दुःख शोक आदिक ये असद्वेदनीय कर्मके आस्रव हैं, क्या यह मन्तव्य केवल जैनों के आगम प्रमाण से ही सिद्ध है ? अथवा क्या अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है ? बताओ। इस प्रकार आशंका होनेपर ग्रन्थकार इस सूत्र के प्रमेय की अनुमान से सिद्धि होजाने को दिखलाते हैं।

दुःखादीनि यथोक्तानि स्वपरोभयगानि तु।
आस्रावयंति सर्वस्याप्यसातफलपुद्गलान् ॥१॥
तज्जातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्यथानले।
प्रवेशादिविधायीनि स्वसंवेद्यानि कानिचित् ॥२॥

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार यथा उक्त चले आये सूत्र में कहे गये एवं स्वयं पर और उभय में प्राप्त होरहे दुःख शोक आदिक तो (पक्ष) असाता फल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) उस-उस दुःख आदि जाति वाले आत्मसंक्लेश विशेष के होने से (हेतु) हम आदि के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये कोई-कोई दुःख आदिक जिस प्रकार अग्नि में प्रवेश करना, झुरस जाना, जल मरना आदि क्रियाओं को करा देते हैं (अन्वयदृष्टान्त) यह बात सभी दार्शनिकों या लौकिक जनों के यहाँ प्रसिद्ध है यों अनुमान प्रमाण से साध दिया गया है।

दुःखमात्मस्थमसातफलपुद्गलास्रावि दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वात् पावकप्रवेशकारिप्रसिद्धदुःखवत्। तथा परत्र दुःखमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्, तथोभयस्थं दुःखं विवादापन्नमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्। एवं शोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसातफलपुद्गलास्रावीण्युत्पादयितुर्जीवस्य दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्विषभक्षणादिविधायिशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनवत् इत्यष्टादशानुमानानि प्रतिपत्तव्यानि।

उक्त कारिकाओं की टीका इस प्रकार है कि अपने में स्थित होरहा दुःख (पक्ष) असात फल वाले पुद्गलों का आस्रव कर्ता है (साध्यदल) दुःख की जाति वाला विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) अग्नि में प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध होरहे स्वकीय दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—स्व तीव्र दुःख हो जाने पर जैसे कोई आत्मघाती पुरुष अग्नि में प्रवेश कर चारों ओर से अग्नि का आस्रव कर लेता है उसी प्रकार स्वयं को दुःख उपजा कर आत्मा संक्लेश विशेष होने के कारण असातवेदनीय कर्म का आस्रव कर्त्ता है यह आत्मस्थ दुःख करके असातवेदनीय के आस्रव को साधने वाला पहिला अनुमान

हुआ है। तिस ही प्रकार दूसरों में किया गया दुःख (पक्ष) प्रतिकूलवेदना स्वरूप फल को धारने वाले पुद्गलों का आस्रव कराता है (साध्य) तिस ही कारण से यानी पर को दुःख उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मसंक्लेश के होने से (हेतु) उसी के समान अर्थात्—दूसरों को आग में प्रवेश कराने वाले लोक प्रसिद्ध हो रहे दुःख के समान (अन्वय दृष्टान्त) यह दूसरा अनुमान हुआ। तथा उभय यानी स्व और पर दोनों में तिष्ठ रहा दुःख (पक्ष) विवाद में प्राप्त होरहे असात फल वाले पुद्गलों का आस्रावक है (साध्य) तत एव अर्थात्—स्व पर दुःख को उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मीय संक्लेश होने से (हेतु) उसी के समान भावार्थ—स्व, पर, दोनों के अग्नि में प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह तीसरा अनुमान हुआ। यों उक्त तीन अनुमानों से स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ दुःखों में प्रकट साध्य को साध दिया है इसी प्रकार स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ होरहे शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन (पक्ष) शोक आदि को उपजाने वाले जीव के असातफल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) दुःख की शोक आदि जातिवाले विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) विष खा लेना, शस्त्र मार लेना, आग लगा देना आदि क्रियाओं को कराने वाले शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार अठारह अनुमान समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तीन अनुमान तो पूर्व में प्रकट कर दिये गये हैं—१स्वस्थ शोक २ परस्थ शोक ३ उभयस्थशोक ४ स्वस्थ ताप ५ परस्थताप ६ उभयस्थ ताप ७ स्वस्थ आक्रन्दन ८ परस्थ आक्रन्दन ९ उभयस्थ आक्रन्दन १० स्वस्थवध ११ परस्थवध १२ उभयस्थ वध १३ स्वस्थ परिदेवन १४ परस्थ परिदेवन १५ उभयस्थपरिदेवन इन पन्द्रहों को पक्ष कर उक्त साध्य, हेतु, दृष्टान्त, देते हुये पन्द्रह अनुमान बना कर आगम सिद्ध प्रमेय की प्रतिवादियों के सन्मुख अनुमानों से सिद्धि कर दी गयी है। अब भले ही वे व्यभिचार, आदि दोष उठावें उनको अवसर दिया जाता है किन्तु निर्दोष अनुमानों में कोई क्या दोष लगायेगा ? नहीं। प्रत्युत प्रसन्न होगा।

न तावदत्र दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वं साधनमसिद्धं। क्रोधादुपनीतदुःखादीनां विशुद्धिरिति विरोधिनां दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वप्रसिद्धेः। नाप्यनैकांतिकं तीर्थकराद्युत्पादितकायक्लेशादिदुःखेन स्वपरोभयस्थेनाप्यसातफलपुद्गलानास्रवणादिति न मंतव्यं, तस्या तज्जातीयत्वादात्मसंक्लेशविशेषत्वासिद्धेः। तत एव न तीर्थकरोपदेशविरोधात् दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वायुक्तिः, सर्वेषां स्वर्गापवर्गसाधनानां दुःखजातीनां पापास्रवत्वप्रसंगात्। तपश्चरणाद्यनुष्ठायिनो द्वेषाद्यभावाच्च।

इस अनुमान में कहा गया दुःख जाति वाला आत्म संक्लेश विशेष हो जाना हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है क्योंकि क्रोध से चला कर प्राप्त कराये गये दुःख आदिकों को दुःखजातीय आत्म संक्लेश विशेषपना प्रसिद्ध है जो कि विशुद्धि इस आत्मीय स्वभाव के विरोधी हो रहे दुःख, शोक, आदि हैं। भावार्थ—कषाय प्रयुक्त हुये दुःख, आदिक सब आत्मा की विशुद्धि के विरोधी हैं अतः वे संक्लेश विशेष हैं यों पक्ष में हेतु ठहर गया। तथा उक्त हेतु व्यभिचारी भी नहीं है कारण कि विपक्ष में हेतु के ठहर जाने का निश्चय नहीं है संदेह भी नहीं है। यदि यहाँ कोई यों मान बैठे कि तीर्थंकर भगवान् स्वयं तपश्चरण करते हुये अपने में दुःख उपजाते हैं अन्य दीक्षा लेने वालों को नग्नता, केश उपाटना, उपवास आदि के उपदेश देकर दुःख उपजाते हैं, आचार्य महाराज या पण्डित जी आदि स्वयं

यम, नियम, कायक्लेश करते हुये दूसरों को भी उन क्रियाओं में प्रवर्ताते हैं अतः स्व पर और उभय में स्थित होरहे भी इन तीर्थंकर, आचार्य, आदि द्वारा उपजाये गये कायक्लेश, केशलुंच, आदि दुःखों करके असातफल वाले पुद्गलों का आस्रव नहीं होपाता है यों हेतु के रहते हुये भी साध्य का नहीं ठहरना होने से व्यभिचार प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि कायक्लेश, दीक्षा आदि के उस दुःख की वह जाति ही नहीं है जो कषाय प्रयुक्त दुःखों की है अतः वे दुःख आत्मा के संक्लेश विशेष ही सिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो कायक्लेश, इन्द्रियदमन, आदि ये दुःख ही नहीं हैं तिस ही कारण से उन क्रियाओं द्वारा पाप कर्म का आस्रव नहीं होपाता है अन्यथा तीर्थंकर महाराज के उपदेश देने के विरोध होजाने का प्रसंग आजावेगा। सभी दार्शनिकों के यहाँ दीक्षा, ब्रह्मचर्य, दान, उपवास, आदि का विधान है धर्मध्यान में लीन हुये जीव के उपवास, केशलुंचन, कायक्लेश, आदि में कोई द्वेष नहीं है अतः ऐसे दुःख आदिकों के द्वारा असातवेदनीय के आस्रव होने का अयोग है। रोगी को वैद्य अन्न नहीं खाने देता है, डाक्टर फोड़ा को चीरता है, शिष्य को गुरु ताड़ता है इन अनुष्ठानों में संक्लेश विशेष नहीं है। समाधिमरण कराने वालों को पाप नहीं लगता है। अन्यथा सभी वादी प्रतिवादियों के यहां माने गये स्वर्ग या मोक्ष के साधनों को पाप के आस्रव होजाने का प्रसंग आजावेगा, देवपूजा, अकामनिर्जरा, संयमासंयम, दीक्षा, गुप्तिपालन आदि साधन एक प्रकार से दुःख की जाति वाले भास रहे हैं किन्तु हैं नहीं। दूसरी बात यह है कि तपश्चरण, कायक्लेश, उपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले जीव के द्वेष, क्रोध, आदि संक्लेशों का अभाव है। वस्तुतः तप आदि तो अनुकूल वेदनीय हैं। चिरकाल से पुत्र की अभिलाषा रखने वाली स्त्री को गर्भ वेदना बुरी नहीं लगती है इसी प्रकार भव्य को मुक्ति की लिप्सा लग रही है।

आर्हितप्रसादत्वाच्च दुष्टा प्रसन्नमनसामेव स्वपरोभयदुःखाद्युत्पादने पापास्रवत्वसिद्धेः। "ग्रामे पुरे वा विजने जने वा प्रासादशृंगे द्रुमकोटरे वा। प्रियांगनांकेऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरंति॥" इति। न च मनोरत्यभावे बुद्धिपूर्वः स्वतंत्रः क्वचित्तपःक्लेशमारभते, विरोधात्। ततो न प्रकृतहेतोः तपश्चरणादिभिर्व्यभिचारः सर्वसंप्रतिपत्तेः। परेषामसद्वेद्यादीनामनिराकरणाच्च निरवद्यं दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वसाधनं।

एक बात यह भी है कि तपश्चरण आदि में मुनि को संक्लेश नहीं होकर प्रत्युत आत्मा के स्वाभाविक प्रसाद की प्राप्ति होती है अतः पापों का आस्रव नहीं होता है हां दुष्ट और अप्रसन्नमन वाले जीवों के ही स्व पर और उभय को दःख, शोक आदि के उपजाने में पापों का आस्रव होना सिद्ध है। लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि चाहे गांव में रहे चाहे नगर में, अथवा निर्जन एकान्त में रहे, या जनाकीर्ण स्थान में रहे एवं महलों की शिखरों पर बनी हुयी अट्टालिकाओं में रहे चाहे वृक्ष के पोले कोटर में रहे तथा भले ही कोई प्रियस्त्रियों की गोद में ठहरे अथवा शिलातल पर आसन जमावे जहां कहीं मानसिक रति है वहां ही सुख बखाना जाता है। इस पद्य में शृंगार और वैराग्य के बहिर्भूत साधनों की उपेक्षा कर मानसिक लगन को ही सुख माना गया है। वस्तुतः विचारा जाय तो राग या प्रेम अवस्था में सुख की कल्पना कर वैराग्य सम्बन्धी सुख के साथ उसकी तुलना करना युक्त नहीं है। प्रकरण में केवल इतना ही कहना है कि जिस प्रकार दुःखों से पीडित होरहे संसारी जीवों की जहां मानसिक

रति है वहां ही सुख है उसी प्रकार उपवास, केशलोंच आदि क्रियाओं को कर रहे मुनि के मानसिक आनन्द का सन्निधान है अतः दुःखादि नहीं हैं। तभी तो कभी-कभी उक्त शुभ क्रियाओं में यदि क्रोध आदि प्रमाद हो जाये तो प्रायश्चित्त का विधान करना पड़ता है अतः तपश्चरण आदि करने में साधुओं के विशुद्ध मानसिक अनुराग है। मानसिक रति के बिना कोई भी स्वतंत्र जीव बुद्धि पूर्वक क्रियाओं को कर रहा सन्ता कहीं भी कायक्लेश का आरम्भ नहीं करता है क्योंकि विरोध है। जहां मानसिक प्रेम नहीं है वहां स्वतंत्र पुरुष को बुद्धि पूर्वक कोई क्रिया ही नहीं है और जहां बुद्धि पूर्वक क्रिया है वहां मानसिक अनुराग अवश्य है अतः मनोरत्यभाव का तपःक्लेश आदि क्रियाओं के साथ विरोध है। तिस कारण प्रकरण प्राप्त आत्म संक्लेश विशेषत्व हेतु का तपश्चरण कायक्लेश आदिकों करके व्यभिचार नहीं आता है। सभी लौकिक या दार्शनिक विद्वानों के यहां उक्त सिद्धान्त की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है। दूसरों के यहां भी दुःख, शोक, आदि क्रियाओं से असद्वेद्य आदि कुफल वाले पुद्गलों के आस्रव होने का निराकरण नहीं किया गया है अतः इस अन्वयदृष्टान्त द्वारा भी दुःख, शोक, आदिकों के द्वारा असद्वेद्य के आस्रव होने की साधना निर्दोष है।

असातवेदनीय कर्म का आस्रव कराने वाले हेतुओं को कहा अब सद्वेद्य के आस्रावक कौन
मार्गदर्शक हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूत यानी प्राणीमात्र और विशेष रूप से व्रती जीवों में अनुकम्पा करना तथा अनुकम्पा पूर्वक दान करना एवं राग सहित संयम पालना आदि यानी संयमासंयम धारण करना, अकाम निर्जरा करना, बाल तप करना इन तीन का आदि पद से ग्रहण करना और योग धारना, क्षमा पालना, निर्लोभ होकर शौच धर्म सेवना, इस प्रकार की शुभ क्रियायें तो सातवेदनीय कर्म का आस्रव कराती हैं।

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि सर्वप्राणिन इत्यर्थः। व्रताभिसंबंधिनो व्रतिनः सागारानगारभेदाद्वक्ष्यमाणाः। अनुकंपनमनुकंपा। भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः तेषामनुकम्पा भूतव्रत्यनुकंपा। 'साधनं कृता बहुल'मिति वृत्तिः गले चोपकवत् मयूरव्यंसकादित्वाद्वा।

आयुःकर्म और नाम कर्म के उदय की अधीनता से जो उन-उन गतियों में उपजते रहते हैं वे भूत हैं इसका अर्थ सम्पूर्ण संसारी प्राणी हैं। अणुव्रतों का और महाव्रतों का सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले प्राणी व्रती हैं जो कि सागार-अनगार के भेद से "अगार्यनगारश्च" इस सूत्र द्वारा दो प्रकार के कहे जाने वाले हैं। परायी पीड़ा को मानू अपने में ही कर रहे दयालु पुरुष की अनुकम्पा को यहाँ अनुकम्पा समझा जाय। भूतों और व्रतियों यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "भूतव्रतिनः" पद बना लेना चाहिये, उन भूतव्रतियों के ऊपर जो अनुकम्पा भाव है वह भूतव्रत्यनुकम्पा है यहाँ "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा तत्पुरुष समास किया गया है। जिस प्रकार कि गले में चोपक (रोग विशेष) ऐसा विग्रह कर तत्पुरुष समास कर लिया जाता है। राजवार्त्तिक या सर्वार्थसिद्धि में यहाँ सप्तमी तत्पुरुष किया गया है।

किन्तु इस ग्रन्थ में षष्ठी तत्पुरुष है फिर भी "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा वृत्ति करने में गलेचोपक दृष्टान्त प्रतिकूल नहीं पड़ता है। अथवा "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्र द्वारा समास कर लिया जाय मयूरव्यंसक आदि में आकृति गण होने से "भूतव्रत्यनुकंपा" भी पढ़ दिया गया है।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्यातिसर्जनं दानं वक्ष्यमाणं, सांपरायनिवारणप्रवणो अक्षीणाशयः सरागः, प्राणींद्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः सरागो वा संयमः स आदिर्येषां ते सरागसंयमादयः। संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपसां वक्ष्यमाणानामादिग्रहणादवरोधतः। निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः समाधिरित्यर्थः। तस्य ग्रहणं कायादिदंडभावनिवृत्त्यर्थं। भूतव्रत्यनुकंपा च दानं च सरागसंयमादयश्चेति द्वंद्वः तेषां योगः। धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः क्षमू सहने इत्यस्य दिवादिकस्य रूपं। लोभप्रकाराणामुपरमः शौचं, स्वद्रव्यात्यागपरद्रव्यापहरणसांन्यासिकनिह्नवादयो लोभप्रकाराः तेषामुपरमः शौचमिति प्रतीताः। इतिकरणः प्रकारार्थः।

दूसरों के ऊपर अनुग्रह बुद्धि करके अपनी निज वस्तु का त्याग करना दान है जो कि आगे विस्तार से कह दिया जायगा। दसमे गुणस्थान तक यद्यपि कषाय नष्ट नहीं हुये हैं अतः वह क्षीणकषाय नहीं है फिर भी साम्पराय कषायों का निवारण करने में उद्युक्त होरहा है वह पुरुष सराग है। प्राण संयम और इन्द्रिय संयम को पालते हुये जीव की प्राणी और इन्द्रियों में जो अशुभ प्रवृत्ति का विराम है वह संयम है। सराग जीव का संयम अथवा सराग स्वरूप जो संयम है वह सराग संयम है। वह सराग संयम जिनके आदि में है वे अनुष्ठान सरागसंयम आदिक हैं यहाँ। आदि पद के ग्रहण से भविष्य में कहे जाने वाले संयमासंयम अकामनिर्जरा बालतपस्या का अवरोध है यानी धर लिये जाते हैं। जिस सम्यग्दृष्टि के त्रस वध का त्याग है और स्थावर वध का त्याग नहीं है वह उसका संयमासंयम है। अपने अभिप्रायों से विषयों का त्याग नहीं करने वाले जीव के परवश होकर भोगों का निरोध होना या साम्य भावों से क्लेशों को सहना अकामनिर्जरा है। अज्ञानी यानी मिथ्यादृष्टी जीवों का अग्नितप, ऊंचा हाथ उठाये रखना आदिक बालतप हैं, निर्दोष क्रिया विशेषों का अनुष्ठान करना योग है। इसका अर्थ समाधि है जो कि भले प्रकार चित्त की एकाग्रतास्वरूप है। काय, वचन आदि के उद्दण्ड भावों की निवृत्ति के लिये उस योग का ग्रहण है। भूतव्रतियों पर अनुकम्पा और दान तथा सरागसंयम आदिक यों इतरेतरद्वन्द्व कर उनका योग यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति कर लो जाय। धर्म अनुष्ठानों में चित्त की एकाग्रता हो जाने से क्रोध आदि की निवृत्ति हो जाना क्षांति है यह भ्वादिगण में पढ़ी हुई क्षमूष सहने धातु से नहीं बना है किन्तु दिवादिगण में पढ़ी गयी क्षमू सहने इस धातु का बना हुआ क्षांति यह रूप है, नहीं तो ष इत् हो जाने के कारण अङ प्रत्यय हो जाने से क्षमा पद बन जाता। लोभ के भेद प्रभेदों का परित्याग करना शौच है। मोह के वश होकर अपने द्रव्य को नहीं त्यागना और पराये द्रव्य को हड़पना तथा दूसरों के संन्यास ले जाने पर उनकी धरोहर को पा लेना, न्यासापहार करना आदिक लोभ के प्रकार हैं। उन लोभ के प्रकारों की विरक्ति हो जाना शौच है। इस प्रकार ये सब को प्रतीत हो रहे हैं। प्रकार, हेतु, सम्पूर्णता आदि कितने ही अर्थों में इतिशब्द का प्रयोग आता है। किन्तु यहाँ इति शब्द का प्रयोग करना प्रकार अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार के अन्य भी शुभ अनुष्ठान सद्वेदनीय कर्म का आस्रव कराते हैं।

वृत्तिप्रयोगप्रसंगो लघुत्वादिति चेन्न, अन्योपसंग्रहार्थत्वात् तदकरणस्य । इति करणानर्थक्यमिति चेन्न, उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि संयमादि योग और क्षांति तथा शौच यों द्वन्द्व वृत्ति करते हुये "भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगक्षांतिशौचानि" ऐसे प्रयोग का प्रसंग होना चाहिये। इसमें लाघव गुण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस समासवृत्ति का नहीं करना तो अन्य प्रकारों का संग्रह करने के लिये है। जैसे कि किसीने अपने भृत्य को आज्ञा दी कि जल ले आना, फल ले आना, भोजन लाना यों पृथक्-पृथक् कहने से सुपारी, इलायची आदि लाने का संग्रह हो जाता है। यदि जल, फल, भोजन, ले आवो यों मिलाकर कह दिया जाता तो इलायची, ताम्बूल आदि का संग्रह नहीं हो पाता। ऐसी दशा में पुनः शंका उठती है कि तब तो इति पद का प्रयोग करना व्यर्थ पड़ा क्योंकि समास नहीं करने से ही अन्य प्रकारों का संग्रह हो गया जो कि प्रयोजन इति पद द्वारा साधा गया था, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अभिप्रेत अर्थ को और भी अभिव्यक्त करने के लिये दोनों का ग्रहण किया गया है "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"। स्वतंत्र आचार्य महाराज किसी विषय की अधिक पुष्टि करते हुये उसको दो बार कहते हैं। आचार्य महाराज के चरण कमलों में भक्ति रखने वाले मुझ भाषाटीकाकार ने भी कितने ही स्थलों पर दो दो, तीन तीन बार उसी प्रमेय को कहा है। भले ही विद्वानों को उसमें वैयर्थ्य जचते हुये अरुचि होय फिर भी स्थूल बुद्धि वाले श्रोताओं के हितलाभ का विचार रखते हुये उसी प्रमेय को दो बार, तीन बार लिखना पड़ा है।

के पुनस्ते गृह्यमाणा इत्युपदर्शयामः । "अर्हत्पूजापरता वैयावृत्त्योद्यमो विनीतत्वं । आर्जवमार्दवधार्मिकजनसेवामित्रभावाद्याः" । भूतग्रहणादेव सर्वप्राणिसंप्रतिपत्तेर्व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेन्न,प्रधानख्यापनार्थत्वाद्व्रतिग्रहणस्य नित्यानित्यात्मकत्वेऽनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा। सोऽयमशेषभूतव्रत्यनुकंपादिः सद्वेद्यस्यास्रवः । कुतो निश्चीयत इति युक्तिमाह—

असमास और इति पद करके ग्रहण किये गये वे अन्य प्रकार फिर कौन से हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यों उन प्रकारों को पद्य द्वारा दिखलाते हैं-"श्री अरहंत देव भगवान् की पूजा करने में तत्पर रहना, बाल, वृद्ध, तपस्वियों की वैयावृत्य करने में उद्यत रहना, विनय सम्पत्ति रखना, मायाचार का त्याग करते हुये परिणामों में सरलता रखना, अभिमान नहीं करना, धार्मिक जनों की सेवा करना, सब जीवों से मित्रभाव रखना, परोपकार करना, आदि का परिग्रहण हो जाता है। यहाँ कोई शंका पुनः उठाता है कि भूतका अर्थ जगत् के यावत् प्राणी हैं अतः भूत शब्द का ग्रहण करने से ही सम्पूर्ण प्राणियों की अच्छी प्रतिपत्ति हो जाती है। फिर सूत्र में व्रती शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। सामान्य तो सभी विशेषों में व्यापता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना कारण कि भूतों में व्रतियों की प्रधानता को प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्र में पृथक् रूप से व्रती का कथन किया है। भूतों में जो अनुकम्पा है उसमें व्रतियों के ऊपर अनुकम्पा करना प्रधान है। सामान्य रूप से सिद्ध होते हुये भी प्रधानता प्रकट करने के लिये विशेष का पुनः प्रयोग कर दिया जाता है। जैन सिद्धान्त अनुसार पदार्थों के कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य आत्मक होने पर अनुकम्पा, दान, आदि अनुष्ठानों की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। अर्थात्—दया करने वाला या दयापात्र एवं दाता या दानपात्र ये दोनों युगल अथवा सरागसंयम

आदि करने वाले जीव ये स्यात् नित्य अनित्य आत्मक होते हुये परिणामी हैं अदाता अवस्थाको छोड़कर दाता परिणाम को ले रहा अन्वित आत्मा ही दाता हो सकता है। यही प्रक्रम पात्र और संयमी आदि में लगा लेना। कूटस्थ नित्य अथवा क्षणिकैकान्त पक्ष में अनुकम्पा आदिक नहीं सम्भवते हैं। आत्मा को सर्वथा नित्य माना जाय तो विक्रिया नहीं होने के कारण परिणति नहीं हो सकती है, कोई दाता भी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार आत्मा को क्षणिक मानने पर अन्वितपना नहीं होने के कारण अनुकम्पा, दान, स्वर्ग प्रापण, आदि नहीं घटित होते हैं किन्तु द्रव्यरूप से नित्यत्व को ग्रहण कर रहे और पर्यायरूप से अनित्यता को प्राप्त हो रहे जीव के अनुकम्पा आदि परिणतियां घटित हो जाती हैं यों ये प्रसिद्ध हो रहे भूतव्रत्यनुकम्पा आदिक सभी सद्वेद्य कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई पूंछता है कि इस सूत्रोक्त सिद्धान्त का किस प्रमाण से निश्चय कर लिया जाता है ? बताओ। यों ही कथन मात्र से तो चाहे जिस किसी भी प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है इस प्रकार तार्किकों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा समीचीन युक्ति को स्पष्ट कह रहे हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पादि सातकारणपुद्गलान्।
जीवस्य ढौकयत्येवं विशुद्धयंगत्वतो यथा ॥१॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
पथ्यौषधाववबोधादिः प्रसिद्धः कस्यचिद्द्वयोः।
सदसद्वेद्यकर्माणि तादृशान् पुद्गलानयं ॥२॥

भूत या व्रतियों में जीव के द्वारा किये गये अनुकम्पा, दान, आदिक (पक्ष) सात सुख के कारण हो रहे पुद्गलों का जीव के निकट गमन करा देते हैं (साध्यदल) इस प्रकार पुण्यास्रव का कारण हो रही विशुद्धि का अङ्ग हो जाने से (हेतु) जिस प्रकार कि प्रसिद्ध हो रहे पथ्य भोजन, औषधि, परिज्ञान, आदिक पदार्थ किसी-किसी जीव के कल्याण कारक पुद्गलों का आस्रव करा देते हैं। यह सिद्धान्त लौकिक परीक्षक, या वादी प्रतिवादी दोनों के यहाँ प्रसिद्ध है। यह जीव भी तिस प्रकार के सुख, दुःख फलवाले सातवेदनीय और असातावेदनीय कर्म स्वरूप पुद्गलों का आस्रव करता रहता है।

यथा दुःखादीनि स्वपरोभयस्थानि संक्लेशविशेषत्वाद् दुःखफलानास्रावयन्ति जीवस्य तथा भूतव्रत्यनुकम्पादयः सुखफलान् विशुद्धयंगत्वादुभयवादिप्रसिद्धपथ्यौषधावबोधादिवत्। ये ते तादृशा दुःख-सुखफलास्ते असद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाः सद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाश्चास्माकं सिद्धाः कार्य-विशेषस्य कारणविशेषाविनाभावित्वात् ॥

स्व, पर, और उभय, में स्थित हो रहे दुःख आदिक जिस प्रकार संक्लेश विशेष होने से जीव के दुःख फल देने वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं ठीक उसी प्रकार भूतव्रतियों के ऊपर की गयीं दया, दान, आदिक शुभ क्रियायें विशुद्धि का अंग होने के कारण सुख फल वाले पुद्गलों का जीव के निकट आस्रव करा देते हैं जैसे कि दोनों वादी, प्रतिवादियों के यहाँ प्रसिद्ध होरहे पथ्य आहार, औषधिसेवन, यथार्थज्ञान, प्रसन्नता, निश्चिन्तता, परमित हास्य,स्वच्छ वायु में टहलना आदिक शुभ क्रियायें सुख उत्पादक पुद्गलों का आगमन कराती हैं जो वे तिस प्रकार के दुःख सुख फल वाले पुद्गल हैं वे ही

हम जैनों के यहाँ पाप स्वरूप असद्वेदनीय कर्म की विशेष प्रकृतियाँ और पुण्य रूप सद्वेद्य कर्म की विशेष प्रकृतियाँ सिद्ध हैं क्योंकि विशेष विशेष कार्यों की उत्पत्ति तो विशेष कारणों के बिना नहीं हो सकती है। जिस जिस जाति के अनेक दुःख सुख जाने जा रहे हैं उतनी असंख्य जातियों के असद्वेद्य और सद्वेद्य कर्म हैं। दोनों प्रकार के वेदनीय कर्म के आस्रावक कारणों को कहकर अब अनन्त संसार के कारण हो रहे दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव हेतु का प्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

केवलिश्रुतसंघधर्मदेववर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवली भगवान्, शास्त्र, चतुर्विधसंघ, जिनोक्तधर्म, चतुर्णिकायदेव, इनमें अवर्णवाद यानी असद्भूत दोषों को लगाना तो दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः प्रतिपादिताः तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयगणधरावधारितं श्रुतं व्याख्यातं, रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। एकस्यासंघत्वमिति चेन्न, अनेकव्रतगुणसंहनानादेकस्यापि संघत्वसिद्धेः। "संघो गुण संघादो कम्माणविमोक्खदो हवदि संघो। दंसणणाणचरित्ते संघादितो हवदि संघो॥" इति वचनात्। अहिंसालक्षणो धर्मः। देवशब्दो व्याख्यातार्थः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उपयोग लगाने अनुसार चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के क्रम से होने वाले और व्यवधान का उल्लंघन करने वाले केवलज्ञान से सहित हो रहे केवली भगवान् की पूर्वग्रन्थ में प्रतिपत्ति करा दी गयी है। उन केवली भगवान् करके उपदेश किये जा चुके और बुद्धि का अतिशय धारने वाले गणधर महाराज करके निर्णीत कर गूंथे गये श्रुत का भी व्याख्यान हो चुका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों से सहित हो रहा साधुओं का समुदाय तो संघ है। यदि यहां कोई यों कटाक्ष करे कि जब समुदाय को संघ कहा गया है तो एक मुनि को संघपना प्राप्त नहीं हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि एक मुनि की आत्मा में भी अनेक गुण या व्रतों का समुदाय है अतः अनेक व्रत या गुणों का संघात होने से एक व्यक्ति का भी संघपना सिद्ध है। शास्त्रों में ऐसा वचन मिलता है कि गुणों का संघात संघ है, कर्मों का विमोक्ष हो जाने से संघ होता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इनके समुदाय से भी संघ होता है। धर्म का लक्षण अहिंसा सुप्रसिद्ध ही है "देवाश्चतुर्णिकायाः" इस सूत्र में देव शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है।

अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। पिंडाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु, मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुतं, शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावभावनं संघे, निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे, सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवेष्ववर्णवादो बोद्धव्यः। दर्शनमोहकर्मण आस्रवः। दर्शनं मोहयति मोहनमात्रं वा दर्शनमोहः कर्म तस्यागमनहेतुरित्यर्थः॥ कथमित्याह—

अन्तरंग की कलुषता के दोष से असद्भूत मल या दोषों को प्रकट करना (झूंठी बुराई करना) अवर्णवाद है। मुनियों के समान केवलज्ञानी भगवान् भी कौर पिंड बनाकर डटकर आहार कर ही

जीवित रहते हैं, द्रव्य स्त्री के भी केवलज्ञान हो जाता है, केवली भगवान् तूंबी रखते हैं, केवली के दर्शन, ज्ञान और चरित्र का भिन्न-भिन्न समय है, इत्यादि कथन करना केवलियों में अवर्णवाद है। शास्त्र में लिखा दिखाकर मांस के भक्षण को निर्दोष कहना, देवी पर चढ़ा हुआ मद्य पवित्र हो जाता है, तीव्र काम-पीड़ित जीवों का मैथुन कर लेना दोषाधायक नहीं है, रात्रि में भोजन करना बंध है, आपत्तिकाल में चोरी की जा सकती है, वध किया जा सकता है, इत्यादिक पापमय चेष्टाओं को निर्दोष पुष्ट करना श्रुत में अवर्णवाद है। शूद्रपन, अपवित्रपन आदि कथन करना संघ में असद्भूत दोष प्रकट करना है। गुणरहित-पना, पराधीन कारकत्व, निर्बलता सम्पादकत्व, आदि कहते हुए धर्म के सेवन करने वालों को असुर हो जाना कहना यह धर्म का अवर्णवाद है। देवता मांस खाते हैं, चन्द्र देव अहिल्या पर आसक्त हुये थे, देवी मनुष्यों या स्त्री देवों का परस्पर मैथुन वर्णन करना, असुरों के सींग, लम्बे दान्त, आदि विकृत संस्थान बखानना इत्यादिक निरूपण देवों में अवर्णवाद हुआ समझना चाहिये। यों उक्त माननीय वस्तुओं में अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है। सम्यग्दर्शन को मोहित करा रहा अथवा केवल मोह कर देना यह दर्शन मोहनीय कर्म है। उस कर्म के आगमन का हेतु केवली आदिक का अवर्णवाद है। यह इस सूत्र अनुसार आस्रव का अर्थ है। यहाँ कोई पूंछता है कि उक्त सूत्र का अर्थ किस प्रकार युक्तियों से सिद्ध हुआ ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिकों को कहते हैं।

केवल्यादिषु यो वर्णवादः स्यादाश्रये (स्रवो) नृणां।
स स्याद्दर्शनमोहस्य तत्त्वाश्रद्धानकारिणः ॥१॥
आस्रवो यो हि यत्र स्याद्यदाधारे यदास्थितौ।
यत्प्रणेतरि चावर्णवादः श्रद्धानघात्यसौ ॥२॥
श्रोत्रियस्य यथा मद्ये तदाधारादिकेषु च।
प्रतीतोऽसौ तथा तत्त्वे ततो दर्शनमोहकृत् ॥३॥

केवल ज्ञानी, शास्त्र आदि में अवलंब लेकर जो अवर्णवाद है (पक्ष) वह जीवों के तत्त्वों में अश्रद्धान कराने वाले दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रवहेतु है (साध्य) जिस कारण कि जो-जो जिसमें और जिस का आधार या आश्रय लेकर उपजे हुये पदार्थ में तथा जिस शास्त्र अनुसार श्रद्धा कर प्रतिज्ञा करने वाले जीवों में एवं जिसके बनाये हुये पदार्थ में अवर्णवाद लगाया जाता है वह उस विषय के श्रद्धान का घात कर देता है। (अन्वयव्याप्ति) जिस प्रकार कर्मकाण्डी श्रोत्रिय ब्राह्मण के मद्य में और उसके आधार भाजन में, उस मद्य के बनाने वाले आदि में वह श्रद्धान का घातक प्रतीत हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। तिसी प्रकार जीव आदि तत्त्व या तत्त्वों के प्रणेता आदि में अवर्णवाद किया गया (उपनय) तिस कारण दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव करने वाले केवली आदिका अवर्णवाद है। (निगमन)। यों पाँच अवयव वाले अनुमान प्रमाण करके उक्त सूत्र का अर्थ युक्ति सहित पुष्ट कर दिया गया है।

यो यत्र यदाश्रये यत्प्रतिज्ञाने यत्प्रणेतरि चावर्णवादः स तत्र तदाश्रये तत्प्रतिज्ञाने तत्प्र-

णेतरि च श्रद्धानघातहेतून् पुद्गलानास्रावयति, यथा श्रोत्रियस्य मद्ये तद्भाण्डे तत्प्रतिज्ञाने तत्प्रणेतरि श्रद्धानघातहेतून्नासिकादिपिधायककरादीन्, तथा च कस्यचिज्जीवादितत्त्वप्रणेतरि केवलिनि तदाश्रये च श्रुते तत्प्रतिज्ञापिनि च संघे तत्प्रतिपादिते च धर्मे देवेषु चावर्णवादस्तस्मात्तथेति प्रत्येतव्यम् ।

जो जिसमें और जिसके आश्रय में तथा जिसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वालों में एवं जिस प्रणेता के समझाये गये पदार्थ में अवर्णवाद है वह अवर्णवाद उस प्रणेता में और उसके आश्रय में अथवा उसका आश्रय धारने वाले में तथा उसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वाले में एवं उसके प्रणयन प्राप्त में श्रद्धान होने के घातक हेतु होरहे पुद्गलों का आस्रव कराता है। जैसे कि श्रोत्रिय ब्राह्मण के हुये मद्य (शराब) में, उसके बर्तन में, उसको अंगीकार करने वाले में और उसके प्रणेता में श्रद्धान घात के हेतु होरहे नासिका आदि को ढंकने वाले हाथ, आँख आदि का आस्रव कराते हैं (व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्त) यों तिसी प्रकार किसी-किसी जीव आदि तत्त्वों के प्रणेता केवली भगवान् में और उनके आश्रय होरहे श्रुत में तथा उनके अंगीकृत संघ में एवं च उन केवली के द्वारा समझाये गये धर्म और देवों में अवर्णवाद है (उपनय)। तिस कारण से उक्त प्रतिज्ञावाक्य ठीक तिसी प्रकार है अर्थात् केवली आदि में किया गया अवर्णवाद अवश्य ही उस दोषी जीव के दर्शन मोह का आस्रव करा देता है। यों प्रतीति कर लेनी चाहिये।

दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। तिनमें दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण कहा जा चुका है। अब चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रवहेतु का प्रतिपादन करने के लिये श्री उमास्वामि महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

कषाय के उदय से आत्मा की तीव्र परिणति हो जाना तो चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव हेतु है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मपरिपाक उदयः, तीव्रकषायशब्दावुक्तार्थौ, चरित्रं मोहयति मोहनमात्रं वा मोहः। कषायस्योदयात्तीव्रः परिणामश्चारित्रमोहस्य कर्मण आस्रव इति सूत्रार्थः। कथमित्याह—

द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तों के वश से कर्म का परिपाक होना उदय कहा जाता है। तीव्र शब्द और कषाय शब्द के अर्थ को हम पहिले कह चुके हैं। कषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः" इस सूत्र के विवरण में कषाय शब्द का और "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः" इस सूत्र के भाष्य में तीव्र शब्द का अर्थ कहा जा चुका है। "मुह वैचित्ये" इस धातु से मोह शब्द बनाया गया है। चारित्र गुण को मोहित कर रहा अथवा चारित्र का मोह कर देना मात्र चारित्र मोह है। कषाय आत्मक पूर्व संचित कर्मों के उदय से क्रोधादि रूप तीव्र परिणति हो जाना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है यों इस सूत्र का अर्थ समझा जाय। कोई यहाँ पूँछता है कि उक्त सिद्धान्त केवल

आगम के आश्रित है ? अथवा क्या उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये कोई युक्ति भी है ? यदि है। तो वह किस प्रकार है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों को प्रस्तुत करते हैं।

तथा चारित्रमोहस्य कषायोदयतो नृणां।
स्यात्तीव्रपरिणामो यः ससमागमकारणं ॥१॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः स ढौकयेत्।
चारित्रघातिनं भावं कामोद्रेको यथा यतेः ॥२॥
कस्यचित्तादृशस्यायं विवादापन्नविग्रहः।
तस्मात्तथेति निर्बाधमनुमानं प्रवर्तते ॥३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस प्रकार जीव के केवलि आदि का अवर्णवाद कर देने से दर्शन मोह का आस्रव होता है तिसी प्रकार कषायों के उदय से हुआ जो तीव्रता को लिये हुये अभिमान, मायाचार आदि परिणाम हैं वह जीवों के चारित्र मोहनीय कर्म के समागम का कारण है। (प्रतिज्ञावाक्य) जो-जो कषायों के उदय से तीव्र परिणाम होगा वह चारित्र गुण का घात करने वाले पदार्थ का आगमन करावेगा जिस प्रकार कि पहिले संयमी पुनः हो गये भ्रष्ट किसी-किसी असंयमी पुरुष के कामवेदना का तीव्र उदय हो जाना चारित्रघातक स्त्री, बाल आदि के साथ रमण करने के भाव का आस्रावक है (अन्वयव्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त)। तिस प्रकार के कषायोदय हेतुक तीव्र परिणाम का धारी यह संसारी जीव विवाद में प्राप्त हो चुके शरीर को धार रहा है (उपनय)। तिस कारण वह कषायवान् आत्मा तिस प्रकार चारित्रघातक कर्म का आस्रव हेतु हो जाता है (निगमन)। इस प्रकार बाधा रहित यह अनुमान प्रवर्त रहा है जो कि सूत्रोक्त आगम वाक्य का समर्थक है।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामो विवादापन्नश्चारित्रमोहहेतुपुद्गलसमागमकारणं जीवस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वात् कस्यचिद्यतेः कामोद्रेकवत्। न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः, कामोद्रेके चारित्रमोहहेतुयोषिदादिपुद्गलसमागमकारणत्वेन व्याप्तस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥

उक्त अनुमान को यों स्पष्ट कर लीजिये कि वादी प्रतिवादियों के विवाद में प्राप्त हो चुका जो कषाय के उदय से तीव्र परिणाम होना है। (पक्ष) वह जीव के चारित्र गुण के मोहने में हेतु होरहे पुद्गलों के समागम का कारण है। (साध्यदल) पूर्व में संचित किये गये कषाय आत्मक द्रव्य कर्मों के के उदय को हेतु मान कर हुये भावकर्म स्वरूप तीव्रपरिणाम होने से (हेतु) चारित्र भ्रष्ट होगये किसी यति के काम वासना के प्रबल उद्वेग समान (अन्वय दृष्टान्त)। यह रति क्रिया के तीव्र उद्रेक का दृष्टान्त जो इस अनुमान में अन्वयदृष्टान्त दिया गया है। वह साध्य और साधन से रीता नहीं है क्योंकि काम का तीव्र उद्वेग होने पर चारित्रगुण के मोहने में हेतु हो रहे स्त्री, मद्यपान, आदि पुद्गलों के समागम के कारणपने करके व्याप्त हो रहे कषायोदय हेतुक, तीव्रपरिणामोंपने की लोक में अच्छी प्रसिद्धि होरही है। समीचीन व्याप्ति से हुआ अनुमान ठीक उतरेगा।

मोहनीय कर्म के आस्रावक हेतुओं का निरूपण हो चुका। अब उसके पीछे कहे गये आयुष्य कर्म के आस्रव का हेतु कथन करने योग्य है। उनमें आदि में पड़े हुये नरकआयु 'दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्' के आस्रव कारणों का प्रदर्शन करने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

बहुत सा प्राणियों के पीड़ा हेतु होरहा व्यापार स्वरूप आरंभ करना और बहुत सा परिग्रह इकट्ठा करना ये नरक आयु के आस्रव हैं। अर्थात् किसी-किसी जीव का बहुत आरंभ से सहितपना और बहुत परिग्रह से सहितपना नरक सम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। यद्यपि आयुः कर्म का आस्रव सदा नहीं होता रहता है। त्रिभाग में होरहे आठ अपकर्ष कालों में या अंतिम असंक्षेपाद्धा में आयु कर्म का आस्रव होता है तथापि जब कभी बन्ध होगा तभी उसके आस्रावक हेतुओं के अनुसार ही होगा यह सिद्धान्त कथन करना उपयोगी पड़ता है।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात्। आरंभो हैंस्रं कर्म, ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः, बह्वारंभः परिग्रहो यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं, तन्नारकस्यायुषः आस्रवः प्रत्येयः, एतदेव सोपपत्तिकमाह—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संख्या और विपुलता इन दोनों भी अर्थों के वाचक होरहे बहुशब्द का यहाँ सूत्र में ग्रहण है। क्योंकि कोई विशेषता नहीं है। बहुत संख्या वाला आरंभ या परिग्रह अथवा प्रचुर आरंभ या परिग्रह दोनों एक सारिखे संक्लेश परिणाम स्वरूप हैं। जहां कहीं एक शब्द के दो विरोधी अर्थ आपड़ते हैं वहां प्रकरण अनुसार एक ही अर्थ को पकड़ा जाता है किन्तु यहां दोनों अर्थों का ग्रहण संभव जाता है। हिंसा करने वाले की टेव रखने वाले जीवों का कर्म आरंभ कहा जाता है। ये क्षेत्र, धन, धान्य आदिक मेरे हैं। इस प्रकार संकल्प करना परिग्रह है। बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह जिस जीव के हैं वह जीव तिस प्रकार बह्वारंभपरिग्रह है। उसका भाव बह्वारंभ परिग्रहत्व है। यों द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास कर पुनः तद्धित का त्व प्रत्यय करते हुये उद्देश्य पद को साध दिया है। वह बहुत आरंभ परिग्रहों से सहितपना नरक सम्बन्धी आयुः का आस्रव होरहा विश्वास कर लेने योग्य है। इस ही बात को उपपत्तियों से सहित साधते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

नरकस्यायुषोऽभीष्टं बह्वारंभत्वमास्रवः।
भूयःपरिग्रहत्वं च रौद्रध्यानातिशायि यत् ॥१॥
निद्यं धाम नृणां तावत्पापाधाननिबन्धनं।
सिद्धं चाण्डालकादीनां धेनुघातविधायिनां ॥२॥

बहुत आरम्भ से सहितपना और पुष्कल परिग्रह से मूर्छितपना नरक आयु के आस्रव इष्ट किये गये हैं (प्रतिज्ञा) जो-जो अतिशय सहित रुद्रध्यान के धारने वाले निंदनीय स्थान हैं वे-वे जीवों के पाप का आधान कराने के कारण होरहे तो प्रसिद्ध ही हैं। जैसे कि ब्याई हुई गायों के घात को करने

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
वाले चाण्डाल, यवन, कतिपय यूरोप वासी मनुष्य, सिंह, व्याघ्र, आदि जीवों के सिद्ध हैं। व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त ।।

तत्प्रर्कषात्पुनः सिद्धयेद्धीनधामप्रकृष्टता ।
तस्य प्रकर्षपर्यन्तात्तत्प्रकर्षव्यवस्थितिः ॥३॥
पापानुष्ठा क्वचिद्याति पर्यन्ततारताम्यतः ।
परिमाणादिवत्ततो रौद्रध्यानमपश्चिमं ॥४॥
तस्यापकर्षतो हीनगतेरप्यपकृष्टता ।
सिद्धेति बहुधाभिन्नं नारकायुरुपेयते ॥५॥

उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षता से फिर तिर्यंच गति से हीन होरहे नरक स्थान की प्रकर्षता सिद्ध हो ही जावेगी क्योंकि उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षपर्यन्तपन की प्राप्ति से उस हीन स्थान के प्रकर्ष की व्यवस्था हो रही है।

आरंभ, परिग्रह आदि पापों का अनुष्ठान (पक्ष) कहीं न कहीं अंतिम पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाता है साध्य) तर तम भावरूप से प्रकर्ष हो जाने से (हेतु) परिमाण, दोषहीनता, ज्ञान-वृद्धि आदि के समान अन्वय दृष्टांत), तिस कारण एक प्रधान रौद्र ध्यान नरक आयु का आस्रव सिद्ध हो जाता है। उस रौद्र ध्यान के अपकर्ष से हीन गति का भी अपकर्ष सिद्ध हो जाता है जिससे कि पहिले, दूसरे आदि नरकों की एक, तीन, आदि सागर स्थिति वाले नरक आयुः कर्म का आस्रव होता है यों कारणों के अनेक प्रकार होजाने से बहुत प्रकारों से भिन्न होरही नरक आयु का ग्रहण कर लिया जाता है। परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त परिमाण का प्रकर्ष बढ़ रहा है। गुणस्थानों में दोष कमती-कमती होरहे हैं। ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

नरकआयु का आस्रव कह दिया गया अब क्रमप्राप्त तिर्यक् आयु के आस्रावक कारणों का प्रदर्शन कराने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

मायाचार, कुटिलता, या कपट करना ये तिर्यंच योनि के जीवों में संभवने वाली तिर्यंच आयु का आस्रव है।

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया । सा कीदृशी ? तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इत्याह—

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के उपजा कुटिल परिणाम माया कहा जाता है। यहाँ किसी का प्रश्न है कि किस प्रकार की वह माया भला तिर्यंचयोनि जीवों के उपयोगी तिर्यक् आयु का आस्रव है ? ऐसी आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिकों को कहते हैं।

माया तैर्यग्योनस्येत्यायुषः कारणं मता।
आर्तध्यानाद्विना नात्र स्वाभ्युपायविरोधतः ॥१॥

जो माया तिर्यंकयोनिसम्बन्धी जीवों की आयुः का आस्रावक कारण मानी गयी है। वह यहाँ प्रकरण में आर्तध्यान के विना नहीं संभवती है। क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध आजावेगा। अर्थात् आर्तध्यान से विशिष्ट होरहा मायाचार तिर्यंच आयु का आस्रव करावेगा इससे लोक चातुर्य, सभादक्षता, धर्मप्रभावना के लिये किये गये मायाचार का विवेक हो जाता है। न्याय शास्त्र में खण्डन मण्डन करने के लिये कई प्रकार के उपाय रचे जाते हैं। अभद्र, क्रूर, अभिमानी, मायाचारी, दम्भी जीवों को धर्ममार्ग या न्यायमार्ग समझाने के लिये कितनी ही दक्षतायें करनी पड़ती हैं। चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान वाले जीवों के कतिपय चातुर्य पाये जाते हैं। हाँ सातवें से लेकर ऊपरले गुणस्थानों में ध्यान निमग्न अवस्था में कोई बुद्धि पूर्वक दक्षता का उपयोग नहीं है। अतः आर्तध्यान पूर्वक हुआ मायाचार तिर्यक् आयु का आस्रव है। जो कि तीव्र मायाचार पहिले, दूसरे इन दो गुणस्थानों में पाया जा सकता है।

अपकृष्टं हि यत्पापध्यानमार्त्तं तदीरितं।
निंद्यं धाम तथैवाप्रकृष्टं तैर्यग्गतिस्ततः ॥२॥
प्रसिद्धमायुषो नैकप्रधानत्वं प्रमाणतः।
तैर्यग्योनस्य सिद्धान्ते दृष्टेष्टाऽबाधितं ॥३॥

जो पापस्वरूप आर्तध्यान जिस कारण से अपकृष्ट कहा गया है उसी कारण से वह जीवों का निंद्यस्थान तिसही प्रकार समझा जाता है। उस आर्तध्यान से जीवों की तिर्यग्गति हो जाती है। सिद्धान्त में तिर्यग्योनिसम्बन्धी आयुः का प्रधान कारण माया कही है। यह बात प्रमाणों से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष और अनुमान से यह सिद्धान्त अबाधित है।

अब क्रमप्राप्त मनुष्य सम्बन्धी आयुः के आस्रव हेतु का निरूपण करने के लिये अगिला सूत्र कहा जाता है।

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अल्प आरंभ से सहितपना और अल्प परिग्रह से सहितपना तो मनुष्यों की आयुः का आस्रवण हेतु है।

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्तस्येत्यर्थः। किं तदित्याह—

नरक आयु के आस्रव बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह से सहितपना है। उस नरकआयु से विपरीत यह मनुष्य आयु है। उसका आस्रव अल्प आरंभ रखना और अल्प परिग्रह सहितपना है। यह इस सूत्र का अर्थ है। कोई पूँछता है कि वह अल्प आरंभ परिग्रह सहितपना क्या है? या कैसा है? यों प्रश्न उतरने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा उत्तर कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मानुषस्यायुषो ज्ञेयमल्पारंभत्वमास्रवः ।
मिश्रध्यानान्वितमल्पपरिग्रहतया सह ॥१॥
धर्ममात्रेण संमिश्रं मानुषीं कुरुते गतिं ।
सातासातात्मतन्मिश्रफलसंवर्तिका हि सा ॥२॥
धर्माधिक्यात्सुखाधिक्यं पापाधिक्यात्पुनर्नृणां ।
दुःखाधिक्यमिति प्रोक्ता बहुधा मानुषी गतिः ॥३॥

अल्पपरिग्रह से युक्तपने करके सहित होरहा और केवल धर्म आचरण से भले प्रकार से मिले हुये अशुभ और शुभ इन मिश्र ध्यानों से अन्वित होरहा जो अल्पआरंभ सहितपना है वह मनुष्यों सम्बन्धी आयुः कर्म का आस्रावक है। दया, दान, परोपकार आदि धर्म मात्र करके मिल रहा वह अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह जीव की मनुष्य सम्बन्धी गति को कर देता है। जिस कारण कि वह मनुष्य-गति साता स्वरूप और असातास्वरूप उस मिले हुये फल की संपादिका है। धर्म और अधर्म के मिश्रणों में यदि धर्म की अधिकता हो जाती है तो उससे राजा, सेठ, मल्ल, विद्वान्, न्यायाधीश, जमीदार आदि मनुष्यों के सुख की अधिकता हो जाती है और दुःख न्यून हो जाता है। हां उस मिश्रण में पाप की अधिकता हो जाने से तो फिर मजूर, दास, विधवा, रोगिणी, अधमर्ण आदि मनुष्यों के दुःख को अधिकता हो जाती है। सुख मंद हो जाता है। यों मनुष्य सम्बन्धी गति बहुत प्रकार की उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रेणी के सुख दुःख वाली भले प्रकार कह दी गयी है। उच्छृङ्खल धनपति यदि तपस्या न करें तो उनकी अनर्गल पोडक वृत्ति से जन्य पाप का विनाश नहीं हो सकता है। देवों में सांसारिक सुख की प्रधानता है। इष्टवियोग, ईर्षा, अधीनता, आदि से जो देवों में स्वल्प दुःख उपजता है वह नगण्य है। मनुष्यों में सुख दुःख का मिश्रण है। राजा, रईसों को उपरिष्टात् विशेष सुख दीखता है। किन्तु उनको रोग, अपमान, अपयश, सन्तानरहितपन आदिका कुछ न कुछ दुःख सताता रहता है। पापसेवन भी दुःखरूप ही है। अधिकृतों को ताप पहुंचाना भी परिशेष में दुःखरूप है। निर्धन ग्रामीण गुरुषों को त्यौहार के दिन या विवाह , सगाई, मेला आदिके अवसर पर छोटे-छोटे कारणों से ही महान् सुख उत्पन्न हो जाता है। पिसनहारी को पीतल के छला से जो आनंद आता है वह महाराणी के रत्न जड़ित अंगूठी के सुख से कहीं अधिक है। हाँ कोई -कोई विशेष पुण्यशाली पुरुष अथवा कतिपय अत्यन्त दरिद्र दुःखी पुरुष इसके अपवाद हो सकते हैं जो कि नगण्य हैं। तिर्यंच गति में बहुभाग दुःख और अल्प-भाग सुख है। राजा, महाराजों के कोई हाथी, घोड़े, बैल भले ही कुछ अधिक सुखी होंय या कोई-कोई भाड़ैतू घोड़ा या गधे, बैल आदि महान् दुःखी होंय किन्तु प्रायः सभी के लिये उपयोगी हो रही उत्सर्ग विधि कतिपय विशेष व्यक्तियों की अपेक्षा नहीं रखती है। नारकी जीवों में तो महान् दुःख ही है। वहाँ सुख का लेश मात्र नहीं है। यहां प्रकरण में धर्म से मिले हुये मन्द अशुभध्यानों से युक्त होरहा अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयुः का आस्रव बखान दिया गया है।

कोई जिज्ञासु पूँछता है कि क्या इतना ही मनुष्य आयु का आस्रव है ? अथवा कुछ और भी कहना है ? इसके उत्तर में ही मानू सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

स्वभाव से ही यानी प्रकृति से ही गुरु के उपदेश बिना ही जो मृदुता है अर्थात् मान नहीं करना है वह भी मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव है।

उपदेशानपेक्षं मार्दवं स्वभावमार्दवं। एकयोगीकरणमिति चेत्, तत्रोत्तरापेक्षत्वात् पृथक्करणस्य। तेन देवस्यायुषोऽयमास्रवः प्रतिपादयिष्यते। कीदृशं तन्मानुषस्यायुष आस्रव इत्याह—

उपदेश के बिना ही जैसे व्याघ्र, भेड़िया आदि में स्वभाव से क्रूरता है उसी प्रकार उपदेश की नहीं अपेक्षा रखता हुआ कोमल परिणाम भी किन्हीं किन्हीं जीवों में पाया जाता है। उपदेश की नहीं अपेक्षा रखता हुआ मृदुपना स्वभावमार्दव है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दो सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता है? "अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" दो योग का इस प्रकार एक योग करना ही उपयोगी जचता है। यों आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस मनुष्य आयु के आस्रव से अव्यवहित उत्तर काल में कहे जाने वाले देव आयु की अपेक्षा से इस सूत्र को पृथक् किया गया है। तिस कारण यह स्वभाव का मृदुपना देव संबंधी आयु का आस्रव हुआ समझा दिया जावेगा। पुनः कोई प्रश्न उठाता है कि वह स्वभाव का मृदुपना किस प्रकार का मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव हो सकेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं चेति हेत्वंतरसमुच्चयः।
मानुषस्यायुषस्तद्धि मिश्रध्यानोपपादिकम् ॥१॥

"स्वभावमार्दवं च" इस सूत्र में पड़े हुये च शब्द का अर्थ समुच्चय है। इस कारण मनुष्य सम्बन्धी आयु के आस्रावक होरहे दूसरे हेतु का भी समुच्चय हो जाता है। अथवा स्वभावमृदुता से मनुष्य आयु और देव आयु का आस्रव होना समझा दिया जाता है। साथ ही विनीतस्वभाव, प्रकृतिभद्रता, संतोष, अनसूया, अल्पसंक्लेश, गुरु देवता पूजा आदि कारणों का भी संग्रह हो जाता है। जब कि वह स्वभाव मृदुपना शुभ, अशुभ ध्यानों से मिश्रित होरहे ध्यान से अन्वित होकर उपज रहा हो तब मनुष्य आयु का आस्रावक हो जायगा अन्यथा नहीं।

क्या अल्प आरंभपरिग्रहसहितपना और स्वभाव मार्दव ये दो ही मनुष्य आयु के आस्रव हैं? अथवा क्या अन्य भी मनुष्य आयु का आस्रव है? जो कि उपलक्षण मार्ग से नहीं संग्रह किया जा सके ऐसी आशंका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग इन सात शीलों से और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन पाँच व्रतों से रहितपना तो नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु और देव आयु इन सभी आयुओं का आस्रावक हेतु है।

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः। सर्वेषां ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थं। देवायुषोऽपि प्रसंग

इति चेन्न, अतिक्रांतापेक्षत्वात् । पृथक्करणात् सिद्धे आनर्थक्यमिति चेन्न, भोगभूमिजार्थत्वात् । तेन भोगभूमिजानां निःशीलव्रतत्वं देवायुषः आस्रवः सिद्धो भवति । कुत एतदित्याह—

इस सूत्र में पढ़ा गया च शब्द तो अधिकार प्राप्त हो रहे अल्पारंभपरिग्रहत्व का समुच्चय करने के लिये उपात्त किया गया है। अल्पारंभ परिग्रह सहितपना मनुष्य आयु का आस्रव है। अथवा शील व्रतों से रहितपना भी मनुष्य आयु का आस्रावक है। तथा इस सूत्र में 'सर्वेषां' इस पद का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण चारों आयुओं के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये है। यहाँ कोई विनीत शिष्य पूँछता है कि सभी कह देने से तो निःशीलव्रतपने से देवायु के भी आस्रव हो जाने का प्रसंग आजायेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रकार ने अभीतक देव आयु का आस्रव कहा ही नहीं है। नरक आयु, तिर्यक् आयु और मनुष्य आयु इन तीन आयुओं का सूत्रों द्वारा निरूपण हो चुका है। अतः अभी तक अतिक्रान्त हो चुकी तीन आयुओं की अपेक्षा सर्वेषां पद कहा गया है। ऐसी दशा में देवायु का ग्रहण नहीं हो सकता है। पुनः कोई कटाक्ष करता है कि इस सूत्र का पृथक् निरूपण करदेने से ही अतिक्रांत हो चुकी तीन आयुओं की अपेक्षा यह सूत्र सिद्ध हो जायगा। पुनः सर्वेषां पद का ग्रहण व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वेषां पद से चारों आयुओं का ग्रहण है। भोगभूमियों में उपजे मनुष्य और तिर्यंचों के लिये देव आयु का आस्रव होना यह सूत्र समझा रहा है। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि भोगभूमि में उपजे हुये जीवों का शील व्रत रहितपना देवसम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। भोगभूमियाँ जीव मरकर भवनत्रिक या सौधर्म, ईशान स्वर्गों में जन्म लेते हैं। कोई तर्की यहाँ आक्षेप करता है कि राजाज्ञा के समान सूत्रकार के कथनमात्र से उक्त सूत्र का रहस्य जान लिया जाय? या किसी युक्ति से सिद्धान्त को पुष्ट किया जाता है? बताओ? यदि कोई युक्ति है तो किस युक्ति से यह सूत्रोक्त मंतव्य सिद्ध किया जाता है? प्रमाण संप्लववादियों के यहाँ संवादीज्ञान प्रमाण माना जाता है। अतः आगमाश्रित विषय में युक्ति दे देने पर शोभनीय प्रामाण्य आजाता है। यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषामायुषामिह ।
तत्र सर्वस्य संभूतेर्ध्यानस्यासुभृतां श्रितौ ॥१॥

इस सूत्र में कहा गया शीलव्रतों से रहितपना तो (पक्ष) सभी चारों आयुओं का आस्रव हेतु है (साध्यदल) क्यों कि जीवों के उस शील व्रतरहितपने में आस्रव करने पर सभी आर्त, रौद्र, धर्म्य तीनों ध्यानों की भले प्रकार उत्पत्ति हो जाती है। (हेतु) अर्थात् जैसे रोग रहितपन से मनुष्य कैसी भी भली बुरी टेवों में पड़ जाता है उसी प्रकार शीलव्रतरहितपना भी बहु आरंभ परिग्रह और मायाचार तथा अल्पारंभपरिग्रह एवं जलराजितुल्य रोष, सानुकंपहृदयता आदि से समन्वित हो रहा सन्ता चारों आयुओं का आस्रावक है। इस दशा में यथा योग्य तीनों ध्यानों में से कोई भी एक या दो अथवा शुभ, अशुभ से मिला हुआ ध्यान संभव जाता है। जो कि विशुद्धि या संक्लेश का अंग हो रहा तीन पुण्य आयुओं और एक पापस्वरूप नरक आयुः का आस्रव है।

ततो यथासंभवं सर्वस्यायुषो भवत्यास्रवः ॥

तिस कारण यथायोग्य संभव रहा निःशीलव्रतपना सभी आयुओं का आस्रव हेतु हो जाता है। कोई कुतर्क के लिये स्थान नही रहता है।

अब तक नरकआयु, तिर्यग् आयु, मनुष्यआयु इन तीन आयुष्य कर्मों के आस्रव की विधि कही जा चुकी है। अब चौथी देव आयुका आस्रव हेतु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर भगवान् सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

संसार के कारणों की निवृत्ति प्रति उद्यत होरहा है किन्तु अभीतक कषाय जिसके क्षीण नहीं हुये हैं वह पुरुष सराग कहा जाता है। प्राणी और इन्द्रियों में अशुभ प्रकृति का त्याग संयम है। सराग पुरुष का संयम सरागसंयम कहा जाता है। छठे गुणस्थान से प्रारंभ कर दशमे तक सराग संयमस्वरूप महाव्रत हैं किन्तु देव आयु का आस्रव तो निरतिशय अप्रमत्त सातवें गुणस्थान तक ही माना गया है। पांचवें गुणस्थान में संभव रहा संयमासंयम का अर्थ श्रावकों का व्रत है। अकामनिर्जरा का तात्पर्य यों है कि कारागृह या किसी बंधन विशेष में पड़ा हुआ जीव पराधीन होरहा यद्यपि दुःख सहना नहीं चाहता है तथापि भूंक रोके रहना, प्यास का दुःख, धोटक ब्रह्मचर्य धारण, भूमिशयन, मलधारण, संताप प्राप्ति, भोगनिरोध इनको सह रहा जो थोड़ी सी कर्मों की निर्जरा कर रहा है वह अकाम निर्जरा है। यथार्थ प्रतिपत्ति नहीं होने के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव बाल कहे जाते हैं। इन बालों का अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप, एक हाथ उठाये रखना, तिरस्कार सहना, एकदंड या तीन दंड लिये फिरना, कान फटवाना आदि प्रचुर काय क्लेश वाला व्रत धारना बालतप कहा जाता है। सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप ये चारों क्रियायें चतुर्निकाय सम्बन्धी देवों की आयु के आस्रव हेतु हैं।

व्याख्याताः सरागसंयमादयः। कीदृशानि सरागसंयमादीनि दैवमायुः प्रतिपादयंतीत्याह—

सराग संयम आदि का व्याख्यान किया जा चुका है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस प्रकार हो रहे संते ये सराग संयम आदिक उस देव संबंधी आयु के आस्रव को इस सूत्र द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं ? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कहते हैं॥

तस्यैकस्यापि दैवस्यायुषः संप्रतिपत्तये।
धर्म्यध्यानान्वितत्वेन नान्यथातिप्रसंगतः ॥१॥

उस एक भी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव की समीचीन प्रतिपत्ति कराने के लिए सूत्रकार द्वारा यह सूत्र रचा गया है। धर्म्य ध्यान से अन्वितपने करके सराग संयम आदिक उस देव आयु के आस्रव हैं अन्यथा नहीं क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् चौथे से सातवें गुणस्थान तक पाये जा रहे मुख्य धर्म्यध्यान और मिथ्यादृष्टियों के भी पाये जारहे परोपकार, दयाभाव, अनशन, सद्धर्मश्रवण, असंक्लेश, धर्मबुद्धि पूर्वक कायक्लेश, रसत्याग, उदासीनता आदि व्यावहारिक धर्म्यध्यान युक्त सरागसंयमादिक तो देव आयु का आस्रव करायेंगे, हां रौद्र या आर्तध्यान से युक्त हो रहे बालतप आदि से देवायु

का आस्रव नहीं होगा। यही अतिप्रसंग है कि अन्यथा नरक आयु, तिर्यग् आयु का कारण भी देवायु का आस्रव हेतु बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। कोई पूंछता है कि क्या इतना ही देव संबंधी आयु का आस्रव हेतु है ? अथवा क्या अन्य भी कोई देवायु का आस्रावक है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन भी देव संबंधी आयु का आस्रव है।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात्सिद्धेः। किमर्थश्चशब्द इति चेदुच्यते—

इस सूत्र में सम्यक् देव आयु का आस्रव है यों विशेषता सहित सामान्यरूप से यद्यपि कथन किया गया है तो भी सौधर्म आदि वैमानिक संबंधी आयु के आस्रव की विशेषरूप से झप्ति हो जाती है। सूत्र का पृथक् निरूपण करने से उक्त मंतव्य की सिद्धि हो जाती है क्योंकि यदि सम्यक्त्व को सामान्य रूप से ही देव आयु का आस्रव बखानना इष्ट होता तो सूत्र का पृथक् कहना व्यर्थ पड़ता पहिले के "सरागसंयम आदि" सूत्रों में ही सम्यक्त्व को कह दिया जाता। अतः सिद्ध है कि पूर्व सूत्र करके सामान्यरूप से देव आयु के आस्रव का निरूपण किया गया है और इस सूत्र करके वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कहा गया है। सराग संयम और संयमासंयम तो सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं हैं अतः सम्यक्त्व, सरागसंयम और संयमासंयम ये तीन तो वैमानिक देवों की आयु के आस्रव हैं तथा अकामनिर्जरा और बालतप ये दो तो भवनत्रिक या वैमानिक इन सभी चतुर्णिकाय देवों की आयु के आस्रव हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्र में च शब्द कहने का क्या प्रयोजन है ? यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार द्वारा यह वक्ष्यमाण उत्तर कहा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यक्त्वं चेति तद्धेतु समुच्चयवचोबलात्।
तस्यैकस्यापि देवायुःकारणत्वविनिश्चयः ॥१॥

"सम्यक्त्वं च" इस सूत्र में उस देव आयु के हेतुओं का समुच्चय करने वाले वचन के बल से उस एक सम्यक्त्व को भी देव आयु के कारणपन का विशेषतया निश्चय हो जाता है। अर्थात्—च शब्द करके सरागसंयम आदि का समुच्चय है। किंतु अकेला भी सम्यक्त्व देव सम्बन्धी आयुः का आस्रावक है। बात यह है कि कर्म भूमि के मनुष्य या तिर्यञ्च जीवों के सम्यक्त्व होगा वह वैमानिक देवों में ही उपजावेगा हां परभव सम्बन्धी मनुष्य आयु या तिर्यञ्च आयु को बांध चुके कर्म भूमिस्थ मनुष्य तिर्यञ्चों का सम्यग्दर्शन भोगभूमि में धर देवेगा इनके अणुव्रत या महाव्रत नहीं हो सकते हैं। हां देवों या नारकियों का सम्यक्त्व तो कर्मभूमि के मनुष्यों में उत्पादक समझा जाय।

सर्वापवादकं सूत्रं केचिद्व्याचक्षते सति।
सम्यक्त्वे न्यायुषां हेतोर्विफलस्य प्रसिद्धितः ॥२॥
तन्नाप्रच्युतसम्यक्त्वा जायंते देवनारकाः।
मनुष्येष्विति नैवेदं तद्बाधकमितीतरे ॥३॥

तन्निःशीलव्रतत्वस्य न बाधकमिदं विदुः।
स्यादशेषायुषां हेतुभावसिद्धेः कुतश्चन ॥४॥

कोई-कोई पण्डित इस सूत्र का यों व्याख्यान कर रहे हैं कि यह सूत्र पहिले कहे गये सभी आयुओं के आस्रव प्रतिपादक सूत्रों का अपवाद करने वाला है। क्योंकि सम्यक्त्व के होते सन्ते अन्य नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु के कारणों के विफल हो जाने की प्रसिद्धि है। इसके उत्तर में इतर विद्वान् कहते हैं कि वह केचित् का कहना ठीक नहीं है क्यों कि जिनका सम्यक्त्व भला च्युत नहीं होता है ऐसे देव नारकी जीव मरकर मनुष्य में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण यह सूत्र उस मनुष्यायु के आस्रव का बाधक नहीं है। देवों के मनुष्य आयुके बंध की व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में होती है। जब कि मनुष्यतिर्यंचों के मनुष्य आयु की बंध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है। तिस कारण "निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां" सूत्र का यह बाधक नहीं है। यों इतर पंडित कह रहे हैं क्यों कि शीलव्रत रहितपन को किसी न किसी प्रकार से सम्पूर्ण आयुओं के हेतु हो जाने की सिद्धि हो चुकी है।

पृथक्सूत्रस्य निर्देशाद्धेतुर्वैमानिकायुषः।
सम्यक्त्वमिति विज्ञेयं संयमासंयमादिवत् ॥५॥

इस सूत्र का पृथक् निरूपण करने से सम्यक्त्व वैमानिक देवों की आयु का हेतु है। यह समझ लेना चाहिये जैसे कि संयमासंयम आदिक वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कराते हैं। यहाँ आदि पद से सराग संयम का ग्रहण है।

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबंधिक्रोधाद्यभावतः।
जीवेष्वजीवता श्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानितः ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्तेः शुद्धिवृत्तितः।
प्रकृष्टस्यायुषो दैवस्यास्रवो न विरुध्यते ॥७॥

सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान आदि के कषायों का उदय रूप से अभाव है तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय की हानि हो जाने से जीवों में अजीवपन या तत्त्वों में अतत्त्वपन की श्रद्धा का विनाश हो गया है। अतः उस मिथ्याश्रद्धा की टेव अनुसार होने वाली हिंसा की निवृत्ति हो जाने से आत्मा की वृत्ति विशुद्ध हो गयी है। विशुद्ध वृत्ति अनुसार सभी आयुओं में प्रकृष्ट हो रही देव संबंधी आयु का आस्रव हो जाना विरुद्ध नहीं पड़ता है। यों युक्तिपूर्वक सूत्रार्थ समझा दिया है।

आयुः कर्म के अनंतर नामकर्म का निर्देश है। शुभ और अशुभ यों नामकर्म दो प्रकार का है। उनमें प्रथम अशुभ नामकर्म के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

मनोयोग, वचन योग और काय योग की कुटिलता तथा अन्यथा प्रतिपादन करना स्वरूप विसंवादन ऐसे-ऐसे कारण अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता, विसंवादनमन्यथा प्रवर्तनं। योगवक्रतैवेति चेत्, सत्यं; किंत्वात्मांतरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात्पृथग् वचनं विसंवादनस्य। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः तेन तज्जातीयाशेषपरिणामपरिग्रहः। कुतोऽशुभस्य नाम्नोऽयमास्रव इत्याह—

काय, वचन, मनों की कुटिलपने करके वृत्ति होना योगवक्रता है यथार्थ मार्ग से दूसरे ही प्रकारों करके दूसरों को प्रवर्तावना विसंवादन है। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि यह विसंवादन तो योगवक्रता ही है क्योंकि दूसरों को धोखा देने में स्व के योगों की कुटिलता हो ही जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तुम्हारा कहना सत्य है। जब तक मैं उत्तर नहीं देता हूँ तब तक सत्य सारिखा जचता है। उत्तर सुनते ही आक्षेप की धज्जियां उड़ जायंगी, बात यह है कि विसंवादन में अवश्य योगवक्रता होती है किन्तु दूसरे जीवों में भी उस कौटिल्यभाव का प्रयोजक होने से विसंवादन का पृथक् निरूपण किया गया है। कोई दूसरा जीव स्वर्ग मोक्ष की साधक क्रियाओं में प्रवर्त रहा है। उसको अपनी विपरीत कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टाओं से धोखा देता है कि तुम इस प्रकार मत करो यों मेरे कथनानुसार करो। ऐसी कुटिलतया प्रवृत्ति कराना विसंवादन है। अपनी आत्मा में ही कुटिलता योगवक्रता कही जाती है और दूसरों में करायी गयी कुटिलता विसंवादन है। यह इन दोनों का भेद है। इस सूत्र में पड़ा हुआ च शब्द तो नहीं कहे जा चुके कारणों का समुच्चय करने के लिये है तिस च शब्द करके उन योगवक्रता या विसंवादन की जाति वाले अशेषपरिणामों का परिग्रह हो जाता है अर्थात् च शब्द करके पिशुनता, डमाडोल स्वभाव, झूंठे बांट, नाप बनाना, कृत्रिम सोना, मणि, रत्न बनाना, झूंठी गवाही देना, यंत्र, पीजरा आदि का निर्माण करना, ईंट पकाना, कोयला बनाने का व्यापार करना, आदि का समुच्चय हो जाता है। यहाँ कोई तर्क करता है कि किस युक्ति से यह अशुभ नाम कर्म का आस्रव होरहा समझ लिया जाय इस प्रकार तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

नाम्नोऽशुभस्य हेतुः स्याद्योगानां वक्रता तथा।
विसंवादनमन्यस्य संक्लेशादात्मभेदतः ॥१॥

अन्य जीव को संक्लेश उपजाने से और अपने में संक्लेश होने से भेद को प्राप्त हो रहे ये योगों की वक्रता तथा विसंवादन तो अशुभ नाम कर्म के हेतु हो सकते हैं। संक्लेश हो जाने से पाप कर्म का बंध हो जाना साधा जा चुका है।

अशुभ नाम कर्म का आस्रव कहा जा चुका है। अब शुभ नाम कर्म का आस्रव क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार भगवान् अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

उस योगवक्रता से विपरीत अर्थात् काय, वचन, मनों का ऋजुकर्म तथा विसंवादन से विपरीत अविसंवादन ये शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। पूर्व सूत्र के च शब्द की अनुवृत्ति अनुसार उन समुचितों के विपरीत हो रहे साधर्मियों का दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि का भी समुच्चय कर लिया जाता है।

ऋजुयोगताऽविसंवादनं च तद्विपरीतं। कुतस्तदखिलं शुभस्य नाम्नः कारणमित्याह—

मन, वचन, काय के योगों का ऋजुपना और अविसंवादन ये दोनों उस पूर्व सूत्रोक्त से विपरीत हैं जो कि शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि किस कारण से वे योगऋजुता आदि सम्पूर्ण इस शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं ? बताओ। यों तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ततस्तद्विपरीतं यत्किंचित्तत्कारणं विदुः।
नाम्नः शुभस्य शुद्धात्मविशेषत्वावसायतः ॥१॥

तिस कारण उन योग्यवक्रता आदि से जो कुछ भी विपरीत क्रियायें हैं वे सब शुभ नामकर्म के कारण हैं। ऐसा पण्डित समझ रहे हैं (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि आत्मा की विशेष शुद्धि का निर्णय हो रहा है। अर्थात् विशुद्धि के अंग होने से योगों की सरलता आदि से पुण्य स्वरूप शुभ नाम कर्म का आस्रव हो जाना न्याय प्राप्त है।

अब कोई पूँछता है कि शुभनाम कर्म के आस्रव की विधि इतनी ही है ? अथवा कोई और विशेषता है ? ऐसी दशा में कहा जाता है कि जो अनंत अनुपम प्रभाव वाला, अचिंत्य विशेष विभूतियों का कारण, तीनों लोक में विजय करने वाला, यह तीर्थंकर नाम कर्म है उसके आस्रव की विधि में विशेषता है। तिस पर जिज्ञासु पूंछता है कि यदि इस प्रकार है तो उस तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रवों को शीघ्र कहिये। इस कारण सूत्रकार तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रवों का प्ररूपण करने के लिये इस अगिले सूत्रको कहते हैं।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य-करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग - प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

भगवान् अर्हंत परमेष्ठी द्वारा उपदिष्ट किये गये मोक्षमार्ग में रुचि होना दर्शन विशुद्धि है। ज्ञान आदि अथवा ज्ञानवान् आदि में आदर करना विनयसम्पन्नता है। अहिंसा आदि व्रतों में और क्षमा आदि शीलों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतीचार है। ज्ञान भावना में सदा उपयुक्त बने रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। संसार के दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है। दूसरों को प्रीति करने वाले स्व का यथाशक्ति त्याग करना दान है। शक्ति को नहीं छिपाकर मोक्षमार्ग के अविरोधी

कायक्लेश का करना तप है। गुणवान् जीवों के ऊपर दुःख पड़ने पर निर्दोष विधि करके उस दुःख का परिहार करना वैयावृत्य है। अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय और शास्त्र में भावविशुद्धि युक्त अनुराग करना भक्ति है। छह आवश्यक क्रियाओं में काल का अतिक्रमण नहीं कर प्रवर्तना आवश्यकापरिहाणि है। विलक्षण ज्ञान, उत्कृष्टतपश्चर्या, जिन पूजा आदि विधियों करके जैन धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। जैसे नयी ब्याई हुयी गाय का अपने बछड़े पर अनुपम स्नेह होता है उसी प्रकार अपने साधर्मी भाइयों को देख कर या प्रकृष्ट वचन वाले विद्वानों का प्रसंग मिलने पर स्नेहार्द्र चित्त हो जाना प्रवचन-वत्सलता है। ये सोलह कारण सम्पूर्ण होयं अथवा दर्शन विशुद्धि के साथ अकेले दुकेले भी होयं, समीचीन भावना किये गये संते तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव हेतु समझ लेने चाहिये।

के पुनर्दर्शनविशुद्ध्यादय इत्युच्यते;—

कोई शिष्य पूँछता है कि दर्शन विशुद्धि आदिक फिर कौन हैं ? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार द्वारा उत्तर वार्तिकों करके समाधान कहा जाता है।

जिनोपदिष्टे नैर्ग्रंथ्यमोक्षवर्त्मन्यशंकनं।
अनाकांक्षणमप्यत्रामुत्र चैतत्फलाप्तये ॥१॥
विचिकित्सान्यदृष्टीनां प्रशंसा संस्तवच्युतिः।
मौढ्यादिरहितत्वं च विशुद्धिः सा दृशो मता॥२॥

श्री अर्हंत परमेष्ठी भगवान् करके उपदेशे गये निर्ग्रन्थपना स्वरूप मोक्षमार्ग में जो शंकादि रहित रुचि करना है वह सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मानी गयी है। जिस दर्शनविशुद्धि में सातभय, अथवा यह जिनोपदिष्ट तत्त्व है या नहीं यों शंका का निराकरण कर दिया जाता है। इह लोक और परलोक में अमुक फल की प्राप्ति के लिये भोगोपभोगों की आकांक्षा भी हट जाती है। गुणों में प्रीति करते हुये ग्लानि की च्युति हो जाती है। अन्यमिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा और भली स्तुति की प्रच्युति हो जाती है। मूढता आदि से रहितपना है। यों निःशंकितत्व, निःकांक्षता, विचिकित्साविरह, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये आठ अंग पाये जाते हैं। वह दर्शन की विशुद्धि आम्नायधारा से मान्य चली आ रही है। ये असंख्य जीव जिनशासन के अवलम्ब बिना नरक, निगोद, गर्त में डूबते जारहे हैं। इनका उद्धार कैसे किया जाय ? इस प्रकार संसार समुद्र से उतारने की तीव्र भावना इसके बनी रहती है।

संज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरोऽर्थानपेक्षया।
कषायविनिवृत्तिर्वा विनयैर्मुनिसंमतैः ॥३॥
सम्पन्नता समाख्याता मुमुक्षूणामशेषतः।
सदृष्ट्यादिगुणस्थानवर्तिनां स्वानुरूपतः ॥४॥

समीचीन ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों में और उन गुणवाले पुरुषों में किसी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा करके जो आदर करना है वह विनय है। मुनियों के द्वारा श्रेष्ठ मानी गयी विनयों करके जो सम्पत्तियुक्तता है वह विनयसम्पन्नता अच्छी बखानी गयी है। अथवा अभिमान आदि कषायों की

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषरूप से निवृत्ति होजाना विनय है। सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, आदि गुणस्थानों में वर्त रहे सम्पूर्ण मोक्षाभिलाषी जीवों की अपने-अपने अनुरूप योग्यता करके विनय करना आवश्यक माना गया है। अर्थात् जैसे धनसम्पत्ति से युक्त होरहा अभिमानी धनाढ्य अपने को सम्पन्न समझता रहता है उसी प्रकार विनीत पुरुष भी अपनी विनय-सम्पत्ति से सदैव आत्मगौरव युक्त समझे। कदाचित् भी गुरु आदि में अविनय का प्रसंग नहीं आने देवे। उसकी दृष्टि, शरीर, क्रिया, मनोवृत्ति में सर्वदा विनय झलकता रहे।

सच्चारित्रविकल्पेषु व्रतशीलेष्वशेषतः।
निरवद्यानुवृत्तिर्यानतिचारः स तेषु वै ॥५॥
संज्ञानभावनायां तु या नित्यमुपयुक्तता।
ज्ञानोपयोग एवासौ तदाभीक्ष्णं प्रसिद्धितः ॥६॥

समीचीन चारित्र के भेद-प्रभेद होरहे अहिंसादि व्रतों में और उनके परिपालक क्रोधत्याग, भीरुत्वत्याग आदि शीलों में परिपूर्णरूप से जो निर्दोष शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करना है वह निश्चय कर उन शीलव्रतों में अनतीचार कहा जाता है। श्रावकों को दिग्विरति आदि सात शीलों में अतीचार नहीं लगने देना चाहिये। सम्यग्ज्ञान की भावना में जो नित्य ही उपयुक्त बने रहना है वही तो उस समय अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग प्रसिद्ध होरहा है।

संसाराद्भीरुताभीक्ष्णं संवेगः सद्भियां मतः।
न तु मिथ्यादृशां तेषां संसारस्याप्रसिद्धितः ॥७॥

श्रेष्ठ विचारवान् पुरुषों की जो संसार से सदा भयभीतता है वह सम्यग्ज्ञानियों के यहाँ संवेग माना गया है। मिथ्यादृष्टियों के यहां तो संवेग गुण बनता ही नहीं है क्योंकि उन एकान्तवादियों के यहां संसारतत्त्व की प्रसिद्धि नहीं है। पाप से तो वह डरेगा जो पाप को पाप समझेगा। मल का कीड़ा मल में ही आसक्त बना रहता है।

शक्तितस्त्याग उद्गीतः प्रीत्या स्वस्यातिसर्जनं।
नात्मपीडाकरं नापि सम्पत्त्यनतिसर्जनं ॥८॥

शक्ति से त्याग वह कह दिया जाता है जो कि प्रीति से अपने धन का परित्याग करना है। शक्ति से अधिक दान करने पर अपने को पीडा उपजती है और अत्यल्प देने से कृपणता आती है अतः वह दान अपने को पीडा करने वाला नहीं होना चाहिये। साथ ही सम्पत्ति का अत्याग करना भी नहीं होना चाहिये। यथायोग्य दान करना शक्तितस्त्याग है।

अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः।
कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः ॥९॥

अपने बल, वीर्य को नहीं छिपारहे पुरुष का समीचीन मोक्षमार्ग के अविरोध से जो कायक्लेश का अनुष्ठान करना है वह पूर्व आचार्यों द्वारा विशुद्ध होरहा शक्तितस्तप अच्छा बखाना जा चुका है।

भाण्डागाराग्निसंशांति समं मुनिगणस्य यत् ।
तपसस्तत्संरक्षणं साधुसमाधिः स उदीरितः ॥१०॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागरजी महाराज

जिस प्रकार सम्पत्ति के भण्डार घर में आग लग जाने पर शीघ्र ही उसका उपशम किया जाता है क्योंकि अन्य स्थानों की अपेक्षा वह भण्डारा बहुत उपकारक है। इसी के समान मुनि समुदाय के निर्द्वन्द्व तपश्चरण के ऊपर यदि किसी प्रकार से विघ्न उपस्थित हुआ होय तब उस तप का जो समीचीनतया रक्षण करना है वह साधुसमाधि कही गयी है।

गुणिदुःखनिपाते तु निरवद्यविधानतः ।
तस्यापहरणं प्रोक्तं वैयावृत्त्यमनिंदितं ॥११॥

गुणवाले साधु पुरुषों के ऊपर दुःख पड़ जाने पर निर्दोष विधि से जो उस दुःख का परिहार करना है वह तो निंदा रहित हो रहा वैयावृत्य अच्छा कहा गया है।

अर्हत्स्वाचार्यवर्येषु बहुश्रुतयतिष्वपि ।
जैने प्रवचने चापि भक्तिः प्रत्युपवर्णिता ॥१२॥
भावशुद्ध्यायुता शश्वदनुरागपरैरलं ।
विपर्यासितचित्तस्याप्यन्यथाभावहानितः ॥१३॥

श्री अर्हंत परमेष्ठियों में और श्रेष्ठ आचार्य महाराजों में तथा बहुत शास्त्रों के जानने वाले उपाध्याय यतियों में एवं जिनोक्त प्रवचन यानी शास्त्रों में भी जो सदा अनुराग में तत्पर होरहे भव्य जीवों करके भावशुद्धि से युक्त होरही अत्यर्थ भक्ति की जाती है वह अर्हंत आदि की भक्ति बखानी गयी चली आरही है। भक्ति की विशेषता यह है कि जिन पुरुषों के चित्त मिथ्याज्ञान करके विपर्यास को प्राप्त होरहे हैं उनके अन्य प्रकारों से होरहे मिथ्याभावों की हानि उस भक्ति करके हो जाती है।

आवश्यकक्रियाणां तु यथाकालं प्रवर्तना ।
आवश्यकापरिहाणिः षण्णामपि यथागमं ॥१४॥

सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का त्याग कर चित्त का एक आत्मानुभव में लगाये रखना सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का श्रद्धापूर्वक विचार करना स्तव है। दो आसन वाली और बारह आवर्त वाली, तथा चार शिरोनति द्वारा नमस्कार वाली, शारीरिकक्रिया करते हुये मन,वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक देव, शास्त्र, गुरु की वंदना करना वन्दना है। पहिले लगे हुये दोषों की निवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। भविष्य में आनेवाले संभाव्यमान दोषों का प्रथम से ही त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। काल की मर्यादा कर शरीर में ममत्व भाव की निवृत्ति कर देना कायोत्सर्ग है। इस प्रकार इन छैओं भी आवश्यक क्रियाओं का (में) यथायोग्य काल में आगम विधि अनुसार प्रवृत्ति करते रहना तो आवश्यकापरिहाणि है।

मार्गप्रभावना ज्ञानतपोऽर्हत्पूजनादिभिः ।
धर्मप्रकाशनं शुद्धबोद्धानां परमार्थतः ॥१५॥

उत्कट ज्ञान का अभ्यास करना, उग्र तपश्चरण करना, प्रतिष्ठान पूर्वक जिनपूजन करना, विशाल चैत्यालय निर्माण, उद्भट शास्त्रार्थ, प्रकृष्ट वक्तृता, आदि विधानों करके शुद्ध हृदय वाले बुद्धिशाली पुरुषों का जो जैन धर्म का प्रकाश करना है वह परमार्थ रूप से ठोस मार्ग प्रभावना नाम की भावना है ।

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितं ।
जैने प्रवचने सम्यक्छ्रद्धानं ज्ञानवत्स्वपि ॥१६॥

जिस प्रकार सद्यःप्रसूता गाय अपने बछड़े में अकृत्रिम स्नेह करती है उसीप्रकार जिनमतानुयायी अच्छे वचन वाले विद्वानों में और समीचीन श्रद्धान ज्ञान वाले साधर्मी पुरुषों में भी जो पुनः-पुनः प्रमोदबहुलवत्सलता करना है वह प्रवचनवत्सलत्व भावना अच्छी कही गयी है ।

अथ किमेते दर्शनविशुद्ध्यादयः षोडशापि समुदितास्तीर्थकरत्वसंवर्तकस्य नामकर्मणः पुण्यास्रवः प्रत्येकं वेत्यारेकायामाह—

अब यहां कोई शंका उठाता है कि क्या ये दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, आदि सोलहों भी भावनायें समुदित होकर तीर्थकरत्व का सम्पादन करने वाले पुण्यस्वरूप नाम कर्म के आस्रव हैं ? अथवा क्या षोडश भावनाओं में प्रत्येक भी तीर्थकरत्व पुण्यनाम कर्म का आस्रव है ? बताओ । इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उत्तर को कहते हैं ।

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥१७॥
सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।
प्रवृत्त्यातिशयादीनां निर्वर्तकमपीशितुः ॥१८॥

समस्त यानी पूरी सोलहों अथवा व्यस्त यानी प्रत्येक भी दर्शन विशुद्धि आदिक भावनायें तीर्थकरत्व नामकर्म की हेतु हैं किन्तु वे दर्शन विशुद्धि से भले प्रकार अन्वित होनी चाहिये । "सम्मेव तित्थबन्धो" वह तीर्थकरत्व नाम कर्म का पुण्य, सम्पूर्ण दिव्यविभूतियों में सर्वोत्कृष्ट महान् अतिशय को धारने वाला है और तीनों लोकों को जीत कर तीर्थंकर भगवान् में त्रैलोक्य के अधिपतित्व को स्थापित करने वाला है । साथ ही अनन्त सामर्थ्य युक्त होरहे परमेश्वर जिनेन्द्र देव के प्रवृत्ति करके अतिशय आदिकों का सम्पादक भी वह तीर्थकरत्व पुण्य है । अर्थात् तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानों में तीर्थकरत्व प्रकृति का उदय है । तीर्थकरत्व के साथ अविनाभाव रखने वाली अन्य प्रशस्तप्रकृतियों का

उदय तो गर्भ, जन्म अवस्था से ही है जिनोंने पूर्व जन्म में ही तीर्थकरत्व को बांध लिया है उनको कुछ पहिले जन्म से ही विशेषतायें होने लग जाती हैं तेरहवें गुणस्थान में तो शतयोजन सुभिक्ष, आकाशगमन, चतुर्मुखदर्शन आदि कितने ही अतिशय उपज जाते हैं। तीर्थकरत्व का सबसे बढ़िया कार्य तो असंख्य जीवों को तत्त्वोपदेश देकर मोक्षमार्ग में लगा देना है। तीर्थंकर महाराज से ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत एव शुभनाम्नः सामान्येनास्रवप्रतिपादनादेव तीर्थकरत्वस्य शुभनामकर्मविशेषास्रव-प्रतिपत्तावपि तत्प्रतिपत्तये सूत्रमिदमुक्तमाचार्यैः। सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषार्थिना विशेषस्यानु-प्रयोगः कर्तव्य इति न्यायसद्भावात् ॥

इस ही कारण से अर्थात् इन संसारी जीवों के लिये महान् उपकारक होने से सर्वोत्कृष्ट तीर्थ-करत्व का आस्रावक सबसे बड़ा सूत्र कहा है। यद्यपि "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र द्वारा सामान्य करके शुभ नाम कर्म के आस्रव का प्रतिपादन कर देने से ही शुभ नाम कर्म के विशेष होरहे तीर्थकरत्व कर्म आस्रव की प्रतिपत्ति हो सकती थी तथापि उस सर्वातिशायि पुण्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को आचार्यों ने पृथक् कह दिया है। सामान्य में अन्तर्भूत हो चुके विशेष का भी विशेष के अभिलाषी पुरुष करके स्वतंत्रतया उस विशेष का पुनः प्रयोग कर देना चाहिये इस प्रकार के न्याय का सद्भाव है। "ब्राह्मणवशिष्ट न्याय" अथवा "जिनेन्द्रदेवमहावीर" न्याय प्रसिद्ध हैं। इन लौकिकन्यायों अनुसार जगदु-पकारी और जड़ कर्मों की भी प्रशंसा करा देने वाली तीर्थकरत्व प्रकृति का पृथक् सूत्र द्वारा निरूपण करना सहृदय सूत्रकार का समुचित प्रयास है।

नामकर्म के आस्रव का कथन कर चुकने पर गोत्र कर्म का आस्रव वक्तव्य हुआ तहां "दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्" इस न्याय अनुसार पहिले नीच गोत्र के आस्रव का निरूपण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना तथा विद्यमान होरहे गुणों को ढक देना और नहीं विद्यमान होरहे दोषों को प्रकट करना ये सब नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रावक कारण हैं।

दोषोद्भावनेच्छा निंदा, गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, अनुद्भूतवृत्तिता छादनं, प्रतिबंधका-भावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनं, गूयते तदिति गोत्रं, नीचैरित्यधिकरणप्रधानशब्दः। तदेवं परात्म-नोर्निंदाप्रशंसे सदसद्गुणयोश्छादनोद्भावने नीचैर्गोत्रस्यास्रव इति वाक्यार्थः प्रत्येयः। कुत एत-दित्याह—

सत्य अथवा असत्य दोषों के प्रकट करने की इच्छा निंदा कही जाती है। सद्भूत या असद्भूत गुणों के प्रकट करने का अभिप्राय रखना प्रशंसा है। प्रसिद्ध नहीं होने देना यानी छिपाये रखने का

व्यवहार रखना आच्छादन है। प्रतिबंधक कारण का अभाव होने पर प्रकाशित हो जाने की प्रवृत्ति करना उद्भावन है। जो व्यवहारी पुरुषों करके बोला जारहा है इस कारण वह गोत्र है। नीचैः यह शब्द अधिकरण की प्रधानता रखने वाला है। तिस कारण इस सूत्र वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझ लिया जाय कि पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों का तिरोभाव करना और असद्गुणों का आविर्भाव करना ये आत्मा को नीचे स्थान में करने वाले नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस युक्ति से ये सूत्रोक्त उद्देश्यविधेयदल संगत होरहे हैं? बताओ। ऐसा चोद्य उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कहते हैं कि—

परनिंदादयो नीचैर्गोत्रस्यास्रवाः सतां।
तेषां तदनुरूपत्वादन्यथानुपपत्तितः ॥१॥

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

परनिंदा आदिक तो (पक्ष) नीचैर्गोत्र कर्म का आस्रव कराने वाले माने गये हैं (साध्य) क्योंकि उन परनिंदा आदि को उस नीचगोत्र के आस्रव करने की अनुकूलता प्राप्त है। (हेतु) अन्यथा यानी नीचगोत्र के आस्रावक होने के बिना उस तदनुकूलता की असिद्धि है (अविनाभाव प्रदर्शन) यों अनुमान मुद्रा करके सूत्रोक्त सिद्धांत पुष्ट कर दिया है।

नीचगोत्र का आस्रव कहा जा चुका है। अब उच्च गोत्र के आस्रव की विधि क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

उन नीचगोत्र के आस्रावक कारणों से विपरीत होरहे अर्थात् आत्मनिंदा, परप्रशंसा, सद्गुण उद्भावन, असद्गुणछादन, तथा गुणी पुरुषों से विनय करते हुये अवनत रहना और विज्ञान आदि का मद नहीं करना ये उत्तरवर्त्ती यानी उच्चगोत्र के आस्रावक हेतु हैं।

नीचैर्गोत्रस्यास्रवप्रतिनिर्देशार्थस्तच्छब्दः, विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः, गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः, अनहंकारतानुत्सेकः। त एते उच्चैर्गोत्रस्यास्रवा इति समुदायार्थः ॥ कथमित्याह—

तत् शब्द पूर्वपरामर्शक होता है। इस सूत्र में पूर्व सूत्रोक्त नीचैर्गोत्र के आस्रव कारणों का प्रतिनिर्देश करने के लिये तत् शब्द कहा गया है। अन्य प्रकार करके वृत्ति करना विपर्यय है। गुणों से उत्कृष्ट होरहे गुरुजनों में विनय करके अवनति यानी नम्र बने रहना नीचैर्वृत्ति है। विज्ञान, तपश्चर्या, चारित्र आदि गुणों करके उत्कृष्ट होरहे भी सत्पुरुष का जो विज्ञान आदि प्रयुक्त मद नहीं करना है वह अनुत्सेक कहा जाता है। ये सब लोक प्रसिद्ध होरहे कारण उच्चैर्गोत्र के आस्रव हैं। यह इस सूत्र के वाक्यों का समुदाय कर अर्थ कर दिया गया है। यहाँ कोई चोद्य उठता है कि आप जैनों की बात केवल आज्ञा सिद्ध मान ली जाय? अथवा उक्त सूत्र के अभिमत सिद्धान्त में कोई युक्ति भी है? यदि है तो वह किस प्रकार है? ऐसी तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस वक्ष्यमाण वार्त्तिक को कहते हैं।

उत्तरस्यास्रवः सिद्धः सामर्थ्यात्तद्विपर्ययः ।
नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकस्तथैवामलविग्रहः ॥१॥

जिस ही प्रकार परनिंदा आदिक नीचगोत्र के अनुरूप होरहे नीचगोत्र के आस्रव हैं उस ही प्रकार उनसे विपरीत होरहे परप्रशंसा आदिक तो उत्तर गोत्र के आस्रव हैं। यह बात विशेष युक्ति का प्रतिपादन किये विना सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। तिस ही प्रकार नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक भी उच्चगोत्र के आस्रव हैं। उक्त सिद्धान्त का शरीर निर्मल है कोई दोष नहीं है अथवा निर्दोष साधनों करके मनःशुद्धि और आत्मशुद्धि का कारण शरीर की शुद्धि बनाये रखना यह भी उच्चगोत्र का आस्रव है।

यथैव हि नीचैर्गोत्रानुरूपो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः परनिंदादिस्तथोच्चैर्गोत्रानुरूपः परप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्येति न कश्चिद्विरोधः ।

कारण कि जिस ही प्रकार नीचगोत्र के अनुकूल होरहे परनिंदा आदिक नीचगोत्र के आस्रव कह दिये हैं। तिस ही प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में पाये जारहे ऊँचे गोत्रों के अनुरूप हुये परप्रशंसा, आत्मनिंदा आदिक तो उच्चगोत्र के आस्रव हैं। यों लौकिक और शास्त्रीय न्याय से इस सूत्रोक्त सिद्धांत का कोई विरोध नहीं आता है। उक्त वार्तिक में इस सूत्रोक्त का अनुमान बनाया जा सकता है। तर्करसिक विद्वानों को प्रत्यक्षित या आगमगम्य विषयों में भी अनुमान प्रयोग अभिरूप जचता है॥ गोत्रकर्म के अनन्तर निर्दिष्ट किये गये आठवें अन्तराय कर्म का आस्रव क्या है? ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर परोपकारी सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

दान आदि शुभ कार्यों में विघ्न कर देना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादिविहननं विघ्नः तस्य करणं दानाद्यंतरायस्यास्रवः प्रत्येयः । कुत इत्याह—

दान आदि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का विशेषतया हनन करना विघ्न है उस विघ्न का करना दानान्तराय, लाभान्तराय आदि अन्तराय कर्मों का आस्रव कारण होरहा समझ लेना चाहिये, किस कारण से या किस युक्ति से इस सूत्र का कहा हुआ विषय पर्यालोचित समझा जाय? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तरवर्त्ती दो वार्त्तिकों को कहते हैं॥

सर्वस्याप्यंतरायस्यास्रवः स्यात्प्राणिनामिह ।
विघ्नस्य कारणात्तस्य तथायोग्यत्वनिश्चयात् ॥१॥
प्रवर्तमानदानादि प्रतिषेधस्य भावना ।
आस्रावकोऽन्तरायस्य दृष्टतद्भावना यथा ॥२॥

इन दान, लाभ, आदि में विघ्न कर देने से प्राणियों के सभी अन्तराय कर्मों का आस्रव हो जायगा (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार कार्यकारणभाव की योग्यता का निश्चय होने से (हेतु) जिस प्रकार कि दान आदि में प्रवृत्ति कर रहे पुरुष की क्रियाओं में उन दानादि के प्रतिषेध की भावना करना अन्तराय कर्म का आस्रावक है देखे जा रहे पदार्थ में उसकी भावना करना भी पौद्गलिकपदार्थ का आस्रावक है (दृष्टान्त) यों निर्दोष अनुमान से उक्त सूत्र का प्रमेय पुष्ट हो जाता है। विज्ञान की दृष्टि से पौद्गलिक शक्तियों का विचार करो दीन, निंदा पुरुष मीठे व्यञ्जन की ओर लालसा से देखता है, कामुक जन सुन्दरी कामिनी की ओर टकटकी लगा कर देखता है, सुन्दर बच्चे को दृष्टि लग जाती है इत्यादि रहस्यों का चिन्तन करो।

इति करणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः। तेन विघ्नकरणजातीयाः क्रियाविशेषाः। प्रभूतस्वं प्रयच्छति प्रभौ स्वल्पदानोपदेशादयोऽपि दानाद्यंतरायास्रवाः प्रसिद्धा भवन्ति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"भूतव्रत्यनुकम्पा" आदि सूत्र में इति शब्द उपात्त किया गया है। इति का अर्थ प्रकार है यानी इस प्रकार के अन्य भी कारण इन-इन कर्मों के आस्रव हो सकते हैं। "देहलीदीपक" न्याय से इति शब्द का "तत्प्रदोष" "दुःखशोक" "कषायोदयात्" "बह्वारंभ" "मायातैर्यग्योनस्य" आदिक सभी कर्मास्रव के प्रतिपादक सूत्रों में अन्वय हो जाता है। उन-उन सूत्रों में कहे गये कारण तो उपलक्षण हैं। प्रकार अर्थ वाले इति शब्द करके प्रदोष आदि के साथ आचार्य या उपाध्याय के प्रतिकूल हो जाना, अकाल में अध्ययन करना, श्रद्धा नहीं रखना, मिथ्या उपदेश देना, आदि का ग्रहण हो जाता है। दुःख, शोक, आदि के साथ अशुभ प्रयोग, अंगोपांगछेदन, तर्जन, विश्वासघात, विषमिश्रण, यंत्र, पींजरा बनाना, आदि का संग्रह हो जाता है। भूतानुकम्पा आदि के साथ अर्हंत पूजा, विनयप्रधानता आदि गुण भी पकड़ लिये जाते हैं। केवलि अवर्णवाद के साथ जैनधर्म में अश्रद्धा, जिनोक्त सिद्धान्त में संशय रखना, समीचीन उपदेश से सर्वथा विपरीत ही प्रवृत्ति करना, एकान्त पक्ष का आग्रह किये जाना आदि का ग्रहण किया जा सकता है। चारित्रमोह के आस्रावक हेतुओं में तपस्वी जनों की निंदा करना, हास्यशीलता, शोकप्रधानता, आदि भी गिन लिये जाते हैं। नरक आयु के कहे गये आस्रव कारण भी उपलक्षण हैं। इति शब्द द्वारा शैल भेद सदृश क्रोध करना, प्राणिघात, पर धन हरण, आदि भी ले लिये जाते हैं। तिर्यंच आयु का आस्रव माया के कह देने मात्र से, अधर्म का उपदेश, जातिकुलशीलदूषण आदि का संग्रह हो जाता है। अल्प आरंभ और अल्पपरिग्रह के साथ ही प्रकृतिभद्रता, मार्दव, आर्जव, वालुका राजि के सदृश क्रोध करना, अधिक बोलने की टेव नहीं रखना, उदासीनता आदि भी ग्रहण करने योग्य हैं। सराग संयम-आदि के साथ सद्धर्म श्रमण, प्रोषधोपवास भी संग्रहणीय हैं। योग वक्रता आदि सूत्र में च शब्द या इति शब्द करके अस्थिरचित्तस्वभाव, झूंठे नाप-तोल रखना, झूंठ बोलने की टेव, अधिक बकवाद, उद्यान विनाश, आदि का समुच्चय समझ लिया जाय। "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र में भी धार्मिक दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि अनुक्त भी परणतियों का संग्रह कर लिया जाता है। दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनायें तो नियत ही हैं। सदा जैनत्व के बढ़ते रहने की भावना रखना, परोपकार करना, प्रशस्त कार्यों में आत्मबल बढ़ाना, सम्पूर्ण संसारी जीवों के हित की भावना रखना ये परणतियां सोलह कारणों से ही गर्भित हो जाती हैं। परनिंदा आदि के साथ जाति अभिमान, कुलाभिमान, गुरु का तिरस्कार करना, आदि भी पकड़ लिये जाते हैं। उच्चगोत्र के आस्रावक हेतुओं में धर्मात्माओं की सेवा, उद्धतता नहीं करना आदि प्रकार भी ले लिये जाते हैं। इस "विघ्नकरणमंतरायस्य"

सूत्र में भी इति शब्द की अनुवृत्ति है अतः पंचेन्द्रियों के विषय में किसी को विघ्न डाल देना, धर्म का व्यवच्छेद करना, पात्र को आश्रय न देना, गुह्य अंग को छेदना, आदि अनुक्त पदार्थों का संग्रह हो जाता है। जब कि इति शब्द के करने की अनुवृत्ति हो जाने से सभी सूत्रों में अनुक्तों का संग्रह हो रहा है तिस कारण विघ्न करने की जातिवाले जितने भर क्रियाविशेष हैं उन सब का यहां संग्रह कर लिया जाता है। कोई राजा, महाराजा या सेठ किसी विद्वान् को या परोपकारी धार्मिक पुरुष को यदि बहुत सा धन दे रहा है ऐसी दशा में उस दाता को स्वल्प दान करने का उपदेश करना, भांजी मार देना, पात्र या धार्मिक स्थान के दोष दिखा देना, आदिक भी दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्मों के आस्रव प्रसिद्ध हो जाते हैं। यह निर्णीत विषय है।

सोऽयं विचित्रः स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौंडातुरवत् प्रत्येयः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सो यह विचित्र प्रकार का अपने-अपने उपार्जित कर्मों के वश से आत्मा का विकार हो रहा है जो कि मदोन्मत्त पुरुष या रोगी पुरुष के समान समझ लिया जाता है। भावार्थ "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धयतः" श्री समन्तभद्राचार्य ने धनी, निर्धन, मूर्ख, पण्डित, यशस्वी, अपयशवाला, उच्च-नीच, दुःखी-सुखी, कषायी-मन्दकषाय, क्रोधी, मिथ्यादृष्टी, मनुष्य, तिर्यंच आदि चित्र-विचित्र प्रकार का जीव का परिणाम हो रहा सभी पूर्वोपार्जित कर्मों अनुसार व्यवस्थित किया है। यह जीव अपने योग कषायों करके अनेक प्रकार के कर्मों का समय प्रबद्ध प्रतिक्षण बांधता रहता है। जब तक वास्तविक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है तब तक मोह या कषाय के वश यह जीव अनेक विभाव अवस्थाओं को धारता रहता है जिस प्रकार मत्त पुरुष अपनी मिथ्या रुचि से मद, मोह विभ्रमों को करने वाली मदिरा को पीकर उस मद्य के परिपाक की अधीनता से आत्मा, मन, वचन, काय संबंधी अनेक विकारों को धारता रहता है अथवा जैसे लोलुप रोगी, अपथ्य पदार्थों को खा-पीकर उनके खोटे परिपाक अनुसार वात, पित्त, कफ के विकारों को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने प्रदोष आदि कारणों से अनुभाग रस को लेकर आये हुये कर्मों अनुसार नट के समान अनेक विभाग परणतियों को करता रहता है। यह कर्मसिद्धान्त प्रतीत कर लेने योग्य है।

अनुपदिष्टहेतुकत्वादास्रवानियम इति चेन्न, स्वभावाभिव्यंजकत्वाच्छास्त्रस्य। तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् सर्वाविसंवादाच्चोपालंभनिवृत्तिः। सर्वेषां प्रवादिनामविसंवाद एव शुभाशुभास्रवहेतुषु यथोपवर्णितेषु। कुत इत्याह—

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, आदि करके ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव हो जाने का जो सूत्रकार ने उपदेश दिया है यह बन नहीं सकता है क्योंकि इस कार्यकारणभाव में कोई हेतु का निर्देश नहीं है अतः सूत्रों अनुसार किया गया नियम नहीं बन सकेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शास्त्र तो पदार्थ के स्वभावों का मात्र प्रकट कर देने वाला है। अग्नि उष्ण है, वायु बह रही है, सूर्य प्रकाश रहा है बिना हेतु दिये भी इन वाक्यों से वस्तु के स्वभावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। सच बात तो यह है कि "स्वभावो तर्कगोचरः" "अचिन्त्यः कार्यकारणभावः" "वस्तु निर्विकल्पकं" यों कार्यकारणभाव में कोई तर्क का अवसर नहीं है। सिद्धान्तशास्त्र केवल स्वभावों का निरूपण कर देते हैं जिस प्रकार प्रदीप ज्ञापक घट, वस्त्र आदि के स्वभाव को प्रकट कर देता है उसी

प्रकार शास्त्र भी विद्यमान हो रहे ही अर्थों का प्रकाशक है पश्चात् बैठा ठाला कोई छोटी बुद्धिवाला पुरुष भी उनके हेतुओं की विचारणा कर सकता है। अग्नि क्यों जलाती है ? कि उसमें दाहकत्व शक्ति है अन्य में वह शक्ति नहीं है। शास्त्र के उस सत् पदार्थों के अभिव्यंजकपने की सिद्धि तो यों हो जाती है कि युगपत् सम्पूर्ण अर्थों के प्रकाशने में समर्थ हो रहे और सातिशय ज्ञान को धार रहे श्री अर्हंत परमेष्ठी ने उस विषय को देख कर शास्त्र के अर्थ का उपदेश दिया है अतः वक्ता के प्रामाण्य से शास्त्र का प्रमाणपना सिद्ध है। एक बात यह भी है कि इस स्वभावों के निरूपण में सभी प्रवादियों का विसंवाद नहीं है। देखिये वैशेषिक या नैयायिक पण्डित पृथ्वी, जल, तेज, वायु, द्रव्यों के स्वभाव कठिनपना, बहना, उष्णता, चलन मानते हैं। रूप का स्वभाव चक्षु से देखा जाना इष्ट किया है। संयोग और विभाग में किसी की नहीं अपेक्षा कर कारण हो जाना कर्म का स्वभाव इष्ट किया है। सांख्य पण्डितों ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों के स्थिति, उत्पाद, विनाश या प्रसाद, प्रवृत्ति, मोह, ये स्वभाव माने हैं "अविद्या प्रत्ययाः संस्काराः" आदि बौद्धों को भी स्वभाव मानने पड़ते हैं। अतः सभी पण्डितों का अविसंवाद हो जाने से भी उपालंभों (उलाहनों) की निवृत्ति हो जाती है। आम्नायानुसार सूत्रों में जैसा-जैसा शुभ अशुभ कर्मों के आस्रावक हेतुओं का ठीक-ठीक वर्णन किया जा चुका है उनमें सभी मीमांसक, नैयायिक आदि प्रवादियों के यहाँ भी कोई विसंवाद ही नहीं है। यहां कोई तर्क उठाता है कि उक्त कर्मों के आस्रावक हेतुओं का "कार्यकारणभाव" किस प्रमाण से नियत कर लिया जाय ? ऐसा आग्रह प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस वार्त्तिक को भी युक्तिसंतोषी जनों के प्रति कहे देते हैं।

इति प्रत्येकमाख्यातः कर्मणामास्रवः शुभः।
पुण्यानामशुभः पापरूपाणां शुद्ध्यशुद्धितः ॥३॥

इस प्रकार इन अठारह सूत्रों द्वारा आठ कर्मों में से प्रत्येक-प्रत्येक के आस्रवों को कह रहे सूत्रकार महाराज ने जीवों की शुद्धि से पुण्यकर्मों का शुभ आस्रव और आत्मा की अशुद्धि से पापस्वरूप कर्मों का अशुभ आस्रव होरहा बहुत अच्छा कह दिया है "शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः" इस देवागम की कारिका पर ग्रन्थकार श्री विद्यानंद स्वामी ने अष्टसहस्री में इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है।

ज्ञानावरणादीनां कर्मणां तत्प्रदोषादयोऽशुभास्रवाः प्राणिनां संक्लेशांगत्वात् भूतव्रत्यनुकम्पादयः सद्वेद्यादीनां शुभास्रवा विशुद्ध्यंगत्वान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणसिद्धत्वात्।

प्राणियों के तत्प्रदोष, निह्नव, आदिक तो (पक्ष) पाप प्रकृति होरहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदिक कर्मों के अशुभ आस्रव हैं (साध्य) संक्लेश का अंग होने से (हेतु) अर्थात् संक्लेश के कारण और संक्लेश के कार्य अथवा संक्लेश स्वरूप को यहां संक्लेशांग पकड़ा गया है। संक्लेशांग होरहे लौकिक सुख या दुःख अथवा दोनों ही यदि स्व, पर और उभय में स्थित हो रहे हैं तो वे अवश्य पापों का आस्रव कराते हैं तथा भूत या व्रतियों में किये गये अनुकंपा, दान आदिक (पक्ष) सद्वेदनीय आदिक शुभ कर्मों के आस्रव हैं (साध्य) अन्यथा उनको विशुद्धि का अंगपना बन नहीं सकता है (हेतु) विशुद्धि के कारण और विशुद्धि के कार्य तथा विशुद्धि के स्वभाव ये सब विशुद्धि के अंग हैं जो परिणाम आत्मा का विशुद्धि का अंग होगा वह अविनाभावरूप से पुण्य कर्मों का आस्रावक है। इस प्रकार छठे

अध्याय के सूत्रोक्तसिद्धान्त की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी जाती है। श्री अकलंकदेव महाराज ने अष्टशती में "आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्" यों कहा है कि आर्तध्यान, या रौद्रध्यान, स्वरूप परिणाम संक्लेश है और धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान, स्वभाव वाली विशुद्धि है। यद्यपि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों के मन नहीं होने के कारण ध्यान नहीं है फिर भी तीव्र अनुभाव को लिये हुये कषायोदय स्थान हैं अतः वे भी संक्लेशांग समझे जांय। इसी प्रकार चौथे से सातवें गुणस्थान तक संभव रहा धर्म्यध्यान और ऊपर के गुणस्थानों में पाया जा रहा शुक्लध्यान उन मन्द कषाय वाले मिथ्यादृष्टियों के नहीं है जिनके कि आत्मविशुद्धि होने से अनेक पुण्य प्रकृतियों का आस्रव हो जाता है अतः संक्लेश या विशुद्धि का अर्थ ऐसा समझ लिया जाय जो कि अव्यभिचरित रूप से सभी पापपुण्य वाले जीवों में पाया जाय।

तत्स्वभावाभिव्यंजकशास्त्रस्य सर्वसंवादः सिद्ध एव।

शास्त्र तो उन पदार्थों के स्वभाव का प्रकाशक है अतः राग-द्वेष रहित होकर स्वभावों का व्याख्यान कर देने से समीचीन शास्त्रोक्त सिद्धान्त में सभी प्रवादियों का संवाद सिद्ध ही है। सफल प्रवृत्ति का जनकपना या निर्बाधपना अथवा अन्य प्रमाणों की अवृत्ति, ये सभी संवाद इस कर्मसिद्धान्त

पर्मी आचार्यज्ञाते ज्ञानार्थ श्री सुविधिसागर जी महाराज

ननु तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेन्न, अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः। प्रकृतिप्रदेशसंबंधनिबंधनो हि सर्वकर्मणां तत्प्रदोषादिभिः सकलोऽप्यास्रवो न प्रतिविभिद्यते। यस्त्वनुभागास्रवः स विशिष्टः प्रोक्तः। अतएव सकलास्रवाध्यायसूत्रितमत्र विशेषात्समुदायतोऽनुभागापेक्षयैवोपसंहृत्य दर्शयति।

यहाँ बड़ा अच्छा प्रश्न उठता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, दुःख, शोक, आदिक तो सभी कर्मों के आस्रव हेतु हो रहे हैं अतः उक्त अठारह सूत्रों द्वारा किये गये नियम का अभाव हुआ। भावार्थ-तत्प्रदोष करके जब ज्ञानावरण का आस्रव होना कहा जाता है उसी समय दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, सातवेदनीय कर्मों का भी आस्रव हो रहा है। आगम में आयु को छोड़ कर सातों कर्म प्रतिक्षण आते रहते कहे गये हैं। दशवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण का आस्रव है। ज्ञानावरण का आस्रव होते सन्ते दूसरों का आस्रव नहीं होना चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। इसी प्रकार भूतदया आदि कारणों द्वारा सद्वेद्य का आस्रव होने के समय, अन्य क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पाप प्रकृतियों का भी आस्रव होता है अतः आस्रव का कोई नियम नहीं रहा। आस्रव के विशेष हेतुओं का निर्देश करना व्यर्थ पड़ता है जब कि सूत्रों के उद्देश्य विधेय दलों में एवकार लगा दिया जायगा जो कि बिना कहे ही प्रत्येक वाक्य में अनायास से लग बैठता है तब तो अनेक व्यभिचार दोष सपरिकर आ जावेंगे। ऐसी दशा में सूत्रोक्त सिद्धान्तों की अनुमानों से सिद्धि करना कठिन पड़ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कर्म प्रकृतियों में फल देने की शक्ति स्वरूप अनुभाग विशेष की अपेक्षा नियम करना बन जाता है। यद्यपि तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, और स्थितिबंधपन का कोई नियम नहीं है तो भी अनुभागबंध के नियम का हेतु होने से तत्प्रदोष

आदिक विभक्त कर दिये जाते हैं भलें ही एवकार लगा दिया जाय अथवा हेतु साध्य बनाते हुये अनुमान प्रमाण स्वरूप सूत्र मान लिये जायं किंतु अनुभागबंध की अपेक्षा नियम कर देने से कोई अतिप्रसंग नहीं आता है जिस समय ज्ञान विषय में प्रदोष किया जा रहा है उस समय ज्ञानावरण कर्म में अनुभाग शक्ति अधिक पड़ेगी शेष आरहे कर्मों में अनुभाग मंद पड़ेगा। दया, क्षमा करते समय सातवेदनीय कर्म में अनुभाग रस बहुत अधिक बंधेगा, ज्ञानावरण में मन्द रस पड़ेगा, इस प्रकार तत्प्रदोष आदिकों करके सम्पूर्ण कर्मों का कर्मों की प्रकृति पड़ जाना स्वरूप प्रकृतिबंध और कर्मपरमाणुओं का गणना में न्यून अधिक होना स्वरूप प्रदेशबंध के कारण अनुसार हुये सकल भी आस्रव का कोई प्रत्येक-प्रत्येक रूप से विभेद नहीं किया जा रहा है किन्तु जो कर्मों के अनुभाग का आस्रव है वह सूत्रकार महाराज ने विशिष्ट विशिष्ट होरहा उक्त सूत्रों द्वारा अच्छा कह दिया है "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणं" जब कि सूत्रकार महाराज का ऐसा भाव है। आस्रवतत्त्व के प्रतिपादक इस छठे अध्याय के सम्पूर्ण सूत्रोक्त विषय का यहाँ विशेष रूप से अनुभागबंध की अपेक्षा करके निरूपण है समुदाय रूप से सभी सूत्रों में अनुभागबंध लागू कर लिया जाय। इसी कारण से ग्रन्थकार उक्त अभिप्राय का उपसंहार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुभागबंध के नियम को स्वागताछन्दः करके दिखलाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यादृशाः स्वपरिणामविशेषा यस्य हेतुवशतोऽसुभृतः स्युः।
तादृशान्युपपतंति तमग्रे स्वानुभागकरकर्मरजांसि ॥४॥

जिस प्राणी के हेतुओं के वश से जैसे-जैसे अपने परिणाम विशेष होंगे तिस-तिस प्रकार की अपने जाति के अनुभाग को करने वाली कर्मस्वरूप धूलियां उस जीव के आगे आ पड़ेगीं। अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग से प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध होते हैं किन्तु कषायों से स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं। दशवें गुणस्थान तक कर्मों का आस्रव है आगे तो केवल सातावेदनीय का नाममात्र आस्रव है। दशवें गुणस्थान तक कषायें पायी जाती हैं। तत्प्रदोष आदि भी कषायों की विशेष जातियों अनुसार हुये परिणाम विशेष हैं। कषायों में पाये जारहे अनुभागबंधाध्यवसाय स्थान इन प्रदोष आदि में अत्यधिक हैं। अतः अव्यभिचारी सूत्रोक्त कार्य कारण भाव बन जाता है।

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

इस प्रकार छठे अध्याय का श्री विद्यानंद स्वामी करके विरचित प्रकरणों का समुदाय रूप दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्रीविद्यानन्दि-आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

यहां तक श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेषतया रचे गये तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नाम के ग्रन्थ में छठवां अध्याय परिपूर्ण हो गया है।

इस अध्याय के प्रकरणों की सूची संक्षेप से यों है कि प्रथम ही योग का परिष्कृत लक्षण कर उसी को आस्रव कहा गया है। योग आत्मा का प्रयत्नविशेष है आत्मा के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक अनेक प्रकार के पुरुषार्थ होते रहते हैं। कौर बनाना, लील लेना, ये सब पशु, पक्षी, मनुष्यों के बुद्धि पूर्वक

पुरुषार्थ हैं, पेट में जाकर उस खाद्य या पेय पदार्थ का रस, दूध, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, पसीना बनना भी विशेष पुरुषार्थ द्वारा ही होता है भले ही उन पुरुषार्थों का जीव पूरा संवेदन नहीं कर सके। अथवा कितने ही पुरुषार्थ सर्वथा अबुद्धि पूर्वक भी होयं। बात यह है कि पढ़ना, चलना, सोना, विचारना, भोजन बनाना, पूजा करना, संयम पालना, हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार, मांसभक्षण आदि भले-बुरे कार्य किये जाते हैं ये भी सब पुरुषार्थ पूर्वक हैं। पुरुषार्थ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो चार नाम गिना दिये हैं वे शुभ कार्यों में प्रवृत्ति कराने के लिये उपयोगी हैं। आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल ये चारों ध्यान पुरुषार्थ हैं। कपड़े पहिनना, गाड़ी पर चढ़ना, खोदना, पानी खैंचना, नाचना, गाना, थप्पड़ मारना, जीना, नसेंनी पर चढ़ना, उतरना, यहाँ तक कि हंगना, मूतना, थूकना, छींकना, जंम्हाई लेना ये सब क्रियायें आत्मा के यत्नविशेष से हुयीं पुरुषार्थ ही हैं। जीव का चला कर बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक व्यापार करना, चाहे क्रियात्मक होय या अक्रियात्मक होय सर्व पुरुषार्थ ही समझा जायगा, जो गृहस्थ त्रिवर्ग का साधन नहीं कर कुकृत्यों में फंसा हुआ है उसको "त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य" यों उपदेश देकर धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थों की ओर झुका दिया जाता है। जो मुनि आवश्यकों या अपने चरित्र में प्रमाद करता है उसको मोक्ष पुरुषार्थ की साधना के लिये उद्युक्त कर दिया जाता है। कोई-कोई विद्वान् धर्म, अर्थ और काम को धर्म, यश और सुख कहते हुए गृहस्थ के यों तीन पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं। उपदेश-प्रणाली भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जो गृहस्थ आरंभ का त्यागी है या उदासीन है वह मोक्ष पुरुषार्थ के कारण होरहे संवर और निर्जरा के साधनों का अनुष्ठान करता हुआ एक प्रकार से मोक्ष पुरुषार्थ को पालता है। दान, पूजा, दया, स्वाध्याय, शुभ प्रवृत्तियां आदिक धर्म पुरुषार्थ हैं। तपः, संयम, उत्तमक्षमा, गुप्तियां, आकिंचन्य, शुक्लध्यान, ऊंची श्रेणी का धर्म्यध्यान, यथाख्यात चारित्र, सामायिक इत्यादि मोक्ष पुरुषार्थ हैं। मोक्ष को जाने वाला जीव क्षपकश्रेणी में जैसा बुद्धिपूर्वक उत्कृष्ट पुरुषार्थ शुक्लध्यान कर रहा है वैसा ही सातवें नरक जाने वाला तीव्र पापी जीव भी बुद्धिपूर्वक निकृष्ट रौद्रध्यानरूप पुरुषार्थ कर रहा है। शुभ क्रिया होने से शुक्लध्यान को मोक्ष पुरुषार्थ कह दिया जाता है और तीव्र रौद्रध्यान को त्याज्य होने के कारण पुरुषार्थ नहीं गिनाया जाता है। यहां तात्पर्य यह है कि काय,वचन, मन को बनाने वाली पौद्गलिक आहार वर्गणा, तेजो वर्गण, कार्मण वर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाओं का आकर्षण करने वाला जीव के प्रदेशों का परिस्पन्द स्वरूप योग भी एक पुरुषार्थ विशेष है। आत्मा के सभी पुरुषार्थों का ज्ञान इस अल्प जीव को हो ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। नसें बनाना, चमड़ा बनाना, वात, पित्त, कफ, लार, बाल आदि के उपयोगी पदार्थों को बनाना, शरीर में यहां-वहां भेजना, ये सब कार्य ईश्वर को नहीं मानने वाले जैनों ने आत्मा या पौद्गलिक कर्मों के ऊपर ही निर्भर हो रहे माने हैं। कारण बिना कोई कार्य हो नहीं सकता है। लाखों, करोड़ों पुरुषार्थों में से एक आध का ही हमको संवेदन हो पाता है रोने, हंसने, श्री आदि शब्द बोलने में आत्मा को भीतर क्या-क्या करना पड़ा था इस बात को समझाने के लिये बड़े-बड़े यन्त्रालय, कपड़ा बनाने वाले मिल सन्मुख लाने पड़ेंगे। अनेक जीव यों कार्य करते हैं अतः यह कोई असाधारण या अभिनन्दनपत्र प्राप्त करने योग्य कार्य नहीं समझा जाता है हां भोजन, सामायिक, अध्ययन आदि के कतिपय स्थूल पुरुषार्थों का संवेदन यह अल्पज्ञ जीव कर लेता है। यह बात लक्ष्य में रखनी चाहिये कि उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में कर्म नोकर्म के आकर्षक पुरुषार्थ या रस, रुधिरादि बनाने के पुरुषार्थ भले ही अबुद्धि पूर्वक होवें किन्तु चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिये हुये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, मोह उपशान्ति, क्षीण कषायता स्वरूप परणतियां तो सभी पुरुषार्थ पूर्वक हैं। बारहवें गुण-

स्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का समूलचूल क्षय करने के लिये बड़ा भारी एकत्व वितर्क अवीचार नाम का पुरुषार्थ हो रहा है। कोई-कोई भोले मनुष्य कह देते हैं कि श्रेणियों में अबुद्धि पूर्वक परिणाम है। यह उनकी अक्षम्य त्रुटि है। वस्तुतः देखा जाय तो अध्ययन, सामायिक, सूक्ष्मसांपराय, क्षीण कषाय अवस्थाओं में उत्तरोत्तर बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बढ़ रहा माना जाता है। श्रेणियाँ कोई मूर्छित अवस्था या गाढशयन दशा सारिखी नहीं हैं अथवा कोई वैष्णव मतानुसार हठयोगनामक समाधि नहीं है जिसमें कि वायु चढ़ाकर महीने दो महीने तक अचेत (बेहोश) रहे आते हैं और नियत समय पर होश में आ जाते हैं। किन्तु श्रेणियों में आत्मा बुद्धिपूर्वक परिणाम करता सन्ता ही कर्मों का उपशम या क्षय कर देता है। उपशम सम्यक्त्व के प्रथम तीन करण होते हैं भले ही सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव उन करणों के यथाक्रम से प्रवर्तने का या उनकी शक्तियों का वेदन नहीं करै तथापि पांच या सात प्रकृतियों के उपशम कराने के उपयोगी पुरुषार्थों को वह बुद्धिपूर्वक ही करता है। आत्मा के सभी कृत्यों को कर्मोदय पर टाल देना भी ईश्वर कर्तृत्ववाद का छोटा भाई है। प्रकरण में यही कहना है कि अनादि काल से आत्मा होकर तेरहवें गुणस्थान तक धारा प्रवाहरूप से आत्मा का योग नाम पुरुषार्थ प्रवर्त रहा है जो कि छद्मस्थ जीवों के सर्वदा बुद्धिगम्य नहीं है। योग नामक आस्रव प्रणालिका से यह संसारी जीव कर्मों का आकर्षण करता रहता है। कषायों की सहायता से उन कर्मों में स्थिति और अणुभाग को डालता हुआ ज्ञानावरणादि का अन्योन्य प्रवेशानुप्रवेश कर लेता है। इसी प्रकार योग द्वारा नोकर्मों का आकर्षण करता हुआ पर्याप्ति नामक पुरुषार्थ करके शरीर, वचन आदि को बना लेता है। पर्याप्ति नामक कर्म तो पर्याप्ति पुरुषार्थ की सहायता मात्र कर देता है जैसे कि श्वास लेना, निकालना इस पुरुषार्थ की सहायता उच्छ्वास नाम कर्म करता रहता है "पुग्गल कम्मादीणां कत्ता ववहार दोदु णिच्छय दो चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं" इस श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती की गाथा का ऐदम्पर्य विचार लेना चाहिये। चेतन की शक्ति (पुरुषार्थ) अनन्त है। चना, उरद का अंकुर चोकले को तोड़ कर बाहर निकलता है, आम्रवृक्ष का अंकुर कड़ी गुठली को फाड़ कर निकल आता है, अंकुर या वृक्ष अपनी जड़ों को कठोर मिट्टी में घुसेड़ देता है। मट्टी या पीतल के बर्तन में भरे हुये चनों के अंकुर तो बर्तन को भी फोड़ डालते हैं, बांस का अंकुर भेंड़ा के चमड़े में घुस जाता है, बालक गर्भ से निकलता है, वृक्ष पानी को खींचता है यों तो जड़ भाप से लोहे का बौलर भी फट जाता है, पेट से मल, मूत्र भी निकलते हैं किन्तु जड़ की शक्ति को प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं कहा जाता है चेतन के व्यापार पुरुषार्थ है। मल, मूत्र के निकलने में तो चेतन का पुरुषार्थ भी कारण है। गेंडुआ या गुबरीला कीड़ा मिट्टी में अपना गहरा घर बना लेता है, मकड़ी जाला पूरती है। भीत या किवाड़ों के निरुपद्रव भीतरी कोनों को ढूंढ़ कर वहां अपने अण्डे-बच्चों का संमूर्छन शरीर सुरक्षित रखती है, रेशमी कपड़ा, लट्ठा सारिखा बढ़िया चिकना पाल उस पर तान देती है इसमें पुरुषार्थ ही तो कारण माना जायेगा कोई पौद्गलिक कर्म तो प्रेरक निर्माता नहीं हैं। जाला बनाने वाला या जड़ें घुसेड़ देने वाला कोई कर्म एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों में गिनाया नहीं गया है, हाँ बच्चों का जीवनोपयोगी आयुष्य या मकड़ी का स्नेह तो निमित्त मात्र पड़ सकता है। यदि उसको प्रेरक कारण भी मान लिया जाय तो उसी प्रकार समझा जायगा जैसे कि मुख्य जमादार कुलियों या मजूरों से काम लेता है काम करने में पुरुषार्थ तो मजूरों का ही है। एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों या इन के उत्तरोत्तर भेदों के कार्य जातिरूप से परिगणित ही हैं चाहे जिस कार्य में आत्मा के पुरुषार्थ का अपलाप कर देना उचित नहीं है। संसारी जीव के सभी कार्यों में दैवकृत या पुरुषार्थकृत ये दो ही तो गतियां हो सकती

हैं "गत्यन्तराभावात्", किन्तु क्षपकश्रेणी के प्रयत्न, छेदोपस्थापना संयम, आजीविका के यत्न या कीटों, पतंग, पशु, पक्षी, वृक्ष, अंकुरों के असंख्य कार्यों में कोई कर्म व्यापार दीखता नहीं है हां सिद्ध नहीं हो सकना, पुरुष या स्त्री हो जाना, पशु-पक्षी बन जाना आदि कार्य कर्मकृत कहे जा सकते हैं वस्तुतः इन में भी पुरुषार्थ कुछ तो है ही। गत्यन्तर को जाना, अधिक क्रोध करना, तीव्र काम चेष्टायें, यथोचित शरीर बनाना, इन कार्यों को आत्मा और कर्म दोनों कर रहे हैं यों तो शरीर में औषधि, अन्न, जल भी अनेक कार्यों को कर देते हैं। उक्त निरूपण से मेरा लक्ष्य कोई नोकर्म या कर्मों की शक्ति का खण्डन कर देना नहीं है हां जीव के अनेक पुरुषार्थों पर पहुंच जाना चाहिये। स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य ने जो "अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्" कहा है इसका तात्पर्य भी यही निकलता है। दृष्टांत लीजिये कि देवदत्त ने मन लगाकर आंखें खोलकर श्री जिनेन्द्रप्रतिबिम्ब चाक्षुष का प्रत्यक्ष किया, या स्तोत्रों को सुना, यह जानने का पुरुषार्थ ही तो किया यदि यहाँ आत्मा को दैव की सहायता मिली कुछ मानी जा सकती है तो वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही होगा किन्तु कर्मनिष्ठ ध्वंसरूप क्षयोपशम आत्मा की एक विशुद्धिमात्र है जो कि प्रतिबंधकों का अभाव हो जाने से बढ़िया पुरुषार्थ करने में निदान है। जैनों के यहाँ तुच्छ अभाव माना नहीं गया है। हाँ औदयिक भावों में कुछ कर्मविपाक माना जा सकता है किंतु यहाँ भी कर्ता कारक और उपादान कारण, पुरुषार्थी आत्मा ही कहा जायगा। इन बातों को पहिले भी लिखा जा चुका है। फिर भी कर्मसिद्धान्त वाले पुंलिग आत्मा को नपुंसक (क्रियाहीन) और नपुंसक कर्मों को पुंलिंग पुरुषार्थी नहीं समझ बैठें इस लिये द्विरुक्त, त्रिरुक्त प्रयत्न करना पड़ता है। जो अल्पबुद्धि श्रोता हैं वे पुरुषार्थ कर इस प्रकरण से लाभ उठायंगे ही विस्तृतबुद्धिशाली पंडित तो प्रथम से ही पूर्ण अभ्यास कर इस पुरुषार्थ के प्रमेय को समझे ही हुये हैं। जिन कर्मों को वे भोले जीव कर्ता या प्रेरक कारण मान बैठे हैं उन संचित कर्मों का उपार्जन भी यह जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से करता है, कर्म चेतना या कर्मफल-चेतना की अवस्था में भी पुरुषार्थ होते रहते हैं, मद्य पीकर भी आत्मा करके अंट-संट पागलों के काम तो किये जा सकते हैं। पागल पुरुष या स्त्रियों के लड़का लड़की होते हैं, पागल रोटी खाते हैं, चलते हैं, बोलते हैं ये सब उनके पुरुषार्थ हैं। कोई-कोई वकील या हाकिम तो मद्य पीकर बहुत ऊँचे दर्जे की बहस करते और फैसला लिखते सुने जाते हैं। हां मद्यपायी यथायोग्य धर्म्य कार्यों को नहीं कर पाते हैं। कर्म चेतना या कर्मफल चेतना, भले ही स्वानुभूति, संयम, अधःकरण आदि को रोक लेवें किन्तु लौकिक पुरुषार्थों को हो जाने देती हैं। पुरुषार्थ में पुरुष का अर्थ यदि मनुष्य ही किया जायगा तो देव, नारकी, पशु, पक्षियों के पुरुषार्थ नहीं संभव हो सकेगा "यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थः" "इतरेच्छानधीनेच्छा विषयत्वं फलितोऽर्थः" यह पुरुषार्थ का लक्षण निर्दोष नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में ही घटित हो जाने वाला पुरुषार्थ का लक्षण भी किसी अपेक्षा विशेष से है अथवा काम और अर्थ का लक्षण बड़ा व्यापक करना पड़ेगा तभी आत्मा के सम्पूर्ण प्रयत्नों में सुघटित हो सकेगा। पुरुष यानी जीव का बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक चला कर जो कुछ भी क्रियात्मक या अक्रियात्मक अर्थ यानी व्यापार होगा वह सब पुरुषार्थ ही तो है। तीर्थंकर भगवान् भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं क्या वह सब तीर्थंकर प्रकृति का ही माहात्म्य है ? पौद्गलिक तीर्थंकर प्रकृति तो केवल बहिरंग परिकर को प्रभावशाली बना देती है। प्रश्नानुरूप उपदेश देना, विहार करना, ठहर जाना, अनंत सुख में विराजना, आदि सब केवल-ज्ञानी महाराज के अनिच्छबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ हैं। तीर्थंकर या सामान्य केवली के अंतरंग अनंत चतुष्टय में कोई अंतर नहीं है। सबके केवलज्ञान या अनन्त सुख के अविभागप्रतिच्छेद समान हैं। कहा जा सकता है कि सिद्ध परमेष्ठी बड़े भारी सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थी हैं जो कि स्वकीय अनन्त वीर्य, चारित्र,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यक्त्व, अनुपम सुख, केवलज्ञान आदि गुणों में तन्मय होकर सर्वदा विराजते हैं। "नमोऽस्तु तेभ्यः परमपुरुषार्थशालिभ्यः" जो कोई राजा या सेठ या भूमिपति अपनी सम्पत्ति को प्रतिष्ठा पूर्वक रखाये रहे, घटने नहीं देवे, ऋण नहीं बढ़ने देवे, यह भी उसका पूरा पुरुषार्थ है। सद्गृहस्थ अपनी प्रतिष्ठा, कुल गौरव, सम्पत्तिशालिता को बढ़ा लेवे यह तो महान् पुरुषार्थ है ही किन्तु उतनी की उतनी ही सम्पत्ति, मान-मर्यादा के साथ प्रतिष्ठा पूर्वक जीवन को तभी रक्षित रख सकता है जब तक कि तत्पर होकर उसके लिये सर्वदा प्रयत्न करता रहेगा क्षणमात्र भी आलस आ जाने पर दुष्ट, चोर, व्यभिचारी, अकारण शत्रु, उसकी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला देंगे। पुनः कर्मबंध नहीं होने से मुक्त जीव आबद्ध नहीं होते हैं इसमें प्रधान कारण सिद्धपरमेष्ठी भगवान् का स्वरूप में सर्वदा निमग्न बने रहने का पुरुषार्थ ही है। अकम्प अडिग्ग मुनि दृढ़ आसन लगा कर जब इधर-उधर विचलित नहीं होते हैं इसका कारण उनका स्वांगों में ही दृढ़ बने रहने का या एकाग्र में मन को लगाये रहने का पुरुषार्थ है। मोटर दुर्घटना के अवसर पर ऊर्ध्वश्वास लेनेका पुरुषार्थ कर रहे मनुष्य को अल्प चोट लगती है। शरीर को ढीला छोड़ देने वाले को अधिक आघात पहुंचता है। बलवान् मल्ल दूसरे प्रतिमल्ल से नहीं गिराया जाता है। इसका निदान भी उसका स्व शरीर दृढ़ता को सर्वदा बनाये रखने का पुरुषार्थ किये जाना ही है। एक निमेष मात्र भी शरीर को ढीला कर देने पर प्रतिमल्ल झट उसको गिरा देता है। प्रतिमल्ल को कुछ दया भी आजाय किन्तु पौद्गलिक कर्मों को दया या लज्जा नहीं आती है। पुरुषार्थी जीव ही कर्म के आघातों से बचे रह सकते हैं। मोक्ष पुरुषार्थ में मोक्ष के साधन, दीक्षा, संयम, तपध्यान, पकड़े जाते हैं, वस्तुतः विचारा जाय तो उत्तम क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अनंत वीर्य, चारित्र, मार्दव, आकिंचन्य इन परमब्रह्म स्वरूपों के साथ तदात्मक हो रहा मोक्ष तो सर्वोत्तम पुरुषार्थ है जिसकी उपमा ही नहीं मिलती है। यद्यपि पुद्गल में अनंत बल है और आत्मा भी अनंत बलशाली है। कर्मों का तीव्र उदय होने पर संसारी आत्मा का पुरुषार्थ व्यर्थ (फेल) हो जाता है अतः कर्म को भी प्रेरक कारण माना जा सकता है। दीपक जैसे मनुष्य को अँधेरे में प्रकाश करता हुआ ले जाता है और दीपक को मनुष्य हाथ में ले जाता है। अथवा श्री धनंजय महाराज के शब्दों में "कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य। त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः" नाविक को नाव और नौका को नाविक ले जाते हैं यों दीपक या नाव के समान कर्म भले ही कह दिये जाँय किन्तु पुरुषार्थी जीव का ही कहा जायगा। इस प्रकरण की इतने ही कथन से पर्याप्ति होय इस अवसर पर यह कहना है कि खाने, पीने, लीलने, वायु खैंचने आदिमें यह जीव जैसा पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार कर्मों को खींचने के लिये योग नाम का पुरुषार्थ जीव को करना पड़ता है, जो कि ग्रन्थों में योग या आस्रव शब्द से कहा गया है। आत्मा के साथ कर्मों के बंध होजाने का कारण आत्मा का ही परिणाम हो सकता है। तभी तो कर्मों से आकाश नहीं बंधता है काय, वचन, मन के उपयोगी वर्गणाओं का अवलंब लेकर हुआ आत्म प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया है। सिद्धों के योग नहीं है। इसके आगे योग द्वारा हुये पुण्य के आस्रव और पाप के अनुमान प्रमाण करके साधा है, योग के अपेक्षाकृत संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद समझाये गये हैं। कषाय शब्द की निरुक्ति करते हुये साम्परायिक आस्रव की सिद्धि में अनुमान प्रमाण दिया गया है। पद्म के मध्य में प्राप्त हुआ भौंरा का यह दृष्टान्त बड़ा अच्छा जच गया है। साम्परायिक आस्रव के भेद करते हुए तीव्र भाव आदि की युक्तियों से सिद्धि की है। संरंभ आदिका अच्छा विचार है, पर शब्द की सार्थकता दिखलाते हुये सामान्य रूप से साम्परायिक आस्रव का निरूपण कर प्रथमाह्निक समाप्त किया गया है।

अनन्तर द्वितीय आह्निक में अकलंक देव महाराज के अनुसार प्रदोष आदि का विचार करते हुये बड़े

सुन्दर अनुमानों करके सूत्रोक्त सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। द्रव्य और पर्याय के अनेकांत की पुष्टि करते हुये अनेकान्त में ही दुःख, शोक आदि की व्यवस्था बन जाती साधी गयी है। यहाँ बौद्धों के साथ अच्छा परामर्श किया गया है। अठारह अनुमान प्रमाणों करके असद्वेद्य के आस्रव की पुष्टि की गयी है। इसी प्रकार सद्वेद्य और दर्शन मोह तथा चारित्र मोह के आस्रावक कारणों को युक्तियों से साधा गया है। चारों आयुओं के आस्रव बोधक सूत्रों को भी अनुमानमूलक साधा गया है। च शब्द करके सर्वत्र सूत्रोक्तों को उपलक्षण मानकर अन्य उनके सजातीय परिणामों का संग्रह कर दिया गया समझाया है। देव, नारकियों का सम्यक्त्व तो मनुष्य आयु का आस्रावक है, हाँ मनुष्य, तिर्यंचों के सम्यक्त्व को वैमानिक देवों की आयु का आस्रावक हेतु समझा जाय। भुज्यमान आयु के आठ त्रिभागों में संभवने वाले आठ अपकर्ष कालों में या असंक्षेपाद्धा यानी भुज्यमान आयु का आवली का असंख्यातवां भाग काल शेष है। उसके पहिले अन्तर्मुहूर्त काल में आयु का आस्रव होगा। देव, नारकी और भोगभूमियों के अन्तिम छह महीने और नौ महीने काल में त्रिभाग पड़ेंगे। अशुभ नाम और शुभ नाम का आस्रव बखानते हुये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हेतुओं का सलक्षण निरूपण किया है। नीच गोत्र और उच्च गोत्र तथा अन्तराय के आस्रावक सूत्रोक्त परिणामों का व्याख्यान कर इति शब्द की अनुवृत्ति से सर्वत्र अनुक्त कारणों का संग्रह किया गया समझाया है। आत्मा के परिणामों द्वारा हुआ चित्र-विचित्र आस्रव पुनः आत्मा के अनेक विकारों का हेतु हो जाता है। बीजांकुरवत् यह द्रव्यास्रव और भावास्रव का परस्पर "हेतुहेतुमद्भाव" अनादि काल से चला आ रहा है। पुरुषार्थ और कर्मपरिणतियों अनुसार हुये विशुद्धि और संक्लेशों से पुण्य कर्मों का शुभ और पाप कर्मों का अशुभ आस्रव बखाना गया है। जगत् में जीव और पुद्गलों का बड़ा विचित्र नृत्य हो रहा है। अंतरंग और बहिरंग अनेक कारणों के अनुसार हुये विचित्र परिणामों का प्रदर्शक शास्त्र है। शास्त्र ज्ञायक है, कारक नहीं। यदि शास्त्र या सर्वज्ञ विचारे नैयायिकों के ईश्वर समान कारक होते तो अनादि काल पूर्व ही ईश्वर से प्रार्थना कर इन पराधीन करने वाले कर्मों को जड़ मूल से उखाड़ फिंकवा देते। किन्तु जैनसिद्धान्त में पदार्थों के प्रभावों का मात्र अभिव्यंजक शास्त्र ठहराया गया है। तत्प्रदोष आदिक करके उन-उन कर्मों के अनुभाग बंध विशेष का नियम है। अल्प अनुभाग के लिये प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध तो अन्य-अन्य कर्मों का भी हो जाता है। वस्तुतः चारों बंधों में अनुभागबंध ही बड़ा है। अतः इस छठे अध्याय में सामान्य रूप से और विशेष रूप से आस्रव का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय का विवरण कर अन्त में दूसरा आह्निक भी समाप्त कर दिया है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

योगाकर्षितपंचसंख्यकवपुर्भाषामनोवर्गणा—
स्तत्तत्कर्मविपाकबंधनियमं चाख्यान् प्रदोषादिभिः।
दृक्शुद्ध्यन्वितभावनार्जित-शुभश्रीतीर्थकृल्लाभतो
भव्यानां हितपद्धतिं प्रकथयन् भूयाज्जिनः श्रेयसे ॥१॥

इति अनेकांतसिद्धान्तचक्रवर्त्ति श्रीविद्यानन्दिस्वामीविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थ की आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी माणिकचन्द्र कौन्देय कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक देशभाषामय टीका में छठा अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

स्याद्वादद्दीधितिसहस्रनिरस्तमिथ्या-
वादत्रिषष्टिसहितत्रिशतीतमिस्रः ॥
निर्दोषवृत्तमहितो जिनपस्य जीयाद्
विश्वज्ञबोधतरणिर्जगदेकमित्रम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का प्ररूपण किया है। छठे अध्याय में आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। स्थूलरूप से साम्परायिक आस्रव के पुण्यास्रव और पापास्रव भेद किये जा सकते हैं। "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र करके सामान्य रूप से ही शुभास्रव कहा गया है। संसारी जीवों के पुण्यास्रव प्रधान है। मोक्ष भी पुण्यास्रव पूर्वक होता है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध परिणतियां होने का क्रम है। अतः विशेष रूप से शुभास्रव को कहने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है। अथवा सद्वेद्य का आस्रव बतलाते हुये भूत और व्रतियों के ऊपर अनुकम्पा करना कहा गया था वहां नहीं प्रतीत हो पाता है वे कौन से व्रत हैं ? जिनके कि सम्बन्ध से यह जीव व्रती कहलाता है। इस कारण उन व्रतों का निर्धारण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज करके यह अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहों से जो विराम ले लेना है वह व्रत है। अर्थात् हिंसा, हिंस्य, हिंसक, हिंसाफल की आलोचना करते हुये द्रव्यहिंसा और भावहिंसा से स्वकीय परिणामों को हटा लेना हिंसाविरति नामक पहिला व्रत है। सत्य वचन और असत्य वचनों का विचार करते हुये अप्रशस्त कथन से विराम ले लेना दूसरा अनृतविरति व्रत है। दान, आदान व्यवहार के योग्य व्यापारों की आलोचना कर चोरी करने का परित्याग कर देना तीसरा स्तेयविरति व्रत है। मानुषी, दैवी, तिर्यंचिनी, या चित्र सम्बन्धी स्त्रियों या इसी प्रकार के पुरुषों की आलोचना कर कुशील का त्याग करते हुये ब्रह्मचर्य में स्थिर हो जाना चौथा अब्रह्मविरति व्रत है। चेतन, अचेतन, अंतरंग, बहिरंग, परिग्रहों की विवेचना कर इनमें मूर्छा का परित्याग करना पांचवां परिग्रहविरति व्रत है। स्वामीजी ने "अभिसंधिकृताविरतिर्विषयाद्व्रतं भवति" ऐसा कहा है। प्राप्ति योग्य स्वकीय विषयों से अभिप्रायकृत विरति करना व्रत माना गया है। क्वचित् सेव्य विषय में संकल्प पूर्वक नियम करना और अशुभकर्म से निवृत्ति करना तथा शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है। "संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि" इति श्री आशाधरः।

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः, विरमणं विरतिः व्रतमभिसंधिकृतो नियमः। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः। ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेन्न, बुद्ध्यपायाद्ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः।

हिंसा, अनृत, आदि के लक्षण आगे सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट करा दिये जावेंगे। अर्थात् "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" "असदभिधानमनृतं" इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसा आदि पाँच पापों का लक्षण कह दिया जावेगा। विरमण यानी परित्याग करना या विराम ले लेना ही विरति है। बुद्धिपूर्वक अभिप्राय को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धि करके किया गया नियम व्रत माना जाता है। अतः किसी दरिद्र का हाथी पर चढ़ने का त्याग या रोगी के लंघन में हुआ उपवास व्रत नहीं कहा जा सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः" यह बहुवचनांत पंचमी विभक्ति के रूप का कथन है। अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। विरति की अपेक्षा यहाँ पंचमी विभक्ति से व्यक्त हुआ अपादान का निर्देश है "ध्रुवमपायेऽपादानं" निश्चल पदार्थ से किसी का पृथग्भाव हो जाने पर वह स्थिरीभूत पदार्थ अपादान कहा जाता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि ग्राम से देवदत्त आता है, वृक्ष से पत्ता गिरता है। यहां ग्राम या वृक्ष का ध्रुवपना प्रसिद्ध है किंतु प्रकरण में हिंसा आदि परिणाम तो ध्रुव नहीं हैं अतः अपादान नहीं हो सकेंगे। यदि हिंसा आदि परिणाम वाले आत्मा को हिंसा आदि पद से कहा जायगा एतावता आत्मा का ध्रुवपना तो बन जायगा किंतु उस नित्य आत्मा से विरति होना असंभव है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवपने की विवक्षा बन रही है। अर्थात् अस्थिर पदार्थ को भी बुद्धि में स्थिर मान कर उससे निवृत्ति होना बना लिया जाता है। धर्माद्विरमति, धावतोऽश्वात्पतति, आदि स्थलों में यही उपाय करना पड़ता है। व्याकरण के लक्षणों का पुनः परिष्कार कर नैयायिकों द्वारा पुनः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों को टालते हुये निर्बाध लक्षण बनाये जाते हैं। यों व्रत का लक्षण निर्दोष कर दिया गया है।

अहिंसाप्रधानत्वादादौ तद्वचनं, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्। विषयभेदाद्विरतिभेदे तद्बहुत्वप्रसंग इति चेन्न वा, तद्विषयविरमणसामान्योपादात्। तदेव हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति युक्तोऽयं सूत्रनिर्देशः।

सम्पूर्ण व्रतों में अहिंसा की प्रधानता है अतः सबके आदि में उस अहिंसा का कथन किया गया है। क्योंकि खेत की रक्षा करने वाले घेरे के समान अन्य सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का उस अहिंसा का परिपालन करते रहना ही प्रयोजन है। विरति शब्द को हिंसा से, झूंठ से, चोरी से, अब्रह्म से, परिग्रह से यों प्रत्येक के साथ जोड़ दिया जाता है। यहाँ किसी की शंका है कि पंचम्यन्त विषयों का भेद हो जाने से उनके त्याग स्वरूप विरति का भी भेद हो जानेपर उस विरति के बहुवचन 'विरतयः' हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष नहीं लगता है क्योंकि उन हिंसा आदि विषयों से विराम हो जाना इस सामान्य अपेक्षा से एकवचन विरति शब्द का ग्रहण किया गया है। जैसे कि गुड़, तिल, चावलों का पाक हो जाना। यों सामान्य की विवक्षा कर लेने पर पाक शब्द एकवचन कह दिया जाता है। तिस कारण इस प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन्हों से विरति हो जाना व्रत है। इस प्रकार सूत्रकार महाराज का यह सूत्र निर्देश करना समुचित ही है।

नन्विह हिंसादिनिवृत्तिवचनं निरर्थकं संवरान्तर्भावात्, धर्माभ्यन्तरत्वात् तत्प्रपंचार्थ उपन्यास इति चेन्न, तत्रैव करणात्। संवरप्रपंचो हि स संवराध्याये कर्तव्यो न पुनरिहास्रवाध्या-

यैऽतिप्रसंगादिति कश्चित्। तं प्रत्युच्यते—न संवरो व्रतानि, परिस्पन्ददर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।

यहां कोई आशंका उठाता है कि इस आस्रव के प्रकरण में हिंसा आदिक से निवृत्ति हो जाने को व्रत कहना व्यर्थ है क्योंकि निवृत्तियों का संवर में अन्तर्भाव हो जावेगा। जब कि दश प्रकार के धर्मों के भीतर संयम माना गया है उसमें अहिंसादिकों का सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है। यदि कोई यों समाधान करे कि उस संयम के प्रपंच का विस्तार करने के लिये यहां हिंसा निवृत्ति आदि का उपन्यास किया गया है। शंकाकार कहता है कि यह तो न कहना क्योंकि यदि उस संयम का ही प्रपंच दिखलाना था तो वहां ही नवमे अध्याय में संयम के प्रकरण पर यह उपन्यास करना चाहिये था। यहां व्यर्थका प्रकरण बढ़ाने से कोई प्रयोजन नहीं सधता है। संवर का यह प्रपंच तो संवर के प्रतिपादक नवमे अध्याय में करना चाहिये किन्तु फिर यहां आस्रव तत्त्व के प्ररूपक सातवें अध्याय में नहीं। यदि यहां वहां की अप्रकृत बातों को इस अध्याय में लिखा जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा यानी मोक्षतत्त्व के प्रपंच या मुक्त जीवों के चरित्र भी यहां लिख देने चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। अतः इन व्रतों का निरूपण करना यहां व्यर्थ ही है। यहां तक कोई पण्डित अपनी शंका को पूरा कह चुका है। उस पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके यह उत्तर कहा जाता है कि अहिंसादिक व्रत तो संवर नहीं है संवर स्वरूप अपरिस्पन्दात्मक क्रियाओं से आस्रव होना रुक जाता है किन्तु यहां अहिंसादिकों में परिस्पन्द क्रिया होना देखा जाता है। सत्य बोलना, दिये हुये को लेना, ऐसी क्रिया करना स्वरूप व्रतों की प्रतीति हो रही है। एक बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि स्वरूप संवर का कहा दिया जावेगा। "आस्रवनिरोधः संवरः" "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" उस संवर के ये व्रत परिवार या सहायक हैं। व्रतों में साधु जो परिष्कृत हो जाता है तब संवर को सुखपूर्वक कर लेता है। संवर के अंगों का संस्कार ये व्रत कर देते हैं तिस कारण संवर के प्रकरण से इस शुभास्रव स्वरूप व्रत को पृथक् कहा गया है।

ननु पंचसु व्रतेष्वनन्तर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेन्न, भावनांतर्भावात्। तत्रानिर्देशादयुक्तोऽन्तर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्। प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसंग इति चेन्न, अनेकारंभदोषात्। परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेन्न, चंक्रमणाद्यसंभवात्। दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसंग इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्।

यहाँ कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि अहिंसादिक पांच व्रतों में अन्तर्भाव नहीं हो जाने के कारण यहां रात्रिभोजन त्याग नाम के छठे व्रत का उपसंख्यान करना चाहिये। सूत्र में कोई त्रुटि रह जाय तो वार्त्तिक बनाई जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पांच व्रतों की पचीस भावनायें आगे कही जावेंगी उन में रात्रिभोजनत्याग का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि कोई यों आक्षेप करे कि उन वाग्गुप्ति, क्रोधप्रत्याख्यान आदि भावनाओं में कण्ठोक्त रात्रिभोजन त्याग का निर्देश नहीं किया गया है अतः बिना कहे ही चाहे जिसका चाहे जहां अन्तर्भाव कर देना युक्त नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना। क्योंकि अहिंसाव्रत की भावनाओं में आलोकितपानभोजन का कंठोक्त निरूपण है। सूर्य का आलोक होता है अतः सूर्य के प्रकाश में ही खाने पीने का जब विधान किया गया है तो रात्रि के खान पान का त्याग अनायास प्राप्त हो जाता है। फिर भी कोई यों चोद्य उठावे कि

आलोक होने के कारण यदि दिन में भोजन का विधान किया गया है तब तो प्रदीप, अग्निशिखा, मणि, चमकनेवाली गिड़ार, जुगनू, बिजली, चन्द्रमा, सर्च आदि प्रकाशकों के संभवते संते रात्रि में भी उस भोजन, पान करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अग्नि, तेल, आदि के अनेक महान् आरंभ करने का दोष लग जावेगा, यदि आक्षेपकर्ता यों कहे कि स्वयं आरम्भ नहीं कर दूसरों के द्वारा किये गये प्रदीप आदि के संभव जाने पर तो आरम्भ का दोष नहीं लगता है। सड़क पर म्यूनिसपल्टी के प्रदीप जलते रहते हैं, चन्द्रमा, बिजली, आकाश में प्रकाशती रहती हैं; मंसूरी पर्वत पर रात के समय छेदों में से निकल कर कितनी ही गिड़ारें कीटभक्षणार्थ चमकती रहती हैं। इस में कोई आरम्भ नहीं करना पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि रात्रि में चंक्रमण करना, शुद्ध भोजन प्राप्त करना आदि का असंभव है। अर्थात् अन्तरंग में स्वकीय शास्त्रज्ञान तथा बहिरंग में आदित्य प्रकाश और इन्द्रियों द्वारा हुये परिज्ञान से परीक्षित किये मार्ग से चार हाथ भूमि को पहिले देख कर चल रहे यति महाराज शुद्ध भिक्षा को ग्रहण करते हैं जो कि क्रिया रात में नहीं हो सकती है अतः गमन करने, व्यर्थ यहां वहां घूमने-फिरने आदि का असंभव है। पुनरपि कोई विक्षेप उठावे कि आचार शास्त्र के उपदेश अनुसार दिन के समय ग्राम से जाकर किसी पात्र में भोजन या पेय को लाकर रात्रि में अपने स्थान पर उसको खा लेने का प्रसंग आजावेगा ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि इसका उत्तर कहा जा चुका है अर्थात् प्रदीप आदिका आरम्भ करना तदवस्थ है। संयम साधने की यह पद्धति नहीं है कि बाहर से लाकर घर पर खाना। यतियों के पास बर्तन भी नहीं हैं वे तो परिग्रहरहित हैं। अन्तराय और दोषों को टाल कर हाथ में ही दिये हुये आहार को ग्रहण करते हैं। एक स्थान से, दूसरे स्थानमें ले जाने पर और कुछ देर तक धरा रहने पर वह भोजन जीवों का योनिस्थान बन जाता है। संयमी मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण नहीं करते हैं अतः दिन में लाये हुये को रात में खा लेने का प्रसंग नहीं लगता है।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनमेव युक्तं, तेनालोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।

एक बात यह भी है कि सूर्य का प्रकाश ही स्फुटरूप से अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। भूमि, देश, दाता, गमन करना, अन्न पान में कोई पदार्थ पड़ गया या नहीं इत्यादि बातें दिन में स्पष्ट दीख जाती हैं। दीपक, बिजली, चन्द्रमा आदि के प्रकाश में स्पष्ट पदार्थ नहीं दीखता है। रात्रि के समय क्षुद्र कीट अधिक उत्पन्न होते हैं; भोजन, पान, पदार्थों में वे छोटे जीव गिर जाते हैं; त्रसहिंसा अधिक होती है। रात के खाने वालों में लोलुपता बढ़ जाती है। उदर की ग्राहक शक्ति मंद पड़ जाती है। क्योंकि पाचनशक्ति रात्रि के अवसर पर पूर्वभुक्त के पचाने में अधिक उपयुक्त हो जाती है। मुनिजन एक बार ही भोजन करते हैं अतः दिन में भोजन करना उनको अनुकूल पड़ सकता है। सभी अर्थों का स्फुट प्रकाश होता है। सूर्यालोक में योनिस्थान अल्प उपजते हैं अतः दिन में ही भोजन करना समुचित है। तिस कारण आलोकितपानभोजन नाम की अहिंसाव्रत की पाँचवीं भावना तो रात्रिभोजन त्याग ही है। अतः उस रात्रिभोजनविरति नाम के व्रत का उपसंख्यान नहीं करना चाहिये।

किं पुनरनेन व्रतलक्षणेन व्युदस्तमित्याह।

सभी लक्षण इतरव्यावर्तक होते हैं। लक्ष्य की अलक्ष्य से व्यावृत्ति करते-रहते हैं। ऐसी दशा में यहाँ कोई प्रश्न करता है कि व्रत के इस लक्षण करके किसका व्युदास (निराकरण) किया गया है?

बताओ। इस प्रकर पूँछने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा यों उत्तर कहते हैं।

अथ पुण्यास्रवः प्रोक्तः प्राग्व्रतं विरतिश्च तत्।
हिंसादिभ्य इति ध्वस्तं गुणेभ्यो विरतिर्व्रतं ॥१॥

छठे अध्याय के प्रारंभ में "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र द्वारा जो पहिले यों ठीक-ठीक कहा गया है कि शुभ योग पुण्य का आस्रव है वह शुभ योग ही तो हिंसा, झूंठ आदि पापों से विराम कर लेना स्वरूप व्रत है। इस प्रकार व्रत का लक्षण कर देने पर क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से विरति हो जाना व्रत है इस मंतव्य का ध्वंस कर दिया गया है। अर्थात् खारपटिक मतानुयायी हिंसा को धर्म मानते हैं "सधनं हन्यात्" वेश्यायें व्यभिचार को धर्म मानती हैं। झूंठ बोलने, चोरी करने को भी कोई व्रत मानते होंगे अतः उनके मंतव्य की व्यावृत्ति के लिये गुणों से विरति को व्रत हो जाने का प्रत्याख्यान करते हुये सूत्रकार महाराज हिंसादिक से विरति होने को ही व्रत कह रहे हैं।

विरतिर्व्रतमित्युच्यमाने सम्यक्त्वादिगुणेभ्योऽपि विरतिर्व्रतमनुषक्तं तदत्र हिंसादिभ्य इति वचनात् प्रध्वस्तं बोद्धव्यं। ततो यः पुण्यास्रवः प्रागभिहितः शुभः पुण्यस्येति वचनात् संक्षेपत इति सर्वस्तमेव प्रदर्शनार्थोऽयमध्यायस्तत्प्रपंचस्यैवात्र सूत्रितत्वादिति प्रतिपत्तव्यं ॥

जो विरति है वह व्रत है। यदि इतना ही व्रत का लक्षण कह दिया जाय तो सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से भी विराम लेने को व्रत हो जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ, तिस कारण यहाँ हिंसा, झूंठ आदि से विरति होना इस प्रकार कथन करने से गुणों से विराम ले लेने को व्रत कह देने का भले प्रकार ध्वंस हो चुका समझ लेना चाहिये, तिस कारण "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र वचन से जो पुण्यास्रव पहिले छठे अध्याय में संक्षेप से कहा था उस पुण्यास्रव का ही विस्तार से प्रदर्शन कराने के लिये यह सर्व सातवाँ अध्याय है। इस अध्याय में उनतालीस सूत्रों द्वारा उस शुभास्रव के प्रपंच का ही निरूपण किया गया है। यह विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये।

व्रतिष्वनुकम्पा सद्वेद्यास्रव इति प्रागुक्तं, तत्र के व्रतिनो येषां व्रतेनाभिसंबन्धः? किं तद्व्रतमिति प्रश्नेन प्रतिपादनार्थोऽयमारंभः प्रतीयताम्।

उक्त पहिले सूत्र का अवतरण हुआ यों समझ लिया जाय कि व्रतियों में अनुकंपा करना साता-वेदनीय कर्म का आस्रव है यों पूर्व में यानी छठे अध्याय में कहा जा चुका है। वहाँ ये प्रश्न हो सकते थे किन्तु प्रकरणान्तर हो जाने या प्रकरण बढ़ जाने के भय से प्रश्न नहीं उठाये गये थे अब छठा अध्याय सम्पूर्ण हो जाने पर प्रश्न किये जाते कि वे व्रती प्राणी कौन से हैं? जिनके कि व्रत के साथ सब ओर से संबन्ध हो रहा है। वह व्रत भी क्या है? जिनका कि संबन्ध हो जाने पर वे व्रती हो जाते हैं। इस प्रकार मूलभूत व्रत के प्रश्न करके उत्साहित किये जाने पर सूत्रकार द्वारा प्रश्न के उत्तर को प्रतिपादन करने के लिये इस सातवें अध्याय का प्रारंभ किया जाना प्रतीत कर लीजियेगा।

पाँच प्रकार के व्रतों के भेदों का परिज्ञान कराने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

हिंसादिकों से एकदेश से विरति हो जाना अणुव्रत है और सम्पूर्ण रूप से हिंसादि पापों से विराम ले लेना महाव्रत है। अर्थात् गृहस्थों का व्रत अणुव्रत है और मुनियों का व्रत महाव्रत है।

कुतश्चिद्दिश्यत इति देशः, सरत्यशेषानवयवानिति सर्वं, ततो देशसर्वतो हिंसादिभ्यो विरती अणुमहती व्रते भवत इति सूत्रार्थः कथं व्रते इति ? पूर्वसूत्रस्यानुवृत्तेरर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामेनाभिसंबंधोपपत्तेः। तत इदमुच्यते—

किसी न किसी अवयव से जो प्रदेशित कर दिया जाता है इस कारण वह अवयवी का एक टुकड़ा देश कहा जाता है। यह देश शब्द की निरुक्ति है। सम्पूर्ण अवयवों को व्याप्त कर जो गमन करता है वह पूरा अवयवी इस कारण सर्व कहा जाता है। यों "दिश" धातु से देश और "सृ" गतौ धातु से सर्व शब्द की व्युत्पत्ति कर दी गयी है। उन देश और सर्वरूप से जो हिंसादि पापों से विरतियाँ हैं वे अणुव्रत और महाव्रत हो जाते हैं इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ है कि अणु व महत् इस अणुमहती यों विग्रह कर द्विवचन के साथ अनुवृत्ति किये गये व्रत शब्द के द्विवचन "व्रते" लगा दिया जाता है। यहाँ कोई पूँछता है कि पहिले सूत्र में तो "व्रतं" एकवचन है उसी की अनुवृत्ति आ सकती है यहाँ द्विवचन "व्रते" यह किस प्रकार अनुवृत्त कर लिया जाता है ? बताओ। आचार्य उत्तर कहते हैं कि पूर्व सूत्र के व्रत शब्द की अनुवृत्ति हुयी है अर्थ के वश से विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है इस कारण "अणुमहती" इस द्विवचन के अनुसार व्रते इस द्विवचन का विधेयदल की ओर सम्बन्ध हो जाना बन जाता है। नपुंसक लिंग माने गये व्रत शब्द के अनुसार अणु महत् शब्दों को नपुंसकक लिंग कहना पड़ा साथ ही अणुमहती इस द्विवचन अनुसार व्रते यह द्विवचन करना पड़ा तिस कारण लिंग और वचन के स्वांग को धार रहे सूत्र से यह अर्थ कहा कहा जाता है कि

देशतोऽणुव्रतं चेह सर्वतस्तु महद्व्रतं।
देशसर्वविशुद्धात्मभेदात् संज्ञानिनो मतं ॥१॥

सम्यग्ज्ञानी पुरुष के आत्मा की एकदेश विशुद्धि और आत्मा की सर्व देश विशुद्धि के भेद से हुये यहाँ एकदेश से विरति होना अणुव्रत माना गया है और हिंसादिक पापों की सर्व देश से विरक्ति हो जाना तो महान् व्रत अभीष्ट किया गया है यह सूत्र का तात्पर्य है।

न हि मिथ्यादृशो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतं, तस्य बालतपोव्यपदेशात् सम्यग्ज्ञानव्रत एव नुस्तेभ्यो विरतिर्देशतोऽणुव्रतं सर्वतस्तेभ्यो विरतिर्महाव्रतमिति प्रत्येयं। देशसर्वविशुद्धित्वभावभेदात्तदेकमपि व्रतं द्वेधा भिद्यते इत्यर्थः ॥

मिथ्यादृष्टि जीव की हिंसा, झूंठ आदि पापों से विरक्ति हो जाना व्रत नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों की उस त्याग आखड़ी को बालतप शब्द करके कहा जाता है। अज्ञानी या मिथ्यादृष्टियों की तपस्या बालतप है। हां सम्यग्ज्ञान वाले ही जीव के उन हिंसादिकों से एकदेश से विरति होना अणुव्रत है और सम्पूर्णरूप से उन हिंसादिकों से विराम पा जाना महाव्रत है यों प्रतीति कर लेनी चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव के ही पांचवां और छठे आदि गुणस्थान होते हैं। आत्मा का एक स्वभाव तो एकदेश से विशुद्धि होना है और दूसरा स्वभाव सर्व ओर से विशुद्धि होना है। वह व्रत मूलरूप से या सामान्यरूप से एक होता हुआ भी आत्मा की एकदेशविशुद्धि और सर्वदेशविशुद्धि इन दो भिन्न-भिन्न स्वभावों से दो

प्रकार भेद को प्राप्त हो रहा है यह इस सूत्र का अर्थ है। श्रावकों की आत्मा में एकदेशविशुद्धि है और मुनियों की आत्मा तो सर्वांगविशुद्ध है अतः अन्तरंगकारण अनुसार व्रत के दो भेद किये गये हैं। अब जिस प्रकार उत्तम औषध में भावनायें दी जाकर वह रोग दुःख का विनाश कर देती है उसी प्रकार भावनाओं से भावित हुये व्रत भी कर्म रोगों के विनाशक हैं जो भावनाओं के भावने में असमर्थ है वह व्रतों का समीचीन पालन नहीं कर सकता है तिस कारण एक एक व्रत की संस्कारक भावनाओं का प्रयोजन और उनकी संख्या का प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार महाराज अगिला सूत्र कहते हैं।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

उन पांचों व्रतों की स्थिरता करने के लिये एक एक व्रत की पांच-पांच भावनायें हैं। पांचों व्रतों की पच्चीस भावनायें हैं। देशान्तर को जाने वाले पुरुष को यदि कोई यों कह दे कि हमारे लिये वहाँ से सुपारी लेते आना तो वह प्रवासी पुरुष अपनी आत्मा में वैसा संस्कार जमा लेता है जिस भावना के वश हो कर वह बरस, छह महीने पीछे भी सुपारी लाने की स्मृति रखता है। दाल में जीरे की भावना दे दी जाती है। प्राणेश्वर रस में ताम्बूल के रस की भावना दी जाती है और सन्निपातसूर्यरस में भांग के पत्तों के रस की भावना दी जाती है।

भावनाशब्दः कर्मसाधनः, पंच पंचेत्यत्र वीप्सायां शसः प्रसंग इति चेन्न, कारकाधिकारात्। क्रियाध्यारोपात्कारकत्वमासामिति चेन्न, विकल्पाधिकारात्। तेनैकैकस्य व्रतस्य भावनाः पंच पंच कर्तव्यास्तत्स्थिरभावार्थमित्युक्तं भवति ॥ तदेवाह—

"भाव्यन्ते यास्ताः भावनाः" जो भाई जावें वे भावनायें हैं यों भावना शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय। यहां कोई शंका उठाता है कि इस सूत्र में पंच पंच ऐसी विवक्षा करने पर वीप्सा में शस् प्रत्यय हो जाने का प्रसंग आता है। शस् प्रत्यय कर देने से पंचशः प्रयोग हो जाने में लाघव भी है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शस् के विधायक सूत्र में कारक का अधिकार चला आ रहा है यहाँ कारकपना नहीं है अतः शस् प्रत्यय नहीं हुआ। यदि पुनः कोई आक्षेप करे कि "पंच पंच भावयेत्" यों भावयेत् क्रिया का अध्यारोप हो जाने से इन भावनाओं को कारकपना प्राप्त हो जायगा, "क्रियान्वितत्वं कारकत्वं"। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं क्योंकि वहाँ विकल्प का अधिकार चला आ रहा है। वा शब्द की अनुवृत्ति है। अतः शस् नहीं होता है। तिस कारण एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें उन व्रतों के स्थिर हो जाने के लिये करनी चाहिये। यह अभिप्राय इस सूत्र का कहा जा चुका हो जाता है। उस ही बात को ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावनाः पंच पंच तु।
तदस्थैर्ये यतीनां हि संभाव्यो नोत्तरो गुणः ॥१॥

उन व्रतों की स्थिरता करने के लिये पाँच-पाँच भावनायें तो अवश्य करनी (भावनी) चाहिये। कारण कि उन व्रतों में स्थिरता नहीं होने पर मुनि महाराजों के उत्तर गुणों की प्राप्ति की संभावना नहीं हो सकती है। यह निश्चय समझियेगा।

अथाद्यस्य व्रतस्य पंच भावनाः कथ्यन्ते;—

अब सबसे प्रथम आदि में होने वाले अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें सूत्रकार द्वारा कही जा रही हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥४॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् वचन का गोपन करना, मन का गोपन करना, चार हाथ भूमि निरख कर संयम पालते हुये गमन करना, देख कर उठाना धरना, सूर्य प्रकाश में खान-पान करना, ये पाँच भावनायें यानी सद्विचार सर्वदा रहेंगे, तो अहिंसाव्रत स्थिर रहा आवेगा।

कथमित्याह—

कोई तर्क उठाता है कि ये पाँच किस प्रकार अहिंसाव्रत को स्थिर कर देते हैं। बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं।

स्यातां मे वाङ्मनोगुप्ती प्रथमव्रतशुद्धये।
तथेर्यादाननिक्षेपसमिती वीक्ष्य भोजनः ॥१॥

पहिले या प्रधान अहिंसा व्रत की शुद्धि के लिये मेरे वचनगुप्ति और मनोगुप्ति हो जावें तथा ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और दिन में निरखकर भोजन, पान करना ये क्रियायें होवें ऐसी भावनायें भावने से मेरे या किसी भी भावुक आत्मा के अहिंसाव्रत पुष्ट होता रहेगा।

इति मुहुर्मुहुश्चेतसि संचिंतनात्।

इस प्रकार चित्त में बार-बार अच्छा चिंत न करते रहने से भावित आत्मा व्रतों में दृढ़ हो जाता है।

काः पुनर्द्वितीयस्य व्रतस्य भावना इत्याह—

फिर दूसरे सत्यव्रत की भावनायें कौनसी हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पंच ॥५॥

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भयभीत हो जाने का त्याग, हास्य करने का त्याग और निर्दोष या आर्षशास्त्रानुसार भाषण करना ये पाँच भावनायें सत्य व्रत की जान लेनी चाहिये अर्थात् क्रोध के वश होकर जीव झूंठ बोल जाता है। लोभी मनुष्य भी धन आशा के वश असत्य बोल जाता है, डर में आकर झूंठ बोलना प्रसिद्ध ही है। हंसी (मज़ाक, नकल, दिल्लगी) करने में तो प्रायः असत्य ही बोला जाता है। अतः इनका परित्याग करना आवश्यक है। विचार कर अनुकूल बोलने की टेव रखने से सत्य व्रत

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शून्यं मोचितमावासमधितिष्ठामि शुद्धिदं ।
परोपरोधं मुंचामि भैक्ष्यशुद्धिं करोम्यहं ॥१॥
सधर्माभिः समं शश्वदविसंवादमाद्रिये ।
अस्तेयातिक्रमध्वंसहेतुतद्व्रतवृद्धये ॥२॥

मैं आत्मा की विशुद्धि को देने वाले शून्य स्थान और छोड़े हुये स्थानों में अधिष्ठित होता हूँ, दूसरों के साथ उपरोध करने को छोड़ता हूँ, मैं भिक्षाओं के समूह की शुद्धि को कर रहा हूँ, समान धर्म वाले जीवों के साथ सदा ही अविसंवाद रखने का आदर करूँ, इस प्रकार अचौर्य व्रत का अतिक्रमण करने वाली पापक्रियाओं के ध्वंस का हेतु हो रहे उस अचौर्य व्रत की वृद्धि के लिये मैं उक्त पांच भावनाओं को यों भावता हूँ ॥

इत्येवं बहुशः समीहनात् ॥

यों इस प्रकार बहुत बार समीचीन विचार रखन से व्रती पुरुष का अचौर्य व्रत दृढ़ हो जाता है।

चतुर्थस्य व्रतस्य कास्ता भावना इत्याह—

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की वे पांच भावनायें कौन सी हैं ? इस प्रकार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥७॥

स्त्रियों में राग को उपजाने वाली कथाओं को सुनने का त्याग करना, उन स्त्रियों के या पुरुषों के मनोहर अंगों के निरीक्षण का परित्याग करना, पूर्वकाल में भोगे जा चुके भोगों के अनुस्मरण का परित्याग कर देना, वृषीकरण, बाजीकरण आदि विधियों का त्याग कर उन्मादक वृष्यरस या इन्द्रियों द्वारा अनुराग बढ़ाने वाले इष्ट रस का त्याग कर देना, तथा अपने शरीर संस्कार का त्याग कर देना ये पांच भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर करने के लिये हैं।

कथमित्युपदर्शयति;—

उक्त भावनायें किस प्रकार भावित हुयीं भला ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ कर देतीं हैं ? इस का निर्णय करने के लिये ग्रन्थकार उपपत्ति को दिखलाते हैं।

स्त्रीणां रागकथां जह्यां मनोहार्यंगवीक्षणं ।
पूर्वरतस्मृतिं वृष्यमिष्टं रसमसंशयम् ॥१॥
तथा शरीरसंस्कारं रतिचेतोऽभिवृद्धिकं ।
चतुर्थव्रतरक्षार्थं सततं यतमानसः ॥२॥

चौथे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये सर्वदा प्रयत्न करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों को धार रहा मैं स्त्रियों की रागवर्द्धिनी विकथाओं को छोड़ दूँ, न कहूं, न सुनूं, रति करने में चित्त को चारों ओर से बढ़ाने वाले उन स्त्रियों के मनोहारी अंगों के देखने को छोड़ दूं। पहिले रमण किये गये भोगों के स्मरण को छोड़ दूँ, तथा कामवर्द्धक और बल वीर्यवर्द्धक, वृष्य और इष्ट रसों का संशय रहित होकर त्याग कर दूँ, तथा रति क्रिया में चित्तवृत्ति को बढ़ाने वाले अंजन, मंजन, मर्दन, स्नान, उबटन, पोंछना, झाड़ना आदि शरीर संस्कारों का त्याग कर दूँ। यों ब्रह्मचारी को इन पांचों भावनाओं से युक्त सद्विचार रखने चाहिये।

इत्येवं भूरिशः समीक्षणात् ॥

यों इस प्रकार प्रति समय भूरि भूरि समीचीन विचार करते रहने से चौथा व्रत परिपुष्ट हो जाता है। बार बार विचारना ही तो भावना है।

पंचमस्य व्रतस्य का भावना इत्याह;—

पांचमे अपरिग्रह या आकिंचन्य व्रत की भावनायें कौन सी हैं ? ऐसी सद्भावना प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥८॥

स्पर्शन इन्द्रिय के मनोज्ञ विषय में राग छोड़ देना और स्पर्शन इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषय में द्वेष छोड़ देना १ रसना इन्द्रिय के मनोनुकूल हो रहे रस विषय में राग करने का त्याग और रसना इन्द्रिय के मनः प्रतिकूल विषय में द्वेष का त्याग २ घ्राण इन्द्रिय के अनुकूल गंध विषय में राग का त्याग और घ्राण इन्द्रिय के प्रतिकूल विषय में द्वेष का परित्याग ३ चक्षुःइन्द्रिय के मनोज्ञविषय में अनुराग धारने का परित्याग और चक्षुः इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषयों में द्वेष करने का परित्याग ४ तथा कर्ण इन्द्रिय के मनोज्ञ शब्द विषयों में प्रीति करने का त्याग और श्रोत्र इन्द्रिय के अमनोज्ञ दुःस्वरों में द्वेष करने का त्याग ५ यों ये पांच भावनायें अपरिग्रह व्रत की हैं।

कथमिति निवेदयति।

अपरिग्रहव्रती किस प्रकार भावनाओं को भावे ? इसके उत्तर में ग्रन्थकार श्री विद्यानंदस्वामी निवेदन करे देते हैं।

सर्वाक्षविषयेष्विष्टानिष्टोपस्थितेष्विह।
रागद्वेषौ त्यजाम्येवं पंचमव्रतशुद्धये ॥१॥

इष्ट और अनिष्ट होकर उपस्थित हो रहे इन सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में मैं पाँचमे आकिंचन्य व्रत की शुद्धि के लिये इस प्रकार सूत्रकार के कथनानुसार राग और द्वेषको छोड़ रहा हूँ। साथ ही छठी मन इन्द्रिय के पोषक या आविर्भावक मनोज्ञ, अमनोज्ञ, विषयों में राग द्वेषों को छोड़ रहा हूँ।

इत्यनेकधावधानात्।

यों अनेक प्रकार अवधान यानी एकाग्र होकर सद्विचार करते रहने से आकिंचन्यव्रत दृढ़ हो जाता है।

प्रत्येकमिति पंचानां व्रतानां भावना मताः ।
पंच पंच सदा सन्तु निःश्रेयसफलप्रदाः ॥२॥

यों उक्त प्रकार पांचों व्रतों में से प्रत्येक प्रत्येक की पांच पांच भावनायें आम्नाय अनुसार मानी जा चुकी हैं जो कि भव्य जीवों के लिये सर्वदा मोक्षफल को अच्छा देने वाली हो जाओ। यों व्रतों की सद्भावनाओं से प्रसन्न होकर महाव्रती ग्रन्थकार एक प्रकार का आशीर्वाद वचन कहते हैं। यद्यपि ग्रन्थकार सर्वदा परानुग्रह करने में ही दत्तचित्त हैं तथापि प्रमोद भावना और कृपादृष्टि से प्रेरित होकर कदाचित् विशेषतया अनुग्रह करने में दत्तावधान हो जाते हैं।

किं पुनरत्र भाव्यं ? को वा भावकः ? कश्च भावनोपाय इत्याह—

यहाँ कोई तत्त्वान्वेषी प्रकरणानुसार प्रश्न उठाता है कि फिर यह बताओ कि यहां भावना करने योग्य भाव्य पदार्थ क्या है ? अथवा भावना करने वाला भावक कौन है ? तथा भावनायें भावना स्वरूप उपाय क्या है ? बताओ। इस प्रकार प्रश्नों के उतरने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भाव्यं निःश्रेयसं भव्यो भावको भावना पुनः ।
तदुपाय इति त्र्यंशपूर्णाः स्याद्वादिनां गिरः ॥३॥

आत्मा की कर्मरहित अवस्था मोक्ष तो यहां भावना करने के योग्य भाव्य अर्थ है और भव्य जीव उन भावनाओं का भावक है तथा भावना तो फिर उस मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों की भाव्य, भावक, भावना, इन तीन अंशों से परिपूर्ण हो रही वाणियें प्रवर्त रही हैं।

नहि सर्वथैकान्तवादिनां भावना भवति । नित्यस्यात्मनो भावकत्वे विरोधः, ततः प्राग्भावकस्य शश्वद्भावकत्वानुपक्तेः, भावकस्य सर्वदा भावकत्वापत्तेः । तत एव प्रधानस्यापि न भावकत्वमनित्यत्वप्रसंगात् । नापि क्षणिकैकांते भावकोऽस्ति, निरन्वयविनाशिनः क्षणादूर्ध्वमवस्थानाभावात् पौनःपुन्येन चित्तसंतानानामसंभवात् सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात् ।

सर्वथा नित्यत्व अनित्यत्व एकत्व आदि एकान्तों का पक्ष ले रहे एकान्तवादी पंडितों के यहाँ भावनायें या उनका चिन्तन करना ही नहीं संभवता है देखिये नित्य आत्मा को भावक मानने में विरोध है। जो पहिले भावक नहीं था वह भावना करते समय भावक बने तब तो भावनायें सिद्ध हो सकती हैं। कूटस्थ नित्य तो सर्वदा एकसा ही रहता है तिस कारण पूर्व अवस्था में नहीं भावना कर रहे नित्य आत्मा के सर्वदा ही अभावक होते रहने का प्रसंग आवेगा। हां वर्तमान अवस्था में भावना कर रहे भावक आत्मा को सर्वदा पहिले पीछे भावक बने रहने की आपत्ति आवेगी। कारण दशा में ही पड़े रहो, फलप्राप्ति की अवस्था नहीं आने की है। हाँ पूर्वाकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और ध्रुवरूप यों त्रितय आत्मक परिणाम वाले नित्यानित्यस्वरूप आत्मा में भावना परिणति बन सकती है तिस ही कारण से यानी सदा अभावकत्व या भावकत्व का प्रसंग आजाने से ही सांख्यों के यहां प्रकृति का भी भावकपना नहीं सध पाता है। प्रधान को पहिले भावक नहीं मानकर पुनः भावना भावते समय भावक

प्रमाणपरिक्षा - आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज

माना जायगा तो अनित्य हो जाने का प्रसंग आजावेगा। बौद्धों के यहां क्षणिकपने के एकान्त का पक्ष लेने पर भी कोई भावक नहीं होता है क्योंकि वंश रहित होकर समूलचूल विनाश को प्राप्त हो रहे पदार्थ की एक समय से ऊपर अवस्थिति हो नहीं है अतः पुनः पुनः पने करके चैतन्य संतानों का असंभव है। सन्तान भी तो उनके यहां वस्तुभूत नहीं मानी गयी है अर्थात् कितनी ही देर तक बार-बार विचार करने को भावना कहते हैं। क्षणिक विज्ञान विचारा अनेक क्षण तक ठहरता ही नहीं है। हां, अनेक स्वलक्षणों की सन्तान तो भावना कर सकती थी किन्तु क्षणिकवादी के यहां सन्तान या समुदाय वस्तुभूत नहीं माने हैं यों एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक पक्षों में भावना नहीं संभवती है।

ततोऽनेकान्तवादिनामेव भावना युक्ता भावकस्य भव्यस्यात्मनः सिद्धेः सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणस्य च निःश्रेयसस्य भाव्यस्योपपत्तेः। तदुपायभूतायाः सम्यग्दर्शनादिस्वभावविशेषात्मिकायाः सत्यभावनायाः प्रसिद्धेः। स्याद्वादिनामेव त्र्यंशपूर्णा गिरो वेदितव्याः॥

तिस कारण अनेकान्तवादी जैन विद्वानों के यहां ही भावना बनना समुचित है क्योंकि भावना करने वाले परिणामी भव्य आत्मा की सिद्धि हो रही है। और सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक छूट जाना स्वरूप मोक्ष का भाव्यपना बन रहा है तथा उस मोक्ष के उपायभूत हो रही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि विशेषस्वभावस्वरूप सत्यभावना यानी पारमार्थिक भावना की प्रसिद्धि हो रही है इस कारण स्याद्वादियों के यहां ही भावक, भाव्य, भावना इन तीन अंशों से परिपूर्ण हो रही वचन पद्धतियां समझ लेनी चाहिये। जिस प्रकार नित्यानित्यात्मक परिणामी आत्मा में दुःख, शोक, दान आदि परणतियां बनती हैं। उसी प्रकार कथंचित् नित्य भव्य आत्मा ही भावनीय मोक्ष की उपाय हो रही सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप भावनाओं को भावता है।

सकलव्रतस्थैर्यार्थमित्थं च भावना कर्तव्येत्याह—

व्रतों की विरोधी हो रही पापक्रियाओं में भी प्रतिकूल भावनायें भावते हुये सामान्य रूप से सम्पूर्ण व्रतों की स्थिरता के लिये और भी इस प्रकार भावनायें करनी चाहिये इस अभिप्राय से प्रेरित हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥९॥

हिंसा आदि पापों में इस जन्म में अपाय दीखना यों भावना करनी चाहिये और भविष्य जन्मान्तरों में अवद्य देखा जाना भावने योग्य है। अर्थात् हिंसा करने वाला प्राणी इस लोक में जन समुदाय करके नित्य ही ताड़ने योग्य होता है यहां उससे वैर बांध लिया जाता है। अनेक प्रकार के वध, बन्ध क्लेशों को प्राप्त करता है, और मरकर नरकादि गतियों को पाता है, निन्दित होता है इस कारण हिंसा से विरति करना श्रेष्ठ है। तिस ही प्रकार झूंठ बोलने वाले व्यक्ति की कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं राखता है वह जिह्वाछेदन, कारागृहवास, को प्राप्त करता है, झूंठ बोलने करके दुःखी हो गये प्राणियों से वैर बांधकर अनेक विपत्तियों को प्राप्त करता है, मरकर दुर्गति में वास करता है अतः झूंठ बोलने से विरक्ति रखना श्रेष्ठ है यह भावना रखनी चाहिये। तथा दूसरों के द्रव्य को चुराने वाला जीव सबके त्रास देने योग्य हो जाता है, यहां इस जन्म में बेंतों की मार, जेलखाना, हाथ-पांव छेदन, सर्वस्व हरण, आदि दुःखों को प्राप्त करता है, भयभीत रहता है और मरकर अशुभ गति को प्राप्त होता है, सर्वत्र उसकी

निन्दा होती है अतः चोरी करने से विराम ले लेना चाहिये। तथैव कुशील पुरुष यहां वध, बन्धन, मार-पीट, कुवचन सहना आदि दुःखों को प्राप्त करता है, सबसे वैर बांधकर लिंग छेदन, जनहरण आदि अपायों को प्राप्त करता है। और मरकर नरकादि कुगतियों में जाता है पुण्य कर्मों को नहीं कर सकता है, निंदित होता है अतः अब्रह्म पाप से विरति करना आत्मा का हित है। तथा परिग्रह प्रेमी जीव चोर, डाकू आदि कुशब्दों करके त्रास प्राप्त करने योग्य होता है। धन के अर्जन, रक्षण में अनेक दुःखों को उठाता है, सन्तोष नहीं करता है, लोभपीडित होकर मरता है, दुर्गति को प्राप्त होता है लोभी, कंजूस, मक्खी-चूस, आदि निन्दाओं का पात्र बनता है। अतः परिग्रह से विरति ही करना श्रेष्ठ है। ऐसी भावनायें भावने से सामान्यरूप से सभी व्रतों में जीव की स्थिरता होती है। शुभ भावनायें ही सच्चारित्र की प्राण हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकोपायः भयं वा अवद्यं च गर्ह्यं तयोर्दर्शनमवलोकनं प्रत्येकं हिंसादिषु भावयितव्यं। कथमित्याह—

जिन क्रियाओं से अनेक सांसारिक अभ्युदय और संसारातीत मोक्ष इन प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है उन श्रेष्ठ क्रियाओं का विनाश करने वाला जो प्रयोग है वह अपाय कहा जाता है अथवा इह लोक संबन्धी आदि सात भय भी अपाय हो सकते हैं और अवद्य का अर्थ निंद्यनीय है उन अवद्य और अपायों का दर्शन यानी अवलोकन या परामर्श करना प्रत्येक हिंसादि पापों में भावना करने योग्य है। कोई पूंछता है कि किस प्रकार उक्त सामान्य भावनाओं को भावना चाहिये? बताओ। ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं।

हिंसनादिष्विहापायदर्शनं भावना यथा।
मयामुत्र तथावद्यदर्शनं प्रविधीयते ॥१॥

जिस प्रकार हिंसा, झूंठ आदि पापों में इस जन्म में अनेक अपाय होना दीख रहा है उसी प्रकार परलोक में अनेक अवद्य होना देखे जा रहे हैं। यों मुझ करके भावना भले प्रकार की जा रही है।

हिंसादिसकलमव्रतं दुःखमेवेति च भावनां व्रतस्थैर्यार्थमाह—

हिंसा, झूंठ आदिक सम्पूर्ण अव्रत दुःख स्वरूप ही हैं इस निराली भावना की व्रतों की स्थिरता कराने के लिये सूत्रकार कंठोक्त कहते हैं।

दुखमेव वा ॥१०॥

हिंसा, आदिक पांचों पाप दुःख स्वरूप ही हैं यह भावना भी भावनी चाहिये तभी दुःखों से विरक्ति उपजेगी। भावार्थ—क्षमा या ब्रह्मचर्य से सुख उपजता है इस प्रयोग की अपेक्षा क्षमा या ब्रह्मचर्य निश्चयनयानुसार सुखस्वरूप हैं यह वचन मीठा और सत्यार्थ जच रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो क्षमा से सुख होता है यों कार्यकारण भाव बनाना एक प्रकार से परमब्रह्मस्वरूप क्षमा की अवज्ञा करना है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि दान, पूजा, संयम, तपश्चरण से सुख होता है इसकी अपेक्षा दान, पूजा आदि ही सुखस्वरूप हैं यह अभिप्राय सुन्दर है। तभी "समरसरसरंगोद्गम" होने पाता है। इसी प्रकार हिंसा करना, झूंठ बोलना आदि पापचेष्टायें भी दुःखस्वरूप हैं। उस समय आत्मा को महान् दुःख उपज रहा

है अतः हिंसादिकों से जो दुःख होगा वह तो उपजेगा ही साथ ही तादात्विक दुःख का संवेदन भी आत्मा को हो रहा है अतः सूत्रकार का हिंसादिकों को दुःखस्वरूप बताना बड़ा सुन्दर जच गया है। विद्वान् इसका परिशीलन करेंगे। धर्म से सुख होता है। इसकी अपेक्षा यों अच्छा जचता है कि ज्ञानदान, परोपकार, निश्छल व्यवहार, कषायमान्द्य, आदि धर्म सुखस्वरूप ही हैं। धर्मपालन तत्काल आनन्दस्वरूप है। आत्मा के गुणों में अभेद है।

दुखमेवेति कारणे कार्योपचारो अन्नप्राणवत् कारणकारणे वा धनप्राणवत्। दुःखस्य कारणं ह्यव्रतं हिंसादिकमपायहेतुत्वादिहैव दुःखमित्युपचर्यते, कारणे कारणं वा तदवद्यहेतुत्वात् तस्य च दुःखफलत्वात्। तत्परत्र भावनमात्मसाक्षिकं।

मार्गदर्शक :- अर्थात् असातावेदनीयकर्म के बन्ध से किया गया खेदपरिणाम तो दुःख है और हिंसा करना, झूंठ बोलना आदिक आत्मा के पुरुषार्थजन्य क्रिया विशेष हैं ऐसी दशा में वे हिंसादिक भला दुःखस्वरूप ही कैसे हो सकते हैं ? बताओ। ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि "दुखमेव" यों कथन तो कारण में कार्य का उपचार कर किया गया है। जैसे कि "अन्नं वै प्राणाः" अन्न ही निश्चय से प्राण हैं यहाँ प्राण के सहकारी कारण हो रहे अन्न में प्राणत्व का उपचार कर सामानाधिकरण्य हो रहा है। इसी प्रकार दुःख के कारण हो रहे हिंसा आदिक क्रियाओं में दुःख ही हैं यह उपचार किया गया समझ लेना चाहिये। जिस प्रकार कि "धनं प्राणाः" धन ही प्राण हैं यहाँ प्राण का कारण अन्न और अन्न प्राप्ति का उपाय धन है। अथवा अन्य भी अर्थ क्रियाओं के साधक अर्थों की प्राप्ति धन से ही होती है यों प्राण के कारण के कारण धन को प्राण कह दिया जाता है। तिसी प्रकार हिंसा आदिक पापक्रियायें तो असद्वेद्य के कारण आस्रावक कारण हैं और असद्वेद्यकर्म पुनः दुःख का कारण है यों दुःख के कारण हो रहे असद्वेद्य कर्म के कारण हिंसादिकों को दुःखस्वरूप ही उपचार से कह दिया है। दुःख के कारण हिंसा आदिक अव्रत हैं क्योंकि वे इस लोक में ही (परलोकमें तो अवश्य ही होवेंगे) अपाय के हेतु होने से दुःखस्वरूप यों उपचार को प्राप्त हो जाते हैं। कारण में जो कारण हो रहा है वह अवद्य के हेतु का हेतु होने से तद्रूपेण उपचार को प्राप्त हो जाता है और उसका फल दुःख होने से वहाँ तत्पना आरोपित कर दिया जाता है। भावार्थ— पूर्व सूत्र अनुसार इस जन्म में अपाय का कारण होने से हिंसादिकों को दुःख कहना कारण में कार्यपन का उपचार है। ये हिंसादिक दुःख स्वरूप ही हैं उस भावना को दूसरों में अपना साक्षी देते हुये भावना चाहिये अर्थात् मारना, पीड़ा देना जैसे मुझ को अप्रिय हैं तिसी प्रकार सर्व जीवों का अप्रिय हैं। मिथ्या-भाषण, बहुभाषण आदिक वचन सुनने से जैसे मेरे को अतितीव्र दुःख उपजता है इसी प्रकार सब जीवों को दुःख उपजेगा अतः हम किसी के प्रति मिथ्याभाषण न करें। मेरे इष्ट द्रव्य के वियोग में जैसे मुझको आपत्ति आजाती है उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को अभीष्ट द्रव्य की चोरी करने से विपत्ति आती है। दूसरे के द्वारा मेरे स्त्रीजनों का तिरस्कार हो जाने पर जैसे मुझे तीव्र मानसिक पीडा उत्पन्न होती है उसी प्रकार दूसरे की स्त्रियों के साथ काम चेष्टा करने पर दूसरों को अतीव संक्लेश उपजता है। तथा मुझे परिग्रह की अप्राप्ति या प्राप्त के विनाश हो जाने पर जैसे आकांक्षा, रक्षा करना, शोक आदि से उपजे हुये दुःख होते हैं तिसी प्रकार सर्व प्राणियों को होते हैं। यों हिंसा आदिकों में दुःखस्वरूप की सामान्य भावना को भावते, भावते, जीव की उन पापों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है।

ननु चात्रह्मकर्मामुत्र दुःखमात्मसाक्षिकं तद्धि स्पर्शसुखमेवेति चेन्न, तत्र स्पर्शसुखवेदना-प्रतीकारत्वात् दुःखानुपक्तत्वाच्च दुःखत्वोपपत्तेः। एतदेवाह—

यहाँ कोई आमन्त्रण करता हुआ आक्षेप करता है कि परस्त्री सेवन, वेश्यागमन, परपुरुषरमण, अनंग क्रीड़ा आदि अब्रह्म पापस्वरूप क्रियायें परजन्मों में दुःखस्वरूप हैं। वे आत्मा को साक्षी लेकर दुःख स्वरूप भावनी चाहियें किंतु अब्रह्म तो इस जन्म में स्पर्शजन्य सुखस्वरूप ही प्रतिभासता है। सुन्दर अंगना के कोमल गात्र का संस्पर्श हो जाने से रतिसुख उपजता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि वहाँ स्पर्श सुख होना केवल वेदना प्रतीकार है जैसे कि खाज रोग से पीड़ित हुआ पुरुष नख, कंकड़ी, तृण आदि से खूब खुजाकर रुधिर से गीला हो गया भी उस महान् दुःख को भी सुख मान रहा है, तिसी प्रकार मैथुनसेवी पुरुष मोह से असुख को भी सुख मान बैठा है। ब्रह्मचारी या सदाचारी को ब्रह्मचर्य के अनुपम सुख का अनुभव है। एक बात यह भी है कि "तत्सुखं यत्र नासुखं" दुःख का जहाँ लेश मात्र भी नहीं है वही सुख है। कुशीलसेवी जीव के महान् दुखों का प्रसंग हो रहा है, अनेक भय सता रहे हैं अतः अब्रह्म को दुःखपना ही युक्तिसिद्ध है। इस ही सूत्रोक्त बात को ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

भावना देहिनां तत्र कर्तव्या दुखमेव वा।
दुःखात्मकभवोद्भूतिहेतुत्वादव्रतं हि तत् ॥१॥

उन हिंसा आदि अव्रतों में "ये जीवों के दुःखस्वरूप ही हैं" ऐसी भावना भी प्राणियों को करनी चाहिये (प्रतिज्ञा) दुःख आत्मक संसार की उत्पत्ति के हेतु होने से (हेतु) इस कारण वह अब्रह्म नाम का अव्रत दुःख स्वरूप ही है अन्य अव्रत भी दुःखरूप ही हैं। जिस प्रकार उक्त भावनायें भावते भावते व्रतों की पूर्णता होती है उसी प्रकार इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा कर ये मैत्री आदिक भावनायें भी यदि भावीं जावें तो व्रत सम्पत्ति स्थिर होती है अतः सूत्रकार सामान्य भावनाओं का निरूपण करते हुये मैत्री आदि भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों में सद्भावपूर्ण मैत्रीभाव करना और गुणों से अधिक हो रहे सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी आदि भव्यात्माओं में प्रमोद किया जाय। दुःखी हो रहे क्लेश प्राप्त जीवों में करुणाभाव रखा जाय। तथा जिन धर्म से बाह्य हो रहे मिथ्यादृष्टि आदि निर्गुण-अविनीत प्राणियों में मध्यस्थता यानी उदासीनता रखी जाय। इस प्रकार भावना भाव रहे भव्य के अहिंसादिकव्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। जैसे कि पूर्व पठित ग्रन्थों की संस्कार स्वरूप भावना को दृढ़ कर रहे छात्र की व्युत्पत्ति दृढ़ हो जाती है।

हिंसादिविरतिस्थैर्यार्थं भावयितव्यानीति भावनाश्चतस्रोऽपि वेदितव्याः। परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री, वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानांतर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः, दीनानुग्रहभावः कारुण्यं, रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं, अनादिकर्मबंधवशात्सीदंतीति सत्त्वाः, सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः, असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः, तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेयाः। सत्त्वादिषु मैत्र्यादयो यथासंख्यमभिसंबन्धनीयाः। ता एता भावनाः सत्यनेकांताश्रयणे संभवंति नान्यथेत्याह—

हिंसा से विरति, झूंठ से विरति, आदि व्रतों की स्थिरता करने के लिये मैत्री, प्रमोद, करुणा-भावना और मध्यस्थभाव ये भावनायें करने योग्य हैं। यों व्रतों की चारों भावनायें भी जान लेनी चाहिये। कृत, कारित, अनुमोदना, और मन,वचन, काय कर के दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति में अभिलाषा रखना मैत्री है। मुख की प्रसन्नता, नेत्रों का आह्लाद, रोमांच उठना, बार-बार स्तुति करना, नाम लेना, उपाधियों का वर्णन करना, आदि करके व्यक्त हो रहा अन्तरंगभक्ति स्वरूप अनुराग करना तो प्रमोद है। शारीरिक मानसिक व्याधियों से पीडित हो रहे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह स्वरूप परिणाम ही करुणाभाव है। किसी के विषय में राग द्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ्यभाव है। यों विधेय दल का व्याख्यान कर अब उद्देश्य दल का निरूपण करते हैं। सन्तानरूपेण अनादि काल से लग रहे आठ प्रकार के कर्मों के बंध की अधीनता से चारों गतियों से जो आकुलित हो रहे हैं वे सत्त्व हैं। सम्यग्ज्ञान, तपस्या, विद्वत्ता, वक्तृता आदि गुणों करके प्रकर्ष प्राप्त हुये हैं वे जीव गुणाधिक हैं। तीव्र असातवेदनीय कर्म के उदय से क्लेश को प्राप्त हो रहे जीव क्लिश्यमान हैं तथा जिन्हों ने तत्त्वार्थ के उपदेश का श्रवण और तदनुसार ग्रहण के अभ्यास से कोई भी गुण प्राप्त नहीं कर पाया है ऐसे अविनीत या अपात्र तो अविनय कहे जाते हैं। सत्त्व आदि में मैत्री आदिक भावने योग्य हैं। यों चार उद्देश्यदलों का चार विधेय दलों के साथ संख्या का अतिक्रमण नहीं कर ठीक ठीक सम्बन्ध कर लिया जाय। ये सब प्रसिद्ध हो रही भावनायें अनेकान्तसिद्धान्त का आश्रय करने पर ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आत्मक परिणाम वाले सत् पदार्थ में संभवती हैं अन्यथा नहीं। अर्थात् क्षणिकत्व पक्ष, नित्यत्व पक्ष, एकत्व-पक्ष आदि एकान्तों का आग्रह करने पर भावनायें नहीं हो सकती हैं। विशेष विशेष अंशों को छोड़ कर उन्हीं विषयों को भावते रहना यह कालान्तरस्थायी परिणामी आत्मा के ही संभवता है जब कि खाना, पीना, हंगना, मूतना, विवाह होना, पुत्र होना, ये लौकिक क्रियायें अथवा हिंसा,झूंठ, चोरी आदि पाप क्रियायें एवं पूजा, दान, अध्यापन, जाप्य देना, धर्म्यध्यान ये पुण्यकर्म सब अनेकान्तवाद अनुसार ही रहे बनते हैं। तो ये विशेष भावनायें और सामान्य भावनायें भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार पदार्थ व्यवस्था मानने पर ही भायी जा सकतीं हैं। इस तत्त्व को और सूत्रोक्त को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कहे देते हैं।

मैत्र्यादयो विशुद्ध्यंगाः सत्त्वादिषु यथागमं।
भावनाः संभवंत्यंतनैकान्ताश्रयणे तु ताः ॥ १ ॥
मैत्री सत्त्वेषु कर्तव्या यथा तद्वद्गुणाधिके।
क्लिश्यमानेऽविनेये च सत्त्वरूपाविशेषतः ॥ २ ॥
कारुण्यं च समस्तेषु संसारक्लेशभागिषु।
माध्यस्थ्यं वीतरागाणं न क्वचिद्विनिधीयते ॥ ३ ॥
भव्यत्वं गुणमालोक्य प्रमोदोऽखिलदेहिषु।
कर्तव्य इति तत्रायं विभागो मुख्यरूपतः ॥ ४ ॥

यावत् प्राणी और गुणाधिक जीव आदि में ये विशुद्धि के अंग हो रही मैत्री, प्रमोद आदिक भावनाओं को शास्त्रोक्त पद्धति अनुसार भावना चाहिये। वे भावनायें अनेकान्त सिद्धान्त का आश्रय

करने पर तो संभवती हैं किन्तु एकान्त पक्ष का कदाग्रह करने पर नहीं सध पाती हैं। जिस प्रकार जगद्वर्त्ती सम्पूर्ण प्राणियों में मैत्रीभाव करना चाहिये उसी के समान जीवरूप से विशेषतायें नहीं होने के कारण गुणाधिक और क्लिश्यमान तथा अविनीत जीवों में भी मैत्री करनी चाहिये। साथ ही "ब्राह्मणवशिष्ट" न्याय अनुसार विशेषता की विवक्षा करने पर संसार संबन्धी क्लेशों के भागी हो रहे समस्त जीवों में करुणाभाव करना चाहिये। क्वचित् अविनीत पुरुषों में वीतराग पुरुषों को माध्यस्थपना रखना नहीं भूल जाना चाहिये। अथवा "क्वचित्स्यादविनीतके" यों पाठ कर लेने पर किन्हीं अविनीत प्राणियों में वीतराग व्रतियों को मध्यस्थपना भावनीय है। यह अर्थ कर लिया जाय। भव्यत्वगुण का विचार कर सम्पूर्ण प्राणियों में प्रमोदभाव करने चाहिये इस प्रकार वहाँ वहाँ मुख्यरूप से यह विभाग कर लिया जाय। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह जचता है कि सम्पूर्ण प्राणियों में जिस प्रकार मैत्री भाव की भावना की जाती है उसी प्रकार अत्यल्प, जघन्ययुक्तानन्त, प्रमाण अभव्यों को छोड़ कर सम्पूर्ण अक्षय अनन्तानन्त जीवों में वर्त्त रहे भव्यत्व गुण का विचार कर उन सभी गुणाधिक अनन्तानन्त जीवों में प्रमोद भावना भी भायी जा सकती है, वीतरागमुनि तो अपने मारने वाले का भी उपकार ही चिंतन करते हैं कि प्राणों का ही वियोग करता है। धर्म से तो नहीं डिगाता है। ऋजु परिणामी और नीचैःवृत्ति, अनुत्सेकी को धार रहा प्राणी तो दूसरे जीवों को बड़ी सुलभता से गुणाधिक समझ लेता है। व्रती विचारता है कि इन सामान्य जीवों की अपेक्षा संभवतः मेरे ही पाप कर्म अधिक होवें इसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान् आदीश्वर महाराज ने हजार वर्ष तपस्या की थी और महावीर स्वामी ने १२ वर्षों में ही चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया था। बाहुबली स्वामी ने मात्र एक वर्ष में और भरत चक्रवर्त्ती ने तो केवल कुछ अन्तर्मुहूर्तों में ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था। कर्मों के जटिलबन्ध और आत्मविशुद्धि या तपस्या की शक्ति अचिन्त्य है। नरक से निकल कर तीर्थंकर हो जाना तो है नारायण बलभद्र नहीं हो सकता है अतः संचित कर्मोंका कोई ठिकाना नहीं। अभव्य मुनि तपस्यायें करते रहते हैं और निकट भव्य भोगों में लवलीन देखे जाते हैं इस अपेक्षा से अपकारी या क्लिश्यमान जीव भी गुणाधिक होंय यों सभी जीवों को गुणाधिक मानकर प्रमोदभावना भावने से कोई टोटा नहीं पड़ जाता है। संसार के सभी प्राणी नाना योनियों में आकुलताओं को भुगता रहे संसार क्लेश से पीड़ित हो रहे हैं अतः सम्पूर्ण क्लिश्यमान संसारी जीवों में करुणाभाव भाया जा सकता है। वीतरागमुनियों के मध्यस्थता तो अविनीतों में ही क्या सम्पूर्ण जीवों में वर्त्त रही है। रागद्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना ही तो मध्यस्थता है। यह सभी जीवों के प्रति मध्यस्थता तो व्रतियों में सुलभता से घटित हो जाती है जब तक उत्तममार्दव स्वरूप परमब्रह्म सिद्ध अवस्था नहीं प्राप्त होती तब तक संसारी जीवों की अविनीतता तो कथंचित् बन ही जाती है। इस प्रकार सामान्यरूप या विशेष रूप से विचार करते हुये चारों भावनाओं से व्रती को अपना आत्मा सर्वदा संस्कारित रखना चाहिये।

नवीन पाप कर्मों के ग्रहण की निवृत्ति में तत्पर हो रहे महाव्रत धारी जीव करके क्या इतना ही क्रियाकलाप करना लक्ष्य में रखना चाहिये ? अथवा कुछ अन्य भी सद्विचार चित्त में विचारते रहना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज पुनरपि अन्य भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

जगत् का स्वभाव और काय का स्वभाव संवेग और वैराग्य के लिये है। अर्थात् पर्यायस्वरूप

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदिमान् जगत् है और द्रव्य स्वरूप अनादि अनन्त जगत् है। इस अनादि अनन्त संसार में अनन्तानन्त जीव नाना योनियों में दुःख भुगत रहे भटक रहे हैं। यहाँ कोई पदार्थ परिणामस्वरूप स्थिर नहीं है। जल के बबूला समान जीवित है, बिजली या मेघ के समान भोग सम्पत्तियाँ हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग की भरमार है, यह जगत् जन्म-जरामृत्युओं से आक्रान्त है। इस जगत् में जीव का इन्द्र, धरणेन्द्र कोई भी रक्षक नहीं है। इत्यादि प्रकार से जगत् के स्वभावों का चिन्तन करने से इस जीव को संवेग होता है। संसार से भय उपजता है, धर्म में प्रीति होती है। तथा काय अशुद्ध है, यावत् दुःखों का कारण है, रोगों से भरपूर है, आत्मा से भिन्न है, अनित्य है, कृपण या कृतघ्न सेवक के समान समय पर काम नहीं आता है, धोखा देता है, दुर्गन्ध है, मल मूत्रों का स्थान है, पाप के उपार्जन में दक्ष है, अत्यल्पकारण से रोगी होने या मरने को तैयार हो जाता है, यथायोग्य भाड़ा देते रहने पर भी दीन भिक्षुक के सदृश सदा भोगोपभोगों की याचना करता रहता है। इत्यादि शरीर के स्वरूपों का चिन्तन करते-करते विषय भोगों की निवृत्ति होजाने से वैराग्य उपजता है। तिस कारण जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें भावनी चाहिये।

भावयितव्यौ व्रतस्थैर्यार्थमिति शेषः। संवेगवैराग्ये हि व्रतस्थैर्यस्य हेतू, जगत्कायस्वभावभावनं संवेगवैराग्यार्थमिति परंपरया तस्य तदर्थसिद्धिः। जगत्कायशब्दाभ्युक्तार्थौ स्वेनात्मना भवनं स्वभावः, जगत्काययोः स्वभावाविति संवेगवैराग्यार्थं ग्राह्यं। संसाराद्भरुता संवेगः। रागीकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः तस्य भावो वैराग्यं संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थमिति द्वयोः प्रत्येकमुभयार्थत्वं प्रत्येतव्यं ॥

"सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति" इस नियम अनुसार व्रतों की स्थिरता के लिये भी इन दोनों की भावना करनी चाहिये इतना अंश शेष रह जाता है। पक्षान्तर का सूचक वा शब्द इस प्रयोजन को भी ध्वनित करता है। सूत्र के उपात्त शब्दों और शेष शब्दों को मिलाकर यों अर्थ कर देना चाहिये कि व्रतों की स्थिरता के लिये तथा संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें करते रहना चाहिये। संसार संबन्धी दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग है और इन्द्रियों के विषयो से विरक्त हो जाना वैराग्य है। जब कि संवेग और वैराग्य दोनों ही व्रतों की स्थिरता के हेतु हैं अतः जगत् और काय के स्वभावों की भावना करना संवेग और वैराग्य के लिये है यों परंपरा से उस भावते रहने को उन संवेग और वैराग्य स्वरूप प्रयोजनों की सिद्धि का साधकत्व है। अर्थात् जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करने से व्रती जीव की अहिंसादि व्रतों में स्थिरता होती है पुनः व्रतों में स्थिरता हो जाने से संवेग और वैराग्य ये प्रयोजन सधते हैं। जगत् शब्द और काय शब्द के अर्थों को कहा जा चुका है। गच्छति इति जगत्, चीयते इति कायः जो अपने परिणामों द्वारा अनादि से अनन्तकाल तक चलता जा रहा है वह जगत् है। शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जीवों के निकट एकत्रित हो गया पुद्गल तो काय है। जगत् का अर्थ यदि लोक मान लिया जाय तो लोक का अर्थ या संसार का अर्थ पहिले सूत्रों में कहा जा चुका है। काय का अर्थ भी पहिले प्रकरणों में आ चुका है। अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार स्वकीय आत्मस्वरूप से होते रहना स्वभाव है। जगत् और काय के जो दो स्वभाव हैं इस प्रकार द्वन्द्व गर्भित षष्ठीतत्पुष समास कर "जगत्कायस्वभावौ" यों शब्द साधु बना लिया जाता है। इस कारण जगत् और काय के स्वभाव यों संवेग और वैराग्य के लिये ग्रहण करने योग्य हैं। जन्म, जरा, मृत्यु क्षुधा, रोग आदि अनेक दुःखमय संसार से भयभीत होना संवेग है। राग के कारणों का अभाव हो

जाने से यानी चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द, सुख, संकल्प, विकल्प, इन ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्ति हो जाना विराग है। उस विराग का जो भाव है सो वैराग्य है। संवेग और वैराग्य के लिये जो होय वह संवेगवैराग्यार्थ है। चतुर्थी का अर्थ तादर्थ्य है। इस प्रकार दोनों में से प्रत्येक का दोनों के लिये होना समझ लेना चाहिये, अर्थात् जगत् के स्वभाव का चिन्तन करना संवेग के लिये और वैराग्य के लिये भी है तथैव काय के स्वभाव का चिंतन करना भी संवेग और वैराग्य दोनों के लिये है। वस्तुतः यही बात सर्वांग सत्य है। थोड़ी भी विचार बुद्धि को धारने वाला पुरुष जब कभी जगत् के स्वभाव को विचारेगा तो उसे संवेग हुये बिना नहीं रहेगा। जो आज धनी है वह कल निर्धन हो जाता है। बाबा बैठे रहते हैं नाती की मृत्यु हो जाती है। कहीं शोक, कहीं रोग, क्वचित् खेद की भरमार सुनाई दे रही है। जगत् में कहीं भी सुख नहीं है, केवलज्ञानी महाराज ही अठारह दोषों से रहित हैं। देव और भोगभूमियाँ जीव भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से क्षुधा आदि अठारह दोषों करके आक्रान्त हैं। उनमें विचारशील सम्यग्दृष्टि यही भावना भावते रहते हैं कि कब कर्म भूमि की मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर संयम धारते हुये चार आराधनाओं को प्राप्त करें। इसी प्रकार शरीर की अवस्थाओं का विचार करने पर वैराग्य ही उपजता है। जगत् पद से तीन सौ तैंतालीस घनराजू प्रमाण तीनों लोक और उसमें अनित्य, अशरण होकर वर्त्त रहे सभी परिणामी पदार्थ पकड़ लिये जाते हैं। फिर भी संसारी जीव का काय से घनिष्ठ संबन्ध है। अतः भूत, व्रती, न्याय अनुसार या सामान्य विशेष नीति से काय का पृथक् उपादान करना पड़ा है। जगत् की अनेक परिणतियों से जितना कहीं संवेग उपजता है उससे कितना ही गुना अधिक काय के स्वभाव का चिन्तन करने से वैराग्य उपजता है। सूत्रकार ने यह बहुत बढ़िया मोक्षमार्गोपयोगी अमूल्य सूत्र कहा है। इसमें अपरिमित प्रमेय भरा हुआ है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र के पश्चात् यदि एक ही सूत्र बनाने का विचार किया जाय तो वह सौभाग्य इस "जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं" सूत्र को ही प्राप्त होगा। इस सूत्र में शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त और साधु तत्त्वों का सार एकचित्र कर दिया गया है। मोक्ष के कारण संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व को यहाँ ठूंस कर भर दिया गया है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

केषां पुनः संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावभावने कुतो वा भवत इत्याह—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है फिर यह बताओ कि जगत् के स्वभाव की भावना और काय के स्वभाव की भावना ये दोनों किन-किन जीवों के संवेग और वैराग्य के लिये उपयुक्त होती हैं? और यह भी बताओ कि किस कारण से ये भावनायें जीवों के होती हैं? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा भावने भावितात्मनां।
संवेगाय विरक्त्यर्थं तत्त्वतस्तत्प्रबोधतः ॥१॥

जिन जीवों ने आत्मा के स्वरूप का भले प्रकार चिन्तन किया है। जगत् के स्वभाव और काय के स्वभाव अथवा उनकी भावनायें करना ये उन भावित आत्मक जीवों के संवेग गुण के लिये और वैराग्य के लिये उपयोगी हो रहे हैं यह पहिले प्रश्न का उत्तर हुआ। दूसरा प्रश्न जो यह था कि किस कारण से वे उक्त प्रयोजनों को पुष्ट कर देते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक रूप से उन जगत् और काय का बढ़िया बोध हो जाने से यानी उनके वास्तविक स्वरूपों का चिन्तन करने से संवेग और वैराग्य हो ही जाते हैं। कलहकारिणी स्त्री से या अन्यायी राजा अथवा मलमूत्रों से अरुचि होने का

हेतु उन घृणित पदार्थों का ज्ञान ही है। जगत् और काय में कोई भी स्वभाव आसक्त हो जाने का नहीं है। अतः जगत् तत्त्व और काय तत्त्व का समीचीन बोध हो जाने से संवेग और वैराग्य का होना अनिवार्य है। हाँ जो आत्म ज्ञान से शून्य हैं वे भले ही उक्त गुणों को प्राप्त नहीं कर सकें क्योंकि उन्हें तत्त्वज्ञान ही नहीं है। बालक ही सांप या अग्नि से खेलना चाहता है विचारशील नहीं। अतः आत्मज्ञानी जीव के इस सूत्रोक्त अनुसार तत्त्व प्रबोध पूर्वक हुई भावनाओं से संवेग और वैराग्य हो जाने का अविनाभाव है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्त्वतो जगत्कायस्वभावाभावबोधवादिनां तु तद्भावनातो नाभिप्रेतार्थसिद्धिरित्याह—

वास्तविक रूप से जगत् और काय के स्वभावों का अभाव मान कर विज्ञान का अद्वैत मानने वाले बौद्धों के यहां तो उन जगत् और काय के स्वभावों की भावना से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है इसी बात को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कह रहे हैं।

भावना कल्पनामात्रं येषामर्थानपेक्षया।
तेषां नार्थस्ततोऽनिष्टकल्पनात इवेप्सितम् ॥२॥
अनन्तानन्ततत्त्वस्य कश्चिदर्थेषु भाव्यते।
सन्नेवेति यथार्थैव भावना नो व्यवस्थिता ॥३॥

जिन बौद्ध पण्डितों के यहां अनित्य, अशरण आदि भावनायें या पांच व्रतों की पच्चीस विशेष भावनायें अथवा अपाय, अवद्यदर्शन और दुःखस्वरूप तथा मैत्री आदि एवं जगत् काय स्वभाव चिन्तन ये सामान्य भावनायें केवल कल्पनास्वरूप ही मानी गयी हैं। बौद्ध समझाते हैं कि इनमें वस्तुभूत अर्थों की कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे कहानी, किंवदन्तियां, उपन्यास, किस्सा यों ही गढ़ लिये जाते हैं इसी प्रकार जगत् के स्वभावों की भावना या काय स्वभाव का चिन्तन ये सब वस्तुस्पर्शी न होकर कोरी कल्पनायें हैं। दीन छोकरा अपने मन में राजापने की कल्पना कर लेवे या मूर्ख बालक अपने को पण्डित मान बैठे, इन्द्र नाम का बालक अपने को प्रथम स्वर्ग का अधिपति चिन्तता रहे, मिट्टी के बने हुये झोंपड़े में स्वर्णनिर्मित प्रासाद की भावना करता रहे; ऐसे निकम्मे मिथ्याज्ञानी को कोई अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। अब आचार्य कहते हैं कि भावना को अवस्तु विषयिणी मानने वाले उन बौद्धों के यहां उस भावना से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जैसे कि अनिष्ट की कल्पना से ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् मट्टी की बनी गाय से अभीष्ट दुग्ध प्राप्त नहीं होता है। यहाँ कहना यह है कि सर्वथा असत् कल्पनाओं से भले ही इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होय किंतु वास्तविक कल्पनाओं से इष्ट प्रयोजन सधता है जब कि उपचरित असद्भूत व्यवहार नय अनुसार मेरे पुत्र, दारा आदिक हैं, वस्त्र, अलंकार, सोना, चांदी मेरे हैं, देश, राज्य दुर्ग मेरे, हैं इत्यादिक कल्पनायें भी कथंचित् वस्तुपरिणतियों को छूकर हुयी हैं। बहुरूपिया, चित्र, नाटकप्रदर्शन, बनावटी सिंह, सर्प,भूत, प्रेत आदिक की झूंठी कल्पना, अपने में रोग या नशा आ जाने की भावना ये बहुभाग असत्य भावनायें भी अनेक परिणतियों को उपजा देती हैं। पांव के "हाथीपांव" रोग पर सिंह की प्रतिकृति लाभ देती है, भील मट्टी के कृत्रिम द्रोणाचार्य से धनुष विद्या पढ़ा था, "यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण तोषयेत्" कछवी अपने बच्चों को शुभभावना मात्र से पुष्ट करती रहती है यह बात सर्वांग असत्य नहीं है। माता पिता गुरुजन अपने पुत्र या छात्रों को शुभभावनाओं से अलंकृत करते रहते हैं। तो वस्तुभूत परिणतियों की भित्ति पर हुई भावना तो कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्तानन्त स्वभाव भरे हुये हैं न जाने किस नैमि-

त्तिक या स्वाभाविक स्वकीय परिणति की भावना भा कर यह जीव संसार कारण या मोक्ष कारण की आराधना किया करता है। कुकर्म या सत्कर्म का छोटा सा बीज ही फल काल में महान् वृक्ष हो जाता है। अनेक अर्थों में से कोई न कोई अनन्तानन्त स्वभाव वाले पदार्थ का सत्स्वरूप अर्थ भावना किया जाता है। इस कारण हम स्याद्वादियों के यहाँ वस्तुस्पर्शिनी भावना यथार्थ ही व्यवस्थित हो रही है। कुशिक्षा का स्वल्प कारण मिल जाने पर पापी जीव उस व्यसन की भावना भाते भाते एक दिन महादुर्व्यसनी हो जाता है इसी प्रकार सत् शिक्षा का स्वल्प बीज पाकर भव्य जीव शुभ भावनाओं को भाकर एक दिन चारित्रवानों में अग्रणी बन जाता है। भावनाय भावने से विद्यार्थी पाठ को अभ्यस्त कर लेता है। भावना अनुसार वक्ता अच्छी वक्तृता देता है। रागवर्धक भावनाओं के वश माता अपने पुत्र पर स्नेह करती है। जगत् की और शरीर की परिणतियां बहुत सी प्रत्यक्षगोचर हैं। उनका अवलंब लेकर सत्यार्थभावना भावने से संवेग और वैराग्य परिणाम उपजेंगे ही। हां जो भावना को परमार्थ नहीं मानते हैं उनके यहां प्रतीतियों से विरोध आवेगा। भावना के विना स्मृति नहीं हो सकती है, बालक अपनी माता को नहीं पहिचान सकेगा, पक्षी लौट कर अपने घोंसले में नहीं आ सकेगा, परीक्षायें देना असंभव हो जायगा, मुख में कौर नहीं दे सकोगे, व्याप्तिस्मरण या संकेत स्मरण अनुसार होने वाले अनुमान और आगमप्रमाण उठ जायंगे, किसी का शुभ अशुभ चिन्तन कुछ कार्यकारी नहीं होगा अतः उक्त सामान्य भावनाओं और विशेष भावनाओं को वस्तुभूत यथार्थ मानना चाहिये वास्तविक अर्थ क्रियाओं को कर रही भावनाओं पर कुचोद्यों का अवकाश नहीं है।

ततो यथार्था अवितथसकलभावनाः प्रतिपन्नव्रतस्थैर्यहेतवस्तत्प्रतिपक्षस्वीकारनिराकरणहेतुत्वात्सम्यक् सूत्रिताः प्रतिपत्तव्याः।

तिस कारण सत्य अर्थों का अवलंब लेकर हुयी उक्त सम्पूर्ण भावनायें यथार्थ हैं। प्रतिज्ञात किये गये अहिंसा आदि व्रतों के स्थिरपन की कारण हैं उन व्रतों के प्रतिपक्ष हो रहे हिंसा, झूंठ आदि के स्वीकारों की निराकृत का हेतु होने से सूत्रकार महाराज करके भले प्रकार उक्त सूत्रों में वे भावनायें सूचित कर दी गयी हैं। यों भव्यों को विशेष भावनाओं और सामान्यभावनाओं की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये अलं विस्तरेण।

अथ के हिंसादयो येभ्यो विरतिर्व्रतमिति शंकायां हिंसां तावदाहः—

अब यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वे हिंसा आदिक कौन से हैं? जिनसे कि विरति होना व्रत है यों सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शंका प्रवर्तने पर सबसे प्रथम आदि में कही गयी हिंसा को लक्षण सूत्र द्वारा श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

प्रमाद युक्त परिणति का योग हो जाने से स्व या पर के प्राणों का वियोग कर देना हिंसा है। अर्थात् प्रमादी जीव करके कायवाङ्मनःकर्म रूप योग से स्वकीय, परकीय, भावप्राण द्रव्यप्राणों का वियोग किया जाना हिंसा कही जाती है।

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः अभ्यंतरीभूतेवार्थो वा पंचदशप्रमादपरिणतो वा, योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः, कायवाङ्मनःकर्म वा; तेन प्रमत्तसंबंधात् प्रमत्तकायादिकर्मणो वा प्राणव्यपरोपणं हिंसेति सूत्रितं भवति।

पाँच इन्द्रिय और छठे मन के निरर्गल हुये प्रचार विषयों का नहीं अवधारण कर (को नहीं गिन कर) अयत्नाचार पूर्वक प्रवर्त्त रहा जीव प्रमत्त है। अथवा प्रमत्त का अर्थ यों कर लिया जाय कि प्रमत्त इव प्रमत्तः यों प्रमत्त शब्द में इव शब्द का अर्थ सदृशपना भीतर गर्भित हो रहा है। अर्थात् जैसे मद्य पीने वाला कार्य, अकार्य, वाच्य, अवाच्य, इष्ट, अनिष्ट आदि को नहीं जानता है उसी प्रकार जीव-स्थान, योनिस्थान, स्वीय, परकीय, सुख, दुःख आदि को नहीं जानता हुआ मोहकर्म के उदय से वशीकृत जीव मदोन्मत्त के समान प्रमत्त का तीसरा अर्थ पन्द्रह प्रमादों से युक्त हो कर परिणति कर रहा जो जीव है सो प्रमत्त है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्र कथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के साथ रम रहा जीव प्रमादी कहा जाता है। सूत्र में पड़ा हुआ योग शब्द तो संबन्ध का पर्यायवाची है। युजि योगे धातु से बने हुये योग शब्द का अर्थ संबंध हो जाता है। अथवा काय, वचन, मन का अवलंब लेकर हुआ आत्मप्रदेशपरिस्पंद भी योग हो सकता है। तिस कारण इस सूत्र से यह सूचित हो जाता है कि प्रमत्त का संबन्ध हो जाने से अथवा प्रमत्त जीव के काय आदि परिस्पन्दों से हुआ स्वी संबन्धी या पर सम्बन्धी प्राणियों का वियोग करना हिंसा है।

किं पुनर्व्यपरोपणं ? वियोगकरणं प्राणानां व्यपरोपणं प्राणव्यरोपपणं। प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य। सामर्थ्यतः सिद्धेः। प्राणस्य प्राणिभ्योऽन्यत्वादधर्माभाव इति चेन्न, तद्दुःखोत्पादकत्वात् प्राणव्यपरोपणस्य। प्राणानां व्यपरोपणे ततः शरीरिणोऽन्यत्वाद्दुःखाभाव इति चेन्न, इष्टपुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात्, तेनान्यत्वस्य व्यभिचारात् प्राणप्राणिनोर्बंधं प्रत्येकत्वाच्च सर्वथान्यत्वमसिद्धमिति न दुःखाभावसंभवः शरीरिणः साधयतो यतो हिंसा न स्यात्।

यहाँ कोई पूँछता है कि प्रमत्त योग का अर्थ समझ लिया फिर यह बताओ कि यह व्यपरोपण क्या पदार्थ है ? उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि व्यपरोपण का अर्थ वियोग करना है। पाँच इन्द्रिय प्राण, तीन बल प्राण, आयुः और श्वासोश्वास, इन प्राणों का वियोग कर देना प्राणव्यपरोपण है। यों षष्ठी तत्पुरुष समास है। प्राणों का ग्रहण इस लिये किया गया है कि प्राणी का व्यपरोपण उस प्राणव्यपरोपण होने को पूर्ववर्त्ती मान कर होता है। पहिले प्राणों का वियोग होता है पश्चात् प्राणी का वियोग हो जाता है यह बात विना कहे सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। जीव के प्राणों का वियोग हो जाने से इष्ट बन्धुओं के साथ उस जीव का वियोग हो जाता है अथवा आस्रव पूर्वक बंध होता है। फिर भी आस्रव और बंध का जैसे एक समय है उसी प्रकार प्राण वियोग और प्राणी वियोग का समय भेद नहीं है। यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि प्राणियों से प्राणों का जब भेद है तो प्राणों का वियोग कर देने से आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं होता है। अतः हिंसक को अधर्म नहीं लग सकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि प्राणों का व्यपरोपण करना उस जीव के दुःखों का उत्पादक है प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी जीव को महान् दुःख उपजता है इस कारण दुःखोत्पादक हिंसक जीव के अधर्म हो जाने की सिद्धि हुई। पुनः कोई सर्वथा भेदवादी आक्षेप उठाता है कि शरीरधारी आत्मा जब प्राणों से सर्वथा भिन्न है तो प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी भिन्न हो जाने के कारण उससे आत्मा को दुःख नहीं होना चाहिये जैसे कि शरीर से मल मूत्र का वियोग हो जाने से किसी को दुःख नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीकहना क्योंकि इष्ट हो रहे भिन्न-भिन्न पुत्र, स्त्री, धन, पशु, गृह, अधिकार, आजीविका आदि का वियोग हो जाने पर जीव के संताप हो रहा देखा जाता है अतः भिन्नत्व हेतु का तिस पुत्र आदि के वियोग करके व्यभिचार हुआ। अर्थात् प्राणव्यपरोपणं (पक्ष) जीवस्य न दुखहेतुः (साध्य)

तदन्यत्वात् (हेतु) शत्रु वियोगवत् (दृष्टान्त), इस आक्षेप कर्ता के अनुमान में पड़े हुये तदन्यत्व हेतु को इष्ट पुत्रादि वियोग करके व्यभिचार आता है। एक बात यह भी है कि प्राण और प्राणी आत्मा का बंध के प्रति एकपना है। दोनों बँध कर एकम एक रस हो रहे हैं अतः सर्वथा भेद असिद्ध है यों अन्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी हुआ (बंधं पडि एयत्तलक्खणदोहवई अस्तु पाणपाणीणं) इस कारण एकपना हो जाने से प्राणों का वियोग हो जाने पर आत्मा के दुःख के अभाव का असंभव है। शरीर वाले आत्मा को साथ रहे सर्वथा भेदवादी वैशेषिक के यहाँ आत्मा के दुःखाभाव नहीं संभवता है। जिससे कि प्राणों का वियोग कर देने पर आत्मा की हिंसा न होती। अर्थात् प्राणों का व्यपरोपण हो जाने से प्राणी की हिंसा और प्राणी को दुःख उपजना तथा हिंसा से अधर्म होना सिद्ध हो जाते हैं।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिः संबंधाभावात्। प्राणप्राणिनोः संयोगविशेषसंबन्ध इति चेत्, कुतस्तस्यांतरसंयोगाद्विशेषः ? तददृष्टविशेषादिति चेत्, तस्याप्यात्मनोऽन्यत्वे कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेशः तत्र समवायादिति चेत्, सर्वात्मसु कस्मान्न तत्समवायः ? प्रतिनियतात्मनि धर्माधर्मयोः फलानुभवनात्तत्रैव समवायो न सर्वात्मस्विति चेत्, तदेव सर्वात्मसु किं न स्यात् ? सर्वात्मशरीरेष्वभावादिति चेन्न, शरीरस्यापि प्रतिनियतात्मस्वाभाविकत्वायोगात् सर्वात्मसाधारणत्वात्। यददृष्टविशेषेण कृतं यच्छरीरं तत्तस्यैवेति चेत्, तर्ह्यदृष्टस्यापि ततोऽन्यतैवेत्येकांते कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेश इति स एव पर्यनुयोगश्चक्रकं च ॥

सर्वथा नित्यपन, सदा शुद्धता, सर्वगतपन, क्रियारहितपन आदि एकांतों का पक्ष ले रहे नैयायिक, सांख्य आदि पण्डितों के यहाँ उन दुःख, मरण, जीवन, आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि आत्मा का शरीर या प्राण अथवा दुःख आदि के साथ कोई संबन्ध नहीं बनता है। यदि नैयायिक यों कहें कि वायु द्रव्य प्राण और प्राण वाले आत्मा द्रव्य का सम्बन्ध संयोग विशेष है। जैनों के यहां भी कर्म, शरीर, स्वकीयपुत्र कलत्र आदि के साथ विशेष जाति का संयोग माना ही गया है। यों कहने पर तो आचार्य पूंछते हैं कि उस संयोग की अन्य अन्तर वाले भिन्न पदार्थों के हुये संयोग की अपेक्षा किस कारण से विशेषता हो रही है ? बताओ। अर्थात् आत्मा का घट से, पुस्तक से, लेखनी से, भी संयोग हो रहा है। ऐसी दशा में प्राण के साथ हुये संयोग में भला किस कारण से विशेषता आ गयी जिस से कि प्राण का व्यपरोपण हो जाने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो सकेगा। इसके उत्तर में यदि नैयायिक यों कहें कि उस प्राण वाले आत्मा के पुण्य, पाप, नामक अदृष्ट विशेष से संयोग की अन्य बहिरंग संयोगों की अपेक्षा विशेषता हो गयी है। यों कहने पर तो जैन उलाहना देंगे कि उस अदृष्ट को भी आत्मा से भिन्न मानने पर किस कारण से प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके व्यपदेश होगा अर्थात् नैयायिकों के यहां आत्मा से जैसे प्राण भिन्न पड़े हुये हैं उसी प्रकार अदृष्ट विशेष भी भिन्न पड़ा हुआ है। अनन्तानन्त व्यापक मानी गयी आत्माओं में से किसी एक आत्मा का वह अदृष्ट नियत नहीं कहा जा सकता है। यदि वैशेषिक या नैयायिक इसके उत्तर में यों कहें कि उस नियत आत्मा ही में अदृष्ट का समवाय सम्बन्ध हो गया है इस कारण नियत आत्मा का यह नियत अदृष्ट है यों स्वस्वामिसम्बन्ध का व्यपदेश हो जायगा। इस प्रकार कहने पर तो हम जैन कटाक्ष करेंगे कि जब समवाय व्यापक और एक माना गया है तो सम्पूर्ण ही आत्माओं में किस कारण से उस अदृष्ट का समवाय नहीं हो जाता है ? बताओ। इसके उत्तर में वैशेषिक यदि यों कहे कि प्रतिनियत हो रही एक आत्मा में ही धर्म और अधर्म

के सुख, दुःख आदि फलों का अनुभव होना दीखता है उस एक ही आत्मा में अदृष्ट का समवाय संबन्ध हो सकेगा। सम्पूर्ण आत्माओं में अदृष्ट नहीं समवेत होगा। यों वैशेषिकों के कहने पर तो पुनः हम जैन उपालंभ देंगे कि वह धर्म अधर्मों के फल का अनुभवन ही भला क्यों नहीं सम्पूर्ण आत्मा में हो जाता है ? फूल की फैली हुई सुगन्ध को सभी निकटवर्त्ती पुरुष सूंघ लेते हैं जब कि अनेक आत्मायें एक स्थान पर डट रही हैं। सभी आत्माओं से अदृष्ट और उसका फलानुभवन सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ है तो एक ही आत्मा उस अदृष्ट सुख दुःख फल का अधिपति नहीं हो सकता है। इस पर वैशेषिक यदि यों समाधान करें कि सम्पूर्ण आत्माओं के शरीरों में अदृष्ट के फल का अनुभव नहीं हुआ है। एक ही आत्मा के शरीर में सुख दुःख अनुभवा गया है अतः एक ही नियत आत्मा में धर्माधर्म फलानुभव, एवं अनुभव नियामक समवाय, और समवाय के वश हो रहा नियत अदृष्ट तथा अदृष्ट हेतुक नियत प्राणों का संयोग बन जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो क्योंकि आधारभूत नींव हो रहे अन्तिम हेतु के बिगड़ जाने से आपका बना बनाया सम्पूर्ण प्रासाद गिर जाता है। शरीर भी सभी आत्माओं से भिन्न पड़ा हुआ है अतः प्रतिनियत एक ही आत्मा के स्वभावों से सम्पादित होनापन प्रकृत शरीर के भी नहीं बन पाता है। क्योंकि वह शरीर भी सम्पूर्ण आत्माओं का साधारण है। साधारण वस्तु पर सम्पूर्ण आत्माओं का समानरूप से अधिकार है अतः शरीर का नियतपना (प्रकृत आत्माधिकृतत्व) नहीं होने से सुख दुःखानुभवन नियत नहीं हो सका। फलानुभव के नियत हुये बिना उसी एक आत्मा में अदृष्ट का समवाय नियत नहीं हो सका और नियत समवाय नहीं होने से अदृष्ट विशेष नियमित नहीं हो सका जो कि प्राण और प्राणी के संयोग विशेष का नियामक होता। अन्तिम नींव को सुधारने के लिये वैशेषिक यदि यों कहें कि जिस आत्मा के अदृष्ट विशेष करके जो शरीर बनाया गया है वह शरीर उसी आत्मा का होगा अन्य पड़ौसी आत्मा का नहीं। यों कहने पर तो आचार्य उलाहना देते हैं कि तब तो भेदवादियों के ऊपर उपालंभमाला आपड़ती है। शरीर के नियामक अदृष्ट को भी उस आत्मा से भिन्न होने का ही एकांत मानने पर भला किस कारण से उस अदृष्ट का प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके षष्ठी विभक्तिवाला व्यवहार होगा ? बताओ। यों वही का वही पर्यनुयोग यानी समाधान आक्षेपों का प्रवर्त्तन चालू रहेगा। वैशेषिक ने अन्तिम नियामक अदृष्ट माना है। प्रारम्भ में भी अदृष्ट विशेष से संयोग विशेष की व्यवस्था करी थी किंतु अदृष्ट भी आत्मा से भिन्न ही माना गया है अतः वह अदृष्ट इस आत्मा का है ऐसा नियम कौन करे ? तब समवाय से नियम करोगे तो उस भिन्न पड़े हुये समवाय का नियम कौन करे ? कि इसी आत्मा में उस अदृष्ट का यह समवाय है। यदि फलानुभवन से समवाय को नियत किया जायगा तो सम्पूर्ण आत्माओं को टालकर एक ही प्रकृत आत्मा में उस भिन्न पड़े हुये फलानुभवन के स्वामिसंबन्ध की प्रतिनियति कौन करे ? प्रतिनियत शरीर में फलानुभवन के होने से अनुभव का नियम किया जायगा तो आत्माओं से सर्वथा भिन्न पड़े शरीर का ही नियतपना कौन करे ? भेदवादियों के यहाँ बड़ी कठिनता आ पड़ती है। यदि जिस आत्मा के अदृष्ट से शरीर बनाया गया है वह शरीर उस आत्मा का यों प्रतिनियत व्यवस्था करोगे तो फिर अदृष्ट विशेष के ऊपर प्रश्न उठता है कि भिन्न पड़े हुये उस अदृष्ट को ही सभी आत्मायें क्यों नहीं हड़प लेंगी। इसके लिये फिर वही समाधान और आक्षेप चलते रहेंगे कोई संतोषजनक उत्तर वैशेषिकों की ओर से नहीं हो सकता है। एक बात यह भी है कि यों करते करते वैशेषिकों के ऊपर चक्रक दोष आता है। प्राणों और प्राणी का संयोग विशेष हो जाने में सब से पहिले अदृष्ट विशेष को हेतु कहा, उसका नियामक समवाय कहा, समवाय का नियामक फलानुभवन कहा, फलानुभवन का नियामक प्रतिनियत शरीर में होना कहा, शरीर का नियामक पुनः अदृष्ट विशेष कहा, और अदृष्ट विशेष का नियामक समवाय कहा इत्यादि रूप से चक्कर बंध जाता है। कारक

पक्ष या ज्ञापक पक्ष का चक्रक गर्भित अनवस्था दोष किसी भी कार्य को नहीं होने देता है। पदार्थ समझने भी नहीं देता है। तदपेक्षापेक्ष्यपेक्षितत्वनिबंधनोऽनिष्टप्रसंगश्चक्रकम्।



ततः सुदूरमपि गत्वा यत्रात्मनि भावादृष्टं कथंचित्तादात्म्येन स्थितं तस्य तत्कृतं द्रव्यादृष्टं पौद्गलिकं कर्म व्यपदिश्यते। तत्कृतं च शरीरं प्राणात्मकं तद्व्यपदेशमर्हति पुत्रकलत्रादिवदेवेति स्याद्वादिनामेव प्राणव्यपरोपणे प्राणिनो व्यपरोपणं दुःखोत्पत्तेर्युक्तं न पुनरेकान्तवादिनां यौगानां सांख्यादिवत्।

तिस कारण अनेकांतवाद में ही प्राणों या उनके संयोगविशेष, अदृष्ट विशेष एवं शरीर आदि की सिद्धि समुचित बनती है। नैयायिकों को बहुत दूर भी जाकर कथंचित् तादात्म्य की ही शरण लेनी पड़ेगी। अन्यथा चक्रक ग्रह या अनवस्था पिशाची से नैयायिक अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते हैं। जिस आत्मा में मिथ्यादर्शन, अविरति, क्रोध, प्रदोष आदिक आत्मपरिणति स्वरूप भाव, पुण्य, पाप कथंचित् तदात्मकपने करके स्थित हो रहे हैं उस आत्मा के उस भाव अदृष्ट से किये गये द्रव्य अदृष्ट स्वरूप, पुद्गलोपादेय अष्टविध कर्म का स्वस्वामी व्यवहार कर दिया जाता है। तथा उपादान कारण पुद्गल से बनाये गये उस अष्टविध कर्म स्वरूप द्रव्यादृष्ट करके प्राणस्वरूप शरीर किया जाता है। जो कि उसी नियत आत्मा का शरीर है इस प्रकार षष्ठी विभक्ति अनुसार व्यवहार करने के योग्य है जैसे कि अपने पुण्य पाप अनुसार प्राप्त हुये पुत्र, स्त्री, भ्राता आदिक उस उस आत्मा के कह दिये जाते हैं। भावार्थ-भेदवादी नैयायिकों के यहाँ चक्रक दोष आता है किंतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि भाव अदृष्टों के साथ आत्मा का कथंचित् तादात्म्य संबंध मानने पर कोई दोष नहीं आता है जिस आत्मा का भाव अदृष्ट है उस अदृष्ट को निमित्त पाकर संचित हुआ ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट भी उसी आत्मा का कहा जावेगा और उस द्रव्यादृष्ट के उदय अनुसार बन गया शरीर प्राण, भी उसी आत्मा का समझा जायगा, पुत्र, स्त्री, आदिक भी नियत आत्मा के तभी व्यवहृत होते हैं जब कि उन पुत्रादिकों के संपादक द्रव्यादृष्ट के भी संपादक हो रहे भावादृष्ट का उस नियत आत्मा के साथ कथंचित् तादात्म्य सबंध बन रहा है आत्मा के साथ संबंध रहे पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट का भी कथंचित् तादात्म्य हो सकता है इस तत्त्व का निर्णय "प्रमेयकमलमार्तण्ड" में समझ लिया जाता है। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहाँ ही प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो जाना आत्मा को दुःख की उत्पत्ति होने से समुचित बन जाता है किंतु फिर एकांतवादी हो रहे यौग यानी नैयायिकों के यहाँ शरीरधारी आत्मा का व्यपरोपण नहीं हो सकता है जैसे कि सांख्य, बौद्ध आदि पण्डितों के यहां शरीरी का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। यद्यपि योग दर्शन पतंजलि का बनाया हुआ न्यारा है फिर भी क्वचित् नैयायिकों को यौग कह देते हैं। नैयायिक या वैशेषिकों के यहां शरीर, प्राणवायु, या दुःख को आत्मा से सर्वथा भिन्न मान रक्खा है। सांख्यों ने प्राकृतिक प्राणों को शुद्ध उदासीन आत्मा से भिन्न अभीष्ट किया है। बौद्धों के यहां तो आत्म-

तत्त्व ही नही बनता है ॥ पांच इन्द्रियें, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश द्रव्यप्राणों का आत्मा से विशेष नियत सम्बन्ध हो रहा है। चैतन्य, सुख, सत्ता इन भाव प्राणों का तो आत्मा के साथ तादात्म्य संबन्ध ही है अतः प्राणों का व्यपरोपण होने पर नियत प्राणी के दुःख उपजने से प्राणी का व्यपरोपण हुआ सिद्ध हो जाता है।

ननु प्रमत्तयोग एव हिंसा तदभावे संयतात्मनो यतेः प्राणव्यपरोपणेऽपि हिंसानिष्टेरिति कश्चित्। प्राणव्यपरोपणमेव हिंसा प्रमत्तयोगाभावे तद्विधाने प्रायश्चित्तोपदेशात्, ततस्तदुभयोपादानं सूत्रे किमर्थमित्यपरः। अत्रोच्यते।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि "प्रमत्तयोगो हिंसा" प्रमत्त जीव का योग ही हिंसा है इतना ही हिंसा का लक्षण किया जाय संयमी आत्मा हो रहे मुनिराज के दूसरे क्षुद्र जीवों के प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी यदि उस प्रमत्त योग का अभाव है तो हिंसा होना इष्ट नहीं किया गया है "मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स" यत्नाचारी, समितिधारी मुनि के मात्र हिंसा हो जाने से ही प्रबन्ध नहीं हो जाता है "उच्चालियंमि पाये इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे। आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज" "णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोपि देसिदो समये, मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो" इस प्रकार कोई आक्षेपकर्ता कह रहा है। साथ ही एक दूसरा पण्डित भी यों अवधारण कर रहा है कि "प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इतना ही लघुसूत्र बनाया जाय प्राणों का व्यपरोपण कर देना ही हिंसा है। प्रमत्तयोग का पुँछल्ला नहीं लगाया जाय क्योंकि प्रमत्तयोग का अभाव होते हुये भी उस प्राणव्यपरोपण के करने पर प्रायश्चित्त करने का उपदेश दिया गया है मुनि या श्रावक से बिना जाने या बिना प्रमाद योग के यदि जीवों का बध हो जाता है तो उन को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। श्रावक ने किसी गृह का ताला लगा दिया और भूल से उसमें बिल्ली रह गयी तो बिल्ली को दुःख पहुंचाने की क्रिया का प्रायश्चित्त श्रावक को लेना चाहिये। बिना जाने बर्तन में पानी रक्खा रहा उसमें जीव जन्तु उत्पन्न हो गये, मर गये या अन्य जीव ऊपर से पड़ गये इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। शास्त्र का अध्ययन करने बैठे उसी समय शारीरिक बाधा या अन्य आवश्यक कारण उपस्थित हो जाने पर एक मिनट के लिये उठ गये पश्चात् वायु का झकोरा आजाने पर लिखित जिनागम के पत्र इधर उधर उड़ गये तो भी इस अविनय का रसत्याग, कायोत्सर्ग आदि यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना पड़ता है अथवा नहीं भी उठे तो भी अन्यमनस्क अवस्था में पत्रों के अस्त व्यस्त हो जाने पर अविनय हेतुक प्रायश्चित्त करना पड़ता है तभी तो प्रतिक्रमण में ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद अवस्था के लगे हुये सभी दोषों का प्रत्याख्यान या मिथ्यात्वापादन किया जाता है। "पडिक्कमामि भंते इरिया वहियाये विराहणाये अणागुत्ते अइग्गमणे णिग्गमणे ठाणे गमणे चक्कमणे णाणुग्गमणे बीज्जुग्गमणे हरिदुग्गमणे उच्चारपस्सवणखेलसिंघाणयविगडियपिट्ठावणाये जे जीवा एइंदिया वा वेइन्दिया वा तेइन्दिया वा चउरिन्दिया वा पंचेन्दिया वा णोल्लिदा वा पिल्लिदा वा संघट्टिदा वा संघादिदा वा ओद्दाविदा वा परिदाविदा वा करिच्छिदा वा लेस्सिदा वा छिंदिदा वा भिंदिदा वा ठाणुदो वा ठाणचंकम्मणदो वा तस्स-उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भय मंताणं णमोकारं करेमि तावकायं पावकम्मे दुच्चरियं वोस्सरामि ॐ णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं इच्छामि भंत्ते ईरियावहमालोचेडं पुव्वुत्तरदक्खिण पच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगुत्तरदिट्ठिणा दट्ठव्वा डवडवचरियाये पमाददोसेण पाणभूदजीवसत्ताणं एदेसिं उपघातो

कदो वा कारिदो वा किरंतो वा समणुमणदो वा तस्स मिच्छाये दुक्कडं" यहाँ ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद सभी दोषों का प्रायश्चित्त किया है। अतः अकेला प्राणव्यपरोपण ही हिंसा कह दिया जाओ। तिस कारण हम चोद्य करते हैं कि सूत्रकार ने उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों का ग्रहण सूत्र में किसलिये किया है ? बताओ "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीयः" यहां तक कोई दूसरा कह रहा है। ऐसा शास्त्रार्थ निर्णय का अवसर उपस्थित होने पर ग्रन्थकार द्वारा जहाँ समाधान कहा जाता है कि—

उभयविशेषोपादानमन्यतराभावे हिंसा भावज्ञापनार्थं। हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोगः सन् केवलस्तत्र भावप्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विधायिनः प्रायाश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् प्रमत्तयोगः स्यात् तर्हि तत्पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्। ततः प्रमत्तयोगः प्राणव्यपरोपणं च हिंसेति ज्ञापनार्थं तदुभयोपादानं कृतं सूत्रे युक्तमेव।

प्रमत्तयोगात् और प्राणव्यपरोपण इन दोनों विशेषों का ग्रहण करना तो दोनों से एक का भी अभाव हो जाने पर हिंसा के अभाव का ज्ञापन करने के लिये है अर्थात् न केवल प्रमादयोग ही हिंसा है और इकल्ला प्राणव्यपरोपण भी हिंसा नहीं है किंतु जहाँ प्रमाद के योग से प्राणव्यपरोपण हुआ है वह हिंसा है इस तत्त्व को समझाने के लिये दोनों पद कहे गये हैं। देखिये हिंसा दो प्रकार की है एक तो स्व या पर के क्षमा, वीतरागता आदि भावों की हत्या हो जाने से हिंसा होती है। दूसरी स्व या पर के द्रव्यप्राणों का वियोग कर देने पर जो होती है वह द्रव्य से हिंसा मानी गयी है। भावहिंसा और द्रव्य हिंसा ये भेद जैन सिद्धान्त में ही सुघटित हो रहे हैं। उनमें पहिली भाव से हिंसा तो केवल प्रमत्त जीव के योग का सद्भाव है क्यों कि उस प्रमाद योग में अपने भाव प्राणों का व्यपरोपण होना अवश्यंभावी है तिस कारण कि प्रमादी जीव अपनी आत्मा का घातक है। पन्द्रह प्रमादों में से किसी भी प्रमाद के उपजते ही आत्मा के चैतन्य, तत्त्वज्ञान, अहिंसा आदि भावों का घात हो जाता है कारण कि प्राचीन शास्त्र में राग, द्वेष आदि की उत्पत्ति को हिंसारूप से आम्नाय अनुसार वर्णन किया गया है। अर्थात् "स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्, पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः" "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ! तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।" हाँ द्रव्य हिंसा तो पराये द्रव्यप्राणों का वियोग करना अथवा अपनी आत्मा के द्रव्य प्राणों का वियोग करना है। उस भाव प्राण के व्यपरोपण का करने वाले जीव को प्रायश्चित्त ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। अपने अज्ञान से भी कभी-कभी किवाड़ों को लगाते खोलते, समय अथवा भूल से जल, मिष्टान्न, आदि में जीवों का वध हो जाता है वहाँ भी प्रमाद योग है। कभी ज्ञात भावों की अपेक्षा अज्ञात भावों से पापबंध अधिक हो जाता है अज्ञान भी विशेष अपराध है। एक प्रकार के अज्ञान को मिथ्यात्वों में गिनाया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वैषयिक सुखों को हेय जानता हुआ भी सेवता है। ज्ञातभाव होने पर भी इसके पापबंध अल्प होता है और मिथ्याज्ञानी तथा अज्ञानी जीव के विषय सेवन से तीव्र पापबंध होता है। किसी पक्ष का एकान्त पकड़े रहना ठीक नहीं कि ज्ञातभावों से ही पापों में तीव्र अनुभागबन्ध पड़ता है। प्रकरण में यों कहना है कि भावप्राणों का वियोगकरण नहीं होने से उस हिंसा का या प्रायश्चित्त लेने का असंभव है। यदि मुनि के प्रमत्तयोग होगा तब तो प्रमत्तपूर्वक यति के भी हिंसा अवश्य हो जायगी। तिस कारण

प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण ये दोनों होंयगे तभी हिंसा है इस बात को समझाने के लिये उक्त सूत्र में उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों पदों का ग्रहण किया गया समुचित ही है। कहीं-कहीं सम्यग्दृष्टि के भी बंध नहीं होना लिखा है वह भी तीव्र अनुभाव बंध की अपेक्षा से है। अविरति, प्रमाद, कषायों अनुसार सम्यग्दृष्टि के भी पाप प्रकृतियों का मन्द अनुभाग को लिये हुये बंध हो ही जाता है और पुण्य-प्रकृतियों के तो बन्ध होते ही हैं "सम्मेव तित्थबंधो प्रमादरहिदेसु" तीर्थंकर और आहारद्विक बंध तो सम्य-ग्दृष्टि के ही होता है। मुख लार, मसूड़े, दाँतों आदि में त्रसजीवों की संभावना है। किसी-किसी दाँतों में रक्त निकलता रहता है, बुरी दुर्गंध आती है, पाइरिया रोग हो जाता है, सूक्ष्मवीक्षकयंत्र द्वारा वे त्रस जीव देख लिये भी जाते हैं फिर भी अशक्यानुष्ठान होने से खाने पीने का त्याग नहीं करा दिया जाता है। छन्ने से छान लेने पर भी जल में यदि त्रस जीव रह जाते हैं तो यहाँ भी आचारशास्त्र की आज्ञा या अशक्यानुष्ठान का सहारा लिया जता है। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के शास्त्रों अनुसार विचारने पर अशक्यानुष्ठान कोई कर्मबंध से छूट जाने का बहाना नहीं प्रतीत होता है। उन सावद्य क्रियाओं से पाप का बंध अवश्य होता है। तथा जिनागमानुकूल प्रवृत्ति करने वाले के कषायों की अतिमन्दता हो जाने से उसमें रस मंद पड़ेगा। दशमे गुणस्थान तक पापों का बंध होता रहता है। हाँ चरणानुयोग अनुसार अशक्यानुष्ठान विचारा मात्र इतना सहारा दे सकता है जिससे कि अशुद्ध अन्न, जल, के खाने पीने का परित्याग कर व्यर्थ की आत्महिंसा करने से जीव बचे रहें, बारहवें गुणस्थान तक इस मानुष शरीर में बादर निगोद और अनेक त्रस जीव उपजते, मरते, रहते हैं, मल, मूत्र, मांस, रक्त आदि में प्रति अन्तर्मुहूर्त्त जीवों के जन्म मरण की धारा लग रही है। चाहे मुनि होंय अथवा सामान्य मनुष्य हो उसके बैठते उठते, बात चीत करते, खाते, पीते, श्वास छोड़ते, शरीर की उष्णाता निकालते आदि क्रियाओं में जीवों का वध हो जाना अनिवार्य है, थोड़ा भी शास्त्र को जानने वाले ज्ञानी से यह बात छिपी नहीं है अतः जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविक जो कोई भी हिंसा हो सकती है उसको ओर लक्ष्य रखते हुये ग्रन्थकार ने इस सूत्र का तात्पर्य कह दिया है।

येषां तु न कश्चिदात्मा विद्यते क्षणिकचित्तमात्रप्रतिज्ञानात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टयप्रतिज्ञानाद्वा तेषां प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात्, नहि चित्तलक्षणः प्राणानां कर्त्ता तस्य निरन्वयस्यार्थक्रियाहेतुत्वनिराकरणात्। नापि कायाकारपरिणतो भूतसंघातो मृतशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वप्रसंगात्। ततो जीवच्छरीरस्यात्माधिष्ठितत्वमन्तरेण विशेषाव्यवस्थानसाधनात् जीवति प्राणिनि प्राणसंभवात् तद्व्यपरोपणं प्रमत्तयोगात् स्याद्वादिनामेव हिंसेत्यावेदयति—

जिन बौद्ध पण्डित या चार्वाक पण्डितों के यहाँ कोई आत्मतत्त्व विद्यमान ही नहीं क्योंकि बौद्ध तो क्षणमात्रस्थायी केवल विज्ञानात्मक चित्त को ही प्रतिज्ञापूर्वक मान रहे हैं और चार्वाकों ने पृथिवी, जल, आदि चारों भूतों के समुदाय की प्रतिज्ञा कर रखी है इन दोनों के मत में स्वतंत्र आत्म-तत्त्व कोई नहीं माना गया है। इन बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ तो प्राणी आत्मा का अभाव हो जाने पर प्राणों का अभाव है क्योंकि कोई कर्त्ता ही नहीं है न प्राणों का व्यपरोपण है और प्राणी का भी व्यपरोपण नहीं बनता है। देखिये बौद्धों के यहाँ माना गया चित्तस्वरूप विज्ञान तो प्राणों का कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि उस निरन्वय नष्ट हो रहे क्षणिक चित्त को अर्थ क्रिया के कारणपन का निराकरण कर दिया गया है जो पदार्थ कुछ देर तक ठहरें वे तो अर्थ क्रिया को कर सकते हैं। द्वितीय क्षण में ही मर गया क्षणिक पदार्थ किसी अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है। प्रदीपकलिका, बबूला, बिजली, ये पदार्थ भी सैकड़ों क्षण

तक ठहर रहे संते स्थूल प्रकाशादि कार्यों को करते हैं। अतः बौद्धों के यहाँ माना गया चित्त प्राणों का अधिष्ठायक कर्ता प्राणी नहीं हो सकता है। तथा आकृति से परिणत हुआ भूत यानी पृथिवी, जल, तेज, वायुओं का संघात भी प्राणों का कर्ता नहीं है। क्योंकि यों तो मरे हुये शरीर को भी उन प्राणों के कर्तापन का प्रसंग आजावेगा जो कि चार्वाकों को इष्ट नहीं है तिस कारण स्याद्वादी विद्वानों के यहां ही हिंसा होना ठीक बनता है। जीवित शरीर की आत्मा करके अधिष्ठित हो रहेपन के सिवाय अन्य कोई विशेष व्यवस्था नहीं है इस बात को साधा जा चुका है। अर्थात् अधिष्ठायक कर्ता आत्मा कर के जीवित शरीर अधिष्ठित हो रहा है। जीवित हो रहे प्राणी में द्रव्यप्राण या भावप्राण संभवते हैं अतः उन प्राणों का प्रमादयोग से वियोग करना हिंसा है। यों परिणामी आत्मतत्त्व और उसके अधिष्ठित हो रहे शरीर आदि द्रव्य प्राणों तथा तत्त्वज्ञान आदि भाव प्राणों को मानने वाले स्याद्वादियों के यहाँ ही हिंसा होने की विवेचना ठीक हो सकती है। हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल की आलोचना किये बिना हिंसा का परित्याग नहीं हो सकता है कारण कि अन्य दर्शनों में हिंसा तत्त्व ही सुघटित नहीं हो सका है, स्याद्वादियों का अभिप्रेत यह सूत्रोक्त हिंसा का लक्षण सुव्यवस्थित है इसी बात का ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा निवेदन करे देते हैं।

हिंसात्र प्राणिनां प्राणव्यपरोपणमुदीरिता।
प्रमत्तयोगतो नातो मुनेः संयतनात्मनः ॥१॥

प्रमाद के योग से प्राणी आत्माओं के प्राणों का वियोग कर देना इस सूत्र में हिंसा कही गयी है इस कारण संयम पालन करना जिनका आत्मस्वरूप हो रहा है ऐसे मुनि के वह हिंसा नहीं लग सकती है। मुनि महाराज के रागादिक भी नहीं हैं और प्राणों का व्यपरोपण भी नहीं है अतः हिंसा नहीं लग कर अहिंसा महाव्रत पलता रहता है।

रागादीनामनुत्पादान्न हिंसा स्वस्मिन् परत्र वास्तु न हिंसक इति सिद्धान्ते देशना, तस्य क्वचिदपि भावद्रव्यप्राणव्यपरोपणाभावात् तद्भाव एव हिंसकत्वव्यवस्थितेः रागादीनामुत्पत्तिर्हिंसेति वचनात् ॥

सिद्धान्त शास्त्रों में सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ऐसी देशना मिलती है कि स्वमें अथवा पर में रागादिकों का उत्पाद नहीं होने से हिंसा नहीं हो पाती है ऐसी व्यवस्था रही अतः वह हिंसक नहीं हो पाता है अथवा इस वाक्य का अर्थ यों कर लिया जाय कि समाधिमरण कर रहा जीव शरीर को त्यक्त करता है यहां अन्न जल निरोध, औषधि त्याग प्रक्रिया से भले ही स्वशरीर की हिंसा हो रही है। रत्नत्रय की रक्षा का लक्ष्य रखने वाले को अशुद्ध, अधर्म्य, उपायों से शरीर रक्षा करना अभिप्रेत नहीं है। रत्नों का पिटारा भले ही नष्ट हो जाय रत्न नहीं नष्ट होने चाहिये यों समाधिमरणार्थी जीव अपने में रागादिकों की उत्पत्ति नहीं करने से हिंसक नहीं माना जाता है; "न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः। कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि" तथा ईर्यासमिति पूर्वक गमन कर रहे मुनि के पाँवों के नीचे क्षुद्र जीव आ पड़े और मर जाय तो हिंसा नहीं है। कभी कभी वैद्य या डाक्टर के हाथों से औषधि प्रयोग या चीर, फाड़, करते हुये रोगी मर जाता है किंतु रागादिकों की उत्पत्ति न होने से वह हिंसक नहीं समझा जाता है। रागादिका उत्पाद नहीं होने से उस संयमी मुनि के द्वारा कहीं भी भावप्राण या द्रव्यप्राणों का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। उस द्रव्य प्राण और भाव प्राण के व्यपरोपण का सद्भाव होने पर ही

हिंसकपना व्यवस्थित हो रहा है क्योंकि रागद्वेष आदिकों की उत्पत्ति ही हिंसा है ऐसा शास्त्रकारों का वचन है। "रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिया समये, तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेदि जिणेहि णिद्दिट्ठा।" यहाँ तक हिंसा के लक्षणघटकावयव पदों का साफल्य दिखाते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त में ही प्राणप्राणियों का वियोग किया जाना साध दिया गया है।

किं पुनरनृतमित्याह—

हिंसा का लक्षण निर्णीत किया उसके अनन्तर कहे गये अनृत यानी झूँठ का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

सूत्र का अर्थ यह है कि असत् यानी अप्रशस्त वाच्यार्थों का निरूपण करना तो अनृत अर्थात् झूँठ है। भावार्थ–अशोभन या स्वपर पीड़ा को करने वाले अथवा काणे को चिढ़ाते हुये काणा कहना, दिवालिये को दुःखित करने के लिये दिवालिया घोषित करना ये सब झूँठ हैं। प्रमादयोग का सर्वत्र संबन्ध लगा हुआ है अतः हितशिक्षक, गुरु, माता, पिता, या राजा के अशोभन वचनो में यदि प्रमाद-योग नहीं है तो वे असत्यभाषी नहीं कहे जा सकते हैं।

असदिति निर्ज्ञातसत्प्रतिषेधेनार्थसंप्रत्ययप्रसंग इति कश्चित्। न वा सच्छब्दस्य प्रशंसार्थ-वाचित्वात् तत्प्रतिषेधे अप्रशस्तार्थगतिरित्यन्वयः। तदिह हिंसादिकमसदभिप्रेतं। अभिधानशब्दः करणाधिकरणसाधनः, ऋतं च तत्सत्यार्थे तत्प्रतिषेधादनृतं। तेनेदमुक्तं भवति प्रमत्तयोगाद-सदभिधानं यत्तदनृतमिति।

यहाँ कोई आपेक्ष करता है कि इस सूत्र के उद्देश्यदल में असत्शब्द पड़ा हुआ है। प्रसज्य नञ् अनुसार नहीं जो सत् वह असत् है यों सम्पूर्ण ज्ञात हो रहे सत् पदार्थों का प्रतिषेध करने पर असत् शब्द करके खर विषाण आदि सर्वथा असत् हो रहे अनर्थों की प्रतीति हो जाने का अच्छा प्रसंग बन बैठेगा। ऐसी दशा में शून्यवाद का निरूपण यानी जगत् में कुछ नहीं है "सर्वशून्यं शून्यं" आदिक वचन ही झूंठ हो सकेंगे। यहां तक कोई कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनर्थ प्रत्यय हो जाने के प्रसंग का दोष हमारे यहां नहीं आता है। क्योंकि इस सूत्र में प्रशंसा अर्थ के वाचक सत् शब्द को कहा गया है। उस प्रशस्त सत् का पर्युदास नञ् अनुसार प्रतिषेधक करने पर अप्रशस्त अर्थ की ज्ञप्ति हो जाती है इस कारण अप्रशस्त अर्थ का कथन करना अनृत है यों अन्वय कर दिया जाता है। तिस कारण यहां हिंसा, चोर, आदिक पदार्थ असत् हुये अभिप्रेत किये गये हैं। सूत्र में पड़े हुये अभिधान शब्द की करण और अधिकरण में सिद्धि कर ली जाय जिस करके कथन किया जाय अथवा जिस में निरूपण किया जाय वह अभिधान है। भाव में भी युट् किया जा सकता है। तथा ऋत जो पद है वह सत्य अर्थ में देखा गया है उस सत्यार्थ का प्रतिषेध करने से अनृत शब्द बना लिया जाय, तिस कारण उक्त सूत्र से यह तात्पर्य कह दिया जाता है कि प्रमत्तजीव के योग से जो अप्रशस्त कथन किया गया है वह अनृत है। यहाँ तक सूत्र का अर्थ कह दिया गया है॥

मिथ्यानृतमित्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसंगात् । न च विपरीतार्थमात्रमनृतमिष्यते सर्वथैकांतविपरीतस्यानेकात्मनोऽर्थस्यानृतत्वप्रसंगात् । एतेन मिथ्याभिधानमनृतमित्यपि निराकृतमतिव्यापित्वात् । यदि पुनरसदेव मिथ्येति व्याख्यानमाश्रीयते तदा यथावस्थितमस्तु प्रतिपत्तिगौरवानवतरणात् ॥ तदेवं—

यहां कोई कटाक्ष कर रहा है कि "मिथ्या अनृतं" मिथ्याभाषण करना झूंठ नाम का पाप है इतना ही सूत्र बनाया जाओ क्योंकि इसमें अर्थकृत और परिमाणकृत लाघव गुण है। जहां तक होय सूत्र छोटा ही होना चाहिये, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यों तो केवल विपरीत अर्थ की ही समीचीन प्रतीति हो जाने का प्रसंग आजायेगा किन्तु केवल विपरीत अर्थ को ही झूंठ बोलना नहीं इष्ट किया गया है कारण कि अतिव्याप्ति दोष आजावेगा। देखिये सर्वथा एकांतों से विपरीत हो रहे अनेकांत आत्मक अर्थ को भी अनृतपने का प्रसंग आता है जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् क्वचित् परोपकार, हितोपदेश, अहिंसा, को पुष्ट कर रहा मिथ्यावाद भी सत्य समझा जाता है। कदाचित् नित्यैकांतवादी कदाग्रही वादी अनेकांत पर झुकाने के लिये अनित्यैकांत पक्ष को पुष्ट करना पड़ता है। सर्वदा पढ़ने में ही शारीरिक और मानसिक योगों का व्यय कर रहे विद्यार्थी के लिये खेलना, विश्राम लेना, विनोद करना आदि का विपरीत उपदेश भी दिया जाता है। अतः मिथ्या या विपरीत कथन सर्वथा झूंठ नहीं कहा जा सकता है। इस उक्त कथन करके मिथ्या भाषणं करना अनृत है इस मन्तव्य का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। क्वचित् सत्य में भी मिथ्या कथन पाया जाता है, जनपदसत्य, सम्मतिसत्य आदि दस प्रकार के सत्यों में क्वचित् मिथ्याभिधान देखा जाता है अतः अलक्ष्य में लक्षण के चले जाने से "मिथ्याभिधानं" यह अनृत का लक्षण करना अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। यदि फिर मिथ्याशब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़ते हुये पारिभाषिक अर्थ कर यों व्याख्यान करने का आश्रय लिया जायगा कि अप्रशस्त ही मिथ्या कहा जाता है। तब तो जिस प्रकार आम्नाय अनुसार सूत्रकार महाराज ने कहा है वही तदवस्थ रहा आओ ऐसा करनें से प्रतिपत्ति में गौरव हो जाने का अवतार नहीं है अर्थात् मिथ्या कह कर उसका सांकेतिक अर्थ असत् यानी अप्रशस्त किया जाय इसकी अपेक्षा तो असत् शब्द का ही प्रथमतः उच्चारण करना बढ़िया है। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो व्यवस्था हुई उसको वार्त्तिकों द्वारा सुनिये।

अप्रशस्तमसद्बोध्यमभिधानं यतस्य तत् ।
प्रमत्तस्यानृतं नान्यस्येत्याडः सत्यवादिनः ॥१॥
तेन स्वपरसंतापकारणं येद्वचोंगिनां ।
यथादृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते ॥२॥
मिथ्यार्थमपि हिंसानिषेधे वचनं मतं ।
सत्यं तत्सत्सु साधुत्वादहिंसाव्रतशुद्धिदं ॥३॥

असत् शब्द का अर्थ अप्रशस्त समझना चाहिये, प्रमाद युक्त जीव के जो इस अप्रशस्त अर्थ का कथन करना है वह अनृत है अन्य जो प्रमाद रहित है उस अप्रमत्त जीव का अप्रशस्त कथन करना

झूंठ नहीं है। इस प्रकार सत्यवादी ऋषि महाराज कह रहे हैं तिस कारण यहाँ यों विचार कर लिया जाता है कि प्राणियों का अपने और दूसरों के संताप का कारण हो रहा जो वचन है भले ही वह यथार्थ देखे हुये पदार्थ का निरूपण भी कर रहा है तो भी वह यहाँ असत् विचार लिया जाता है (समझा जायगा)। कोई शिकार खेलने वाला हिंसक यदि यथार्थद्रष्टा पुरुष को पूंछे कि हिरण या शशा किस ओर गया है भले ही उस द्रष्टा पुरुष ने अपनी आँखों से हिरण आदि का पश्चिम दिशा को जाना देख लिया होय तो भी वह सत्यवादी पुरुष यों कह देगा कि इधर पश्चिम दिशा को हिरण नहीं गया है। यहाँ प्रमाद योग नहीं होने से झूंठ बोलना ही सत्य है और सत्य बोलना प्रमाद योग हो जाने से असत्य समझा जायगा। भले ही कोई वचन मिथ्या अर्थ को भी विषय कर रहा होय किंतु हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि के निषेध करने में वह मिथ्या वचन प्रवर्त्त रहा है तो वह सत्य ही माना गया है। कारण कि 'सत्सु साधु सत्यं' यहाँ "तत्र साधुः" इस सूत्र से यत् प्रत्यय कर लिया जाकर सज्जन जीवों में जो साधु यानी हितस्वरूप कथन पड़े वह सत्य है ऐसा सत्य शब्द व्युत्पन्न किया गया है वही अहिंसा व्रत की शुद्धि को देने वाला है। वस्तुतः व्रत एक अहिंसा ही है उसके परिरक्षक सत्य, अचौर्य आदि हैं। जिस निस्सार सत्य से अहिंसा की हिंसा हो जाय वह असत्य ही है। प्रमादयोग की अनुवृत्ति से इस सूत्र का यह सब अर्थ निकल आता है। विशेष यह कहना है कि साधु अनुग्रह, दुर्जन दण्ड, स्वरूप न्याय की रक्षा के लिये दूसरी प्रतिमा तक यह व्रती निग्रह भी करता है, प्रमाद योग नहीं होने के कारण वे निग्रह कारक वचन सत्यव्रत में दूषण नहीं लगने देंगे, किंतु तीसरी प्रतिमा से ऊपर तो स्वपर संताप का कारण कोई भी वचन होगा वह असत्य ही समझा जायगा ऐसी ग्रन्थकार की आज्ञा है, हजारों लाखों में दो चार ही न्यायाधीश होते हैं, राजा की ओर से यह विभाग भी अहिंसा की ही रक्षा के लिये है किंतु जो संसार से उदासीन हैं अथवा महाव्रती मुनि हैं उनके लिये तो यह निरपवाद देशना है कि यथादृष्ट अर्थ को कह रहा भी वचन यदि स्व और पर के संताप का कारण है वह असत्य ही है और जो मिथ्या अर्थ को कह रहा भी यदि हिंसा आदि के निषेध में प्रवर्त्त रहा है वह वचन सर्वांग सत्य है, कारिका में कहे हुये स्वपद से स्वकीय कषायपुष्टि या इन्द्रिय संबन्धी भोगोपभोगों की अनुकूलता नहीं पकड़ना अन्यथा अत्याचारों की वृद्धि हो जायगी। जीवों को अत्याचारों से नहीं रोका जा सकेगा, सर्वत्र प्रमाद योग का रहस्य मनन करने योग्य है, अलं विचारशीलेभ्यः।

स्तेयं किमित्याह—

अब अनृत के अनंतर कहे गये स्तेय का लक्षण क्या है? ऐसी तत्त्व जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अदत्तादानं स्तेयं ॥१५॥

स्व के लिये नहीं दिये जा चुके पदार्थ का ग्रहण कर लेना स्तेय यानी चोरी है, यहां भी प्रमाद, योग की अनुवृत्ति हो रही है अतः देने लेने व्यवहार के योग्य पदार्थ को बिना दिये हुये ही प्रमाद योग से ग्रहण करना चोरी समझा जायगा॥

सर्वमदत्तमादानस्य स्तेयत्वकल्पनायां कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयित्वप्रसंग इति चेन्न, दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः, इच्छामात्रमिति चेन्न, अदत्तादानग्रहणात्। अदत्तस्यादानं स्तेयमित्युक्ते हि दानादानयोर्यत्र प्रवर्तनमस्ति तत्रैव स्तेयव्यवहार इत्यभिहितं भवति।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि नहीं दिये गये सभी पदार्थों के ग्रहण को यदि चोरी रूप से कल्पित किया जायगा तो दूसरों करके नहीं दिये गये आठ प्रकार के कर्मों या आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणास्वरूप नोकर्मों को ग्रहण कर अपने अधीन कर रहे अव्रती, अणुव्रती, महाव्रती, सभी जीवों के चोरी कर लेने सहितपन का प्रसंग आ जावेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्यों कि जिन ही रुपया, पैसा, वस्त्र, मणि, अन्न आदि में दान और ग्रहण की प्रवृत्ति के व्यवहार संभव रहे हैं उन रुपया आदि में ही अदत्त का ग्रहण कर लेने पर चोरी करने की उपपत्ति मानी गयी है। कर्म या नोकर्मों में देने लेने का व्यवहार ही नहीं है अतः अपना कटाक्ष उठा लो, अदत्त और आदान शब्द की शक्तियों पर लक्ष्य रक्खो, रूखे आक्षेपों का फेंकना उचित नहीं है। पुनः कोई बिना समझे कुचोद्य उठाता है कि सूत्रकार ने तो यों कहा नहीं है कि जिसमें देना लेना संभव होय वहाँ चोरी है। यह आप टीकाकार केवल अपनी इच्छा से स्वतंत्र व्याख्यान कर रहे हैं कि किसी का नहीं दिया हुआ देने योग्य तृणमात्र भी नहीं लेना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रकार ने अदत्तादान शब्द का ग्रहण किया है, अदत्त पदार्थ का ग्रहण कर लेना चोरी है, इस प्रकार कह चुकने पर जहाँ ही दान, आदान, की प्रवृत्ति होगी वहाँ ही चोरी का व्यवहार है यों उक्त सूत्र द्वारा तात्पर्य कह दिया गया हो जाता है। दाँत कुरेदने के लिये या पीठ के करप्राप्त्यशक्य स्थान को खुजाने के लिये किसी गृहस्थ की यदि तृण की आवश्यकता है तो वह उसी तृण को बिना दिये हुये ले सकता है जिसको कि सर्व साधारण अपने उपयोग में ला सकते हैं। अन्यथा प्रमाद योग हो जाने से तृण की चोरी समझी जायगी। मट्टी, जल, या वायु जहाँ बिखर रही हैं उनका ग्रहण करना [illegible] देने लेने के व्यवहार में आ रही हैं वहाँ अदत्त का आदान करने वाला अथवा नियत पुरुष के लिये चल रहे बिजली के पंखे की वायु को हड़पने वाला अपने अचौर्य व्रत की रक्षा नहीं कर सका है। प्रमादयोग ही पापों में डुबोता है।

तत्कर्मापि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयते इति चेन्न, तस्य हस्तादिग्रहणविसर्गासंभवात्। स एव कुत इति चेत्, सूक्ष्मत्वात्। कथं धर्मो मयास्मै दत्त इति व्यवहार इति चेत्, धर्मकारणस्यायतनादेर्दानात् कारणे कार्योपचाराद्धर्मस्य दानसिद्धेः। धर्मानुष्ठानात् मनःकरणात् वा तथा व्यवहारोपपत्तेरनुपालंभः।

तब तो आक्षेप कर्ता पुनः कहता है कि कर्म किसी के लिये भी नहीं दिये जाते हैं यह बात भी क्यों ग्रहण कर ली जावेगी ? लोक में प्रसिद्धि है कि वृक्षों के फल दूसरों के लिये जलसिंचन करके दिये जाते हैं। यह खिड़की हमको वायु दे रही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना क्योंकि हाथ, संकल्प, रजिस्टरी करके दे देना आदि व्यापारों से कर्मों का ग्रहण करना या दान करना असम्भव है। जैसे कि रुपया, वस्त्र, गाय, गृह, ग्राम आदि को हाथ आदि करणों करके दूसरों के लिये दे दिया जाता है तिस प्रकार हाथ आदि करके दूसरों के लिये कर्म नहीं दिये जाते हैं। यदि यहाँ कोई यों पूंछे कि हाथ आदि करके कर्म भी दिये लिये जांय। उन कर्मों के ग्रहण या विसर्ग का वह असंभव ही किस कारण से है ? बताओ। यों कहने पर तो जैनों की ओर से यह उत्तर है कि वे कर्म सूक्ष्म हैं हाथ आदि करके लेने देने योग्य नहीं हैं। "पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसयकम्म परमाणू" इनको "बादर बादरबादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च। सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं" माना गया है। कर्म सूक्ष्म होने से हाथों द्वारा पकड़े ही नहीं जाते हैं। यदि यहां कोई यों आपत्ति उठावे कि हाथ आदि करके जिसका ग्रहण या विसर्ग हो सकता है वही दान, आदान का व्यवहार माना जायगा तब तो मैंने इस

जीव के लिये धर्म दिया है यह व्यवहार किस प्रकार घटित किया जा सकेगा ? धर्म का तो वस्त्र आदि के समान देना, लेना, नहीं संभवता है। यों आपत्ति करने पर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि धर्म के कारण हो रहे मन्दिर, शास्त्र, पुस्तक, मंत्र उच्चारण, दीक्षा, आदि के देने से कारण में कार्य का उपचार हो जाने से धर्म का दान किया जाना सिद्ध हो जाता है । वस्तुतः धर्म तो उपकारी या उपकृत की आत्माओं में प्रविष्ट हो रहा है गुरु स्वयं अपने श्रुतज्ञान को या सर्वज्ञ अपने केवलज्ञान को दूसरों के लिये लवमात्र भी नहीं दे सकते हैं। हाँ क्षयोपशम को बढ़ाने वाले प्रधान कारणों की योजना कर देते हैं। यहां धर्म के कारणों को धर्म कह दिया गया है यह कारण में कार्य का उपचार है। धर्म के उपयोगी अनुष्ठान करा देने से अथवा धर्म में मन के कर देने से भी तिस प्रकार धर्म के देने का व्यवहार बन जाता है। अतः हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। जगत् में अनेक लाक्षणिक प्रयोग हो रहे देखे जाते हैं ।

कथमेवं कर्मणा जीवस्य बंधस्तद्योग्यपुद्गलादानलक्षणः सूत्रित इति चेत्, शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बंधः शरीरिणो न पुनः स्वहस्ताद्यादानतः तेषामात्मनि शुभाशुभपरिणामढौकनस्यैवादानशब्देन व्यपदेशात् ।

पुनरपि कोई चोद्य उठाता है कि यदि इस प्रकार कर्मों का दान, आदान ही नहीं माना जायगा तो कर्मों के साथ जीव का बंध किस प्रकार होगा ? जो कि "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः" इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने सूचित किया है कि कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना स्वरूप वह बंध है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां भी आदान का मुख्य अर्थ नहीं पकड़ा जाय; शरीरों में, आहारों में और शब्द आदि विषयों में राग द्वेषरूप परिणाम हो जाने से शरीरधारी आत्मा के साथ उन कर्मों का बंध हो जाता है किंतु फिर अपने हाथ, लिखित, आदि द्वारा आदान करने से उन कर्मों का आत्मा में ग्रहण नहीं हुआ है। आत्मा में प्रेरित होकर शुभ, अशुभ, परिणतियों के प्राप्त हो जाने को ही उन कर्मों का आदान इस शब्द करके व्यवहार कर दिया जाता है । अतः कर्मों का मुख्य आदान नहीं होता है ऐसी दशा में कर्मों का प्राप्त कर लेना चोरी नहीं कहा जा सकता है। बात यह है कि जहां ही इस लोक सम्बन्धी उपकार विशेष हो जाने से दान का अभिप्राय है वहां ही अदत्तादान की व्यवस्था अनुसार चोरी समझी जायगी अन्यत्र नहीं।

तर्हि शब्दादिविषयाणां रथ्याद्वारादीनां वादत्तानामादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, तदादायिनो यतेरप्रमत्तत्वात् तेषां सामान्येन जनैर्दत्तत्वाच्च ॥

पुनः कोई आपत्ति उठाता है कि तब तो किसी करके नहीं दिये जा चुके शब्द, रूप, गंध, आदि विषयों अथवा गली के द्वार, जिन मन्दिर प्रवेश, वसतिक प्राप्ति आदि का आदान कर लेने से मुनि महाराज के चोरी करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन शब्द आदि को ग्रहण कर रहे मुनि के प्रमादयोग नहीं है। उन शब्द आदिकों को सामान्य रूप से जीव साधारण के लिये मनुष्यों करके दिया जा चुका है। जो वस्तु सब के लिये दी जा चुकी है उसके ले लेने में चोरी नहीं है हाँ जो रहस्य के वा टेलीफोन के शब्द नियत व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किये गये हैं उनको चला कर सुन लेने में चोरी अवश्य है यही बात परदा वाली स्त्री के रूप देखने या गंधीगर विक्रेता करके नियत व्यक्ति को इत्र की गंध सुंघाने अथवा सेठ या राजा के नियत कोमल पलंग के छू लेने आदि में समझ लेनी चाहिये। यदि बिना प्रमादयोग के शब्द या रूप यों ही सुनने, देखने, में आजांय तो हम

क्या करें एतावता चोरी नहीं कही जा सकती है। सिनेमा, नाटक के दृश्य, गोप्यअंग इनके रूपों के देख लेने में भी प्रमादयोग हो जाने पर चोरी लग बैठेगी अन्यथा नहीं।

देववंदनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, उक्तत्वात् तत्र दानादानव्यवहारासंभवाद्धर्मकारणानुष्ठानादिग्रहणाद्धर्मग्रहणोपचाराद्वा तथा व्यवहारसिद्धेरिति। प्रमत्ताधिकारत्वादन्यत्राप्रसंगः स्तेयस्य। देववंदनादौ प्रमादाभावात्तन्निमित्तकस्य धर्मस्य परेणादत्तस्याप्यादाने कुतः स्तेयप्रसंगः? एतदेवाह—

यदि पुनः कोई कटाक्ष करे कि देव वंदना, तीर्थ यात्रा, जिन पूजन, स्तोत्र श्रवण आदि निमित्तों करके धर्म का ग्रहण करने से तो चोरी कर लेने का प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इसका उत्तर हम कह चुके हैं। वहाँ पुण्यप्राप्ति या धर्मलाभ में दान और आदान के व्यवहार का असम्भव है। धर्म के कारण हो रहे आयतन या धर्म के अनुष्ठान आदि का ग्रहण कर लेना होने से अथवा कारण में कार्य का उपचार कर धर्म ग्रहण के उपचार से तिस प्रकार धर्म के लेने के व्यवहार की सिद्धि हो जाती है। एक बात यह भी है कि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र से यहाँ प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है अतः अन्यत्र यानी जहाँ प्रमादयोग नहीं है वहाँ उसके ग्रहण कर लेने पर भी चोरी कर लेने का प्रसंग नहीं आता है। देव वंदना आदि में आत्मा का प्रमाद नहीं है अतः उन देववंदना आदि को निमित्त पाकर हुये धर्म को यद्यपि दूसरों ने दिया नहीं है तो भी उसके ग्रहण कर लेने में भला कैसे स्तेय का प्रसंग आ सकता है? अर्थात् नहीं। इस ही सिद्धान्त को ग्रन्थकार स्वयं वार्त्तिकों द्वारा स्फुट कह रहे हैं।

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तादानमात्मनः।
स्तेयं तत्सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरं ॥१॥
तेन सामान्यतो दत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकं ॥२॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबूफलादिकं।
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥३॥

देने और लेने योग्य अर्थों के विषय में हो रहा जो आत्मा के प्रमत्तयोग से अदत्त का आदान करना है वह सूत्रकार ने इस सूत्र में चौर्य कहा है। तिस कारण सामान्य रूप से सब के लिये दिये जा चुके नदी जल आदि को ग्रहण कर रहे श्रेष्ठ मुनि के चोरी का दोष नहीं लगेगा क्यों कि इनको लेने में प्रमाद की हानि है, यदि प्रमादयोग से नदी जल आदि को लिया जाता तो चोरी लग बैठती। नियत व्यक्तियों के स्वामित्व को पा रहे नदी जल, कुल्याजल, को ले लेने से चोरी हो ही जाती है। किसी अनुपाय विशेष अवस्था में मुनि के लिये नदी, झरना, बावड़ी आदि के जल को ले लेने का विधान होगा। इसी प्रकार बहिरंग शुद्धि के लिये सूखे अरणा गोबर के टुकड़े को ग्रहण करने का भी विधान क्वचित् होगा। भस्म, मट्टी आदि भी लिये जा सकते हैं अथवा मयूर या किसानों द्वारा स्वयमेव छोड़ दिये गये पिच्छ, तुम्बी फल, शिलापट्ट आदिक पदार्थ भी ले लिये जाँय तो चोरी नहीं है किन्तु ये सब प्रासुक यानी जीव रहित होने चाहिये। सचित्त हो रहे जल, गोबर, पिच्छ, तुम्बी, मट्टी, तृण आदि को मुनि नहीं ले सकते हैं।

विशेष यह कहना है कि कदाचित् कमण्डलु में प्रासुक जल न रहे या दूसरे मुनि की समाधिमरण क्रिया के लिये अथवा अपनी शारीरिक शुद्धि के लिये इन पदार्थों की आवश्यकता पड़े तो शून्य स्थान में पड़े हुये इन प्रासुक हो चुके पदार्थों को मुनि ले सकते हैं यह आचार शास्त्र का उपदेश कादाचित्क और क्वाचित्क है सार्वदिक नहीं। कंकड़, पत्थरों से आस्फालित हुआ या वायु, घाम, आदि से अनेक बार छूया गया बहुत जल केवल अंग शुद्धि के लिये क्वचित् प्रासुक मान लिया गया है, पीने के लिये नहीं। इसी प्रकार सूखा गोबर भी मात्र भूशुद्धि या उपाङ्गशुद्धि के लिये उपयोगी ले लिया गया है अन्य धार्मिक क्रियाओं में गोबर को शुद्ध नहीं मान लेना चाहिये। अनेक मनुष्य तो कंडों की सिकी बाटियों, रोटियों, को नहीं खाते हैं। गोबर पंचेन्द्रिय का मल ही तो है, अनेक सन्मूर्छन त्रस जीवों का योनिस्थान है। जैन शास्त्रों में प्रमादवश बहुत सा भ्रष्टसाहित्य घुस पड़ा है अतः कितने ही भोले पण्डित उन-उन ग्रन्थों का प्रमाण देकर गोमय को शुद्ध मानने का घोर प्रयत्न करते हैं। वैष्णवों का सहवास रहने से ईश्वरवाद की गंध या गोबर गोमूत्र की पवित्रता भी जैनों में बिना बुलाये घुस पड़ी है। बुंदेलखण्ड, राजपूताना, आगरा प्रान्त आदि के अनेक वैष्णव ब्राह्मण और वैश्य मांस का भक्षण नहीं करते हैं। पूर्वदेशीय शाक्त पंडित यदि वेदों का प्रमाण दे देकर उनको मांसभक्षण की ओर प्रेरित करें तो भी वे उनके उपदेश को अग्राह्य समझते हैं। इसी प्रकार दक्षिण देश के कतिपय पण्डित कई शास्त्रों का प्रमाण देकर उत्तर प्रांत वाले या मध्य प्रान्त वाले अनेक तेरह पंथी जैनों को गोमय की पवित्रता मनवाने के लिये झुकाते हैं किंतु पद्मावतीपुरवाल, परवार बहुभाग खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि जातियों में सैकड़ों, हजारों, वर्षों से गोमय को धार्मिक क्रियाओं में नहीं लिया गया है। आम्नाय भी कोई शक्तिशाली पदार्थ है। आचार्यों ने भी सर्वज्ञ भाषित अर्थ को चली आई आम्नाय अनुसार ही शास्त्रों में लिखा है। अतः शास्त्र भी आम्नाय की भित्तिपर डटे हुये हैं। कुलों जातियों या मनुष्य समुदायों में जो क्रिया आम्नाय अनुसार चली आ रही है उन अच्छी क्रियाओं से जनता को च्युत कर भ्रष्ट चारित्र पर झुका देना जैन विद्वानों का कर्तव्य नहीं होना चाहिये। नय विवक्षाओं से जैन ग्रन्थों की कथनी को समझ कर उसके अन्तस्तल पर पहुंच रहा पंडित ही विचार-शाली कहा जायगा। राजाओं या लौकिक परिस्थितियों के वश कितने ही जैन मंदिरों में अजैन देवों की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित हो गयी हैं। कहीं-कहीं तो वीतराग जिन मूर्त्तियों के सन्मुख जीव हिंसा तक निंद्य कर्म होते हैं। क्वचित् जिन मन्दिरों को छीन कर शैवमन्दिर या वैष्णव मन्दिर, मस्जिद भी बना डाला गया है। इस जैनों की निर्बलता का भी क्या कोई ठिकाना है। इतिहास प्रमाण और अनुमान प्रमाण बतलाते हैं कि जैनों के ऊपर बड़े-बड़े घोर संकट के अवसर आ चुके हैं। ग्रन्थों में निकृष्ट साहित्य का घुस जाना इन्हीं धार्मिक क्रांतियों का परिणाम है। "आदौ देवं परीक्षेत" इसी के समान ग्रन्थों की भी परीक्षा कर आगम प्रामाण्य मानना समुचित है। चाहे किसी भी आचार्य का नाम दे कर गढ़ लिये गये चाहे जिस ग्रन्थ को आँख मीच कर प्रमाण मान लेना परीक्षाप्रधानी का कर्तव्य नहीं है। इस ग्रन्थ के आदि भाग में तार्किक शिरोमणि श्री विद्यानंद स्वामी ने परीक्षाप्रधानिता को पुष्ट किया है। प्रकरण में यह कहना है कि प्रमाद योग नहीं होने से प्रासुक नदी जल आदि का ग्रहण करना चोरी नहीं है।

अथ किमब्रह्मेत्याह—

हिंसा, झूंठ, चोरी इन तीन पापों का लक्षण कहा जा चुका है। अब चौथे अब्रह्म नामक पाप का लक्षण क्या है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र का निरूपण करते हैं।

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर राग परिणति में आसक्त हुये स्त्री और पुरुष की परस्पर स्पर्श करने के लिए इच्छा करना मिथुन है और मिथुन का कर्म मैथुन तो अब्रह्म कहा जाता है। स्त्री और पुरुष की इच्छा उपलक्षण है नपुंसक जीवों के भी माया, लोभ, रति, हास्य, वेद, इन चारित्र मोहनीय कर्मों का उदय या उदीरणा हो जाने पर मैथुनाभिलाषायें उपजती हैं जो कि इष्ट पाक की अग्नि के समान तीव्र वेदना को लिये हुये हैं। कोई कोई पण्डित नपुंसकों को स्त्री नपुंसक या पुरुष नपुंसक यों गिना कर पुरुषों या स्त्रियों में ही गर्भित कर लेते हैं। अतः प्रमादयोग से स्त्री, पुरुष, नपुंसक जीवों के रमण करने की अभिलाषा प्रयुक्त हुआ व्यापार मैथुन समझा जायगा। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भी अपने अपने इन्द्रियजनित भोगों की अभिलाषा की अपेक्षा मैथुन मान लेना चाहिये अन्यथा पांचवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों में पायी जाने वाली मैथुन संज्ञा के अभाव हो जाने का उन में प्रसंग आवेगा। एकेन्द्रिय, विकलत्रिय, असंज्ञी जीव या सम्मूर्छनपंचेन्द्रिय तिर्यंच भी मैथुन पाप में आसक्त हो रहे हैं।

मिथुनस्य भावो मैथुनमिति चेन्न, द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगात्। मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न, पच्यादिक्रियाप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रश्लेषे रागपरिणामो मैथुनमिति चेन्न, एकस्मिन्नप्रसंगात्। उपचारादिति चेन्न, मुख्यफलाभावप्रसंगात्। ततो न मैथुनशब्दादिष्टार्थसंप्रत्यय इति कश्चित्॥

यहाँ कोई (कश्चित्) आचार्य महाराज से मैथुन शब्द का अथ कराने के लिये चोद्य उठा रहा है कि प्रथम ही यदि यहाँ कोई मैथुन का यों अर्थ करे कि—मिथुन यानी स्त्री पुरुष दोनों या अन्य कोई दोनों पदार्थों का जो भाव है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो चाहे किन्हीं भी दोनों द्रव्यों के परिणाम होने मात्र का प्रसंग आ जावेगा। उदासीन अवस्था में बैठे हुये राग रहित दोनों स्त्री, पुरुषों की कन्याविवाह चिन्ता, भोजन, वस्त्रचिंता, मुनिदान विचार आदि को भी मैथुन हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। जो कि इष्ट नहीं है। पुनः कोई चोद्य उठाता है कि मिथुन का कर्म मैथुन कह दिया जाय। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मंतव्य भी तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि दो पुरुषों कर के बनाने योग्य किसी भी क्रिया विशेष को मैथुन हो जाने का प्रसंग आवेगा। क्वचित् दो विद्यार्थी मिल कर पाठ लगा रहे हैं, दो कहार डोली को ढो रहे हैं, दो मल्ल लड़ रहे हैं, स्त्री, पुरुष, दोनों धर्म चर्चा कर रहे हैं, ये क्रियायें तो मैथुन नहीं हैं। पुनः कोई सम्हल कर आक्षेप करता है कि स्त्री और पुरुष का जो कर्म है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य समझाते हैं कि यह तो ठीक नहीं है क्योंकि स्त्री और पुरुष यदि मिलकर कदाचित् या यात्रा में रसोई बनाते हैं, दोनों देव वंदना करते हैं, तीर्थ यात्रा करते हैं, यों पाक करना आदि क्रियायें भी मैथुन हो जावेंगी जो कि मैथुन नहीं मानी गयी हैं। पुनरपि कोई अपनी पण्डिताई दिखलाता हुआ व्याकरण की निरुक्ति अनुसार मैथुन का लक्षण करता है कि स्त्री और पुरुषों का परस्पर में शरीर का गाढ आलिंगन होते संते जो राग परिणति हुई है वह मैथुन है। कश्चित् पंडित या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं, कारण कि अव्याप्ति दोष है अकेले स्त्री या पुरुष में मैथुन परिणाम नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा अर्थात् जब कि हाथ, पांव या अन्य पुद्गलों के संघट्ट आदि करके कुशील सेव रहे या खोटे भाव कर रहे अकेले पुरुष अथवा स्त्री में भी मैथुन परिणाम इष्ट किया गया है वह मैथुन सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि इस पर कोई यों समाधान करे कि जिस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जाने पर कामवेदना से पीडित हो रहे

स्त्री पुरुष दोनों का कर्म मैथुन है तिस प्रकार अन्तरंग में चारित्र मोहनीय की उदीरणा होने पर और बहिरंग में हस्त आदि द्वारा संघर्षण करने पर अकेले पुरुष या स्त्री के भी उपचार से मैथुन होना बन जावेगा। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अकेले अकेले में उपचार से मैथुन मान लेने पर मुख्यफल के अभाव का प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् जैसे बालक में सिंह का उपचार करने पर मुख्य सिंह में पायी जा रही क्रूरता, शूरता, बलाढ्यता, चंचलता आदि की प्रवृत्ति नहीं है उसी प्रकार मुख्य रूप से दोनों में ही पाई जा रही रागपरिणति को यदि एक में भी उपचार से धरा जायगा तो अब्रह्म हेतुक आ रहे तीव्र कर्मों का बंध नहीं हो सकेगा। उपचार की राग परिणति कर्मबंध नहीं कराती है। तिस कारण अब तक किसी भी ढंग करके मैथुन शब्द से अभीष्ट अर्थ की समीचीन प्रतीति नहीं हो सकी है। यहाँ तक कोई आक्षेप पूर्वक चोद्य कर रहा है।

तत्प्रतिक्षेपार्थमुच्यते–न च स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभिधानादेकस्य द्वितीयत्वोपपत्तौ मिथुनत्वसिद्धेः, प्रसिद्धिवशाद्वार्थप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चानवद्यत्वात् सिद्धो मैथुनशब्दार्थः।

उस कश्चित् के आक्षेप का निराकरणपूर्वकपक्ष के अलिये ग्रन्थकारकहुविद्यानन्दकरके कहा जाता है कि उक्त आक्षेप उठाना ठीक नहीं हैं क्योंकि स्त्री और पुरुष का परस्पर शरीरालिंगन होने पर राग परिणति होना मैथुन है यह लक्षण अच्छा है। स्पर्शवान् द्रव्यों के संयोग को विशेषतारहित कहा गया है इस कारण अकेले को भी द्वितीयपन की सिद्धि हो जाने पर मिथुनपना सिद्ध है। वैशेषिक तो दो आदि में रहने वाले संयोग, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, आदि पर्याप्त गुणों को एक ही मान लेते हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, काल, आकाश, आत्मा इन द्रव्यों के संयोग न्यारे न्यारे माने गये हैं जैसे दो पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से वर्त्त रहीं न्यारी न्यारी दो द्वित्व संख्यायें हैं। आकाश और आत्मा इन विजातीयद्रव्यों का संयोग धर्म एक नहीं हो सकता है। परिशेष में जाकर वे दो ही संयोग सिद्ध होंगे किंतु उनमें कोई विशेषता नहीं है हाँ संसारी जीव और उसके साथ भिड़ गये पुद्गलों का अथवा अशुद्ध पुद्गल पुद्गलों का जब तक संयोग है तब तक वे अनेक ही संयोग मानने पड़ेंगे। बंध हो जाने पर एकत्व परिणति हो जाती है जो कि संयोग परिणाम से निराली है। प्रकरण में यह कहना है कि स्त्री पुरुष में से अकेले को भी स्पर्शजन्य आभिमानिक सुख तुल्य है। अतः अकेले में भी मैथुन शब्द की मुख्य रूप से ही प्रवृत्ति है और राग, द्वेष, मोह, परिणतियों अनुसार प्रत्येक को कर्मों का बंध हो जाता है। लोक और शास्त्र में जो प्रसिद्धि हो रही है उसके वश से मैथुन शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाती है इस कारण पहिले कहे जा चुके सभी मैथुन शब्द के अर्थ निर्दोष हैं। इस प्रकार मैथुन शब्द का अर्थ सिद्ध हो चुका है। अर्थात् लोक में तो बाल गोपाल आदि सभी जन स्त्री पुरुषों की रति क्रिया को मैथुन कह रहे हैं। व्याकरणशास्त्र में भी "अश्वस्यति वडवा, वृषस्यति गौः" इन प्रयोगों को" "अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायां" इस सूत्र से सिद्ध किया है। अन्य शास्त्रों में भी मैथुन का अर्थ स्त्री पुरुष विषयक रति ही पकड़ी जाती है। मिथुन का भाव मैथुन, मिथुन का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषों का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषों का परस्पर शरीर संसर्ग होने पर राग परिणाम मैथुन, ये सब लक्षण दोष रहित हैं। देखिये सबसे पहिले जो यह कहा था कि मिथुन का भाव मैथुन तो ठीक नहीं क्योंकि दो द्रव्यों के भवनमात्र का प्रसंग आ जावेगा यह कहना प्रशस्त नहीं है क्योंकि अंतरंग परिणाम नहीं होने पर बाह्य हेतु निष्फल हो जाते हैं। जैसे कि कंकड़ चने, टोरा, उर्दटोरा मौंठ, कुदित्ती आदि के अभ्यन्तर में पाकविक्लेदन शक्ति के न होने पर बहिरंग अग्नि, जल का संबन्ध व्यर्थ हो जाता है। तिसी प्रकार अभ्यन्तर चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले स्त्री के पुरुषरमण भाव और पुरुष के स्त्रीरमण में भाव यदि नहीं हैं तो बाह्य

दो द्रव्यों के होते हुये भी मैथुन नहीं कहा जा सकता है। अतः मिथुन का भाव मैथुन है यह लक्षण बुरा नहीं है दूसरा लक्षण जो मिथुन का कर्म मैथुन कहा था वह भी अच्छा है। दो पुरुषों की भार वहन, पानी खेंचना आदि क्रिया विशेष को मैथुन का प्रसंग नहीं आ सकता है क्योंकि वहां अन्तरंग कारण चारित्र मोह की उदीरणा नहीं है हां चारित्र मोह का प्रबल उदय होने पर दो पुरुष या दो लड़के अथवा दो पुरुष, पशु भी यदि कोई राग क्रिया करेंगे तो वह मैथुन समझा जायगा। तीसरा भी जो स्त्री पुरुषों का कर्म मैथुन कहा गया था वह लक्षण भी चोखा है। रसोई पाक आदि तो फिर अन्य करके भी किये जा सकते हैं अतः स्त्री पुरुषों की रति विषयक क्रिया मैथुन कही जा सकती है कोई बाधा नहीं है। सबसे बढ़िया बात यह है कि प्रमत्त जीव की ही मिथुन चित्तवृत्ति होती है अतः चारित्र मोह के उदय से प्रमत्त हो रहे केवल स्त्री का या पुरुष का अथवा दोनों का यहां तक कि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का भी जो रति स्वरूप परिणाम है वह मैथुन है। यह सिद्ध हुआ॥

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म तद्विपरीतमब्रह्म तच्च मैथुनमिति प्रतिपत्तव्यं रूढिवशात्। ततो न प्राणव्यपरोपणादीनां ब्रह्मविपरीतत्वेऽप्यब्रह्मत्वप्रसिद्धिः। तदिदमब्रह्म प्रमत्तस्यैव संभवतीत्याह;—

"बृहि वृद्धौ" धातु से ब्रह्म शब्द बनाया है। अहिंसा, सत्य, आदिक गुणों की वृद्धि कर देने से ब्रह्म नाम का व्रत कहा जाता है। उस ब्रह्म से जो विपरीत है यह अब्रह्म है और यों रूढि के वश से वह मैथुन परिणाम हुआ इस प्रकार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। तिस कारण प्राणों का वियोग करना, असत्य बोलना, जुआ खेलना आदि पाप क्रियाओं को यद्यपि ब्रह्म से विपरीतपना है तो भी रूढि का आश्रय लेने से अब्रह्मपने की प्रसिद्धि नहीं है। अर्थात् 'गच्छति इति गौः' यों यौगिक अर्थ का अवलंब लेने पर मनुष्य, घोड़ा, रेलगाड़ी, वायु आदि भी गौ हो सकती है और नहीं चल रहीं गाय या पृथिवी तो गौ नहीं हो सकेगी किंतु "योगाद्रूढिर्बलीयसी" इस नियम अनुसार बलवती रूढि का आश्रय करने पर गौः शब्द पशु में ही प्रवर्त्तता है या वाणी, पृथ्वी, दिशा आदि दश अर्थों में भी प्रवर्त्त जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी अब्रह्म शब्द कुशील में रूढ है अतः हिंसा, झूंठ आदि की निवृत्ति हो जाती है। तिस कारण यों सिद्ध हो चुका यह अब्रह्म नाम का पाप तो प्रमादी जीव के ही संभवता है प्रमाद रहित जीव के नहीं इस सिद्धांत को पुष्ट करते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं। इसको ध्यान लगा कर समझ लीजियेगा।

तथा मैथुनमब्रह्म प्रमत्तस्यैव तत्पुनः।
प्रमादरहितानां हि जातुचित्तदसंभवः॥५॥

जिस प्रकार हिंसा, अनृत आदिक पाप क्रियायें प्रमत्त जीव के ही हो रही मानी गयी हैं तिसी प्रकार वह अब्रह्म यानी कुशील सेवन भी फिर प्रमादी जीव के ही संभवता है। कारण कि प्रमाद रहित जीवों के कदाचित् भी उस अब्रह्म के होने का असंभव है॥

न हि यथा प्रमादाभावेपि कस्यचित् संयतात्मनः प्राणव्यपरोपणादिकं संभवति तथा मैथुनमपि, तस्य प्रमादसद्भाव एव भावात्। वरांगनालिंगनमात्रप्रमत्तस्यापि भवतीति चेन्न, तस्य मैथुनत्वाप्रसिद्धेः पुत्रस्य मात्रालिंगनवत्।

जिस प्रकार कषाय, इन्द्रियलोलुपता आदि प्रमादों का अभाव होते संते किसी भी संयमी जीव

के प्राणव्यपरोपणस्वरूप हिंसा, अनृत आदिक पाप नहीं संभवते हैं तिसी प्रकार मैथुन भी प्रमाद नहीं होने पर किसी के नहीं संभवता है क्यों कि उस मैथुन की प्रमाद का सद्भाव होने पर ही उत्पत्ति मानी गयी है। तीव्र अनुभाग वाली पाप क्रियाओं का प्रमाद के साथ अन्वयव्यतिरेक है "प्रमादाभावेऽपि" यहाँ अपि शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा यों अर्थ कर लिया जाय कि भले ही संयमी मुनि करके किसी जीव का प्राणवियोग भी कर दिया जाय तथापि प्रमाद नहीं होने पर मुनि को हिंसा नहीं लगती है यों अपि का प्राणव्यपरोपणादिक के साथ व्युत्क्रम से अन्वय किया जायगा। यहाँ कोई कुचोद्य उठाता है कि तीर्थ यात्रा, मेला, पंचकल्याणक आदि में भीड़ के अवसर पर सुन्दर स्त्रियों का केवल आलिंगन हो जाना तो प्रमाद रहित मुनियों के भी संभव जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चारित्र-मोह का उदय हुये विना उस आलिंगन मात्र को मैथुनपने की जब लोक में भी प्रसिद्धि नहीं है तो शास्त्र में आत्म संक्लेश स्वरूप कुशील तो वह कैसे भी प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि पुत्र का माता के साथ आलिंगन करना कुशील नहीं माना गया है "येनैवालिंग्यते कान्ता तेनैवालिंग्यते सुता, मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः" इस नीति का लक्ष्य रखना चाहिये अतः मात्र अंगना के अंग का आलिंगन हो जाने से अप्रमत्त मुनि के कुशील सेवन का प्रसंग नहीं आ सकता है।

स्पर्शनमैथुनदर्शनादि वा केषांचित् प्रसिद्धमिति चेन्न, तस्य रिरंसापूर्वकस्योपगमात्। न च संयतस्यांगनालिंगितस्यापि रिरंसास्ति, असंयतत्वप्रसंगात्। तदंगनाया रिरंसास्तीति चेत् तस्या एव मैथुनमस्तु लेपमयपुरुषालिंगनवत्। प्रायश्चित्तोपदेशस्तत्र कथमिति चेत्, तस्यापि प्रसंगनिवृत्त्यर्थत्वात्। विस्रब्धालोकनादावपि तदुपदेशस्याविरोधात्॥

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि किन्हीं-किन्हीं संयमी जीवों के अंगना स्पर्शन करना या मैथुन-दर्शन करना आदि प्रसिद्ध हो रहे हैं। स्त्री परीषह को जीत रहे किसी मुनि के उपसर्ग के अवसर ऐसी समस्या हो सकती है। अर्थात् किन्हीं किन्हीं मतावलंबियों के यहाँ स्पर्शन करना, मैथुन क्रिया को देखना आदिक प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन स्पर्श करना या मैथुन देखना अथवा हाव, नर्म, आदिक परिणतियों का रमण करने की अभिलाषापूर्वक ही होना स्वीकार किया गया है 'रंतुं' इच्छा रिरंसा, पहिले स्त्री या पुरुष के रमण करने के लिये अभिलाषा होती है पुनः रागपूर्ण स्पर्शन, मैथुन दर्शन, आदिक हो सकते हैं। कितने ही मनुष्य कबूतरों को पालते हैं उनकी कामचेष्टाओं को देखते हैं। अन्य पशु, पक्षियों की लीलाओं को देख कर प्रसन्न होते हैं। ये सब क्रियायें रिरंसापूर्वक हैं किंतु अंगनाओं करके गाढ़ आलिंगन किये जा चुके भी उपसर्ग प्राप्त संयमी मुनि के रमण अभिलाषा नहीं है। रमण अभिलाषा हो जाने पर मुनिव्रत रक्षित नहीं हो सकता है। असंयमीपने का प्रसंग आ जावेगा। अतः संयमियों के रिरंसापूर्वक स्पर्शन आदिक कभी नहीं संभवते हैं। कदाचित् स्त्रीपरीषह जय कर रहे मुनिको यदि अंगनायें आलिंगन भी कर लेवें तो भी मुनि महाराज के रमण अभिलाषा नहीं है। घोर उपसर्ग सहते हुये वे उस समय आत्मध्यान में एकाग्र रहे आते हैं। भले ही एक नहीं चार स्त्रियां उनको आलिंगन करती रहें संयमी के अणुमात्र रिरंसा नहीं उपजती है। यदि यहां कोई यों विक्षेप करे कि मुनि के साथ आलिंगन कर रही उस अंगना की तो रिरंसा है ही। अतः मैथुन समझ लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो उस रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। जैसे कि काष्ठ, पाषाण, गूदड़ा, रबड़ आदि के बने हुये जड़ पुरुष, मूर्त्ति या लेपमय पुरुष के साथ आलिंगन करने पर उस अंगना के ही कुशील करने का प्रसंग आता है। जड़, मूर्ति या चित्र के नहीं। उसी प्रकार उपल समझ कर मृगों करके स्वशरीर

की खाज मिटाने के अवलंब हो रहे संयमी साधु के शरीरको रति पूर्वक गाढ आलिंगन कर रही रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। सुदर्शन सेठ का मदोन्मत्त कामग्रस्त रानी ने आलिंगन किया एतावता सेठ को रागी नहीं कहा जा सकता है वह रानी ही व्यभिचारिणी समझी गयी। अतः अंगना से आलिंगित हो रहे मुनि को अणुमात्र पाप नहीं लगता है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि पुनः उस दशा में मुनि महाराज के लिये प्रायश्चित्त करने का उपदेश क्यों दिया गया है? जिसका मुनि को पाप ही नहीं लगता तो अंगना के चुपट जाने पर उनको प्रायश्चित्त नहीं लेना चाहिये था। यों कहने पर तो तो ग्रन्थकार कहते हैं कि वह प्रायश्चित्त का उपदेश भी प्रसंग की निवृत्ति कराने के लिये है। प्रायश्चित्त को देने वाले आचार्य उन संयमी जितेन्द्रिय मुनि को उपदेश देते हैं कि तुम ऐसे प्रसंग को टाल दो जहां कि स्त्रियां आकर बाधा दे सकें। तुमको इसका प्रायश्चित्त देकर आगे के लिए सूचित किया जाता है कि स्त्री-पशु, पक्षी जहां उपद्रव मचावें ऐसे प्रसंगों का निवारण कर दिया करो। प्रायः देखा जाता है कि सुन्दर स्त्रियों को देखकर जैसे कामी पुरुष अनेक कुचेष्टायें करते हैं उसी प्रकार अभिरूप पुरुषों को देखकर कमनीय कामिनियां उनको उपद्रुत करती हैं। बलभद्र, कामदेव, चक्रवर्ती आदिक यदि मुनि भी हो जाते हैं तो भी वे अत्यधिक सुन्दर जचते हैं। वसुदेव की कथा का स्मरण कीजिये। ऐसी दशा में चलचित्त अंगनायें उनको अपनी मनःकामना पूर्ण करने के लिये डिगाती हैं किन्तु "किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्" अडिग्ग मुनि आत्मध्यान से अविभाग प्रतिच्छेदमात्र भी नहीं चलायमान होते हैं फिर भी ऐसे ऐसे प्रसंगों का निवारण करने के लिये मुनि को प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। विश्वास पूर्वक आलोकन हाव, विलास, शृंगार, प्रार्थना आदि में भी उस प्रायश्चित्त विधान के उपदेश करने का कोई विरोध नहीं है अर्थात् किसी संयमी को स्त्रियां, यदि विश्वस्त आलोकन करें या शृंगार प्रार्थना के लिये काम चेष्टा पूर्वक अवलोकन करें तो ऐसी दशा में भी मुनि को ऐसे प्रसंगों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। यहां यह भी विशेष कह देना है कि वीर्य संसर्ग या अङ्गस्पर्श से स्त्रियों की आत्मा में नैमित्तिक कुत्सित परिणाम अवश्य उपज जाते हैं अतः बलात्कार दशा में स्त्रियों के रिरंसा नहीं होते हुये भी स्त्रियों के विषय में उक्त सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता है॥

कः पुनः परिग्रह इत्याह;—

हिंसा आदिक चार पापों के विशेष लक्षण समझ लिये हैं। अब पांचवें परिग्रह का लक्षण फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्त्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥

चेतन, अचेतन बहिरंग परिग्रहों में और राग आदि अन्तरंग परिग्रहों में जो मूर्छा यानी गृद्धिविशेष है वह परिग्रह है॥

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारस्येति चेन्न, विशेषितत्वात्, तस्याः सकलसंगरहितेऽपि यतौ प्रसंगात्। बाह्यस्यापरिग्रहत्वप्रसंग इति चेन्न, आध्यात्मिकप्रधानत्वात् मूर्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेशात्।

गाय, भैंस, घोड़ा आदि बहिरंग चेतन परिग्रह और वस्त्र, मोती, भूषण, गृह, आदि अचेतन बहिरंग परिग्रह तथा राग आदिक अन्तरंग परिग्रहों के समीचीन रक्षण, उपार्जन या राग आदि अनुसार

तीव्र इच्छाओं के संस्कार आदि व्यापार करना मूर्च्छा है जो कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पयत जीवों के परिग्रह संज्ञा पायी जाती है। यहाँ कोई वैद्यक विषय की छटा दिखा रहा आक्षेप करता है कि जिस जीव के वात, पित्त, और कफ का विकार हो गया है उसके मूर्छा पायी जाती है। उन्माद, मृगी, सन्निपात आदि रोगों में मूर्छा हो जाती है "क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः। वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः॥ करणायतनेपूग्राः बाह्येष्वाभ्यंतरेषु च। निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्छन्ति मानवाः॥ संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥ सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्। मोहो मूर्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥ बातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च। षट्स्वप्येतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते" ॥ इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि मूर्छा में विशेष कर दिया गया है "मूर्छा मोहसमुच्छाययोः"।इस धातु से बना मूर्छा शब्द सामान्य रूप से मोह में वर्त्त रहा है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों के रक्षण, वर्द्धन, आदि में हुये "ममेदंभाव" को मूर्छा कहा गया है। सामान्य वाचक शब्द अवसर अनुसार विशेष अर्थों में प्रयुक्त कर लिये जाते हैं। यदि मूर्छा पद से वात, पित्त, कफों के विकार से उपजी मूर्छा पकड़ी जायगी ऐसी मूर्छा का तो सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित हो रहे मुनियों में भी प्रसंग है। पूर्व संचित कर्मों के अनुसार तीव्ररोग हो जाने पर मुनियों के भी वह वात, पित्त, कफ जन्य मूर्छा हो सकती है। किन्तु मुनि के अन्तरंग, बहिरंग परिग्रहों की अभिकांक्षा स्वरूप मूर्छा कदाचित् नहीं पायी जाती है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करै कि यों अभिकांक्षा स्वरूप आमीय गृद्धि को यदि परिग्रह कहा जाय तो राग आदि अन्तरंग परिणाम तो परिग्रह हो जायंगे किन्तु बहिरंग क्षेत्र, प्रासाद, आदिक चेतन अचेतन पदार्थों को परिग्रहपना नहीं हो सकने का प्रसंग आ जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो प्रसंग नहीं उठाना क्योंकि मूर्छा पद करके आध्यात्मिक राग आदि परिग्रह पकड़े जाते हैं। अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान हैं। मूर्छा के कारण होने से बाह्य क्षेत्र आदि को मूर्छा का व्यपदेश कर दिया गया है जैसे कि प्राण के कारण हो रहे अन्न को प्राण कह दिया जाता है। यदि अन्तरंग में मूर्छा नहीं हैं तो बहिरंग क्षेत्र, धन, वस्त्र, आदि के होते हुये भी परिग्रही नहीं है। किसी अज्ञानी जीव करके वस्त्र या कम्बल द्वारा उपसर्ग को प्राप्त हो रहे मुनि परिग्रही नहीं हैं। ध्यानारूढ़ मुनि महाराज के निकट कोई चोर यदि भूषणों का ढेर लगा दे एतावता मुनि परिग्रही नहीं बन जाते हैं। उदासीन चक्रवर्ती उतना मूर्छावान् नहीं हैं जितना कि अर्जन, रक्षण आदि की अभिकांक्षायें कर रहा स्मश्रुनवनीत परिग्रही है। अतः आध्यात्मिक यानी अन्तरंग परिग्रह के होने पर ही बहिरंग परिग्रहों को मूर्छापन का मात्र व्यवहार है।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु प्रसंगः परिग्रहस्येति चेन्न, प्रमत्तयोगाधिकारात्। ततः सूक्तं मूर्छा परिग्रहः प्रमत्तयोगादिति।

यहाँ आशंका और उत्पन्न होती है कि आत्मा में पाये जा रहे राग आदि परिणामों को यदि परिग्रह कहा जायगा तब तो ज्ञान, दर्शन, और चारित्रगुणों में भी परिग्रह हो जाने का प्रसंग आवेगा। ज्ञानादिक तो बहुत अच्छे प्रकारों से आध्यात्मिक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र से प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्रों को धार रहे जीवों के प्रमाद योग नहीं हैं तिस कारण मूर्छा नहीं होने से ज्ञान आदि के परिग्रहपना घटित नहीं होता है। एक बात यह भी है कि आत्मा के तदात्मक स्वभाव होने के कारण ज्ञानादिक त्यागने योग्य नहीं हैं। हाँ रागादिक तो कर्मोदय के अधीन हैं अतः आत्मीयस्वभाव नहीं होने के कारण उन रागादिकों में "मेरे ये" ऐसा संकल्प स्वरूप परिग्रहपना बन जाता है यों सूत्रकारने बहुत अच्छा कहा था कि प्रमादके

योग से मूर्छा परिणाम परिग्रह है।

तन्मूलाः सर्वदोषानुषंगाः। यथा चामी परिग्रहमूलास्तथा। हिंसादिमूला अपि हिंसादीनां पंचानामपि परस्परमविनाभावात्॥ तदेवाह;—

उस परिग्रह को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, जुआ आदि दोषों का प्रसंग आ जाता है। परिग्रही जीव हिंसा करता है, झूंठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवता है, द्यूत कीड़ा में प्रवर्त्तता है। "लोभ पाप का बाप बखाना" ऐसी लोक प्रसिद्धि भी है। जिस प्रकार वे सम्पूर्ण दोष इस परिग्रह को मूल मान कर एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार हिंसा आदि मूल मान कर भी अन्य सभी दोष समुदित हो जाते हैं। क्यों कि हिंसा आदिक पाँचों भी पापों का परस्पर में अविनाभाव हो रहा है। अर्थात् एक बढ़िया गुण के साथ जैसे दश गुण अन्य भी लगे रहते हैं। उत्तम क्षमा को धारने वाला उत्तम मार्दव, आर्जव, आदि को भी थोड़ा बहुत अवश्य पालता है। इसी प्रकार एक प्रधान दोष के साथ अन्य कतिपय दोष लग ही बैठते हैं। एक गुण्डे व्यसनी धनाढय के साथ चार गुण्डे अन्य भी लग जाते हैं। "गुणाः गुणज्ञेषु गुणीभवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः, सुस्वादु तोयं प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः" "व्यालाश्रयापि विफलापि सकंटकापि वक्रापि पंकजभवापि दुरासदापि, एकेन बंधुरसि केतकि सर्वजन्तोः एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषं॥२॥" "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः" इत्यादि नीति उक्तियाँ विचारणीय हैं। एक बड़ी आपत्ति में जैसे छोटी छोटी आपत्तियाँ लगी रहती हैं। एक महान् रोग के साथ क्षुद्र रोग पड़ जाते हैं उसी ढंग से हिंसा आदिक पापों में से किसी भी एक पाप का उद्रेक हो जाने पर उसके अविनाभावी अन्य पाप भी संग लग बैठते हैं। उस ही सिद्धान्त को ग्रंथकार स्पष्ट कर कह रहे हैं।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यस्य हिंसानृतादीनि तस्य संति परस्परं।
अविनाभाववद्भावादेषामिति विदुर्बुधाः॥१॥
ततो हिंसाव्रतं यस्य तस्य सर्वव्रतक्षतिः।
तदेव पंचधा भिन्नं कांश्चित् प्रति महाव्रतं॥२॥

जिस जीव के हिंसा पाप प्रवर्त्त रहा है उसके अनृत, चोरी आदिक अवश्य हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि इन हिंसा आदिकों का परस्पर में अविनाभाव है (हेतु) जिस प्रकार कि अहिंसा आदि गुणों का परस्पर में अविनाभाव है (दृष्टांत) हिंसा आदि पाप क्रियाओं का अविनाभाव को रखते हुये सद्भाव रहता है इस प्रकार विद्वान् पुरुष समझ रहे हैं। तिस कारण जिस पुरुष के हिंसा नाम का अव्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य, अचौर्य, आदिक व्रतों की क्षति हो जाती है अथवा जिसके अहिंसा व्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य आदि व्रतों की अक्षति है। कारण कि वह अकेला अहिंसा व्रत ही तो किन्हीं विस्तर रुचि या जड़-मति शिष्यों के प्रति पांच प्रकार भेदों को प्राप्त हुआ महाव्रत कह दिया जाता है। अर्थात् मध्य पिंडभूत शरीर के दो हाथ, दो पैर, और मध्यपिंड यों पाँच भेद मान लिये जाते हैं। इसी प्रकर मूलभूत अहिंसा के ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग, ये पाँच भेद कर दिये जाते हैं। साथ ही हिंसा के भी हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहगृद्धि ये पांच भेद जड़ बुद्धि विनीतों की अपेक्षा कर दिये जाते हैं॥

यस्मादतिजड़ान् वक्रजड़ांश्च विनेयान् प्रति सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणमहिंसाव्रतमेकमेव

सुमेधोभिरभिमन्यमानं पंचधा छिन्नं तस्माद्यस्य हिंसा तस्यानृतादीनि संत्येव तेषां परस्परमविनाभावादहिंसायाः सत्यादविनाभाववत् ॥

जिस कारण कि अतीव जड़ हो रहे और वक्रजड़ हो रहे शिष्यों के प्रति श्रेष्ठधारणा बुद्धिशाली विद्वानों करके ठीक ठीक मान लिये गये सम्पूर्ण सावद्यक्रियाओं की निवृत्ति कर देना स्वरूप एक ही अहिंसा व्रत को पांच प्रकार से छेद भेद डाला है तिस कारण जिसके हिंसा पायी जाती है उसके अनृत आदिक अविरतियां हैं ही, क्योंकि उन हिंसा, झूंठ, आदि का परस्पर में अविनाभाव है जैसे कि अहिंसा का सत्य से अविनाभाव हो रहा है। भावार्थ "आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्, अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) "झूंठ, चोरी आदि सभी पाप क्रियाओं में प्रमाद योग घुसा हुआ है और प्रमादयोग हिंसा है अतः सभी पाप हिंसामय हैं। इसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा मय हैं जब कि "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" प्राणियों की अहिंसा ही जगत् में परमब्रह्म जानी गयी है परमब्रह्म शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। केवलज्ञान, चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तवीर्य, ये सभी परिणाम अहिंसा मय हैं ? यदि केवलज्ञान, उत्तम क्षमा, आदि को अहिंसास्वरूप कह दिया जाता है तो सत्य, अचौर्य, आदिक बड़ी सुलभता से अहिंसा आत्मक हो जाते हैं। अतीव मंदबुद्धि, जड़शिष्यों को समझाने के लिये अहिंसा के पांच भेद कर दिये गये हैं। हिंसा के भी झूंठ, चोरी, आदि भेद भी तो मात्र समझाने के लिये हैं। आज कल के मिथ्यादृष्टि दार्शनिक या कुचोद्य करनेवाले पापी पुरुषों को यहां वक्र जड़ समझना चाहिये। इन को विनेय यानी विनय करने वाला शिष्य यों कह दिया गया है कि समझा देने पर हिंसा के साथ संभव रहे झूंठ, चोरी आदि पापों को ये शिरसा पाप रूपेण बुद्धिग्राह्य कर लेते हैं। एक पण्डित जी ने अमरूद बेचने वाले कूंजड़ा से कहा कि भाई चौमासे में अमरूदों में कीड़े पड़ जाते हैं अतः हम मोल नहीं लेते हैं। कूंजड़ा विनय पूर्वक कहता है कि महाराज पण्डित जी फलों के कीड़े कोई नुकसान नहीं करते हैं। एक क्रान्तिवादी हठी लड़का डांका डाल कर उस धन को देशहित के कार्य में लगाना चाहता है। तीसरा जड़ पुरुष कामा सक्त स्त्रियों की इच्छा पूर्ण कर देने में पाप नहीं समझता है। वेश्यायें पुरुषों के चित्तविनोद को पुण्यकर्म समझ बैठी हैं। इस प्रकार अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग गा रहे विनीत अनेक अतिजड़ और वक्र जड़ जीवों के प्रति विचारशील विद्वानों ने हिंसा या अहिंसा के ही पांच भेद कर दिये हैं। अहिंसा या हिंसा के पांच भेद मानने में किसी को कुछ खटका भी होय तो भी इन पांचों का अविना भाव तो बड़ी प्रसन्नता के साथ सब को मान्य हो जावेगा ही।

ननु च सति परिग्रहे तत्संरक्षणानंदादवश्यंभाविनी हिंसानृते स्यातां स्तेयाब्रह्मणी तु कथमिति चेत् सर्वथा परिग्रहवतः परस्य स्वग्रहणात् स्त्रीग्रहणाच्च निवृत्तेरभावात्। तन्निवृत्तौ देशतो विरतिप्रसंगात् सर्वथाविरोधात्।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि आपने परिग्रह मूलक सम्पूर्ण दोषों का प्रसंग हो जाना बतलाया, परिग्रह के होते सन्ते अन्य झूँठ आदि चारों पापों का अविनाभाव कहा, किन्तु यहाँ यह पूँछना है कि परिग्रह के होते संते उस परिग्रह के संरक्षण अनुसार हुये आनंद से हिंसा और झूंठ तो अवश्य हो जावेंगे क्योंकि परिग्रही, रौद्रध्यानी अवश्य जीवों की हिंसा करता है। झूंठ भी बोलता है किन्तु परिग्रह होते संते चोरी और कुशील दोष किस प्रकार संभवेंगे बताओ जिससे कि पांचों पापों का अविनाभाव कह दिया जाय। यों प्रश्न करने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि परिग्रहवाले जीव के दूसरे धन का परिग्रह कर लेने से

और स्त्री का ग्रहण कर लेने से सर्वथा निवृत्ति हो जाने का अभाव है। अर्थात् परिग्रह को इकट्ठा करने वाला पुरुष चोरी का त्याग नहीं कर सकता है। वेश्यायें या कतिपय व्यभिचारिणी स्त्रियां पुरुषों से धन के ग्रहण का उद्देश्य कर कुशील सेवन करती हैं। कतिपय पुरुष भी क्षेत्र, गृह, धन, खाद्य, पेय आदि परिग्रह की प्राप्ति का लक्ष्य कर मनचली धनाढ्य स्त्रियों के साथ गमन करते हैं। कतिपय परिग्रही जीव स्त्रियों, लड़कियों आदि का क्रय, विक्रय, कर धन उपार्जन करते हैं, कितने ही वृद्ध परिग्रही जीव चोरी या परस्त्रियों की अनुमोदना करते हैं। यों कृत, कारित, अनुमति से अनेक दोष लगते रहते हैं अतः परिग्रही के चोरी करने या स्त्रीग्रहण करने का परित्याग नहीं है। यदि उन चोरी और स्त्रीग्रहण की निवृत्ति मानी जायगी तो एक देश से हिंसादिक पापों से भी विरति हो जाने का प्रसंग आवेगा और ऐसी दशा में एक देशविरति और अविरत परिग्रहीपन का सर्वथा विरोध है जो एक देशविरति को धारण करता है वह परिग्रह संग्रह में आसक्त नहीं है किन्तु परिमितपरिग्रही होता संता अनेक परिग्रहों से विरक्त है।

एतेन सर्वथा हिंसायामनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यंभावः प्रतिपादितस्तत्रानृतादिभ्यो हिंसांगेभ्यो विरतेरसंभवात् संभवे वा सर्वथा हिंसानवस्थितेः ॥

पाँचों पापों का अविनाभाव होकर प्रवर्तन को कथन कर रहे इस प्रकरण करके यह सिद्धान्त भी समझा दिया गया है कि हिंसा नामक पाप क्रिया में अन्य झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन चारों क्रियाओं का सभी प्रकारों से अवश्य हो जाना नियत है क्योंकि उस हिंसा आनन्दी जीव में हिंसा के अङ्ग हो रहे अनृत आदिकों से विरति हो जाने का असम्भव है। यदि विकल्प रख कर हिंसारत पुरुष में अनृत आदिकों से विरति हो जाने का संभव मानी जायगी तो उस जीव की सभी प्रकारों से हिंसा में अवस्थिति नहीं हो सकती है। अर्थात् जो अनृत आदि से विरति कर रहा है वह जीव सर्वथा हिंसा में आसक्त नहीं है। सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत आदि के साथ उसके अहिंसाणुव्रत भी सम्भव रहा है। यों हिंसा के साथ चारों पापों का अविनाभाव दर्शा दिया गया है॥

तथैवानृते सर्वथा हिंसास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यम्भावः प्रकाशितः हिंसांगत्वेनानृतस्य वचनात्तत्र तस्याः सामर्थ्यतः सिद्धेः। स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामपि सिद्धेस्तदंगत्वान्यथानुपपत्तेः ॥

जिस प्रकार परिग्रह में या हिंसा में शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव है तिस ही प्रकार अनृत नामक पाप में भी शेष हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहों का सम्पूर्ण प्रकारों से अवश्यम्भाव प्रकाशित कर दिया गया है क्योंकि ग्रन्थों में अनृत का हिंसा के अंगपने कर के कथन किया गया है। अर्थात् "सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्, अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति" ॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) स्वयं ग्रन्थकार ने असत्य का निरूपण करते समय कहा था "तेन स्वपरसंतापकारणं यद्वचोऽनृतं। यथा दृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते" ॥ अनृत भाषण करना हिंसा का अंग है, अतः अनृत में उस हिंसा की विना ही सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है। साथ ही अनृत में चोरी, कुशील परिग्रहों की भी सिद्धि है कारण कि झूंठ को चोरी आदि का अंगपना अन्यथा बन नहीं सकता है। अथवा चोरी, कुशील परिग्रहों को झूंठ का अंग हो जाना अन्यथा यानी अवश्यम्भाव के विना बन नहीं सकता है। जो जिसका अंग है उस अंग का अंगी भी वहाँ विद्यमान है, यों झूंठ बोलने वाले जीव के शेष चार अव्रतों की सत्ता भी पायी जाती है॥

तथास्तेये सर्वथा अवश्यंभाविनी हिंसा द्रविणहरणस्यैव हिंसात्वात् द्रविणस्य बाह्यप्राणात्मकत्वात्। तथाचोक्तं–"यावत्तद्द्रविणं नाम प्राणा एते बहिस्तरां। स तस्य हरते प्राणान्

सो यस्य हरते धनं ॥' इतिहिंसाप्रसिद्धौ चानृताब्रह्मपरिग्रहाणां सिद्धिस्तदंगत्वात् ॥

तिस ही प्रकार चोरी में भी सभी प्रकारों से हिंसा अवश्य हो जावेगी, क्यों कि धनका हरण करना ही हिंसा है। यद्यपि बाह्यप्राण तो इन्द्रिय आदिक दश हैं तथापि धन को बाह्यप्रणस्वरूप माना गया है, और तिसी प्रकार आर्षग्रंथों में कहा जा चुका है कि जो कुछ ये प्रसिद्ध हो रहे रुपया, भूमि, भूषण, प्रासाद आदिक धन नाम धारी हैं ये सब बढ़िया बाहरले प्राण हैं, जो चोर जिस जीव के धन को हर लेता है वह उसके प्राणों को ही हर लेता है-अर्थात् धन की चोरी हो जाने से हजारों जीवों की मृत्युयें हो जाती हैं। धन का वियोग हो जाने पर हाय करके अनेक जीव मर जाते हैं, असंख्य अधमरे हो जाते हैं, कितने ही चिन्ता, आधिव्याधियों से पीड़ित हो कर कुछ काल में मर जाते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी कहा है। "अविदीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१॥ अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसां। हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥२॥" इस प्रकार चोरी करने में हिंसा की प्रसिद्धि हो जाने पर अनृत, कुशील, परिग्रह इन पाप कर्मों की भी सिद्धि हो जाती है, क्यों कि उन अनृत आदि अंगियों का यह चोरी अंग है अथवा अंगी चौर्य कर्म के ये अनृत आदिक सब अंग हैं। अंग और अंगी का अविनाभाव प्रसिद्ध है ॥

एवमब्रह्मणि सति हिंसायाः सिद्धिस्तस्या रागाद्युत्पत्तिलक्षणत्वात् स्वभोग्यस्त्रीसंरक्षणानंदाच्च हिंसायां च सिद्धायां स्तेयानृतपरिग्रहसिद्धिस्तदंगत्वात् तेषां तद्विरत्यभावाद्विरतौ वा सर्वथा तद्भावविरोधाद् देशविरतिप्रसंगात् ॥

परिग्रह, हिंसा, झूंठ और चोरी इन एक एक में शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव जैसे कह दिया है इस ही प्रकार अब्रह्म के साथ भी शेष चारों पाप वर्त रहे हैं देखिये अब्रह्म यानी कुशील के होते सन्ते हिंसा की सिद्धि है ही क्योंकि राग आदि की उत्पत्ति होना उस हिंसा का लक्षण माना गया है- "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥" यों रागादिक की उत्पत्ति होने से मैथुन में तीव्र भावहिंसा होती है। एक बात यह भी है कि स्वकीय भोगने योग्य स्त्रियों के संरक्षण में वैषयिक आनन्द मानने से भी भाव हिंसा बढ़ जाती है। द्रव्यहिंसा तो कुशील में जगत्प्रसिद्ध है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-"यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म, अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१॥ हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्, बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥२॥ यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि, तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥३॥ मैथुन में प्रवृत्ति कर रहा प्राणी थावर जंगम जीवों का विध्वंस कर रहा है। श्रुतसागरी में लिखा है-"तथाचोक्तं मैथुनाचरणे मूढ़ म्रियन्ते जन्तुकोटयः। योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिताः। घाते घाते असंख्येया कोटयो जन्तवो म्रियन्ते इत्यर्थः तथा कक्षाद्वये, स्तनान्तरे, नाभौ, स्मरमन्दिरे च स्त्रीणां प्राणिन उत्पद्यन्ते तत्र करादिव्यापारे ते म्रियन्ते, मैथुनार्थं मृषावादं वक्ति अदत्तमप्यादत्ते बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं च ॥" यों मैथुन क्रिया में तीव्रभावहिंसा और द्रव्यहिंसा प्रसिद्ध हो जाने पर चोरी, असत्य और परिग्रह की सिद्धि तो अनायास हो जाती है क्यों कि वे उसके अंग हैं। मैथुन करने से भी जीव के उन चोरी, झूंठ आदि से विरति हो जाने का अभाव है। अथवा कुशील वाले जीव के चोरी आदि से विरति मानी जायगी तब तो सर्वथा उस कुशील परिणाम के होने का विरोध हो जाने के कारण देशविरति ब्रह्मचर्य अणुव्रत हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। ऐसी दशा में कुशील कथमपि नहीं हो सकता है। यों पाँचों में से प्रत्येक का इतर चारों अविरतियों के साथ अविनाभाव बन रहा बखान दिया गया है ॥

तदेवं वस्त्रपात्रदण्डाजिनादिपरिग्रहाणां न परिग्रहो मूर्छारहितत्वात् तत्त्वज्ञानादिस्वीकरणवदिति वदंतं प्रत्याह॥

यहाँ कोई कटाक्ष करता है कि सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण मूर्छा कहा सो ठीक है, जैनमुनि परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर रहे आकिञ्चन्य धर्म में दृढ़ हैं। हां संयम का उपकरण होने से वे मुनि कमण्डलु, पिच्छिका, पुस्तकों को ग्रहण कर लेते बताये गये हैं। जब कि कमण्डलु आदि का परिग्रह मूर्च्छा का कारण न होने से परिग्रह नहीं माना जाता है, तब तो इसी प्रकार वस्त्र (कपड़ा) पात्र (पाथड़ा) दण्ड (त्रिदण्ड, एक दण्ड आदि) आर्जन (मृग, व्याघ्र, सिंह का चमड़ा) आदि माला, चश्मा, घड़ी, जटा, कन्था, चीमटा, आदि परिग्रहों को भी परिग्रह पाप नहीं माना जाय (प्रतिज्ञा) मूर्च्छारहित होने से (हेतु) तत्त्वज्ञान, क्षमा, पिच्छिका आदि के अंगीकार करने समान (अन्वयदृष्टान्त) यह अनुमान ठीक है। अर्थात् लज्जा दूर करने के लिये वस्त्रका ग्रहण है जो कि कामुक स्त्री, पुरुषों, विकारों की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। स्वयं की लज्जा का भी निवारण हो जाता है। साधु को जनता निर्लज्ज नहीं कहने पाती है। शुद्धभोजन या भैक्ष्यशुद्धि अनुसार अनेक भिक्षाओं को प्राप्त करने के लिये अथवा गुरु या रुग्ण-व्रती को भिक्षा का भाग देने के लिये पात्रकी आवश्यकता हो जाती है रुपया, पैसा धरने के लिये पात्र नहीं बांधा जाता है जिससे कि मूर्च्छा हो सके। इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली या सहचरियों को मारने के लिये दण्ड नहीं है केवल त्रिदण्डी या एक दण्डी साधु को अपना चिह्न दण्ड हाथ में उठाये रखना पड़ता है। अशुद्ध स्थल पर चमड़े को बिछाकर ध्यान लगा दिया जाता है। मयूरपिच्छिका के समान मृगचर्म, चमरीरुह, शंख आदि में सन्मूर्च्छन जीव नहीं उपजते हैं। जाप देने के लिये माला भी चाहिये। छोटे अक्षरों को देखने के लिये चक्षुरोगी साधु को उपनेत्र (चश्मा) धारना पड़ता है। सामायिक का समय देखने के लिये घड़ी की आवश्यकता है। जटायें तो अपने आप बढ़ जाती हैं। शरीर से उपजी उष्णता करके अनेक जीव मर जाते हैं। कन्था या वस्त्र से उन जीवों की रक्षा हो सकती है। इस प्रकार बावदूकता पूर्वक कह रहे कटाक्षकर्ता के प्रति आचार्य महाराज समाधान वचन को कहते हैं।

मूर्च्छा परिग्रहः सोपि नाप्रमत्तस्य युज्यते।
तथा विना न वस्त्रादिग्रहणं कस्यचित्तः ॥३॥

मूर्च्छा करना परिग्रह है, यों इस सूत्र द्वारा परिग्रह का निर्दोष लक्षण किया गया है। वह परिग्रह भी अप्रमत्त जीव के नहीं पाया जाता है यह युक्ति पूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि प्रमादरहित जीव के मूर्च्छा नहीं है तिस कारण उस मूर्च्छा के बिना किसी भी जीव के वस्त्र, पाथड़ा, आदि का ग्रहण करना नहीं सम्भवता है यों सिद्धान्त हो चुकने पर वस्त्र, आदि को ग्रहण करने वाले साधुवेशी या अन्य जीव सभी परिग्रहदोषवान् हैं। अर्थात् वस्त्र के रक्षण सीवन, धोवन, प्राप्ति, आदि में अनेक आरम्भ करने पड़ते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है कि "ह्रीशीतार्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये॥ येन येन बिना पीडा पुंसां समुपजायते। तत्तत्सर्वमुपादेयं लावकादि पलादिकम्॥" यों राग का कारण हो रहा वस्त्र तो परिग्रह ही है। भोजन या भिक्षा के लिये पात्र रखना भी परिग्रह है। मुनि एक ही स्थान पर श्रावक के घर जा कर पाणिपात्र द्वारा निर्दोष आहार लेते हैं। हाँ बहिरंग शुद्धि के लिये जलाधार कमण्डलु को रखना पड़ता है। साधु की ऊंची अवस्था में कमण्डलु और पिच्छी का त्याग हो जाता है। तीर्थंकर मुनि को कमण्डलु और परिहारविशुद्धिसंयमी को पिच्छिका की आवश्यकता नहीं है, चिह्नरूप से भले ही लिये रहें। इसी प्रकार दण्ड रखना तो परिग्रह ही है यह

कोई रत्नत्रय या आत्मशुद्धि का चिह्न नहीं है। चर्म तो साक्षात् त्रस जीवों का उत्पत्तिस्थान है। अपवित्र, अशुद्ध, अस्पृश्य ऐसे चर्म को देखने या छूने से जब गृहस्थ भी भोजन करना छोड़ देता है तो साधु ऐसे त्रस जीवों के घात से उपजे निकृष्ट पदार्थ को अपने पास कैसे रख सकते हैं ? अन्य चीमटा, घड़ी, आदिक भी संयम के उपकरण नहीं सम्भवते हैं। अतः मुनिजन मूर्छा के कारण हो रहे वस्त्र आदि उपधियों को परिग्रह मानकर उन से विरक्त रहते हैं।

लज्जापनयनार्थं कर्पटखण्डादिमात्रग्रहणं मूर्छाविरहेपि संभवतीति चेन्न, कामवेदनापनपनार्थं स्त्रीमात्रग्रहणेपि मूर्छाविरहप्रसंगात् तत्र योषिदभिष्यंग एव मूर्छेति चेत्, अन्यत्रापि वस्त्राभिलाषः सास्तु केवलमेकत्र तु कामवेदना योषिदभिलाषहेतु परत्र लज्जा कर्पटाभिलाषकारणमिति न तत्कारणनियमोस्ति, मोहोदयस्यैवांन्तरंगकारणस्य नियतत्वात् ॥

कोई पर वादी कह रहा है कि लज्जा का निवारण करने के लिये केवल कपड़े का खण्ड, काठ की बनी हुई कौपीन, पीतल, मूंज का बना हुआ उपकरण आदि का ग्रहण करना मूर्च्छा से रहित होने पर भी सम्भव जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कामजन्य वेदना का निराकरण करने के लिये मात्र स्त्री का ग्रहण करने में भी मूर्छारहितपन का प्रसंग आ जायगा। अर्थात् जो कोई यों कहता है कि मूर्छा के न होने पर भी लज्जा के निवारणार्थ कपड़े आदि का ग्रहण है, वह यह भी कह सकता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी काम पीड़ा को दूर करने के लिये स्वल्पकाल पर्यन्त केवल स्त्री का ग्रहण है। वस्त्र से लज्जा दूर हो जाती है, स्त्री से कामपीड़ा निवृत्त हो कर आकुलता मिट जाती होगी, द्यूतक्रीड़ा की कण्डूया जुआ खेलने से अलग हो जायगी। इसी प्रकार अपमान, क्षुधा, निर्बलता, हास्य, कण्डूया, कारागृह वास, रिरंसा, दीनता, दरिद्रता आदि के निवारणार्थ हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप क्रियाओं में निमग्न हो सकता है। अपमान आदि का निवारण करने वाला जीव मूंड़ा लगा देगा कि उक्त हिंसा आदि क्रियाओं में मेरे प्रमादयोग नहीं है जैसे कि लज्जा को दूर करने के लिये वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण में मूर्छा नहीं मानी जा रही है। इस पर यदि आक्षेपकार यों कहे कि वहां स्त्रीमात्र के ग्रहण में तो स्त्री का प्रेमालिंगन करना ही मूर्छा है अतः कोई भी साधु कामवेदना के प्रतीकारार्थ स्त्रीमात्र को ग्रहण करने में मूर्छा रहित नहीं कहा जा सकता है। यों कहने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो अन्य स्थल पर भी यानी लज्जानिवारणार्थ वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने में भी वस्त्र की अभिलाषा करना ही वह मूर्छा समझी जाओ। केवल इतना ही अन्तर है कि एक स्थल पर तो स्त्री की अभिलाषा होने का कारण काम वेदना है और दूसरे स्थल पर कपड़े की अभिलाषा का कारण लज्जा हो रहा है। कहीं प्रतिहिंसा की अभिलाषा का कारण अपमान हो सकता है। सुवर्ण की अभिलाषा का कारण दरिद्रता हो सकती है। इस प्रकार उस मूर्छा के कारणों का कोई नियम नहीं है कि स्त्री प्रसंग करना, वस्त्राभिलाषा करना, कौत्कुच्य करना आदिक ही मूर्छा के नियत कारण होवें। मूर्छा के बहिरंग कारण असंख्यात हो सकते हैं। हां अन्तरंग कारण एक मोहनीयकर्म का उदय होना तो नियत है। वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने में अंतरंग कारण और बहिरंग कारण विद्यमान हैं अतः मूर्छा अवश्यंभाविनी है। तभी तो परिग्रह रहित साधु वस्त्र आदि का ग्रहण नहीं करते हैं ॥

एतेन लिंगदर्शनात् कामिनीजनदुरभिसंधिः स्यादिति तन्निवारणार्थं पटखण्डग्रहणमिति प्रत्युक्तं, तन्निवारणस्यैव तदभिलाषकारणत्वात्। नयनादिमनोहरांगानां दर्शनेपि वनिताजनदुरभिप्रायसंभवात् तत्प्रच्छादनकर्पटस्यापि ग्रहणप्रसक्तिश्च तत एव तद्वत्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस उक्तसयुक्तिक कथन से इस मन्तव्य का भी खण्डन हो चुका है कि लिंग के दर्शन से अलबेली कामिनी जनों के हृदय में कामवासना प्रयुक्त खोटे अभिप्राय उपजेंगे इस कारण उन कामिनियों के निकृष्ट अभिप्रायों की उत्पत्ति या लिंग देखने के निवारणार्थ साधु को वस्त्रखण्ड का ग्रहण करना उचित है। वस्त्रद्वारा गुह्य अंग का गोपन हो जाने से मनचली, अलबेली, नवेली, कामिनियों के दुरभिप्राय नहीं उपज सकेंगे। ग्रंथकार कहते हैं कि उसका निवारण करना ही वस्तुतः उनकी दनी, चौगुनी अभिलाषाओं की उत्पत्ति का कारण है। अंगों को वह कामुक जीव गुप्त रखता है जिस के हृदय में कामवासना नागिन लहरें ले रही है। बालक अपने गुप्त अंगों को नहीं ढकता है, क्योंकि बालक के कषायभाव नहीं है। अनेक पुरुष, या स्त्रियां दूसरों के सुन्दर अंगों के निरीक्षणार्थ आनखशिख प्रयत्न करते हैं भले ही वे उस में सफल मनोरथ न हो सकें किन्तु मूर्छा या कुशील को हेतु मानकर पापास्रव तो हो ही जाता है। एक बात यह भी है कि कहां तक अंगों को ढका जायगा, नेत्र, दन्तावली, वक्षःस्थल, नाभि, हाथ, आदि मनोहर अंगों के देखने पर भी पुंश्चली वनिताजनों के कुत्सित अभिप्रायों का हो जाना सम्भवता है। ऐसा हो जाने उन नेत्र आदि को भले प्रकार ढक देने वाले कपड़े के भी ग्रहण करने का प्रसंग आ जावेगा कारण कि उस ही हेतु से यानी कामिनी जनों की निकृष्ट अभिलाषाओं का निवारण कर देने वाला होने से ही उस लिंग आच्छादक वस्त्र के समान नयन आदि का आच्छादक वस्त्र भी रखना पड़ेगा। ऐसी दशा में सुन्दर नेत्रवाले साधु की भला ईर्यासमिति कैसे पल सकेगी ? सुन्दर हाथ पांव वाले मुनि के एषणासमिति नहीं पल सकेगी। सुन्दरता की परिभाषा भी बड़ी विलक्षण है। किसी को कुरूपा का अंग ही देवांगना का सा स्वरूप जचता है, अन्य को अत्यन्त सुन्दर रूप भी विषवत् प्रतीत होता है। किस किस की अपेक्षा साधु अपने अंग को छिपाते फिरेंगे। उलूक को सूर्य नहीं रुचता है, कमल को रात्रि नहीं रुचती है। कनैटा दूसरे की अच्छी आंख पर ईर्ष्या करता है। दरिद्रपुरुष मेला को बुरा समझता है। पण्डितों को मूर्खजन शत्रु समझते हैं। निर्धन पुरुषों की भावनाओं अनुसार बजाजखाना, सराफा, हलवाईहट्टा, नाजमण्डी, मेवाबाजार आदि सुन्दर वस्तुओं के क्रय विक्रय स्थान भले ही जन्म जन्मान्तरों के लिये भी मिट जांय उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः विचारा जाय तो अपनी पवित्र आत्मा में दुर्भावनाओं को नहीं उपजने देना ही स्वाधीन कर्तव्य है। जगत् की प्रक्रिया टाले नहीं टल सकती है। बालक के समान मुनि की निर्विकार चेष्टा होती है। दूसरों के अभिप्रायों को रोकने के लिये मुनि महाराज ने ठेका नहीं ले रखा है। दरिद्रों के खोटे अभिप्राय उत्पन्न होवेंगे एतावता बाजार या वस्त्र, आभूषणों का पहनना बन्द नहीं हो सकता है। तभी तो चारित्र मोह के उदय होने पर हुई मूर्छा को परिग्रह माना है। वस्त्रग्रहण में अवश्य मूर्छा है।

सोऽयं स्वहस्तेन बुद्धिपूर्वकपटखंडादिकमादाय परिदधानोपि तन्मूर्छारहित इति कोशपानं विधेयं, तन्वीमाश्लिष्यतोऽपि तन्मूर्छारहितत्वमेवं स्यात्। ततो न मूर्छामन्तरेण पटादिस्त्रीकरणं संभवति तस्य तद्धेतुकत्वात्। सा तु तदभावेपि संभाव्यते कार्यापायेपि कारणस्य दर्शनात्। धूमाभावेपि मुर्मुराद्यवस्थपावकवत्।

सो यह प्रसिद्ध हो रहा रक्तवस्त्रधारी संन्यासी या शुक्लवस्त्रधारी श्वेताम्बर साधु अपने हाथ करके बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न पूर्वक वस्त्रखण्ड, लंगोटी आदि को ग्रहण कर पुनः पहनता हुआ भी उसकी मूर्छा से रहित है यों कहते रहने में कोशपान कर लेना चाहिये। भावार्थ–सद्गृहस्थ यदि सामायिक करने बैठे उसका वस्त्र वायु आदिक से यहाँ वहाँ हट जाय पुनः वह यदि उस वस्त्र को वहाँ का वहीं अंग पर

सरका लेता है तो वह अवश्य मूर्छावान् है। आर्यिका भी यहाँ वहाँ खिसक गये वस्त्र को अपने हाथ करके लज्जावश बुद्धिपूर्वक पुनः पहन लेती है तो वह भी मूर्छायुक्त हो रही सामायिक भावों में स्थिर नहीं रह पाती है। किन्तु यहाँ वैष्णव सम्प्रदाय वाले या श्वेताम्बर जैन यों कहते हैं कि अपने हाथ द्वारा बुद्धि पूर्वक पटखण्ड आदि को ग्रहण कर पहिन रहा भी साधु मूर्छा रहित है ऐसे असत्यभाषण की उन वैष्णव या श्वेताम्बरों ने सौगन्ध ले रखी है अहिफेन खाने वाले या उद्भ्रान्त पुरुष उन्माद पूर्वक ऐसी रही बातों को कहते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक वस्त्रधारण कर रहा भी मूर्छा रहित है तो इसी प्रकार तन्वी (पतली तरुणी) का प्रेमालिंगन कर रहे साधु के भी उस तन्वी की मूर्छा से रहितपन का प्रसंग आ जावेगा। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्छा के विना कपड़ा, दण्ड, पात्र आदिका स्वीकार करना कथमपि नहीं सम्भवता है क्योंकि उस मूर्छा को हेतु मान कर ही उस कपड़े आदिका स्वीकार करना कार्य उपजता है। हाँ वह मूर्छा तो उन पट आदि का ग्रहण के अभाव हो जाने पर भी सम्भावित हो रही है। अनेक पशु पक्षी या द्रव्यलिंगी साधुओं के प्रबल मूर्छा पायी जाती है। कार्य के न होने पर भी कारण देखा जाता है जैसे कि धूम के नहीं होने पर भी मुर्मुर आदि अवस्थाओं में अग्नि देखी जा रही है अर्थात् "न कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति" कारणों से अवश्य कार्य हो जाने ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। (मत्वर्थो जनकत्वं, हाँ "सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये" सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं होना और अन्यकारणों की परिपूर्णता हो जाने पर समर्थ कारण उत्तर क्षण में कार्य को अवश्य कर देता है। किन्तु "कार्याणि तु अवश्यं [illegible] कार्य तो अवश्य ही कारण वाले होते हैं। (जन्यत्वं मत्वर्थीयार्थः) कारणों के विना कार्य का आत्मलाभ ही नहीं हो सकता है। अनन्तानन्त कारण अन्य सहकारी कारणों के नहीं मिलने पर कार्यों को किये विना ही मर जाते हैं। सभी बीज अंकुरों को नहीं उपजा पाते हैं, लाखवां, करोड़वां भाग बीज अंकुर होकर उपजते हैं शेष बहुभाग खाने, कूड़े, खात, आदि में व्यय हो जाते हैं। गर्भोत्पादक शक्तियाँ बहुभाग नष्ट हो जाती हैं। सभी अंतरंग बहिरंग कारणों की यही दशा है। सभी कारण यदि कार्यों को कर बैठें तो स्थान ही नहीं मिले। यों "अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुतो लक्षणम्" प्रत्येक कारण कुछ न कुछ तो कार्य करता ही रहता है, स्थान घेरना, भार रख देना, अपने ठलुआपन का ज्ञान करना, आदि साधारण कार्य होते रहते हैं जो कि अगण्य हैं। अतः कारण को कार्यवान् होने का नियम नहीं है। धानों के तुषों की अग्नि भीतर ही भीतर धधकती रहती है। बाहिर धुयें रूप कार्य को नहीं उपजाती है। अयोगोलक अंगार, भूभड़ की आग भी धुंयें को नहीं उत्पन्न करती है। इसी प्रकार प्रकरण में यह कहना है कि वस्त्र, पात्र आदि परिग्रहों का ग्रहण किये विना भी अंतरंग कारण वश मूर्छा सम्भव जाती है। किन्तु जहाँ इच्छा प्रयत्न पूर्वक वस्त्र, दण्ड, चर्म, आदि का ग्रहण हो रहा है वहाँ तो मूर्छा अवश्य हो है।

नन्वेवं पिच्छादिग्रहणेपि मूर्छा स्यात् इति चेत्, तत एव परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्धौ परिहारविशुद्धि-संयमभृतां तत्त्यागः सूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयमभृन्मुनिवत्। सामायिकछेदोपस्थापनसंयम-भृतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्छासद्भावेपि युक्तमेव, मार्गा-विरोधित्वाच्च।

अपने वस्त्र, आदिको ग्रहण करने के पक्ष का अवधारण कर रहा कोई पण्डित आक्षेप कर रहा है कि इस प्रकार तो जैनों के यहाँ पिच्छी, कमण्डलु, आदि के ग्रहण करने में भी साधु के मूर्छा हो जायगी। यों कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि तिस ही कारण से यानी पिच्छ आदि के ग्रहण में स्वल्प मूर्छा का अंश होने से ही जब परम उत्कृष्ट निर्ग्रन्थपन की सिद्धि हो जाती है तब परिविशुद्धि नाम के

संयम को धारने वाले मुनियों के उस पिच्छ आदिका त्याग हो जाता है। जैसे कि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात संयम के धारी मुनियों के पिच्छ आदि का त्याग है। अर्थात्–"तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो, संझूया दुगाउपविहारो" जन्म से तीस वर्ष पर्यन्त पूर्ण आनन्द पूर्वक ठहरे पुनः दीक्षाग्रहरण कर तीर्थंकर के सन्निकट सात, आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन करे उन मुनि के परिहारविशुद्धि संयम होता है। इनके वर्षाकाल में एक स्थान पर ही ठहरने का नियम नहीं है। परिहारविशुद्धि संयमवाले मुनि करके किसी जीव को बाधा नहीं पहुँचती है। प्रत्युत ये किसी जीव के ऊपर यदि बैठ भी जावें तो उस जीव को विशेष आनन्द मिलेगा। रोग, शोक दूर हो जावेंगे। अतः इनको पिच्छीग्रहण की आवश्यकता नहीं है "तित्थयरा तप्पयरा हलधर चक्की य वासुदेवा य। पडिवासुदेव भोमा आहारं णत्थि णीहारो॥" तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, आदि के आहार है नीहार नहीं, ये मुनि हो जाते हैं तब भी इन मुनियों के मलमूत्र आदिका संसर्ग नहीं है अतः अंग शुद्धि के लिये रखे गये कमण्डलु की अविश्यकता नहीं। मात्र चिह्न स्वरूप भले ही रख लिया जाय। विशेष ज्ञानी या अंग-वेत्ता मुनि महाराज शास्त्र भी नहीं रखते हैं। ज्ञान अल्प भी होय किन्तु कषायों का मन्द करना ही जिन का लक्ष्य होय वे भी शास्त्रों को रखने में उत्सुक नहीं रहते हैं। वीतरागभावों की वृद्धि हो जाने पर स्वयं श्रुतज्ञान बढ़ जाता है जो कि प्रकृष्टध्यान या श्रेणियों में उपयोगी है। लोक में भी देखा जाता है कि शास्त्र-ज्ञान थोड़े निमित्त से हो जाता है। छोटी आयु के पण्डित बड़े बूढ़े पचासों वर्ष स्वाध्याय करने वालों को पढ़ा देते हैं। मुनि अवस्था में घटाटोपों की आवश्यकता नहीं है। भेद विज्ञान हो गया बस बुद्धि पुरुषार्थ पूर्वक तेरह प्रकार चारित्र को पालते हुये कदाचित् उपाध्याय से अत्यल्प अध्ययन कर तत्त्ववेत्ता बन जाते हैं। उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में भी पिच्छ, कमण्डलु नहीं हैं। हाँ छठवें गुणस्थान और निरतिशय अप्रमत्त सातमे गुणस्थान में मुनियों के पिच्छ आदि का ग्रहण है। यों सामायिक और छेदोपस्थापना नामक संयमों को धारने वाले मुनिमहाराजों के तो संयम साधने का उपकारी उपकरण होने से प्रमार्जन करने वाले प्रतिलेखन यानी पिच्छिका का ग्रहण करना समुचित ही है। भले ही पिच्छ या कमण्डलु के ग्रहण में सूक्ष्म मूर्छा का सद्भाव है तो भी प्राण संयम का विशेष उपकारी होने से पिच्छी का ग्रहण है। एक बात यह भी है कि संयम के उपकरण का ग्रहण करना मुनिमार्ग का विरोधक नहीं है प्रत्युत साधु-मार्ग के अनुकूल है। हाँ वस्त्र, पात्र, आदि का ग्रहण करना तो मोटी मूर्छा के अनुसार हुआ है और मुनिमार्ग निर्ग्रन्थता का विरोधी भी है॥

नन्वेवं सुवर्णादिग्रहणप्रसंगः तस्य नाग्न्यसंयमोपकरणत्वाभावात् तद्विरोधित्वात्। सकलोपभोगसम्यग्निबन्धनत्वाच्च। न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबूफलमात्रं वा किंचिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोगसंपत्तिनिमित्तं स्यात्। न हि मूल्यदानक्रययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यं, सिद्धान्तविरोधात्॥

जिस प्रकार संयम का उपकरण हो रही पिच्छिका का ग्रहण है इस प्रकार सोना, चांदी, मोहर, नोट, गिन्नी, आदि के ग्रहण कर लेने का तो प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि उस सुवर्ण आदि के ग्रहण को नग्नता या संयम के उपकरणपन का अभाव है प्रत्युत सुवर्ण आदि का ग्रहण करना उस संयम या नग्नता का विरोधी है। एक बात यह भी है कि सुवर्ण, रुपया आदि का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण भोग उपभोगों का बहुत अच्छा कारण है। सोना, रुपया, आदि से अनेक उपभोग मोल लिये जा सकते हैं। आजकल सुवर्ण ही राष्ट्रकी अटूट सम्पत्ति मानी गयी है जिसके पास अधिक सोना है वही देश दूसरे देशों को

दबाकर सब के ऊपर प्रभाव जमाता है। किन्तु केवल तीन, चार, पिच्छों की बनी एक पिच्छिका अथवा मात्र शुष्क तूंबीफल (कमण्डलु) को यदि बेचा जाय तो कुछ भी मूल्य हाथ में नहीं प्राप्त होता है जिस से कि वह पिच्छिका या तूंबीफल भी उपभोग सम्पत्ति का निमित्त हो जाता। अर्थात् मयूर की तीन, चार, छह डंडीयें या तूंबीपात्र का कुछ भी मूल्य नहीं मिलता है। ऐसे संयमोपकरण रखने में मुनि के कोई मूर्छा नहीं है। हां मूल्य देकर क्रय विक्रय योग्य हो रहे अर्थात् जिन मूल्यवान् कमण्डलु, पिच्छिका को बेचकर भोग्य पदार्थ खरीदे जा सकते हैं ऐसे पिच्छी कमण्डलु आदि का भी ग्रहण करना न्यायोचित नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त से विरोध हो जायगा। इस कथन से जो साधुवेशी मूल्यवान् उपकरण रखते हैं उनके रागपूर्ण मन्तव्यों का प्रत्याख्यान हो जाता है। मूल्यवान् उपकरणों में अवश्य मूर्छा हो जाती है। उन के संयोग वियोग में महान् राग-द्वेष उपजते हैं सुवर्ण आदि की तो बात ही क्या है॥

ननु मूर्च्छाविरहे क्षीणमोहानां शरीरपरिग्रहोपगमान्न तद्धेतुः सर्वः परिग्रह इति चेन्न, तेषां पूर्वभवमोहोदयापादितकर्मबंधनिबन्धनशरीरपरिग्रहाभ्युपगमात्। मोहक्षयात्तत्त्यागार्थं परमचारित्रस्य विधानादन्यथा तत्त्यागस्यात्यंतिकस्य करणायोगात्।

यहाँ कोई पण्डित अनुनयपूर्वक आपत्ति उठाता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी बारहवें गुणस्थान वाले क्षीणमोह मुनियों के औदारिक शरीर या कर्म शरीर रूपी परिग्रह स्वीकार किया गया है। इस कारण सभी परिग्रह उस मूर्छा को कारण मानकर होते हैं यह बात नहीं माननी चाहिये, सूक्ष्मराग का सद्भाव होने से दशमे गुणस्थान तक कथंचित् मूर्छा मानी जा सकती है। ग्यारहवें गुणस्थान में मूर्छा के कारण हो रहे चारित्र मोहनीय कर्म की सत्तामात्र है किन्तु बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानों में सर्वांगमूर्छा नहीं होते हुये भी शरीर का परिग्रह हो रहा देखा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि मोह को क्षीण कर चुके उन जीवों के पूर्वभवों में मोह के उदय से अनचाहे आ गये कर्मबन्ध को कारण मानकर शरीर का परिग्रह हुआ स्वीकार किया जाता है। आठ कर्म शरीरों में से मोहनीय कर्म या चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से शेष रहे उन चार अघाति कर्मों और नो कर्मों का परित्याग करने के लिये क्षीणमोह मुनि पुनः उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ पूर्वक विधान करते हैं। अन्यथा यानी उस परम चारित्र के किये बिना उन कर्म नोकर्मों का अनन्तानन्त काल तक के लिये होने वाले त्याग का किया जाना नहीं हो सकेगा। अर्थात् बारहवें गुणस्थान के आदि में चारित्र मोहनीय का क्षय हो जाने पर यद्यपि चारित्र गुण प्रगट हो गया है तथापि आनुषंगिक दोषों के लग जाने पर वह परम चारित्र नहीं हो सका है। तेरहवें, चौदहवें में कुछ कर्मों का भोग करके और कतिपय कर्म बन्धों को तपश्चरण नामक पुरुषार्थ या केवलिसमुद्घात द्वारा समस्थिति अनुसार क्षय कर चौदहवें गुणस्थान के अन्त में परमचारित्र प्राप्त कर लिया जाता है उस से सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग कर दिया जाता है। सिद्ध अवस्था में अनन्त काल तक वह परमचारित्र नामक पुरुषार्थ सुदृढ़ बना रहता है अतः पुनः कर्मनोकर्म शरीरों का ग्रहण नहीं हो पाता है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार ने इस परम चारित्र का अच्छा विवेचन कर दिया है॥

तर्हि तनुस्थित्यर्थमाहारग्रहणं यतेस्तनुमूर्छाकारणक्षमं युक्तमेवेति चेन्न, रत्नत्रयाराधननिबन्धनस्यैवोपगमात्। तद्विराधनहेतोस्तस्याप्यनिष्टेः। न हि नवकोटिविशुद्धमाहारं भैक्ष्यशुद्ध्यनुसारितया गृह्णन् मुनिर्जातुचिद्रत्नत्रयविराधनविधायी, ततो न किंचित्पदार्थग्रहणं कस्यचिन्मूर्छाविरहे संभवतीति सर्वः परिग्रहः प्रमत्तस्यैवाब्रह्मवत्॥

जब कि पिच्छिका का ग्रहण सूक्ष्ममूर्छा का कारण मानकर हुआ बताया है और क्षीणमोह या जीवन्मुक्तों के भी पूर्व भवसम्बन्धी मोह के उदय अनुसार हुये कर्मबन्ध करके शरीरों का परिग्रह स्वीकार किया गया है तब औदारिक शरीर की स्थिति के लिये षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनि का कवलाहार ग्रहण करना भला शरीर में हो रही मूर्छा को कारण मान कर हुआ यों यति के मोह सिद्ध करने में वह आहार ग्रहण समर्थ है यह बात समुचित ही मानी जायगी। अर्थात् मुनि जो आहार लेते हैं वह भी मूर्छा को कारण मान कर हुआ परिग्रह ही समझा जायगा। "मूर्छाकरणक्षमं" पाठ होने पर मुनि का आहार ग्रहण करना मूर्छा का कारण और कार्य हो जाने से अच्छा परिग्रह समझा जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों की समीचीन आराधना के कारण हो रहे ही आहार ग्रहण को जिनागम में स्वीकार किया गया है हां उस रत्नत्रय की विराधना के हेतु हो रहे उस अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य, आदि आहार का ग्रहण करना तो अभीष्ट नहीं किया गया है। मन, वचन, काय, सम्बन्धी प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार हुई नौ कोटियों से विशुद्ध हो रहे आहार को भैक्ष्य शुद्धिज्ञापक आगम की अनुकूलता से ग्रहण कर रहा मुनि कदाचित् भी रत्नत्रय की विराधना को करने वाला नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, के लिये शरीर उपयोगी है और शरीर में बल की प्राप्ति आहार पूर्वक है अतः दोषों और अन्तरायों को टालकर मुनि महाराज दिन में एक बार लघुभोजन करते हैं। अतः तत्त्वज्ञान के समान आहार का ग्रहण करना कोई मूर्छा का कार्य या मूर्छा का कारण नहीं है। अत्यल्प मूर्छा गणनीय नहीं है परमनिर्ग्रन्थपन की उपासना करने वाले तो आहार को भी छोड़ देते हैं। संन्यास मरण कर रहा श्रावक ही आहार और शरीर को परिग्रह मानकर छोड़ देता है। वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करना पक्का परिग्रह है तिस कारण सिद्ध हुआ कि किसी भी मोही जीव या श्रावक या मुनि के किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना मूर्छा के बिना नहीं सम्भवता है। इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रह प्रमादी जीव के ही सम्भवते हैं। जैसे कि अब्रह्म यानी कुशील क्रिया प्रमादी जीव के ही सम्भवती है। यों प्रमाद योग पूर्वक हुई मूर्छा परिग्रह है यह सूत्रकार का तात्पर्य निरवद्य है।

अथैतेभ्यो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतमिति निश्चितं तदभिसंबंधात्तु यो व्रती स कीदृश इत्याह;—

हिंसा आदि के लक्षण अनन्तर इन हिंसा आदिकों से विरति हो जाना व्रत है। यों सातवें अध्याय के आदि सूत्र में कहे गये व्रत के लक्षण का निश्चय किया जा चुका है। अब आत्मा में उन व्रतों का चारों ओर सम्बन्ध हो जाने से जो व्रती हो जाता है वह व्रती जीव तो कैसा है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को व्यक्त कर रहे हैं।

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

मायाशल्य, मिथ्यादर्शन शल्य और निदान शल्य इन तीनों से रहित हो रहा जो व्रतों से युक्त है वह व्रती है। अर्थात् शल्यरहितपन और व्रतों के सम्बन्ध से व्रती होता है मात्र शल्यरहितपन व्रती नहीं है चौथे गुणस्थान वाला जीव कदाचित् निष्कपट, निर्निदान अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी व्रती नहीं हो जाता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी केवल बाह्य व्रतों के धार लेने से व्रती नहीं समझ लिया जायगा ॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यं बाधाकरत्वादुपचारसिद्धिः। त्रिविधं माया, निदान,

मिथ्यादर्शनभेदात् ।

अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक वेदना स्वरूप पैनी सलाइयों करके प्राणीसमुदाय की हिंसा करने से शल्य समझी जाती है। बाण का अग्रफलक जैसे शरीर में घुस कर अनेक बाधाओं को करता है तिसी प्रकार माया आदिक शल्य भी शारीरिक, मानसिक, बाधाओं की कारण होने से शल्य के समान हो रहीं शल्यरूप से उपचरित हो जाती हैं यों माया आदिक में शल्यपने के उपचार की सिद्धि हो जाती है। "शल्यमिव शल्यं"। यह शल्य मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, के भेद से तीन प्रकार है। छल-करना, ठगना, धोखा देना इत्यादिक माया शल्य है, विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान शल्य है। तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कर अतत्त्वों का श्रद्धान किये बैठना मिथ्यादर्शन शल्य है। शरीर में या मसूड़ों में छोटी सी फांस लग जाती है वही खटकती रहती है सलाई शूल या बाण घुस जाय तब तो महान् दुःखपूर्ण खटका लगा रहता है। इसी प्रकार ये तीन शल्यें सदा अव्रती जीवों के चुभती रहती हैं। तीन शल्यों से रहित हो कर ही व्रतों को धारने वाला व्रती कहा जा सकता है।

कश्चिदाह—विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः; मिथ्यादर्शनादिनिवृतेर्व्रतित्वाभावात् सद्दर्शनादित्वसिद्धेर्व्रताभिसंबंधादेव व्रतित्वघटनात्। विरुद्धं व्रतित्वस्य निःशल्यत्वं विशेषणं दण्डित्वस्य चक्रित्वविशेषणवत्। तदविरुद्धेपि विशेषणस्यानर्थक्यं वान्यतरेण गतार्थत्वात्। निःशल्य इत्यनेनैव व्रतित्वसिद्धिर्व्रतिग्रहणस्यानर्थक्यं व्रतीति वचनादेव निःशल्यत्वसिद्धेस्तद्वचनानर्थक्यवत्। विकल्प-इति चेन्न, फलविशेषाभावात् निःशल्य इति वा व्रतीति वा स्यादिति। विकल्पे हि न किं चित्फलमुपलभामहे। न च व्यपदेशद्वयमात्रमेव फलं। संशयनिवृत्तिः फलमित्यपि न सम्यक्, तद्-विनाभावादेव संशयनिवृत्तेर्विपर्ययानध्यवसायं निवृत्तिवदिति।

यहाँ कोई तर्कबुद्धि पण्डित लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि शल्यरहितपना और व्रतसहितपना यों ये दोनों ही विरुद्ध हैं। शल्य रहित होने से कोई व्रती नहीं हो सकता है। जैसे कि पुस्तक रहित हो जाने से कोई विद्यावान नहीं हो सकता है या दण्ड रहित हो जाने से कोई छत्र सहित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि तीनों शल्यों की निवृत्ति हो जाने से व्रती हो जाने का अभाव है। सम्यग्दर्शन अथवा समीचीनरीत्या प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक आदिपन की सिद्धि हो जाने कारण व्रतों का आत्मनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने से ही व्रतीपना घटित हो जाता है। एक बात यह भी है व्रती होने का निःशल्यपना विशेषण विरुद्ध है जैसे कि दण्डधारीपन का चक्रसहितपना विशेषण विरुद्ध यदि उन शल्यरहितपन और व्रतसहितपन विशेषणों को अविरुद्ध भी मान लिया जाय तथापि एक शेषण का व्यर्थपना है क्योंकि निश्शल्यपन और व्रतीपन दोनों में से एक करके ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो वेगा। जैसे कि "उपयोगवान् आत्मा" यहां आत्मत्व या उपयोग दोनों में से एक ही करके इष्टसिद्धि जाती है दोनों एक ही तो हैं। जब कि निःशल्य यों इस कथन कर के ही व्रतीपन को सिद्धि हो जाती सी दशा होने पर सूत्र में व्रती का ग्रहण करना व्यर्थ है जैसे कि व्रती यों कथन करने से ही जब निश्शल्य-सिद्ध हो जाता है अतः उस निःशल्यपन का वचन व्यर्थ पड़ता है। यदि यहां कोई यों कहे कि यहां रूप है शल्यरहित भी उत्तरवर्ती सूत्र करके अगारी या अनगार हो सकता है अथवा व्रती भी गारी वा अनगार हो सकता है यों विशेषणविशेष्यसम्बन्ध भी बन जाता है। उत्तर में कश्चित् कहता कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों विकल्प करने में विशेषफल का अभाव है। एक पक्ष में निश्शल्य

यों कह दिया जाय, अथवा द्वितीय पक्ष में व्रती यों हो जावे इस प्रकार विकल्प करने में जब कि हम किसी भी फल को नहीं देख रहे हैं, तब तो सब वादियों के लिये शब्द बोल देना ही कोई फल नहीं हो जाता है। देवदत्त को दाल से या दही से अथवा घी से भोजन करा देना यहां विकल्पों का न्यारा फलविशेष है। किन्तु निश्शल्य अथवा व्रती यों नाममात्र दो के कथन करने का कुछ भी फल नहीं है। यदि कोई कहे कि संशय की निवृत्ति हो जाना फल है। कोई निश्शल्य को व्रती से भिन्न हो जाने का यदि संशय कर ले तो इस संशय की निवृत्ति "निश्शल्यो व्रती" कहने से हो जाती है। कश्चित् पण्डित कहते हैं कि यह समाधान करना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि उन निश्शल्यपन और व्रतीपन का अविनाभावसम्बन्ध होने से ही संशय की निवृत्ति हो जाती है जैसे कि दोनों के अविनाभाव का निर्णय हो जाने से विपर्यय और अनध्यवसाय नाम के समारोपों की निवृत्ति हो जाती है। यहां तक कश्चित् पण्डित पूर्व पक्ष कर रहा है।

अत्राभिधीयते—न वांगांगिभावस्य विवक्षितत्वात्। निःशल्यव्रतित्वयोर्ह्यत्रांगांगिभावो विवक्षितः। प्रधानानुविधानादप्रधानस्य प्रधानं हि व्रतित्वमंगि। तन्निःशल्यत्वमप्रधानमंगभूतमनुविधत्ते, यत्र व्रतित्वं तत्रावश्यं निःशल्यत्वं भवतीति न तस्य तेन विरोधो नापि विशेषणं तदनर्थकं। न विकल्पोपगमो। न च फलविशेषाभावोपि प्रधानगुणदर्शनेन मतांतरव्यवच्छेदस्य फलस्य सिद्धेः। तेन कृतनिदानस्यापि मायाविनो मिथ्यादृष्टेश्च हिंसादिभ्यो विरतावपि व्रतित्वाभावः सिद्धः। मायानिदानमिथ्यादर्शनरहितस्यापि चासंयतसम्यग्दृष्टेर्व्रतित्वाभावः प्रतिपादितः स्यात् ततः॥

अब यहाँ आचार्य महाराज करके समाधान वचन कहा जाता है, कि उक्त दोष देना ठीक नहीं, कारण कि यहाँ अंगभाव और अंगीभाव की विवक्षा की जा चुकी है। निश्शल्यपन और व्रतीपन का यहाँ निश्चय से अंग-अंगीभाव मानना विवक्षा प्राप्त हो रहा है। व्रतीपना अंगी है उसका अंग निश्शल्यपना है। शल्य हटेंगी और व्रत आवेंगे तब व्रती कहा जायगा। जैसे कि बहुत दूध, घी वाले गोपाल को गोमान् कहा जाता है। अनेक ठल्ल गोओं के होने पर भी गायवाला कहना शोभा नहीं देता है। जो निश्शल्य हो कर व्रती है वही सच्चा व्रती है। अप्रधान पदार्थ अपने अंगी प्रधान का अनुविधान यानी अनुकूल आचरण किया करता है। जब कि व्रतीपना यहाँ प्रधान है अंगी है वह निश्शल्यपन, अप्रधान, अंग भूत उस व्रतीपन का अनुविधान करता रहता है निश्शल्यत्व और व्रतित्व में अंग अंगीभाव सम्बन्ध है, कोई भी किसी का उपकार कर सकता है यहाँ विशेषतया व्रतीपन में निश्शल्यपना उपकार करता है॥ कश्चित् का निश्शल्यत्व और व्रतित्व में विरोध दोष उठाना ठीक नहीं। क्योंकि जहाँ व्रतीपना है वहाँ निश्शल्यपना अवश्य होता है। इस कारण उस व्रतित्व का उस निश्शल्यत्व के साथ विरोध नहीं है। कश्चित्, जो उस व्रतीपन का विशेषण हो रहे उस निश्शल्यपन को व्यर्थ कहा था वह भी ठीक नहीं है क्योंकि व्रती का शल्यरहितपना विशेषण सार्थक है। शल्यरहित होते हुये ही व्रती हो सकता है अन्यथा नहीं। निश्शल्य अथवा व्रती यों विकल्प का स्वीकार करना भी बुरा नहीं है। जैसा कश्चित् ने विकल्प का निषेध करते हुये विशेषफल का अभाव कहा था, जब कि यहां फलविशेष दीख रहा है तो फलविशेष का अभाव कहना भी समुचित नहीं है। व्रतीत्व और निश्शल्यत्व की प्रधानता और गौणता दिखलाने करके अन्यवादियों का व्यवच्छेद हो जाना रूप फल की सिद्धि हो जाती है। तिस कारण निदान कर चुके भी मायाचारी और मिथ्यादृष्टि जीव के हिंसा आदिकों से विरति होने पर भी व्रतीपन का अभाव सिद्ध हो चुका।

क्योंकि शल्यों के होते हुये व्रतों के सद्भाव से व्रती नहीं हो सकता है। बात यह है कि शल्यों के होते सन्ते वस्तुतः वे व्रत ही नहीं हैं व्रताभास हैं तभी तो निश्शल्यत्व और व्रतीत्व का सामानाधिकरण्य बन रहा है। दूसरी बात यह है कि माया, निदान, मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों से रहित हो रहे भी किसी असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाले जीव के व्रतों के नहीं होने पर व्रतीपन का अभाव है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायों के उदय अनुसार मायाचार यद्यपि चौथे गुणस्थान में पाया जाता है, निदान भी पांचवें गुणस्थान तक सम्भवता है किन्तु यहां शल्यों में तीव्रमायाचार और प्रव्यक्त निदान अभिप्रेत हैं यों "निश्शल्यो व्रती" इस प्रकार विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध अनुसार कहने पर विशेषफल समझा दिया गया हो जाता है तिस प्रकार विवरण करने से जो निष्कर्ष निकला उस को वार्तिक द्वारा यों समझिये कि:—

निःशल्योऽत्र व्रती ज्ञेयः शल्यानि त्रीणि तत्त्वतः।
मिथ्यात्वादीनि सद्भावे, व्रताशयविपर्ययः ॥१॥

प्रकरण अनुसार यहाँ सूत्र में कहा गया जो निश्शल्य जीव है वह व्रतधारी व्रती समझ लिया जाय। तात्त्विकरूप से मिथ्यात्व आदिक शल्य तीन मानी गयी हैं। जीवों के उन शल्यों का व्यस्त या समस्तरूप से सद्भाव होने पर व्रतधारण के अभिप्रायों का विपर्यय हो जाता है। अर्थात् व्रती होने के लिये निश्शल्यपन रंगभूमि है। निश्शल्यता होना ही कठिन है पुनः व्रतों का धारण सुलभ साध्य है। व्रतीशब्द का योगविभाग कर "निश्शल्यो व्रती व्रती" यों वाक्य बनाते हुये शल्यरहित होकर व्रतधारी को व्रती कहना अक्षुण्ण बन जाता है।

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

स पुनर्व्रती सागार एवानगार एवेत्येकांताया कृतये सूत्रकारः प्राह;—

वह व्रती फिर गृहस्थ ही है अथवा गृहरहित साधु ही व्रती है इस प्रकार के एकान्तों का निराकरण करने के लिये सूत्रकार महाराज बहुत बढ़िया निर्णय कह रहे हैं।

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

वह व्रती आगारी, अनगार, यों दो भेदों में विभक्त है। भावरूप से पकड़ा गया घर जिसके विद्यमान है वह गृहस्थ अगारी नाम का व्रती है और जिस त्यागी मुनि के भावरूपेण घर नहीं है वह अनगार व्रती है। यहाँ भी मात्र गृहसहितपन और गृहरहितपन से अगारी और अनगार की लक्षण व्यवस्था नहीं है किन्तु भविष्य सूत्र अनुसार अणुव्रतों के धारण से अगारीपना निर्णीत समझा जाय और बिना कहे सामर्थ्य से महाव्रतों के धारण अनुसार अनगारपना व्यवस्थित हो रहा मान लिया जाय।

प्रतिश्रयार्थितयांगनादगारं। अनियमप्रसंग इति चेन्न, भावागारस्य विवक्षितत्वात् तदस्तीत्यगारी। व्रतीत्यभिसंबन्धः व्रतिकारणसाकल्याद्गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेन्न। नैगमव्यवहारव्यापारान्नगरवासवद्राजवद्वा। नैगमव्यापाराद्धि देशतो विरतः सर्वतो विरतिमभिमुखसंकल्पो व्रती व्यपदिश्यते नगरवासत्वराजत्वाभिमुखस्य नगरवासराजव्यपदेशवत्।

प्रतिश्रय यानी ठहरने के लिये स्थान की लिप्सा को कर रहे जीव की अभिलाषा करके जो घर किया जाता है वह अगार है यों अगार शब्द की निरुक्ति कर घर अर्थ निकाला गया है। ऐसा घर

जिस के विद्यमान है वह अगारी है। जिसके घर नहीं वह अनगार मुनि है। श्रावकाचारों में गृहस्थ की पहली छह प्रतिमाओं में गृह का अर्थ स्त्री किया गया है शेष पांच प्रतिमाओं में गृह का अर्थ घर या घरसरीखा उपवन है। गृह का अर्थ गृहिणी करते हुये भी घर को छोड़ा नहीं गया है। अतः यहाँ सामान्य-रूप से अगार का अर्थ घर लिया जाय। यहाँ शंका उठती है कि घर सहितपन या घर रहितपन से कोई गृहस्थ, व्रती या मुनिव्रती का नियम नहीं है अतः उक्त सूत्र अनुसार कोई निव्रती या मुनिव्रती का नियम नहीं है अतः उक्त सूत्र अनुसार कोई नियम नहीं हो सकने का प्रसंग आया। देखिये सूने घर या देवस्थान आदि में कुछ देर तक निवास कर रहे मुनि को गृह सहितपना प्राप्त हुआ। गृहस्थों के घर में भी आहार करते समय मुनि ठहरते हैं। पश्चात् भी कुछ धर्मोपदेश देते हुये ठहर जाते हैं। तथा जिसकी विषयतृष्णायें दूर नहीं हुई हैं ऐसा गृहस्थ भी किसी कारण से घर को छोड़कर वन में निवास करता है। आजीविका के वश हजारों मनुष्य घर छोड़ कर बाहर वनों में, खेतों में, पहाड़ों में पड़े हुये हैं एतावता वे अगार रहित हो रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना क्योंकि यहाँ हृदय में विचार लिये गये भाव-स्वरूप घर की विवक्षा की गयी है। अन्तरंग में चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होते सन्ते घर के सम्बन्ध से जो तृष्णा का नहीं हटना है वह भावागार है इस कारण अगारी कहा जाता है। भले ही वह वन में, पहाड़ में, समुद्र में, आकाश, पाताल, में निवास करे तो भी वह अगारी है और मुनि महाराज चाहे धन धान्य जन पूर्ण घर में ही कुछ समय तक ठहरे रहें वे भावागार नहीं होने से अनगार ही हैं। यहां सूत्र में पूर्व सूत्र से व्रती का दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अगारी व्रती और अनगारी व्रती यों दो व्रती हैं। यहां कोई आशंका उठाता है कि व्रती होने के कारणों की असंपूर्णता होने से गृहस्थ को व्रती नहीं कहना चाहिये। अर्थात् जब "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" यों व्रतों का लक्षण माना है तो सकल व्रतों की पूर्णता नहीं होने से श्रावक को व्रती नहीं कहा जा सकता है। जैसे कि एक या दो हरी वनस्पति का त्याग कर देने से या दिन में चोरी का त्याग कर देने से कोई व्रती नहीं हो जाता है। पूरा लाख, पचास हजार रुपये होने से धनी कहा जा सकता है एक पैसा या एक रुपया के धन से कोई धनी नहीं हो जाता है। पूर्ण विद्यायें होने से विद्वान् कहना ठीक है किसी एक विद्या में मात्र चञ्चुप्रवेश हो जाने से विद्यावान् नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि नैगम, संग्रह, और व्यवहार, इन नयों के व्यापार से असकलव्रती गृहस्थ को भी व्रती कह दिया गया है। जैसे कि पूरे नगर में नहीं ठहर कर एक डेरे या घर के कोने में ठहरता हुआ कोई मनुष्य केवल नगर के एक देश में निवास करता है फिर भी वह कलकत्ता निवासी, आगरा वासी, सहारनपुर वासी कहा जाता है। इसी प्रकार व्रतों के एक देश में अधिष्ठित हो रहा गृहस्थ व्रती कहा जा सकता है। अथवा राजा होने योग्य राजपुत्र को जैसे राजा कह दिया जाता है इसी प्रकार मुनिधर्म में अनुराग करने वाला श्रावक होता है। कालान्तर में पूर्ण व्रतों को धारेगा अतः नैगम नयकी अपेक्षा वर्तमान में भी व्रती कहा जा सकता है। और भी नैगम नय के व्यापार से विशेषतया यों समझिये कि एक देश से हिंसा आदि का परित्याग करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही सम्पूर्ण रूप से हिंसा आदि की विरति के प्रति अभिमुख हो संकल्प कर रहा सन्ता ही व्रती इस शब्द करके व्यवहृत होता है जैसे कि नगर के बहुभागों में निवास करने के अभिमुख हो रहा पुरुष नगरावास शब्द कर के कहा जाता है। और राजपने के अभिमुख हो रहे राजपुत्र को राजापन का व्यपदेश कर दिया जाता है। अथवा बत्तीस हजार देशों के अधिपति सार्वभौम राजा कहते हैं। फिर भी एक देश का अधिपति भी राजा कहा जा सकता है। तिसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों का धारी अनगार ही पूर्णव्रती है किन्तु अणुव्रतों का धारी श्रावक भी व्रती कहा जा सकता है। अन्यथा धनी, विद्यावान्, कलावान्, तपस्वी, कुलवान्

आरोग्यतावान्, रूपवान्, बलवान् आदि की कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जगत् में एक से एक बढ़ कर धनी आदि हो चुके हैं। पूर्ण धनी आदिक तो विरल हैं। अल्पज्ञान, अल्पधन आदि से भी ज्ञानवान् धनवान् की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी॥

संग्रहनयाद्वाणुव्रतमहाव्रतव्यक्तिवर्तिव्रतत्वसामन्यादेशादणुव्रतोऽपि व्रतीष्यते नगरैकदेशवासिनो नगरवासव्यपदेशवत् देशविषयराजस्यापि राजव्यपदेशवच्च।

नैगम नय अनुसार श्रावक का व्रती हो जाना समझा दिया गया है क्योंकि नैगम नय संकल्प मात्र को ग्रहण करता है श्रावक के सकलव्रती होने का संकल्प हो रहा है। तथा सामान्य रूपसे कच्चे, पक्के, छोटे, अधूरे, हेठे, आदि सभी विशेषों का संग्रह करने वाली संग्रह नय से तो अणुव्रत और महाव्रत इन सम्पूर्ण व्रतव्यक्तियों में वर्त रहे व्रतत्व सामान्य का कथन कर देने की विवक्षा से तो छोटे व्रतों का धारी गृहस्थ भी व्रती कहा गया इष्ट किया जाता है जैसे कि नगर के एक देश में निवास कर रहे पुरुष का "नगरवासी" यों व्यवहार कर दिया जाता है। तथा जैसे मालवा, पंजाब, मेवाड़, ढूँढाड़, गुजरात, बंगाल, बिहार, सिन्ध, काठियावाड़, आदि प्रान्त या सर्विया, बलगेरिया, पैटोगोनिया, ब्रजील, पैरू, स्कोटलेण्ड, मिश्र आदि द्वीप एवं ग्राम नगर समुदायस्वरूप एक प्रान्त या एक देश के राजा को भी राजापने का व्यवहार कर दिया जाता है। जबकि बत्तीस हजार देश या पचासों जिलों के सार्वभौम राजा को राजा कहना चाहिये। भारतवर्ष में क्वचित् एक प्रान्त में कतिपय राजा विद्यमान हैं। अकेले बुन्देलखण्ड में पचास, चालीस राजा होंगे। मारवाड़ में ही दश, बीस राजा हैं। थोड़ी सी रियासत के अधिपति या ज़मींदार अथवा किसी किसी सेठ को भी राजा पदवी दे दी जाती है। यों सम्पूर्ण रूप से राजा नहीं होते हुये भी पचास, सौ गाँवों के अधिपति को जैसे राजापना व्यवहृत हो जाता है उसी प्रकार संग्रहनय से अणुव्रती का भी व्रतियों में संग्रह हो जाता है।

व्यवहारनयादेशतो व्रत्यण्यगारी व्रतीति प्रतिपाद्यते तद्वदेवेत्यविरोधः।

तीसरे व्यवहार नय से संव्यवहार करने पर एक देशसे व्रती हो रहा भी गृहस्थ व्रती है यों व्यवहारियों में कह दिया जाता है। उस के ही समान अर्थात् जैसे एक देश या आधे विषय अथवा दश बीस ग्रामों के अधिपति को भी राजा कह दिया जाता है। यों नैगम संग्रह व्यवहारनयों अनुसार गृहस्थ को भी व्रती कह देने में कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ तक अगारी शब्द की टीका हो चुकी है।

न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः स च व्रती सकलव्रतकारणसद्भावात्। ततो अगृहस्थ व्रतीत्येकांतोऽप्यपास्तः॥

अब अनगार का अर्थ कहा जाता है। जिस किसी इस जीव के अगार यानी घर नहीं विद्यमान है, इस कारण अनगार कहा जाता है। वह अनगार हो रहा सन्ता व्रतों का धारी है क्योंकि व्रतियों के सम्पूर्ण व्रतों के कारणों का सद्भाव है। तिस कारण यानी गृहस्थ और अगृहस्थ दोनों को व्रतत्व के कारणों का सद्भाव हो जाने से इस एकान्त आग्रह का भी निराकरण किया जा चुका है कि गृहस्थ से भिन्न हो रहा मुनि ही व्रती होता है गृहस्थ व्रती नहीं होता है। अथवा दोनों के व्रतीपन का विधान हो जाने से गृहस्थ ही व्रती होता है, मुनिजन व्रती नहीं इस कदाग्रह का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है॥ अपरंपार लीला के धारी जगत् में ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो कि साधुओं को नहीं मानकर गृहस्थ अवस्था से ही निःश्रेयस प्राप्ति हो जाने को अभीष्ट करते हैं। और गृहस्थ को अल्प भी व्रती नहीं मानकर

केवल साधुओं को ही व्रती मानने वाली आम्नायों की भी कमी नहीं है। जैन सिद्धान्त अनुसार अगारी और अनगार दोनों भी व्रती समझे जाते हैं।

नन्वेवंमनगारस्य पथिकादेः व्रतित्वं स्यादित्याशंकामपास्यन्नाह—

अनगार पनि का इस प्रकार गृहरहितपना लक्षण करने पर यहाँ आशंका उपजती है कि तब तो अगार रहित हो रहे पथिक (बटोही या रास्तागीर) कृषक, नाविक, प्रवासी, अनाथ, निर्वासित, (निकाल दिया गया) आदि जीवों के भी व्रती हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। इस प्रकार हुई आशंका का निराकरण कर रहे ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कह रहे हैं॥

सोऽप्यगार्यनगारश्च भावागारस्य भावतः।
अभावाच्चेति पांथादेर्नानगारत्वसंभवः ॥१॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वह शल्य रहित हो रहा व्रतों का धारी व्रती भी गृहस्थ और अनगार इन दो भेदों से दो प्रकार है यह सूत्रकार द्वारा कह दिया है। अगार पद से यहां भाव घर यानी परिणामों में घर का अनुराग रखना लिया गया है। उस भावघर के सद्भाव से अगारी और भावघर के अभाव से अनगार व्रती हुआ समझना चाहिये। इस कारण पथिक आदि को अनगारपने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि पथिक आदि के तत्कालीन गृहवास नहीं होते हुये भी अभ्यन्तर परिणामों में गृहवास का तीव्र अभिष्वंग हो रहा है। तथा घर में बैठकर आहार कर रहे या किंचित् काल उपदेश दे रहे मुनि महाराज के घर का सम्बन्ध होते हुये भी घर की भाव गृद्धि नहीं होने से उसी प्रकार गृहस्थपना नहीं है जैसे कि वस्त्रधारीपन का उपसर्ग सह रहे चेलोपसृष्ट मुनि के तन्तुमात्र भी परिग्रह नहीं माना जाता है।

कः पुनरगारीत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि क्रम अनुसार व्रतों की दृढ़ता के उपासक होने से आदि में कहे गये अगारी का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं॥

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

जिस के पाँचों व्रत अल्प हैं वह जीव अगारी यानी श्रावक कहा जाता है। अर्थात् हिंसा आदिक पाँचों पापों में से किसी एक या दो पापों की निवृत्ति हो जाने से ही अणुव्रती नहीं समझा जाय किन्तु पाँचों ही व्रतों की विकलता हो जाने से अणुव्रती बनने की विवक्षा है। अणु शब्द का अन्व विरति के साथ है।

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनः सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। स हि द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणे निवृत्त स्नेहद्वेषमोहावेशादसत्याभिधानवर्जनप्रवणः, अन्यपीडाकरात् पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्य त्तात् प्रतिनिवृत्तः, उपात्तानुपात्तान्यांगनासंगाद्विरतिः; परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिगृ ही प्र तव्यः॥ सामर्थ्यात् महाव्रतोऽनगार इत्याह—

सूत्र में पड़ा हुआ अणुशब्द सूक्ष्म अर्थ को कह रहा है। जिस जीव के पाँचों व्रत अणु य सूक्ष्म हैं वह अणुव्रत यानी अणुव्रती है। अणूनि व्रतानि यस्य स अणुव्रतः (बहुव्रीहि समास) सम्पू

पाप सहित क्रियाओं से निवृत्ति होने का असम्भव हो जाने इस गृहस्थ के व्रत छोटे कहे जाते हैं। वह अणुव्रती श्रावक नियम से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि प्राणियों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने में निवृत्त हो रहा है। इतना ही इसके अहिंसाणुव्रत है। अपने कार्य के लिये वह पृथिवी, जल, तेज, वायुकायिक जीवों की और अनन्तकायवर्जित वनस्पति जीवों की विराधना कर देता है तथा वह स्नेह, द्वेष और मोह का आवेश हो जाने से असत्य बोलने के परित्याग में प्रवीण रहता है। ह, अनेक स्थलों पर सूक्ष्मझूँठ बोल देता है, यह गृहस्थ का सत्याणुव्रत है। अन्य को पीड़ा करने वाले अदत्तादान से और राजभय, पंचभय से उपजाये गये निमित्त स्वरूप अदत्त से भी जो प्रतिनिवृत्त हो रहा है वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है। अर्थात् जो धन अपना भी है किन्तु वह महान् संक्लेश से प्राप्त हो सकता है ऐसे परायी पीड़ा को करने वाले धन को जो ग्रहण नहीं करता है। तथा जो धन राजा के डर या पञ्चों के भय अनुसार निश्चय करके छोड़ दिया गया है उस धन को भी ग्रहण करने में जिसका आदर नहीं है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती है। अन्य सूक्ष्म चोरियों का इसके परित्याग नहीं है। घर में डाल कर स्वीकार कर ली गयी अथवा नहीं भी स्वीकार की गई ऐसी गृहीत और अगृहीत परस्त्रियों के प्रसंग से विरति करना चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है। यह मात्र स्वकीय स्त्री में रति को करता है। यों यावत् स्त्रियों का परित्याग नहीं होने से ब्रह्मचर्य व्रत इसका अणु समझा गया। गाय, भैंस, अन्न, खेत, मकान, चाँदी, सोना आदि का अपनी इच्छा से परिमाण कर उस अवधि का नहीं अतिक्रमण कर रहा गृहस्थ परिग्रहपरिमाण व्रती समझ लेना चाहिये। परिमित खेत आदि का ग्रहण कर रहा गृहस्थ यावत् परिग्रहों का त्यागी नहीं है। अतः इसके पाँचवां अपरिग्रहव्रत अणु यानी छोटा समझा जाता है। यहाँ पाँचों स्थानों पर पुँल्लिग पद उपलक्षण है। कर्म भूमि की तीनों लिङ्गवाले कतिपय मनुष्य स्त्रियां या नपुंसक अथवा तिर्यञ्च भी अणुव्रतों को धारण कर सकते हैं। यों अणु यानी सूक्ष्म व्रतों का धारी अगारी कहलाता है। सूत्र में कहे बिना ही केवल "अणुव्रतोऽगारी" इस सूत्र की सामर्थ्य से परिशेष न्याय अनुसार यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस पुल्लिंग पुरुष के वे पाँचों व्रत महान् हैं यानी परिपूर्ण रूप से हैं वह अनगार नाम का दूसरा व्रती है इस बात को ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट रूप से कहे देते हैं।

तत्र चाणुव्रतोऽगारी सामर्थ्यात्स्यान्महाव्रतः।
अनगार इति ज्ञेयमत्र सूत्रांतराद्विना ॥१॥

वहाँ अगारी और अनगार दो व्रतियों का निरूपण करने के अवसर पर सूत्र द्वारा एक सूक्ष्म व्रतवाले को अगारी कह देने की सामर्थ्य से यहाँ अन्य सूत्र के बिना ही "महान् व्रतों का धारी पुरुष अनगार है" यों दूसरा व्रती समझ लेना चाहिये। अतिसंक्षेप से अमेय प्रमेय का कथन कर रहे सूत्रकार महाराज सामर्थ्यसिद्ध तत्त्व की प्रतिपत्ति कराने के लिये पुनः अन्य सूत्रों को नहीं रचते फिरते हैं। गम्भीर वक्ताओं को व्याख्याकारों के लिये भी बहुत सा सामर्थ्यसिद्ध प्रमेय स्पष्टोक्ति नहीं किये छोड़ना पड़ता है। उदात्त गृहस्थ परोसने योग्य सभी भोजनों को नहीं हड़प जाता है।

दिग्विरत्यादिसंपन्नः स्यादगारीत्याह;—

यहाँ प्रश्न उठता है कि अणुव्रती और महाव्रती में क्या इतना ही अन्तर है कि एक के घर होते हुये छोटे पाँच व्रत हैं और दूसरे के गृहपरित्याग के साथ पाँचों महान् व्रत हैं। अथवा क्या अन्य-भी कोई विशेष है इस प्रकार प्रश्न उतरने पर दिग्विरति, देशविरति आदि सात शीलों से भी सम्पत्तियुक्त अगारी होगा। इस बात को सूत्रकार महाराज स्पष्टरीत्या कर रहे हैं॥

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

१ दिग्विरति नाम के व्रत से सम्पन्न, २ देशविरति नामक व्रत से युक्त, ३ अनर्थदण्ड विरति नामक व्रत से सहित ४, सामायिक व्रत से आलीढ, ५ प्रोषधोपवास से परिपूर्ण, ६ उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत से उपचित, ७ और अतिथिसंविभागव्रत से आढय भी अगारी होना चाहिये। सूत्रोक्त समुच्चायक च शब्द करके आगे कही जाने वाली सल्लेखना से भी युक्तगृही होना चाहिये। अर्थात् चार दिशायें चार विदिशाएँ, ऊर्ध्व, अधः यों दश दिशाओं में प्रसिद्ध हो रहे हिमालय, विन्ध्यपर्वत महानदी आदि की मर्यादा करउससे बाहर मरण पर्यन्त जाने, मगाने आदि का नियम ग्रहण करना दिग्विरति व्रत कहा जाता है। नियत क्षेत्र से बाहर स्थित हो रहे त्रस और स्थावर सभी जीवों की विराधना का अभाव हो जाने से गृहस्थ भी महाव्रती के समान आचरण करता है। उस दिग्विरति के ही भीतर गाँव, नदी, खेत, घर आदि प्रदेशों की सीमा तक ही गमन, प्रेषण, व्यापार, आदि का परिमित काल तक नियम करना देशविरति व्रत है। इन व्रतों से परिणामों में सन्तोष होता है और लोभ का निराकरण होता है। उपकार न होते हुये पाँच प्रकारके अनर्थदण्डों का परित्याग करना अनर्थ दण्डविरति व्रत है। सम्पूर्ण जीवों में साम्यभाव रखते हुये शुभभावनाओं को बढ़ाकर आर्त्त, रौद्र, ध्यान का परित्याग करना अथवा बहिर्भावों का परित्याग कर रागद्वेष नहीं करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक आत्मीय भावों में ध्यान युक्त बने रहना सामायिक व्रत है। सामायिक करते समय अणु और स्थूल हिंसा आदिक कदाचारों की निवृत्ति हो जाने से गृहस्थ भी उपचार से महाव्रती हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण का उदय है अतः दिगम्बर दीक्षा ग्रहण, केशलोंच, सातमें गुणस्थान का ध्यान नहीं होने से मुख्य महाव्रत नहीं कहे जा सकते हैं। प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चौदश, को साम्यभावों की दृढ़ता के लिये अन्न पान खाद्य लेह्य स्वरूप चार प्रकार के आहार का परित्याग करना प्रोषधोपवास है। सम्पूर्ण पापक्रियायें आरम्भ, शरीर संस्कार पूजन प्रकरणातिरिक्तस्नान, गन्धमाल्य, भूषण, आदि का त्याग करता हुआ पवित्र प्रदेश, या मुनिवास, चैत्यालय के निकट स्थल, स्वकीय प्रोषधोपवास गृह, प्रभृति में ठहर रहा धर्मकथा को सुनकर आत्म चिन्तन कर रहा एकाग्र मन हो कर उपवास करने वाला श्रावक प्रोषधोपवास व्रती है। भोजन, पान, माला, आदिक उपभोग, और वस्त्र, गृह, वाहन, डेरा आदिक परिभोगों में परिमाण करना भोग परिभोग परिमाण है। जैन सिद्धान्त में त्रस घात, बहुवध, प्रमाद विषय, अनिष्ट, अनुपसेव्य इन विषयों के भेद से पाँच प्रकार भोग परिसंख्यान माना गया है। जिस का कि भोग्य अभोग्य में विचार करना पड़ता है। त्रस घात और बहुस्थावरघात तो जीव हिंसा की अपेक्षा अभोग्य है। शेष तीन शुद्ध होते हुये भी प्रमाद का कारण, प्रकृति को अनिष्ट और लोक में अनुपसेव्य होने से परित्यजनीय हैं। अतिथि के लिये भिक्षा, उपकरण, औषध, आश्रय, के भेद से निर्दोष द्रव्यों का प्रदान करना अतिथि संविभाग है। अपने लिये बनाये गये शुद्ध भोजन का देना अथवा धर्म के उपकरण पिच्छिका पुस्तक कमण्डलु, आर्यिका के लिये वस्त्र आदि रत्नत्रय वर्द्धक पदार्थों का देना परम धर्म की श्रद्धा कर के औषध और आवास का प्रदान करना अतिथि संविभाग व्रत है। इन सात शीलों से सम्पन्न भी गृही होना चाहिये। यहाँ सम्पन्न शब्द साभिप्राय है जैसे कोई बड़ा श्रीमान् (धनाढ्य) निज सम्पत्ति से अपने को भाग्यशाली मानता रहता है, मेरे कभी लक्ष्मी का वियोग नहीं होवे ऐसी सम्पन्न बने रहने की अनुक्षण भावना भावता रहता है। उसी प्रकार गृहस्थ इन व्रतोंसे अपने को महान् सम्पत्तिशाली बने रहने का अनुभव करता रहे।

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक्, न पुनर्द्रव्यान्तरं तस्य निरस्तत्वात्। आदित्यादिगतिविभक्तस्तद्भेदः पूर्वादिर्दशधा। ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेन्न। उपसर्जनानभिसंबंधत्वात्।

अखण्ड आकाश में परमाणु के नाप से न्यारे न्यारे विभक्त गढ़ लिये गये प्रदेशों की पंक्ति को दिशा कहते हैं। किन्तु फिर वैशेषिकों के मत समान कोई दिशा निराला द्रव्य नहीं है। उस दिशा के द्रव्यान्तरपने का निराकरण किया जा चुका है। अर्थात् वैशेषिकों ने संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग इत्यादि गुणों वाले दिशा द्रव्य को स्वतन्त्र नौ द्रव्यों में गिनाया है। किन्तु सुदर्शन मेरु की जड़ से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः की ओर कल्पित कर ली गयी सूधी आकाश प्रदेश श्रेणी के अतिरिक्त कोई दिशा द्रव्य नहीं ठहरता है। सहारनपुर से श्री सम्मेद शिखरजी तक की पूर्व दिशा ही कलकत्ता वालों के लिये पश्चिम दिशा बन जाती है। जम्बू द्वीप के सभी स्थानों से सुदर्शन मेरु पर्वत उत्तर में पड़ता है। इस ढंग से दिशाओं में आपेक्षिक परिवर्तन होता देखा जा रहा है। ऐसी आकाश द्रव्य में कल्पित कर ली गयी दिशायें या विदिशायें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। सूर्य का उदय होना, सूर्य का अस्त हो जाना इस से नाप ली गयी सूर्य चन्द्र आदि की गति करके उस दिशा के भेद विभाग को प्राप्त हो रहे हैं। पूर्वा आदि यानी पूर्वदिशा, दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा, उत्तरदिशा, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, ईशानदिशा, आग्नेयदिशा, नैऋत्यदिशा, वायव्यदिशा यों दश प्रकार की वह दिशा है। ध्रुव तारे से भी उक्त दिशा का परिज्ञान कर पुनः चारों दिशाओं की परिच्छित्ति कर ली जाती है॥ नियत परिमाण वाले ग्राम, नगर, घर, नदी, आदिकों का प्रदेश तो देश कहा जाता है। कुछ भी उपकार नहीं करते हुये मात्र पापों को ग्रहण करने का निमित्त हो रहा पदार्थ अनर्थदण्ड है। दिशश्च, देशाश्च, अनर्थदण्डाश्च यों द्वन्द्वसमास कर पुनः दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः। यह पञ्च भी तत्पुरुष समास कर लिया जाय, तीनों पदों में हुये द्वंद्व के अन्त में पड़े हुये विरति शब्द का प्रत्येक पद के साथ पिछली ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। यों पहिले के तीन व्रतों के नाम दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति हो जाते हैं। यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में विरति पद का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का अधिकार चला आ रहा होने से विरति शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है यों विरति का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना क्योंकि उपसर्जन हो रहे दिग्देश, और अनर्थपदों के साथ उस विरति शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकता है अर्थात् "दिग्देशा" आदि सूत्र में सम्पन्नः पर्यन्त एक समसित पद है। पूरे पद के साथ तो विरति शब्द की अनुवृत्ति की जा सकती थी किन्तु गौण हो रहे केवल एक देश के साथ अधिकृत पद को बीच ही में नहीं जोड़ा जा सकता है। तिस कारण सूत्रकार को पुनः विरति शब्द का कण्ठोक्त ग्रहण करना पड़ता है।

एकत्वेन गमनं समयः, एकोऽहमात्मेति प्रतिपत्तिर्द्रव्यार्थादेशात् कायवाङ्मनःकर्म पर्यायार्थार्पणात्, सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्येकनिश्चयनं वा व्रतभेदार्पणात्, समय एव सामयिकं समयः प्रयोजनमस्येति वा। उपेत्य स्वस्मिन् वसंतींद्रियाणीत्युपवासः। स्वविषयं प्रत्यव्यापृतत्वात् प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।

तीन गुणव्रतों का विवरण कर दिया है अब आचार्य महाराज शिक्षाव्रतों में से पहिले सामा-

थिक का निरूपण करते हैं एकपने करके गमन होना समय है। सम् उपसर्ग पूर्वक "अय् गतौ" धातु से समय शब्द बनाया गया है। यहाँ सम् उपसर्ग एकीभाव अर्थ में प्रवर्तता है। जैसे कि चून में घी मिल गया दूध में बूरा एकम एक होकर संगत हो गया है। इन स्थलों पर पर सम् का अर्थ एकम एक मिल जाना है "अय्" धतु का अर्थ गमन यानी प्राप्ति हो जाना है। "समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना,—आर्त रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्" स्वातिरिक्त परद्रव्य को भिन्न समझते हुये औपाधिक विभाव परिणतियों से हटा कर आत्मा की स्वयं में एकपने से प्राप्ति करलेना समय है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से और शरीर वचन मनोंकी क्रियायें स्वरूप पर्यायों को जतानेवाली पर्यायार्थिक नयकी अविवक्षा से मैं अकेला ही आत्मा हूँ इस प्रकार एकपने से जानते रहना समय है। अथवा अहिंसा आदि व्रतों के भेद की अर्पणा करने से आत्मा का सम्पूर्ण सावद्य योगों से निवृत्ति स्वरूप एक निश्चय करना समय है। समय ही सामायिक है वह स्वार्थ में ठण् प्रत्यय कर लिया है। अथवा प्रयोजन अर्थ में भी ठण् प्रत्यय कर लिया जाय पूर्वोक्त समय होना व्रत का प्रयोजन है वह सामायिक है यों सामायिक शब्द साधु बन जाता है "अय्" से घञ् प्रत्यय कर समीचीन आय का समाय बना-लिया जाय पुनः ठण् प्रत्यय कर भी सामायिक शब्द बन जाता है। शब्द, गंध, आदि के ग्रहण में निरुत्सुक होकर जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ स्व में ही निवास करने लग जाती हैं इस कारण यह उपवास है। खाद्य लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग हो जाना इसका अर्थ है। क्यों कि इन्द्रियां अपने अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, विषयों के प्रति व्यापार नहीं कर रही हैं। प्रोषध यानी अष्टमी, चतुर्दशी इन दो पर्वों में उपवास करना प्रोषधोपवास है। जघन्य आठ प्रहर के उपवासों में भी दो रात्रि और बीच का पूर्ण दिन यों बारह प्रहर तक चार प्रकार के आहार का त्याग करना पड़ता है, चतुर्दशी या अष्टमी के प्रातः काल से नवमी या पन्द्रस के प्रातः काल तक उपवास की प्रतिज्ञा लेता है अतः वह उपवास आठ प्रहर का समझा जाता है यह उपवासी सम्भवतः सातें या तेरस की रात को कुछ गृहार म्भ कर लेवे इस कारण चौदस को प्रातः उपवास माड़ता है।

उपेत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः, परित्यज्य इति परिभोगः पुनः पुनर्भुज्यत इत्यर्थः स वस्त्रादिः। परिमाणशब्दः प्रत्येकमुभाभ्यां संबंधनीयः। संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः। न विद्यतेस्य तिथिरिति वा तस्मै संविभागः प्रतिश्रयादीनां यथायोगमतिथिसंविभागः।

उपेत्य यानी अपने अधीन कर जो एक बार में ही भोग लिया जाता है इस कारण भोजन, पान पुष्पमाला, चन्द्रनलेप आदिक उपभोग पदार्थ हैं। और एक बार भोग के छोड़ कर पुनः उसी को भोगा जाता है इस कारण भूषण आदि परिभोग हैं। पुनः पुनः पदार्थ भोगा जा रहा है यह इस परिभोग का अर्थ है। वे परिभोग वस्त्र, भूषण, पलंग, घोड़ा, गाड़ी, मोटरकार, घर, तम्बू आदिक हैं। एक धनाढ्य राजा एक बार जिस वस्त्र को पहन लेता था उसको दुबारा नहीं पहनता था ऐसी दशा में वस्त्र उसके उपभोग में गिना जायगा परिभोग में नहीं। परिमाण शब्द का दोनों के साथ प्रत्येक प्रत्येक में सम्बन्ध कर लेना चाहिये। उपभोग का परिमाण और परिभोग का परिमाण ये दोनों एक व्रत हैं। "अत सातत्यगमने" धातु से अतिथिशब्द बनाया गया है। व्रतधारण, समितिपालन, कषायनिग्रह, दण्डत्याग, इन्द्रियजय, स्वरूप संयम की नहीं विराधना करता हुआ जो सर्वदा प्रवर्तता है इस कारण वह अतिथि है, अथवा तिथि शब्द के साथ नञ् समास कर अतिथि शब्द बनाया जाय। जिस के कोई अष्टमी, चौदस, द्वितीया, पञ्चमी, एकादशी आदि तिथियों का विचार नहीं है अतः वह अतिथि है। उस अतिथि के लिये वसति-

का, शास्त्र, कमण्डलु आदिकों का जो यथायोग्य समीचीन विभाग यानी दान करना है वह अतिथि-संविभागव्रत है।

व्रतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, सम्पन्नशब्दश्च तेन दिग्विरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योज्यम्। व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्, उक्तमत्र चोपसर्जनानभिसंबन्धादिति। तत इदमुच्यते—

इस सूत्र में द्वन्द्वसमास के अन्त में पड़े हुये व्रत शब्द का प्रत्येक के साथ सात पदों के पीछे सम्बन्ध कर लिया जाता है तथा सम्पन्न शब्द का भी प्रत्येक के साथ योग लग रहा है, तिस कारण दिग्विरतिव्रतसम्पन्न, देशविरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योजना कर लेना योग्य है। आदि पद कर लिये गये अनर्थदण्डविरतिव्रतसम्पन्न, सामायिकव्रतसम्पन्न, प्रोषधोपवासव्रतसम्पन्न, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत-सम्पन्न, अतिथिसंविभागव्रतसम्पन्न ऐसा उक्त सात व्रतोंवाला भी गृहस्थ होना चाहिये। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि इस सूत्र में व्रत शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि उपरिम सूत्रों से व्रत की अनुवृत्ति हो ही जायगी यों आक्षेपकार्के पर ओ[illegible] हैं कि इस विषय में हम उत्तर कह चुके हैं कि उपसर्जन यानी गौण हो चुके पद का पुनः काट छांट कर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का व्रत शब्द बहुत दूर पड़ चुका है। तथा व्रत-सम्पन्नः इस अर्थ को कहने के लिये वह लक्ष्यभूत स्वतन्त्र व्रत शब्द उपयोगी भी नहीं पड़ता है। "निश्श-ल्यो व्रती" इस सूत्र में यद्यपि व्रत शब्द है तथापि प्रधानभूत व्रती में वह गौण हो चुका है अतः व्रत शब्द यहां कण्ठोक्त किया गया है। अब तक सूत्रोक्त पदों का विवरण किया जा चुका है। तिस कारण इसको वार्तिकों द्वारा यों कहा जा रहा है कि—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिर्या विशुद्धिकृत्।
सामायिकं त्रिधा शुद्धं त्रिकालं यदुदाहृतं ॥१॥
यः प्रोषधोपवासश्च यथाविधि निवेदितः।
परिमाणं च यत्स्वस्योपभोगपरिभोगयोः ॥२॥
आहारभेषजावासपुस्तवस्त्रादिगोचरः।
संविभागो व्रतं यत्स्याद्योग्यायातिथये स्वयं ॥३॥
तत्संपन्नश्च निश्चेयोऽगारीति द्वादशोदितः।
दीक्षाभेदा गृहस्थस्य ते सम्यक्त्वपुरःसराः ॥४॥

दिशाओं, देशों, और अनर्थदण्डों से जो विरति है वह आत्मा की विशुद्धि को करने वाली है। और आत्मविशुद्धि को करने वाला तीनों कालों में शुद्ध किया गया तीन प्रकार जो सामायिक कहा गया है वह चौथा व्रत है। एवं शास्त्रोक्त विधिका अतिक्रमण नहीं कर जो प्रोषध में उपवास होता है वह प्रोष-धोपवास समझा दिया गया है। तथा अपने उपभोग और परिभोग पदार्थों का जो परिमाण करना है वह उपभोगपरिभोगपरिमाण नाम का छठा शील है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती आदि योग्यतावाले अतिथि के लिये जो स्वयं अपने हाथों से आहार, औषधि, निवास स्थान, पुस्तक, वस्त्र, कमण्डलु आदि यथायोग्य विषयों में हो रहा समीचीन विभाग करना है वह अतिथिसंविभाग व्रत है। उन अहिंसादि पाँच व्रतों से और इन सात व्रतों (शीलों) से भी सम्पन्न हो रहे अगारी का निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार

गृहस्थ की दीक्षा के भेद बारह कहे गये हैं। इन बारह व्रतों को गृहस्थ के उत्तर गुण भी कहते हैं। वे सब बारहों व्रत सम्यक्त्व को पूर्ववर्ती मान कर होने चाहिये। अर्थात् सम्यक्त्व पूर्वक होंगे तभी वे व्रत या गृहस्थ दीक्षा के भेद कहे जा सकते हैं। मिथ्यादृष्टि के कदाचित् पाये जा रहे भी अहिंसा आदिक परिणाम कथमपि व्रत नहीं कहे जाते हैं।

कुतः कारणाद्दिग्विरतिः परिमिताच्च समाश्रीयते यतो विशुद्धिकारिणी स्यादिति चेत्, दुष्परिहारक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्दिनिवृत्तिस्तत्परिमाणं च योजनादिभिर्ज्ञातवद्भिः। ततो आगमनेऽपि प्राणिवधाद्यभ्यनुज्ञातमिति चेन्न, निवृत्त्यर्थत्वात्तद्वचनस्य कथंचित्प्राणिवधस्य परिहारेण गमन-सम्भवात्। तृष्णाप्राकाम्यनिरोधनतन्त्रत्वाच्च तद्विरतेर्महालाभेऽपि परिमितदिशो बहिरगमनात्। ततो बहिर्महाव्रतसिद्धिरिति वचनात्।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि-किस कारण से परिमित स्थान से दिग्विरति व्रत का भले प्रकार आश्रय लिया जा रहा है ? जिस से कि वह दिग्विरति अणुव्रती के लिये आत्मविशुद्धि को करने वाली हो सके। यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं कि जिन का बड़ी कठिनता से रक्षार्थ परिहार हो सकता है ऐसे छोटे-छोटे जन्तुओं करके ये दिशायें प्रायः भरपूर हो रही हैं इस कारण अहिंसा व्रतकी पुष्टि के लिये उन दिशाओं की विशेषतया निवृत्ति करनी चाहिये। अर्थात् छोटे छोटे जन्तु सर्वत्र भरे हुये हैं अतः अवधिभूत दिशाओं के बाहर गमनागमन नहीं करने से उन जन्तुओं की रक्षा हो जाती है। तथा लोक प्रसिद्धि अनुसार जाने जा चुके अथवा प्रसिद्ध हो रहे योजन, समुद्र, नदी, वन आदि चिन्हों करके उन दिशाओं का परिमाण कर लेना चाहिये। दिग्विरति करके सीमाके बाहर सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो जाने से गृही मुनि के समान भासता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि उस दिशा का परिमाण करने से भले ही व्रती सीमा के बाहर गमन नहीं करता है तो भी उन परिमित दिशाओं के भीतर स्थित हो रहे प्राणियों के वध आदि को उस व्रती ने अवश्य स्वीकार कर लिया है अन्यथा दिशाओं का परिमाण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि व्रती पुरुष के प्रति उस दिग्विरति का कथन करना निवृत्ति के लिये है। सीमा के भीतर भी यथा योग्य प्राणियों के वध का परिहार करते हुये उस व्रती का गमनागमन करना सम्भवता है। दिग्विरति की सीमा के बाहर जीव वध की निवृत्ति के लिये जो उद्यत हो रहा है और सीमा के भीतर भी पूर्णरूप से निवृत्ति करने के लिये अशक्य है वह बहुत प्रयोजन के होते हुये भी परिमित अवधि से बाहर कथमपि गमन नहीं करूँगा ऐसा प्रणिधान कर रहा है अतः कोई दोष नहीं आता है। जो महाव्रत धारण करने के लिये भावना कर रहा गृही आज दिग्विरतिव्रत को पाल रहा है तो कुछ दिनों पश्चात् वह सर्वत्र अहिंसा महाव्रत पालने के लिये समर्थ हो जायगा। क्रम क्रम से चढ़ने वाले अभ्यासी के लिये उतावलापन करना उचित नहीं। एक बात यह भी है कि उस दिग्व्रत का पालन यथेच्छ बढ़ी हुई तृष्णा के रोके जाने की अधीनता से हुआ है। मणि, रत्न, आदिका महान् लाभ होने पर भी परिमित दिशा के बाहर उस व्रती का गमन नहीं होता है। तिस कारण अहिंसाणुव्रत के धारी इस व्रती के परिमित अवधि के बाहर नवभंगों करके हिंसा आदि सर्व पापों की निवृत्ति हो जाने से महाव्रत की सिद्धि हो जाती है ऐसा आचार शास्त्रों में कथन किया गया है। अर्थात् दिग्विरत अणुव्रती भी महाव्रती के समान समझा जाता है "अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते; प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्पन्ते" (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) "दिग्व्र-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
तेभ्यो द्रिक्त वृत्तेन कषायोदयमान्द्यतः महाव्रतायतेऽलक्ष्यमाहुः गेहिन्यणुव्रतम्" (सागारधर्मामृत) अन्य ग्रन्थों का भी यही अभिप्राय है ॥

तथैव देशविरतिर्विशुद्धिकृत् । अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यानपापोपदेशप्रमादचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् । ततोऽपि विरतिर्विशुद्धिकारिणी । नरपतिजयपराजयादिसंचिंतनलक्षणादपध्यानात् क्लेशतिर्यग्वणिज्यादिवचनलक्षणात्पापोपदेशात् निःप्रयोजनवृक्षादिछेदनभूमिकुट्टनादिलक्षणात्प्रमादाचरितात् विषशस्त्रादिप्रदानलक्षणाच्च हिंसाप्रदानात् हिंसादिकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिलक्षणाच्चाशुभश्रुतेर्विरतेर्विशुद्धपरिणामोत्पत्तेः॥

जिस प्रकार दिग्विरति विशुद्धिकारिणी है उस ही प्रकार देशविरति भी विशुद्धि को करनेवाली है। मृत्युपर्यन्त की गई दिग्विरति के भीतर ही घर, पर्वत, ग्राम आदि देशों की अवधि कर प्रतिदिन, पक्ष, महीना, चार महीना, वर्ष आदि कुछ काल तक मर्यादा करता है वह देशव्रती है। इस के भी मर्यादा के बाहर सर्वसावद्य की निवृत्ति हो जाने से महाव्रतोपना उपचरित है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, अशुभश्रुति, के भेद से अनर्थदण्ड पांच प्रकार का है। उन अनर्थदण्डों से भी विरति करना आत्मविशुद्धि को करने वाला है। तहाँ राजाओं का जय, पराजय, अंगच्छेदन, धनहरण आदि का बार बार चिन्तन करना स्वरूप आर्त, रौद्र अपध्यान से विरति हो जाने पर आत्मा के विशुद्धपरिणाम उपजते हैं। एवं क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या हिंसा, आरम्भ आदि का कथन करना स्वरूप पापोपदेश से विरति हो जाने के कारण विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। प्रयोजन के बिना ही वृक्ष आदि का छेदन करना, भूमि खोदना, आग बुझाना, पानी सींचना, वायु का आरम्भ करना, व्यर्थ यहां वहां डोलना, आदि स्वरूप प्रमादाचरित से विरक्ति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। तथा हिंसा के उपकरण हो रहे विष, शस्त्र, अग्नि, लट्ठ, चाबुक, लेज आदि का प्रदान करना स्वरूप हिंसा प्रदान से गृहस्थ की विरति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणतियां उपजती हैं एवं चित्त में कलुषता को करने वाली हिंसा आदि की कथाओं को सुनना या उनको सीखने, सिखाने का व्यापार करना आदि स्वरूप अशुभ श्रुति नामक अनर्थदण्ड से विरति हो जाने से भी विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है ॥

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थं तेनानर्थदण्डात्पूर्वयोर्दिग्देशविरत्योरुत्तरयोश्चोपभोगपरिमाणयोरनर्थकं चंक्रमाणादिकं विषयोपसेवनं च न कर्तव्यमिति प्रकाशितं भवति ततो विशुद्धिविशेषोत्पत्तेः । सामायिकं कथं त्रिधा विशुद्धिदमिति चेत्, प्रतिपाद्यते । सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ततो विशुद्धिरणुस्थूलकृताहिंसादिनिवृत्तेः । संयमप्रसंगः संयतासंयतस्यापीति चेन्न, तस्य तद्घातिकर्मोदयात् । महाव्रतत्वाभाव इति चेन्न, उपचाराद्राजकुले सर्वगतचैत्रवत् ।

पूर्ववर्ती दिग्व्रत और देशव्रत तथा उत्तरवर्ती उपभोगपरिमाण और परिभोग परिमाण के मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण करना तो पूर्ववर्ती और उत्तवर्तीव्रतों के अतिरेक का अनर्थकपना समझाने के लिये है तिस करके अनर्थदण्डविरतिके पूर्व में कहे गये नियत परिमाण वाले दिग्विरति और देश विरति तथा अनर्थदण्डव्रत से पीछे उत्तरवर्ती हो रहे नियत कर लिये गये उपभोगपरिमाण और परिभोगपरिमाण व्रतों में भी व्यर्थ का भ्रमण चंक्रमण आदि करना और निरर्थक विषयों का सेवन करना आदि कर्म नहीं करने चाहिये यह मध्य में अनर्थदण्डव्रत के डालने से प्रकाशित हो जाता है। उस अनर्थदण्डविरति से

आत्मा में विशुद्धि विशेष की उत्पत्ति होती है। यहां सामायिक व्रत में कोई प्रश्न उठाता है कि उक्त वार्तिकों में सामायिक को किस प्रकार तीन प्रकार शुद्ध या तीन भेद से विशुद्धि को देने वाला कहा गया है ? बताओ। यों कहने पर आचार्य महाराज समझाये देते हैं कि इतने देश और इतने काल में साम्यभाव करना इस प्रकार नियत कर लिये गये सामायिक में स्थित हो रहे व्रती पुरुष के पूर्व के समान महाव्रत सहितपना समझ लेना चाहिये अर्थात् दिग्व्रत देशव्रत में जैसे सीमा के बाहर महाव्रतपना है उसी प्रकार नियतदेश नियतकाल तक सामायिक में उद्युक्त हो रहे व्रती के उतने समय तक महाव्रतीपना है, उस सामायिक नामक मोक्षोपयोगी पुरुषार्थ से आत्मा में विशुद्धियां, निर्मलतायें, उपजती हैं क्योंकि सामायिक-व्रती के अणुरूप से किये गये और स्थूल रूप से किये गये हिंसा, झूंठ आदि सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो रही है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि तब तो त्रस वधत्याग की अपेक्षा संयत और स्थावर वध के नहीं त्याग की अपेक्षा असंयत हो रहे संयतासंयत गृहस्थ के भी महाव्रत हो जाने के कारण संयम धार लेने का प्रसंग आ जावेगा। आगम में छठे गुणस्थान से ऊपर संयम माना गया है, पांचवें गुणस्थान में संयम नहीं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सर्वसावद्य निवृत्ति स्वरूप सामायिक में स्थित हो रहे उस व्रती के उस संयम का घात करने वाले प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है। इस कारण संयमभाव नहीं कहा जा सकता है। अन्तरंग में प्रत्याख्यानावरण कर्म का अनुदय होने पर और बहिरंग में दिगम्बरदीक्षा, केशलोंच आदि विधि के साथ जब आत्मास्वरूप चिन्तन किया जायगा तभी संयम बन सकता है अतः गृहस्थ के एक देश संयम माना गया है। इस पर कोई पुनः कटाक्ष करता है कि अन्तरंग में यदि प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है तब तो निवृत्ति रूप परिणाम नहीं हो सकते हैं अतः सामायिक में आगूर्ण हो रहे श्रावक के महाव्रतीपना नहीं बन सकता है, जो कि आपने अभी कहा था। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अणुव्रती के उपचार से महाव्रतीपना कहा गया है जैसे कि राजा के कुल यानी परिवार में चैत्र यानी विद्यार्थी का सभी स्थानों पर चले जाना कह दिया जाता है। अर्थात् महाराज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रख रहा कोई विनीत विद्यार्थी अनेक स्थानों पर पहुंच जाता है या लघुवयस्क उपनय ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये अन्तःपुर में भी चला जाता है जहां कि साधारण पुरुष नहीं जा पाते हैं किन्तु स्नानगृह, शयनगृह, अन्तरंग भाण्डागार आदि गुप्तस्थानों पर नहीं जा पाता है। फिर भी बहिरंग लोक उस ब्रह्मचारी को "राजकुल में सर्वत्र इस की गति है" ऐसा व्यवहार कर देते हैं। उसी प्रकार यहां भी अणुव्रती श्रावक को उपचार से महाव्रत धारकपना व्यवहृत है।

कः पुनः प्रोषधोपवासो यथाविधीत्युच्यते–स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् इत्युपवासविधिर्विशुद्धिकृत्, स्वशरीरसंस्कारकरणत्यागाद्धर्मश्रवणादिसमाहितान्तःकरणत्वात् तस्मिन् वसति निरारम्भत्वाच्च।

यहाँ कोई फिर पूँछता है कि पाँचवां शील प्रोषधोपवास भला क्या है ? यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर वार्तिक में कहे गये और निरुक्ति अनुसार प्राप्त हो चुके प्रोषधोपवास को शास्त्रोक्त विधि अनुसार यों बखाना जाता है, प्रोषधोपवास की विधि इस प्रकार है कि जितेन्द्रिय पुरुष रागवर्द्धक स्नान करना, गन्ध-माला पहिरना, भूषण-वस्त्र धारण करना आदि करके विरहित हो कर पवित्र अवकाश स्थल में उपवास मांडे, अथवा साधुओं के निवासस्थल या चैत्यालय एवं अपने घर में न्यारे बने हुये प्रोषधोपवास गृह में धर्म कथा को सुनता सुनाता हुआ या ध्यान करता सन्ता आरम्भ परिग्रह रहित हो रहा श्रावक उपवास करे। इस प्रकार उपवास की विधि है, जो कि परम विशुद्धि को करने वाली है क्यों कि अपने

शरीर सम्बन्धी संस्कारों के करने का त्याग हो रहा है और धर्म श्रवण, आत्मध्यान, स्वाध्याय, आदि मन एकाग्र हो कर लग रहा है। अतः "उपेत्य वसति तस्मिन्" इन्द्रियों की स्वतन्त्र वृत्ति का संकोच कर शुद्ध आत्मीय स्वरूप में यह जीव निवास करता है। एक बात यह भी है कि आरम्भ परिग्रहों से आकुलता या संक्लेश बढ़ते हैं। उपवास में आरम्भरहित हो जाने से भी आत्म विशुद्धि बढ़ती है॥

भोगपरिभोगसंख्यानं पञ्चविधं, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमणं विशुद्धिदं, मद्यं प्रमादनिमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयमन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्सकलव्रतविलोपप्रसंगः। केतक्यर्जुनपुष्पादिमाल्यं जन्तुप्रायं शृंगवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदंशकमनन्तकायव्यपदेशं च बहुवधं तद्विषयं विरमणं नित्यं श्रेयः। श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात्। यानवाहनादियद्यस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयं। चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यमस्पमशिष्टसेव्यत्वात् तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव। ततोऽन्यत्र यथाशक्ति स्वविभवानुरूपं नियतदेशकालतया भोक्तव्यं।

जैन सिद्धान्त में त्रसों के घात और प्रमादवर्द्धक विषय तथा बहुस्थावरवध एवं अनिष्ट तथैव अनुपसेव्य विषय इन पांच विषयों के भेद से भोगोपभोगों की परिसंख्या करना पाँच प्रकार है। बाईस अभक्ष्य केवल इन्हीं का विस्तार [illegible] अभक्ष्यों का बाईस में नाम भी नहीं है तथा अनिष्ट अनुपसेव्य और मादक पदार्थों के त्याग का भी यथेष्ट वर्णन नहीं है अतः प्राचीन आम्नाय अनुसार अभक्ष्य पाँच ही मानने चाहिये। पाँच उदुंबर, तीन मकार, ओला, विदल, रात्रिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, कंद मूल, अज्ञातफल, अचार, विष, मांटी, बरफ, तुच्छफल, चलितरस, मक्खन, इन में कुछ पुनरुक्त हैं और कितने ही अभक्ष्य इनमें गिनाये नहीं गये हैं। मांसत्यागव्रत, मधुत्यागव्रत और मद्यत्यागव्रत के अतीचारों में से या यहाँ वहाँ के अप्रासंगिक कुछ अभक्ष्यों का नाम ले देने से बाईस की संख्या भर ली गयी है जो कि अव्याप्ति और अतिप्रसंग दोषों से खाली नहीं है। किन्हीं का अनुकरण किया गया दीखता है, आस्तां। उन पाँच अभक्ष्यों में प्रथम मधु और मांस तो त्रस जीवों के घात से उपजते हैं अतः उन मधु मांस में सर्वदा विरति करना आत्मविशुद्धि को देने वाला है। मद्य यानी शराब तो प्रमाद का निमित्त है अतः उस मद्य के विषय में हो रहा परित्याग भी भले प्रकार करना चाहिये अन्यथा यानी मद्यको त्यागे बिना उस मद्य के उपसेवन से किये गये प्रमाद से अहिंसा, सत्य आदि सम्पूर्ण व्रतों के विलोप होने का प्रसंग आ जायगा। गुड़, जौ, धाय के फूल, अंगूर, धतूरा, आदि को सड़ा गलाकर बनाया गया मद्य तो असंख्य त्रस जीवों के घात का हेतु भी है। किन्तु प्रासुक निर्जीव बना लिया मद्य भी मादक होने से अभक्ष्य है। जैसे कि सूखी भांग, धतूरा, अहिफेन आदि अभक्ष्य हैं। केतकी (केवड़ा), अर्जुन के फूल आदि की मालायें प्रायः बहुत से त्रस जन्तुओं के अवलम्ब हैं। बहु स्थावर वध भी होता है। अतः केवड़ा आदि के उपभोग का विरमण करना श्रेष्ठ है। तथा सचित्त हो रहे शृंगवेर यानी सोंठ, मूलक यानी मूली, गाजर आदि मूल पदार्थ, अदरक, हल्दी, निम्बपुष्प आदिक और उपदंशक कन्द ये सब सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतियाँ अनन्तकाय नाम को धारती हैं। इनके खाने या वर्तने से बहुत से (अनन्तानन्त) स्थावर जीवों का वध होता है। अतः गृहस्थ को उनमें आखड़ी कर सर्वदा विरक्ति करना श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि श्रावकपने की विशुद्धि का हेतु वह बहुवध का त्याग है। गाड़ी, मोटर, रेलगाड़ी आदिक यान पदार्थ और घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि वाहन पदार्थ एवं गृह, नदीजल, मिरच आदि जो जो पदार्थ जिसको अनिष्ट पड़ते हैं या प्रकृति को अनुकूल नहीं हैं उन उन विषयों के परिभाग का जीवन पर्यन्त

परित्याग करना चाहिये भले ही इन अनिष्ट पदार्थों में त्रस घात या बहुस्थावरघात नहीं है तथापि प्रकृति को अनुकूल नहीं पड़ने से धर्मके सुधारनेशरीरकी वृद्धिका कारण होने से अनिष्ट पदार्थों का यावज्जीव त्याग कर देना चाहिये। भोजन में भी जो दही, दूध, मक्का, केला, आदिक यदि शरीर प्रकृति को अनिष्ट पड़ते हैं तो वे उस व्यक्ति के लिये अभक्ष्य हैं। जिन वस्त्रों पर नाना पशु पक्षियों के कढ़ाव हो रहे हैं अथवा चमक, दमक, जिनकी खटकने योग्य है, पंचरंगे पट्टी, सीताराम, आदि शब्दों से अङ्कित आदि विकृत हो रहे चित्रवस्त्र, विभिन्न प्रकार के निन्दनीय भूषण, शृंगार, विकृत वेश, लार, उगाल, मूत्र, आदि त्यागने योग्य हैं। क्योंकि उक्त निन्दनीय परिभोग शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवनीय नहीं हैं। गुण्डे, शृंगारी, नट, बहुरूपिया आदि अशिष्ट पुरुष ही ऐसे खटकने योग्य परिभोगों को सेवते हैं अतः वे चित्र-वस्त्र आदि भले ही जीव वध पूर्वक नहीं होते हुये इष्ट भी होंय तो भी आत्म विशुद्धि में क्षति पहुंचाने वाले होने से सर्वदा ही सब ओर से त्यागने योग्य हैं। यदि यावज्जीव त्यागने की शक्ति नहीं है तो उसके सिवाय शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर अपने विभव या परिस्थिति के अनुकूल हो कर नियत देश की मर्यादा और नियत काल की मर्यादा करके भोगना चाहिये, त्यागने की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। स्त्रियों के वस्त्र, आभूषण, तो पुरुषों के लिये अनुपसेव्य पड़ जाते हैं और पुरुषों के वस्त्र, गायन, परिधावन, प्रकाण्ड अर्थोपार्जन आदि कार्य स्त्रियों के लिये अनुपसेव्य हो जाते हैं। इन कृतियों से आत्मा में उपहास, रागद्वेष परिणतियां, निर्बलतायें, स्वकर्तव्यक्षति, आदि संक्लेश हो जाते हैं। अतः इन का परित्याग करना आवश्यक बताया है। "स्वविभवानुरूपं" पद से यह भी ध्वनित हो जाता है कि आपक या संक्लेश को बढ़ाने वाले सट्टा, लाइट्री, वायदा आदि वाणिज्यों को त्याग करते हुये आत्मविशुद्धिको करने वाला भोगोपभोग संख्यान करना चाहिये। भगवान् श्री समन्तभद्राचार्य ने श्रावकाचार में भोगोपभोग संख्यान को पाँच प्रकार गिनाया है। "त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये, मद्यं च वर्जनीयं जिन-चरणौ शरणमुपयातैः ॥ १ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतक-मित्येवमवहेयम् ॥ २ ॥ यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्, अभिसन्धिकृताविरतिर्योग्याद्वि-षयाद्व्रतं भवति ॥३॥ राजवार्त्तिक में भी ऐसा ही निरूपण है ॥

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। तत्र भिक्षा निरवद्याहारः रत्नत्रयोपबृंहणमुपकरणं पुस्तकादि, तथौषधं रोगनिवृत्त्यर्थमनवद्यद्रव्यं, प्रतिश्रयो वसतिः। स्त्री-पश्वादिकृतसम्बन्धरहिता योग्या विज्ञेया। एवंविधोदितव्रतसंपन्नोऽणुव्रतो गृहस्थशुद्धात्मा प्रति-पत्तव्यः। चशब्दः सूत्रेऽनुक्तसमुच्चयार्थः प्रागुक्तसमुच्चयार्थात्। तेन गृहस्थस्य पञ्चाणुव्रतानि सप्त शीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतभांजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत्।

सातवां शील अतिथिसंविभाग व्रत तो भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय इन भेदों से चार प्रकार का है। उन चार भेदों में पहिली भिक्षा तो संयम में तत्पर हो रहे अतिथि के लिये शुद्ध चित्त से निर्दोष आहार देना है। रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के कारण हो रहे पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरण देने चाहिये। आर्यिका के लिये शाटिका वस्त्र देना उचित है। तथा रोग की निवृत्ति के लिये निर्दोष द्रव्य वाला औषध देना चाहिये। प्रतिश्रय का अर्थ यहां वसतिका है। मुनि, आर्यिका या साधुजनों के योग्य निवास स्थान का धर्म की श्रद्धा से दान दिया जाय। स्त्री, पशु, पक्षी, चोर, आदि जीवों द्वारा किये गये सम्बन्ध से रहित हो रही योग्य वसतिका समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार कहे गये सात व्रतों से सम्पन्न

हो रहा और पांच अहिंसा आदि अणुव्रतों से भूषित हो रहा गृहस्थ शुद्धात्मा है ऐसी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। इस सूत्र में च शब्द पड़ा हुआ है जो कि अनुक्त का समुच्चय करने के लिये है। आठ मूल गुणों का धारण और सप्त व्यसनों के त्याग का भी ग्रहण कर लिया जाता है। एवं पूर्व में कहे जा चुके पांच अणुव्रतों का समुच्चय करना इसका प्रयोजन है। भविष्य में कही जाने वाली सल्लेखना का भी आकर्षण कर लिया जाता है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि गृहस्थ के अहिंसादि पांच अणुव्रत हैं और गुणव्रत, शिक्षाव्रत, इन नामों को धार रहे सात शील हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक और सल्लेखनान्त ये मध्यवर्ती बारह दीक्षा के भेद गृहस्थ के हैं। जैसे कि मुनियों के महाव्रत और उनके परिरक्षक शील पाये जाते हैं। भावार्थ–जैसे मुनियों के सम्यक्त्वपूर्वक अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण तथा अन्त में सल्लेखना यों व्रतों की व्यवस्था है। उसी प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक बारहव्रत और अन्त में सल्लेखनामरण ये पूरा श्रावक धर्म है। माननीय पण्डित आशाधरजी ने कहा है कि "सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते, सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्॥"

कदा सल्लेखना कर्तव्येत्याहसम्पादक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

च शब्द करके समुच्चय करने योग्य सल्लेखना भला कब करनी चाहिये ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

तद्भवमरना स्वरूप अन्त है प्रयोजन जिसका ऐसी सल्लेखना की प्रीति को रखने वाला और समय आ जाने पर उसका सेवन करने वाला व्रती होता है। अर्थात् मरण के उपान्त्य में हो रही समीचीन रीत्या अन्न, ईहा, शरीरों की लेखना यानी पतला करना रूपी सल्लेखना में प्रीति करने वाला और सेवन करने वाला व्रती होना चाहिये॥

व्रतीत्यभिसंबन्धः सामान्यात्। स्वायुरिंद्रियबलसंक्षयो मरणं, अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थं ततः प्रतिसमयं स्वायुरादिसंक्षयोपलक्षणनित्यमरणव्युदासः। भवांतरप्राप्त्यजहद्वृत्तपूर्वभवनिवृत्तिरूपस्यैव तद्भवमरणस्य प्रतिपत्तेः मरणमेवान्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

सामान्यरूप से प्रकरण में चले आ रहे "व्रती" शब्द का यहां विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अजर, अमर नित्य, हो रहे आत्मद्रव्य का तो मरण होता नहीं है किन्तु अपने आत्मीय परिणामों से ग्रहण किये गये आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, श्वासोच्छ्वास, और बल प्राणों का कारण वश से संक्षय यानी वियोग हो जाना मरण है। इस सूत्र में अन्तशब्द का ग्रहण करना तो उस कालान्तरस्थायी पर्याय स्वरूप तद्भव के मरण की प्रतिपत्ति को कराने के लिये है। तिस कारण आद्य जीवन, मध्यजीवनों में भी प्रत्येकप्रत्येक समय में हो रहे स्वकीय आयुः, इन्द्रिय आदि का संक्षय करके उपलक्षित हो रहे नित्यमरण का निराकरण हो जाता है। अन्य भव की प्राप्ति हो जाना और अनेक भवों तक व्याप रहे ध्रौव्य स्वभावों को नहीं छोड़ कर वर्तना तथा ग्रहीत पूर्व भव सम्बन्धी स्वभावों की निवृत्ति हो जाना स्वरूप हो रहे ही तद्भवमरण की प्रतिपत्ति हो रही है। अर्थात् नित्यमरण और तद्भवमरण यों मरण दो प्रकार का है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय अनुसार सम्पूर्ण पूर्व पर्यायों का उत्तर क्षण में विध्वंस होना जान लिया जाता है। यों बाल अवस्था से लेकर वृद्ध अवस्था पर्यंत असंख्यातें नित्य मरण हो रहे हैं किन्तु

यहां तद्भवमरण का ग्रहण है अन्यथा यानी नित्यमरण की विवक्षा करने पर अन्त शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ ही पड़ता क्योंकि नित्यमरण कोई अन्तस्वरूप नहीं है। आदि में, मध्य में सदा ही होते रहते हैं। यहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय अथवा व्यवहार नय अनुसार असंख्यात समयों की एक स्थूल पर्याय का पूरी भुज्यमान आयुः के अन्त में क्षय हो जाना स्वरूप तद्भवमरण लिया गया है। प्रत्येक सत् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों धर्म घटित हो जाने चाहिये। पूर्वभव में असंख्यात समयों की स्थितिवाली बांधी गयी आयु का वर्तमान भव में उदय आ जाने के समय से प्रारम्भ कर उदय या उदीरणाकरणों करके हुये भुज्यमान आयुः के सम्पूर्ण निषेकों की पूर्णता हो जाना तद्भवमरण है। यहां आयु का अन्त हो जाने पर भवान्तर की प्राप्ति स्वरूप उत्पाद है और पूर्व भव की निवृत्ति हो जाना व्यय है, और अनेक भवों तक व्याप रहे ज्ञान, संसरण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परिणतियों का स्थिर रहना ध्रौव्य है। यों जैन सिद्धान्त में मरण की परिभाषा युक्ति आगम अनुसार कर दी गयी है। वह तद्भव मरण स्वरूप ही जो अन्त है वह मरणान्त है। जिस सल्लेखना का प्रयोजन मरणान्त है इस कारण सल्लेखना मारणान्तिकी कही जाती है। यों समासवृत्ति और तद्धित वृत्ति अनुसार सूत्रोक्त "मारणान्तिकी" शब्द को व्युत्पन्न कर दिया गया है।

सम्यक्कायकषायलेखनाबाह्यस्य कायस्याभ्यंतराणां च कषायाणां यथाविधि मरणविभक्त्याराधनोदितक्रमेण तनूकरणमिति यावत्। तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता प्रीत्या सेवितेत्यर्थः॥ किं कर्तुमित्याह—

समीचीन रीति से काय और कषायों की लेखना यानी पतला करना सल्लेखना है। बहिरंग हो रही काय और अभ्यन्तर में वर्त रही क्रोधादि कषायों का यथाविधि मरणविभक्ति आराधना प्रकरणों में कहे गये क्रम करके तक्षण (पतला) करना यह सल्लेखना का फलितार्थ है। अर्थात् जो जीव शास्त्रोक्त विधि अनुसार समीचीन रीति से काय और कषायों की भी लेखना करता है वह सात, आठ, भवों में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। समाधिमरण के प्रज्ञापक कतिपय ग्रन्थ हैं। गुरुपरिपाटी से चला आया श्रेष्ठ प्रक्रम विशेष हितकर है। "घादेण अघादेण व, पडिदं चागेण चत्तमिदि" कदलीघात सहित अथवा कदली घात के बिना समाधिरूप परिणामों में शरीर का छोड़ देना त्यक्त कहा जाता है। भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी, और प्रायोग्य विधि से त्यक्त के तीनभेद हैं। सल्लेखना में शरीर आहार, और संकल्प विकल्पों के त्याग करते हुये ध्यानशुद्धि से आत्मा का शोधन किया जाता है। समाधिमरण के लिये दिगम्बर दीक्षा ले ली जाय तो बहुत ही अच्छा है। श्रावक भी समाधिमरण कर सकता है। समाधिमरण करते समय कदलीघात मरण भी हो जाय तो भी आत्मघात दोष नहीं लगता है क्योंकि कषायों के आवेश से विष, वेदना, आदि करके अपने प्राणों की हिंसा करने वाल अत्मघाती है। किन्तु यहाँ अत्यन्तदुर्लभ धर्म की रक्षा के लिये अवश्यनाशी शरीर की रक्षा का लक्ष्य न भी रखा जाय इस में कोई प्रमाद दोष नहीं है। हां संयम या तप के साधने के लिये शरीर को बनाये रखना आवश्यक है किन्तु उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदि की प्रतीकार रहित अवस्था मिल जाने पर काय को हेय समझकर धर्म ही संरक्षणीय हो जाता है। देह आदि की विकृति, उपसर्ग, निमित्तशास्त्र, ज्योतिष, शकुन, स्वप्न आदि करके शीघ्र क्षय हो जाने वाली आयु का निश्चय कर आराधनाओं में अपने विचार को मग्न करना चाहिये। उस समय इन शुभविचारों को भावना करे कि जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, ये सब शरीर के हैं आत्मा नित्य, अजरामर, रत्नत्रयस्वरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म रूप है सल्लेखना करने वाला शरीर को इस प्रकार अलग छोड़ देता है जैसे कि कपड़े को उतार कर

अलग धर दिया जाता है, साँप काँचली को उतार कर पृथक् हो जाता है। सुना जाता है कि जयपुर में अमरचन्द्र जी दीवान ने जयपुर के जैन मन्दिरों की रक्षा और जयपुर को तोपों से उड़ाये जाने की आज्ञानुसार होने वाली लाखों जीवों की हिंसा का निवारण करनेके लिये स्वयं अपना मरण विचार लिया था तदनुसार प्राणदण्डप्राप्ति के प्रथम ही समाधिको भावते भावते अपने शरीर को त्यक्त कर दिया था। धन्य हैं ऐसे सज्जन जो कि जीवदया या प्रभावना का लक्ष्य रख अपने ऊपर आये हुये तीव्र उपसर्ग की अवस्था में समाधिमरण कर जाते हैं। इसीलिये तो समाधिमरण होने की प्रतिदिन भावना भाई जाती है कि हे भगवन् ! हमारा समाधिमरण होय। "दुःखक्खउकम्मक्खउसमाहिमरणं च बोहिलाभो य। मम होउ जगद्बान्धव, तव जिणवर चरणशरणेण" आज कल के वैज्ञानिक युगमें रेलगाड़ी, मोटरकार, बिजलियाँ, जहाज, खानों के धड़ाके, पुल बनाना आदि में सैकड़ों मनुष्य प्रतिदिन मरते हैं। मकान गिर जाना, प्लेग, अग्निदाह, विषूचिका आदि रोग, नदी प्रवाह, साँप, बिच्छू, व्याघ्र आदि के काटने से यों प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं। ऐसे मरणों में आर्त रौद्र ध्यान ही सम्भवते हैं। लाखों, करोड़ों में से संभवतः एक आध को ही धर्मध्यान होता होगा। अतः "दुःखक्खउ कम्मक्खउ समाहिमरण जिन गुण सम्पत्ति होउ मज्झं" ऐसी प्रतिदिन भावना भाई जाती है। चिरकाल से धर्म की आराधना की होय और मरण अवसर पर परिणाम बिगड़ जाँय तो यह बड़ा भारी टोटा है। योद्धा को युद्ध में स्खलित नहीं होना चाहिये। देखो जिसने पूर्व काल में आराधनाओं का अभ्यास किया है वह मरणकाल में अवश्य धर्मात्मा बना रहेगा। हां अत्यन्त तीव्र पाप कर्म का उदय आ जाने पर उसका भी समाधिमरण बिगड़ जाता है। किन्तु धर्मात्मा के प्रथम ही कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। समाधिमरण के समय हुये विशुद्धपरिणाम या संक्लेश परिणाम भविष्य में अनेक वर्षों तक वैसी ही शुभ, अशुभ, वासनाओं को बनाते रहते हैं अतः मिथ्यात्व का त्याग कर अन्न, पान के त्यागक्रम से संयम पूर्वक शरीर का त्याग करने के लिये उद्युक्त बने रहना चाहिये, न जाने कब मरण का प्रकरण प्राप्त हो जाय, आजकल बहुभाग होने वाली अकाल मृत्युओं का किसे पता है ? अच्छा हो समाधिमरणार्थी किसी तीर्थस्थान या अतिशयक्षेत्र पर जाकर अपना समाधिमरण करे जहां कि समाधिमरण कराने वाले निर्यापकों का सत्संग होय। प्रथम ही देना (कर्ज) लेना, कुटुम्बीजन, आश्रित संस्थाओं आदि की व्यवस्था कर चुकने पर निश्शल्य हो जाय, अनन्तर समाधिमरण के साधक उपायों में लगे। समाधिमरण कराने वाले पुरुष भी अतीव सज्जन और देश, काल, व्यक्ति, परिणाम, शरीर, आदि की परीक्षा में निपुण होंय। समाधिमरणार्थी को आहार या पुद्गलों में अनुराग न हो जाय इस लिये मिष्ट उपदेशों से दृष्टान्तपूर्वक उसको समझा दिया जाय कि हे भाई ! ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जो कि तुमने भोगकर न छोड़ दिया होय यदि किसी पुद्गल में आसक्त हो कर मर जाओगे तो निदानवश क्षुद्रकीट हो कर परजन्म में उसको खाओगे। हाँ यदि त्यागी बने रहोगे तो स्वर्ग के सुख भोग कर निर्वाण को प्राप्त करोगे। इत्यादिक रूप से समाधिमरण की प्रथम अवस्थाओं, मध्यम अवस्थाओं और अन्त्य अवस्थाओं का जैनग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है। श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि में अच्छा स्पष्टीकरण है। समाधितंत्र में भी बहुत अच्छा सद्विचार है–अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्तरीति से काय और कषायों का समीचीनतया लेखन करना सल्लेखना है। उस मरणान्तस्वरूप प्रयोजन को रखने वाली सल्लेखना को "जोषिता" यानी प्रीति करके सेवन करने वाला व्रती है। यह इस सूत्र का अर्थ है। अब कोई पूँछता है कि क्या करने के लिये सूत्रकार ने उक्त सूत्र कहा है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा इसका समाधान कहते हैं॥

सम्यक्कायकषायाणां त्वचा सल्लेखनात्र तां।

जोषिता सेविता प्रीत्या स व्रती मारणांतिकीं ॥१॥
मृत्युकारणसंपातकालमास्थित्य सद्व्रतं ।
रक्षितुं शक्यभावेन नान्यथेत्यप्रमत्तगं ॥२॥

सल्लेखना शब्द में सत् शब्द का अर्थ समीचीन है और लेखना का अर्थ तक्षा यानी तनूकरण (पतला करना) है। यहाँ प्रकरण में समीचीन रूप से काय और क्रोधादिकषायों को क्षीण करना ("त्वक्ष् तनूकरणे" धातु से त्वक्षा शब्द बना लिया जाय) सल्लेखना माना गया है। वह पूर्वोक्त व्रतों का धारी अणुव्रती या महाव्रती जीव उस मरण रूप अन्त नाम के प्रयोजन को धारने वाली सल्लेखना को जोषिता यानी प्रीति करके सेवन करने वाला होवे। स्वल्पकाल में ही मृत्युके कारणों का संपात होने वाला है ऐसे अवसर का समीचीन निमित्तों द्वारा विश्वास पूर्वक निश्चय कर सविचार प्रतिज्ञा पूर्वक गृहीत किये जा चुके अहिंसा, आदि श्रेष्ठ व्रतों की रक्षा करने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक समाधिमरण कर सकने के अभिप्रायों से सल्लेखना की जाती है अन्यथा नहीं। अर्थात् समाधिमरण में जिसको प्रीति नहीं है या व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं है उसका समाधिमरण नहीं हो सकता है इस प्रकार सल्लेखना को प्रतिपन्न हो रहे अप्रमत्त जीव के यह सल्लेखना नाम का विरमण प्राप्त हो रहा है, भावार्थ– सल्लेखना करने वाले के आत्मवध दोष नहीं आता है क्यों कि प्रमादयोग से अपने प्राणों का वियोग करने वाला आत्महिंसक है किन्तु जिस व्रती के रत्नत्रय की रक्षा का उद्देश है उसके रागादि का अभाव हो जाने से प्रमादयोग नहीं होने के कारण स्वात्मघातीपन नहीं है ॥

सेवितेति ग्रहणं स्पष्टार्थमिति चेन्न, अर्थविशेषोपपत्तेः । प्रतिसेवनार्थो हि विशिष्टो जोषितेति वचनात्प्रतिपद्यते ।

कोई यहाँ आक्षेप करता है कि सूत्रकार को सरलपदों का प्रयोग करना चाहिये। क्लिष्टशब्दों द्वारा प्रतिपत्ति करने में बड़ी कठिनता पड़ती है। जोषिता के स्थान पर विशेषतया स्पष्ट कथन करने केलिए "सेविता" इस पद का ग्रहण करना अच्छा है। व्रती पुरुष मरणान्त प्रयोजन वाली सल्लेखना का सेवन करे यह अर्थ सेविता कह देने से स्पष्ट झलक जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्यों कि सेविता को छोड़ कर जोषिता कहने में सूत्रकार को विशेष अर्थ की सिद्धि हो रही है चूंकि जोषिता ऐसा कथन करने से प्रीति पूर्वक कथन करना यह विशिष्ट अर्थ समझ लिया जाता है "जुषी प्रीतिसेवनयोः" प्रीति और सेवा करना दोनों ही जुषी धातु के अर्थ हैं। समाधिमरण में प्रीति के नहीं होने पर बलात्कार से सल्लेखना नहीं कराई जाती है रुचि होने पर व्रती स्वयमेव सल्लेखना को करता है अतः "जोषिता" पद ही यहाँ सुन्दर जचा।

विषोपयोगादिभिरात्मानं घ्नत एव तद्भावात् तत्र स्वयमारोपितगुणक्षतेरभावात्प्रीत्युत्पत्तावपि मरणस्यानिष्टत्वात्, स्वरत्नाविघाते भाण्डागारविनाशेऽपि तदधिपतेः प्रीतिविनाशानिष्टवत् । उभयानभिसंधानाच्चाप्रमत्तस्य नात्मवधः । नह्यसौ तदा जीवनं मरणं वाभिसंधत्ते "नाभिनन्दामि मरणं नाभिकांक्षामि जीवितं । कालमेव प्रतीक्षेऽहं निदेशं भृतको यथा ॥" इति संन्यासिनो भावनाविशुद्धिः । ततो न सल्लेखनायामात्मवध इति वचनं युक्तं ॥

यदि यहाँ कोई कटाक्ष करे कि आहार, पान, औषधियों के निरोध से काय को क्षीण कर रहे

समाधिमरणार्थी जीव के स्वाभिप्रायपूर्वक आयुःकर्म के निषेकों की निवृत्ति हुई है अतः अपने को मार डालना रूप आत्मवध दोष प्राप्त होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि विष का उपयोग शस्त्राघात, श्वासनिरोध आदि करके अपनी हत्या कर रहे ही द्वेषी, प्रमादी जीव के उस आत्मवध दोष का सद्भाव है किन्तु उस सल्लेखना में तो स्वयं उत्साह पूर्वक धार लिये गये गुणों की क्षति का अभाव है अतः सल्लेखना में प्रीति की उत्पत्ति होने पर भी यों ही मर जाना इष्ट नहीं है। अर्थात्–अप्रमादी, रागद्वेषरहित जीव के अपने रत्नत्रय या व्रतों की रक्षा का लक्ष्य है। पर डालना इसको अभीष्ट नहीं है। उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्यरोग, शस्त्राघात आदि अवस्थाओं में गुणों की विराधना नहीं करता हुआ शरीर की अपेक्षा नहीं रखता है, मरण की भी अभिलाषा नहीं रखता है। जैसे कि अपने अमूल्य रत्नों का विघात नहीं होते सन्ते भले ही भण्डारे का विनाश हो जाय तो भी उनके प्रभु हो रहे सेठ को प्रीति होते हुये भी भण्डारे का विनाश इष्ट नहीं है। भावार्थ–सोना, चाँदी, रत्न, मोती, आदि अमूल्य या बहुमूल्य पदार्थों से भरपूर हो रहे सेठ या महाराजा को यद्यपि रत्नों और रत्नों के स्थान कोठार का विनाश होना इष्ट नहीं है किन्तु कारण वश उस कोठार के विनाश का कारण उपस्थित हो जाय तो वह धनपति उन विनाशक कारणों का यथाशक्ति परिहार करता है यदि भण्डारे की रक्षा करना असाध्य हो जाय तो अनर्घ्य बहुमूल्य वस्तुओं का नाश नहीं होय वैसा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत, शील, पुण्य संचय, ध्यान, कायोत्सर्ग में प्रवृत्ति कर रहा सन्ता व्रत आदिके अवलम्ब हो रहे शरीर का पात हो जाना कथमपि नहीं चाहता है। हाँ उस शरीर के अनेक कारण वश नाश की प्रस्तुति हो जाने पर अपने गुणों की विराधना नहीं करता हुआ उन नाशक उपायों का परिहार करता है। यदि शरीर का पात अनिवार्य हो जाय तो अपने गुणों का नाश नहीं होने देता है। अतः सल्लेखना करने वाले जीवके आत्मवध दोष नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रमाद रहित जीव के जीवित रहने और मर जाने इन दोनों में कोई प्रमादपूर्वक अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय रखते हुये जब सुख दुःखों में रागद्वेष हो जाता है तब प्रमादी जीव के कर्म बन्ध होता है किन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान् करके उपदेशी गयी सल्लेखना को कर रहे जीव के जीवित या मरण का अभिप्राय नहीं है अतः आत्म वध दोष नहीं आता है। वह संन्यासमरण कर रहा जीव उस समय जीवन अथवा मरण का अभिप्राय नहीं रखता है वह तो यों विचार रहा है कि मैं मरण का प्रशंसापूर्वक स्वागत नहीं कर रहा हूँ। और मैं जीवित रहने की भी विशेष अभिलाषा नहीं रखता हूँ मैं तो केवल रत्नत्रय पूर्वक समाधिकाल की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ जिस प्रकार कि आजीविका करने वाला सेवक मात्र प्रभुके निदेश (हुक्म) की प्रतीक्षा किया करता है इस प्रकार संन्यास धारने वाले की भावनाओं में विशुद्धि हो रही है तिस कारण सल्लेखना करने में आत्मवध दोष नहीं है यह कथन करना युक्तिपूर्ण है॥

तथा वदतः स्वसमयविरोधात्। सोऽयं ना संचेतितं कर्म बध्यत इति स्वयं प्रतिज्ञाय वधकचित्तमन्तरेणापि संन्यासे स्ववधदोषमुद्भावयन् स्वसमयं बाधते स्ववचनविरोधाच्च सदा मौनव्रतिकोऽहमित्यभिधानवत्। मरणसंचेतनाभावे कथं सल्लेखनायां प्रपन्न इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षयसंप्राप्ते तस्य स्वगुणे रक्षणे प्रयत्नस्ततो न सल्लेखनात्मवधः प्रयत्नस्य विशुद्धयङ्गत्वात् तपश्चरणादिवत्।

एक बात यह भी है कि उस समय सल्लेखना करते तिस प्रकार आत्मवध दोष को कह रहे वादी के यहाँ अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध पड़ता है। प्रसिद्ध हो रहा यह बौद्ध प्रतिज्ञा करता है

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कि संचेतना किये गये विना कोई कर्म बंधता नहीं है ऐसा स्वयं प्रतिज्ञा कर वध करने वाले चित्त के विना भी संन्यास में आत्मवध दोष को उठा रहा सौगत अपने अभीष्ट सिद्धान्त की बाधा कर रहा है। भावार्थ—क्षणिक वादी यदि सभी भावों को नित्य कह बैठे तो उस के ऊपर स्व समय विरोध दोष लग बैठता है तथा बौद्ध मानते हैं कि जब सत्त्व तथा सत्त्वसंज्ञा और वधक एवं मारने का चित्त यों इन चार प्रकार की चेतना को पाकर हिंसक जीव के हिंसा लगती है अन्यथा नहीं, किन्तु सल्लेखना करने वाले व्रती के अपनी हिंसा करने का चित्त नहीं है ऐसी दशा में आत्मवध का दोष उठाना अपने सिद्धान्त से च्युत होना है। दूसरी बात यह है कि कोई बड़े बल से चिल्लाकर यों पुकारे कि मैं सर्वदा मौन रहने के व्रत को धारे हुये हूं जैसे इस कथन में अपने वचनों से विरोध आता है। मौन व्रती कभी पुकार नहीं सकता है उसी प्रकार नैरात्म्य वादी बौद्ध आत्मतत्त्व को ही नहीं मानते हैं तो संन्यासी के ऊपर आत्मा के हिंसकपन का दोष नहीं उठा सकते हैं अन्यथा स्ववचन विरोध हो जावेगा। यदि यहां बौद्ध यों कहें कि मरण में भले प्रकार चित्तविचार हुये विना वह संन्यासी किस प्रकार सल्लेखना करने में प्राप्त हो जायगा ? या सल्लेखना में प्रयत्न करने लग जायगा ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि बुढ़ापा, असाध्यरोग, नेत्र आदि इन्द्रियों की हानि, चर्या क्रिया की हानि, आदि करके आवश्यक रूप में शरीर के परिक्षय का निःप्रतीकार प्रकरण प्राप्त हो जाने पर उस व्रती का अपने गुणों की रक्षा करने में प्रयत्न है मरण में संचेतना नहीं है तिस कारण सल्लेखना में आत्मवध दोष नहीं लगता है। सल्लेखना कोई आत्महिंसा नहीं है किन्तु पुरुषार्थ पूर्वक उपान्त किये गये व्रतशीलों की रक्षा करना है। प्रयत्न कर रहे संन्यासी के विशुद्धि का अंग होने के कारण सल्लेखना एक बलवत्तर पुरुषार्थ है जैसे कि तपश्चरण, केशलुंचन, कायक्लेश आदि हैं अतः प्रासुक भोजन, पान, उपवास आदि विधि करके मरणपर्यन्त शुभभावनाओं का विचार कर रहा संन्यासी शास्त्रोक्त विधि करके सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

एकयोगकरणं न्याय्यं इति चेन्न क्वचित्कदाचित्कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यप्रतिपादनार्थत्वात् वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात्। दिग्विरत्यादिसूत्रेण सहास्य सूत्रस्यैकयोगीकरणेऽपि यथा दिग्विरत्यादयो वेश्मापरित्यागिनः कार्यास्तथा सल्लेखनापि कार्या स्यात्। न चासौ तथा क्रियते क्वचिदेव समाध्यनुकूले क्षेत्रे कदाचिदेव संन्यासयोग्ये काले कस्यचिदेवासाध्यव्याध्यादेः सन्न्यासकारणसन्निपातादप्रमत्तस्य समाध्यर्थिनः सल्लेखनां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनाच्च सागारानागारयोरविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाच्च सल्लेखनायां पूर्वत्वादस्य तंत्रस्य पृथग्वचनं न्याय्यं॥ एतदेवाह—

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का एक योग कर देना न्यायोचित है "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च" यों मिलाकर एक सूत्र कर देने में लाघव है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं कारण कि किसी एक पवित्र क्षेत्र में किसी नियत समय में किसी नियत व्यक्ति के ही उस सल्लेखना के प्रति अभिमुखपना है। इस का प्रतिपादन करने के लिये पृथक् योग किया गया है। एक बात यह भी है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र को मिला देने से घर का नहीं परित्याग करने वाले श्रावक को ही इस सल्लेखना करने का उपदेश समझा जाता। मुनि के सल्लेखना का कर्तव्य नहीं समझा जाता, किन्तु मुनिमहाराज को भी सल्लेखना करना सिद्धान्त में अभीष्ट किया गया है अतः दो सूत्रों को एक में जोड़ देना ठीक नहीं है "दिग्देशानर्थदण्डविरति" इत्यादि सूत्र के साथ इस "मारणान्तिकी" आदि सूत्र का

मार्गदर्शक : आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज

अनेकों का एक योग कर देने पर भी जिस प्रकार दिग्विरति आदिक व्रत उस गृह के अपरित्यागी गृहस्थ को करने योग्य माने जाते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी गृहस्थ को ही करने योग्य होती। साथ ही जैसे सर्वत्र, सर्वदा सभी गृहस्थ दिग्विरति आदि व्रतों को पालते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी सभी स्थानों पर सभी कालों में सभी गृहस्थों के पालने योग्य हो जाती, किन्तु अहिंसा, दिग्विरति, आदि के समान वह सल्लेखना तो तिस प्रकार सर्वत्र सर्वदा सब करके नहीं की जाती है किन्तु समाधि के अनुकूल हो रहे तीर्थस्थान, धर्मशाला, वसतिका आदि किसी एक पावन क्षेत्र में ही और संन्यास के योग्य हो रहे किसी विशेष काल में ही तथा असाध्य व्याधि तीक्ष्ण अस्त्राघात आदि परिस्थितियों से उपद्रुत हो रहे किसी सप्तशीलधारी जीव के सल्लेखना होती है अतः संन्यासमरण के कारणों का सन्निपात हो जाने से सल्लेखना के लिये सदा अप्रमादी हो रहे उस समाधि के अभिलाषुक प्राणी के सल्लेखना के प्रति अभिमुखपन को ज्ञापन करना भी पृथक् योग की सार्थकता है। एक बात यह भी है कि अणुव्रती सागार और महाव्रती अनगार दोनों को विशेषता रहित यह सल्लेखना करने की विधि है। इस को समझाने के लिये सूत्रकार महाराज ने न्यारा सूत्र किया है। दिग्विरति आदि सूत्र में मात्र श्रावक की विधि है और इस सूत्र में सामान्य रूप से श्रावक और मुनि दोनों के लिये सल्लेखना का विधान किया गया है। यह अभिप्राय न्यारा सूत्र करने से ही झलक सकेगा। गृहस्थ भी तभी सल्लेखना करता है जब कि दिग्विरति आदि सातों शील उस सल्लेखना में पहिले पल जाते हैं अतः कारण कार्यभाव अनुसार भी इस सूत्र नामक तंत्र का पृथक् वचन करना न्याय मार्ग से अनपेत है। इस ही बात को आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा कहते हैं।

पृथक्सूत्रस्य सामर्थ्याच्च सागारानगारयोः।
सल्लेखनस्य सेवेति प्रतिपत्तव्यमञ्जसा ॥१॥

सागार और अनगार दोनों व्रतियों के सल्लेखना का सेवन है। इस सिद्धान्त को इन दो सूत्रों के पृथक् करने की सामर्थ्य से बिना कहे ही निर्दोष रूप से समझ लेना चाहिये।

तदेवमयं साकल्येनैकदेशेन च निवृत्तिपरिणामो हिंसादिभ्योऽनेकप्रकारः क्रमाक्रमस्वभावविशेषात्मकस्यात्मनोऽनेकान्तवादिनां सिद्धो न पुनर्नित्याद्येकान्तवादिन इति ॥ तेषामेव बहुविधव्रतमुपपन्नं नान्यस्येत्युपसंहृत्य दर्शयन्नाह—

तिस कारण यह सकल रूप करके हिंसादिक से निवृत्ति होने का अनेक प्रकार मुनियों का परिणाम और हिंसादिकों से एक देश करके निवृत्ति हो जाना स्वरूप श्रावकों का अनेक प्रकार का परिणाम तो क्रमभावी और सहभावी स्वभाव विशेषों के साथ तदात्मक हो रहे आत्मा के ही हो सकता है अतः अनेकान्तसिद्धान्त का पक्ष ले रहे अनेकान्त वादी जैनों के यहाँ ही परिणामी आत्माका अनेक प्रकार परिणाम हो जाना सिद्ध है किन्तु फिर आत्मादि पदार्थों को सर्वथा नित्य मानने वाले या आत्मा को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानने वाले आदि एकान्तवादियों के यहाँ हिंसादिक से निवृत्ति हो जाना आदि परिणतियाँ नहीं सिद्ध होने पाती हैं। और उन अनेकान्तवादियों के यहाँ ही बहुत प्रकार के अहिंसा, सामायिक, दान, आदि व्रत भी बन सकते हैं। अन्य एकान्तवादी के यहाँ व्रत करना ही नहीं बन सकता है। अर्थात् सहक्रमभाव से अनेक विवर्तों रूप करके परिणमन कर रहे आत्मा के पहिले हिंसापरिणति थी पुनः उसी परिणामी आत्मा के अंतरंग बहिरंग कारण वश अहिंसाणुव्रत या अहिंसामहाव्रत परिणाम

उपज जाते हैं। क्षणस्थायी और कालान्तरस्थायी स्वभावों के साथ तदात्मक हो रहा आत्मा उन हिंसा, अहिंसाणुव्रत, अहिंसामहाव्रत, परिणामों के फलस्वरूप नारकी, देव, मोक्ष, अवस्थाओं को भोगता है। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माना जायगा तो वह सदा एक सा ही रहेगा। हिंसक है तो सदा हिंसा ही करता रहेगा और अहिंसक आत्मा सदा अहिंसक ही रहेगा। इसी प्रकार क्षणिक पक्ष में हिंसक आत्माको नरक नहीं मिला दूसरे ने ही नारकीय दुःखों को भोगा आदि अनेक दोष आते हैं। हाँ अनेकान्त सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है इसी बात को उपसंहार कर दिखलाते हुये ग्रन्थकार वसंततिलका छन्द में गूँथे हुये पद्य को कह रहे हैं।

नानानिवृत्तिपरिणामविशेषसिद्धे-
रेकस्य नुर्बहुविधव्रतमर्थभेदात्।
युक्तं क्रमाक्रमविवर्तिभिदात्मकस्य
नान्यस्य जातु नयबाधितविग्रहस्य ॥१॥

कथञ्चिद्भिन्न होरहो क्रमभावी और अक्रमभावी विशेष पर्यायों के साथ तदात्मक हो रहे नित्यानित्यात्मक एक परिणामी आत्मा के तो अनेक प्रकार के निवृत्तिरूप परिणाम विशेषों की सिद्धि है अतः उसी आत्मा के सर्वरूप से या एक देश से हिंसादिकों की विरति करना रूप प्रयोजनों के भेद से बहुत प्रकार के व्रतों का धारण युक्ति सिद्ध हो जाता है। किन्तु अन्यवादियों के यहाँ नयों से बाधित हो रहे सर्वथा क्षणिकत्व, नित्यत्व, आदि कल्पित शरीरों को धारने वाले आत्मा के कदाचित् भी व्रतों का पालन नहीं हो सकता है। भावार्थ-सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, क्षणिके नित्ये वा क्रमयौगपद्ये न स्तः। क्रम और युगपत्पने करके अर्थक्रियाओं को कर रहा पदार्थ ही जगत् में सत् है सर्वथा नित्य या क्षणिक पदार्थ तो आकाशपुष्पसमान असत् है। पहिले प्रवृत्ति परिणाम को हटाकर पुरुषार्थ पूर्वक निवृत्ति परिणाम करना ये सब अर्थक्रियायें अनेकान्तसिद्धान्ती स्याद्वादियों के यहाँ ही सुघटित होती हैं। इसका विस्तार अष्टसहस्री में विशेष आनन्द के साथ समझ लिया जाता है।

इति सप्तमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार सातमें अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

चिद्रूपसिद्धपरमात्ममयान्यहिंसा,—
दीनि व्रतानि पुरुषार्थभरात्प्रपन्नः।
मैत्री-प्रमोद-करुणादिसुभावनाढ्यः,
स्वर्गापवर्ग सुखमेति गृही यतिश्च ॥

अथ सद्दर्शनादीनां सल्लेखनान्तानां चतुर्दशानामप्यतीचारप्रकरणे सम्यक्त्वातिचार-प्रतिपादनार्थं तावदाह;—

अब इस के अनन्तर सम्यग्दर्शन को आदि लेकर सल्लेखना पर्यंत चौदहों भी गुणों के अतिचारों के निरूपण का प्रकरण प्राप्त होने पर सबसे प्रथम सम्यक्त्व गुण के अतीचारों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं। अर्थात्-सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते। सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्। सम्यग्दर्शन, अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, शीलव्रत, परि-

प्रकृत्याग, दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग संख्यान, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना, यों श्रावकों के पाये जा रहे सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत, तथा सात शील, एक सल्लेखना इन चौदहों गुणों के अतीचारों का वर्णन द्वितीय आह्निक में किया जायगा ॥

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

शंका करना, आकांक्षा करना, ग्लानि करना, अन्यमिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा करना और मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान अविद्यमान गुणों का संस्तवन कहना ये पांच सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। अर्थात् निर्ग्रन्थों की मोक्ष होती है ? या सग्रन्थों की भी मुक्ति हो जाती है ? अथवा क्या गृहस्थ मनुष्य, पशु, स्त्री भी कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं ? इस प्रकार शंकायें करना अथवा अनेक शुभ कार्यों में भय करने की टेव रखना शंका है। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा करना कांक्षा नाम का दोष है। रत्नत्रययुक्त शरीरधारियों की घृणा करना, उनके स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना आदि को दोष रूप से प्रकट करना विचिकित्सा है। जैन धर्म से बाह्य हो रहे पुरुषों के ज्ञान, चारित्र, गुणों की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है। अन्यमतावलम्बियों के सद्भूत असद्भूत गुणों को वचन से प्रकट करना संस्तव कहा जाता है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, और अनाचार, ये चार दोष माने गये हैं। "क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनं, प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥" मानसिक शुद्धि की हानि हो जाना अतिक्रम है। विषयों की अभिलाषा होना व्यतिक्रम है। व्रतों की एक देश रक्षा का अभिप्राय रखते हुये एक अंश की क्षति कर देना अतीचार है। विचार पूर्वक ग्रहण किये गये व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं रख कर पापक्रियाओं में उच्छृंखल प्रवृत्ति करना अनाचार है। दर्शन मोहनीय कर्म की देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व में ये अतीचार संभवते हैं। शंका आदि करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन गुण की रक्षा रही आती है और एक देश रूप से सम्यक्त्व का भंग भी हो जाता है ॥

जीवादितत्त्वार्थेषु रत्नत्रयमोक्षमार्गे तत्प्रतिपादके वागमे तत्प्रणेतरि च सर्वज्ञे सदसत्त्वाभ्यामन्यथा वा संशीतिः शंका, सद्दर्शनफलस्य विषयोपभोगस्येहामुत्र चाकांक्षणमाकांक्षा, आप्तागमपदार्थेषु संयमाधारे च जुगुप्सा विचिकित्सा, सुगतादिदर्शनान्यन्यदृष्टयस्तदाश्रिता वा पुमांसस्तेषां प्रशंसासंस्तवौ अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ। त एते सम्यग्दृष्टेर्गुणस्य तद्वतो वातीचाराः पञ्च प्रतिपत्तव्याः।

जीव, अजीव आदिक तत्त्वार्थों में या रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में अथवा उन जीवादि और रत्नत्रय के प्रतिपादक आगम में एवं उन तत्त्वों के प्रणेता सर्वज्ञभगवान् में विद्यमान अविद्यमान पने कर के अथवा अन्य प्रकारों से संशय करना शंका है। अर्थात्-सातत्त्व, रत्नत्रय, जिनागम, सर्वज्ञ देव, ये हैं या नहीं। अथवा इन के स्वरूप विपर्यास के विकल्पों अनुसार शंकायें करना शंका दोष है। सम्यग्दर्शन के फल हो रहे विषय भोगों के इहलोक और परलोक में हो जाने की आकांक्षा करना कांक्षा है। आप्त, आगम, और पदार्थों में तथा समय के आधार हो रहे साधुओं में जुगुप्सा यानी घृणा करना विचिकित्सा है। अन्याश्च या दृष्टयः अन्यदृष्टयः अथवा अन्या दृष्टिर्येषां ते अन्यदृष्टयः यों समास कर बुद्ध, कपिल,

कणाद आदि के दर्शनशास्त्र अथवा उन दर्शनों के आश्रित हो रहे बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक मतावलम्बी पुरुष अन्य दृष्टि हैं। उन दर्शनों या तदाश्रयिक पुरुषों की प्रशंसा और समीचीन स्तुति करना तो अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तव है। ये प्रसिद्ध हो रहे शंकादिक दोष इस सम्यग्दर्शन गुण के अथवा सम्यग्दर्शनगुण वाले जीव के पाँच अतीचार समझने चाहिये, सूत्रोक्त अन्यदृष्टि में जैसे कर्मधारय और बहुव्रीहि समास किये गये हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिपद का भी सम्यक् (समीचीना) चासौ दृष्टिरिति सम्यग्दृष्टिः। अथवा समीची दृष्टिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिस्तस्य सम्यग्दृष्टेः यों निरुक्ति कर सम्यग्दर्शन गुण अथवा सम्यग्दर्शन गुणवाले सम्यग्दृष्टि जीव के शंकादि पाँच अतीचार जान लिये जाते हैं।

कः पुनः प्रशंसासंस्तवयोः प्रतिविशेषः ? इत्युच्यते–वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवयोर्भेदः। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानादिषु गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, वचसा तद्भावनं संस्तव इति प्रत्येयम्।

यहाँ कोई प्रतिवादी कटाक्षपूर्वक प्रश्न उठाता है कि प्रशंसा और संस्तव में भला फिर क्या सूक्ष्म अन्तर है ? बताओ, यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके समाधान कहा जाता है कि वचन और मन की विषयता अनुसार भेद से प्रशंसा और संस्तव में भेद है (विषयत्वं सप्तम्यर्थः) मन करके मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, चारित्र, श्रद्धान, तपः, आदि में प्रकृष्ट गुणपना प्रकट करने का अभिप्राय तो प्रशंसा है और वचन से मिथ्यादृष्टियों के उन विद्यमान अविद्यमान गुणों का भावना करते हुये उच्चारण करना संस्तव है इस प्रकार दोनों में अन्तर निर्णय कर लेना चाहिये ॥

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। सत्यप्यगारिप्रकरणे नागारिण एव सम्यग्दृष्टेरितीष्टमवधारणं। सामान्यतः सम्यग्दृष्ट्यधिकारेऽपि पुनरिह सम्यग्दृष्टिग्रहणस्यागार्यनगारसंबंधनार्थत्वात्। एतेनानगारस्यैवेत्यवधारणमपास्तं, उत्तरत्रागारिग्रहणानुवृत्तेः।

यहाँ किसी आक्षेपक का मंतव्य है कि गृहस्थ के व्रत और शीलों का यह प्रकरण है अतः उस गृहस्थ में पाये जा रहे सम्यग्दर्शन के ही ये पांच अतीचार हैं ऐसा अवधारण हो सकेगा, मुनियों के सम्यग्दर्शन में ये पांच अतीचार नहीं लग सकेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रमें सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण है। अतः श्रावक और अनगार दोनों के सम्यग्दर्शनों के ये अतीचार माने जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करना सामान्यरूप से दोनों के लिये लागू है, यदि श्रावक संबंधी सम्यग्दर्शन के ही ये अतीचार इष्ट होते तो सम्यग्दृष्टि पद देने की कोई आवश्यकता न थी, अगारी का प्रकरण होने से ही अगारी के सम्यग्दर्शन की बिना कहे ही प्रतिपत्ति हो जाती, यों सम्यग्दृष्टिपद व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि षष्ठ, सप्तम, गुणस्थानवर्ती मुनि और पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक दोनों के संभव रहे क्षयोपशम सम्यक्त्व के ये पांच अतीचार हैं। अतः अगारी यानी गृहस्थ का प्रकरण होते सन्ते भी ये अगारी ही सम्यग्दृष्टि के अतीचार हैं यह अवधारण इष्ट नहीं किया जा सकता है जब कि यहां सामान्यरूप से सम्यग्दृष्टि का अधिकार चला आ रहा है, क्योंकि अहिंसादि अणुव्रत और सात शील सम्यग्दृष्टि जीव के ही संभवते हैं। तो भी यहां फिर सम्यग्दृष्टिपद का ग्रहण करना तो अगारी, अनगार, दोनों का संबंध करने के लिये है। प्रत्युत चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के भी ये अतीचार लग जाते हैं। इस कथन करके इस अवधारण का भी प्रत्याख्यान किया जा चुका है कि ये अतीचार अनगार (मुनि) ही के सम्यग्दर्शन के हैं। क्योंकि व्रतशीलेषु, बन्ध, वध, मिथ्योपदेश,, आदि अग्रिम सूत्रों में भी "अणुव्रतोऽगारी" सूत्र के अगारी पद के ग्रहण की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः अगारी पद का

अधिकार निवृत्त नहीं हुआ है अतः अगारी के ही या अनगार के ही ये दोनों अवधारण उचित नहीं हैं।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः तत्त्वार्थश्रद्धानातिक्रमणमित्यर्थः ।

दर्शन मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद हैं "जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण, मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा" इन में से पहिला सर्वघाती है, दूसरा जात्यन्तर सर्वघाती है, तीसरी सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। सम्यक्त्व नामक दर्शनमोह कर्म का उदय हो जाने से जो अतिचरण यानी अतिक्रमण करना है वह अतीचार है। तत्त्वार्थश्रद्धान का अतिक्रमण हो जाना इस का अर्थ है चल, मल, अगाढ़ता ये तीन दोष क्षयोपशम सम्यक्त्व में कदाचित् पाये जाते हैं। उक्त सूत्र में मलों को दिखला दिया है।

ननु च न पंचातिचारवचनं युक्तमष्टांगत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमणानां तावत्त्वमिति-चेन्न, अत्रैवान्तर्भावात्, निःशंकितत्वाद्यष्टांगविपरीतातिचाराणामष्टविधत्वप्रसंगे त्रयाणां वात्स-ल्यादिविपरीतानामवात्सल्यादीनामन्यदृष्टिप्रशंसादिना सजातीयानां तत्रैवान्तर्भावात् । व्रताद्यती-चाराणां पंचसंख्याव्याख्यानप्रकाशणामपि पंचसंख्याभिधानात् ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि सम्यग्दर्शन के निशंकितत्व १, निःकांक्षितत्व२, निर्विचिकित्सा ३, अमूढ़दृष्टि४, उपगूहन५, स्थितीकरण६, वात्सल्य७, प्रभावना८, ये आठअंग हैं तो सम्यग्दर्शन के अतिक्रमण भी उतने परिमाण वाले आठ ही होने चाहिये, केवल पाँच ही अतीचारों का कथन करना तो सूत्रकार को उचित नहीं है, युक्ति रहित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्यों कि इन पाँचों में ही उन आठों का अन्तर्भाव हो जाता है। निःशंकित आदि आठों अंगों के विपरीत हो रहे अतीचारों को भी आठ प्रकारपने का प्रसंग होना चाहिये तो भी वात्सल्य आदिक से विपरीत हो रहे अवात्सल्य आदिक तीन का उन पांच में ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि अवात्सल्य आदिक तीन तो अन्यदृष्टिप्रशंसा आदि की जाति के समान जाति को धारने वाले सजातीय हैं। अर्थात् आद्य तीन गुणों के प्रतिपक्ष हो रहे तीन शंका, कांक्षा, विचिकित्सा दोषों को तो कण्ठोक्त सूत्र में कह दिया ही है शेष रहे मूढ़दृष्टि, अनुप-गूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना इन पाँच दोषों को अन्यदृष्टिप्रशंसा, संस्तव, इन दो दोषों में गर्भित कर लेना चाहिये, देखिये जो पुरुष मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा करता है, और वचन से स्तुति करता है वह मूढदृष्टि दोष वाला है। वैसा मूढदृष्टि जीव उन रत्नत्रयमंडित पुरुषों के दोषों का उपगूहन नहीं करता है, दर्शन या चारित्र से डिगते हुओं का स्थितीकरण भी नहीं कर पाता है वात्सल्य-भाव तो उस के निकट आता ही नहीं है। जिनशासन की प्रभावना करना तो कथमपि उसको अभीष्ट नहीं है। तिसकारण ये पाँच दोष सूत्रोक्त चौथे, पाँचवें, दोषों के सजातीय होने से उन्हीं में गर्भित कर लिये जाते हैं। एक बात यह भी है कि व्रत आदि यानी पाँच व्रतों, सात शीलों और सल्लेखना के भी पांच संख्या वाले पाँच प्रकार अतीचारों का व्याख्यान किया जावेगा। अतः सभी के पाँच अतीचारों की विवक्षा रखने वाले सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन के भी अतीचारों को पांच संख्या में कथन कर दिया है। विशेष यह है कि शंका आदि पांच सूत्रोक्तदोष बड़े बलवान् हैं। जो सर्वज्ञ या आगम में ही शंका कर रहा है अथवा वीतराग धर्म का श्रद्धालु होकर भी भोगोपभोगों की आकांक्षा कर रहा है, मुनियों के पवित्र शरीर में भी घृणा उपजाता है, जैनमतबाह्य दार्शनिकों के गुणाभासों की प्रशंसा स्तुतियों के पुल बांधता है वह दीन पुरुष, मूढदृष्टि या अनुपगूहन तथा अस्थितीकरण तथा अवात्सल्य और अप्रभावना को तो बड़ी सुलभता से आचरेगा इतना लक्ष्य रखना कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव इतनी

व्यक्त शंका आकांक्षायें आदि नहीं करता है कि सर्वज्ञ कोई है या नहीं, मुझे परभव में स्त्री, पुत्र, धन बहुत मिले, मुनिशरीर बहुत घिनामना है, वाममार्गी, हिंसक, व्यभिचारी आदि बड़े अच्छे होते हैं, नदी, सागारस्नान से मुक्ति हो जाती है धर्मात्माओं की वाच्यता की जानी चाहिये, धर्मच्युत को और भी गिरा देना चाहिये, किसी से वत्सलता करने की आवश्यकता नहीं है, अज्ञान अन्धकार को क्यों हटाया जाय इत्यादि। सच बात तो यह है कि ये शंकादिक प्रकट दोष मिथ्यादृष्टियों के ही पाये जाते हैं। हां सम्यग्दृष्टि के तो अव्यक्त रूप से, कचित् कदाचित् संभव जाते हैं। बड़े पुरुष का यत्किंचित भी दोष बहुत खटकता है, छोटा ही परिपाक में बड़ा हो जाता है अतः निर्दोष उपशमसम्यक्त्व या क्षायिक-सम्यक्त्व को धारने का लक्ष्य कराने के लिये अनुद्भूत शंकादिक छोटे दोषों का संभवना सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षयोपशमसम्यक्त्व में कदाचित् हो जाता है। नाना प्रकार संकल्पविकल्पों में फंसे हुये प्राणियों के आजकल सम्यक्त्व होना अतीव दुर्लभ है हां असंभव तो नहीं है जब कि असंख्यात योजन चौड़े अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप की परली ओर के अर्धभाग में असंख्याते तिर्यञ्च देशव्रती पाये जाते हैं तो जिनालय, जिनागम, तीर्थस्थान, गुरुसंगति, संयमिसत्संग, आदि अनेक अनुकूलताओं के होते हुये यहां भरतक्षेत्रसंबंधी आर्यखण्डके मध्यप्रान्तों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाना दुर्लभ नहीं है। सूक्ष्म-विचार के साथ पर्यवेक्षण किया जाय तो लाखों करोड़ों जीवों में से एक दो जीव के ही शंकायें करना नहीं मिलेगा शेष सभी जीव प्रायः हृदय में व्यक्त, अव्यक्त, रूप से शंका पिशाचियों से ग्रसित हो रहे परलोक है या नहीं ? बड़े बड़े स्नेही जीव भी मरकर पुनः अपने प्रेमपात्रों को आकर नहीं सम्हालते हैं। तीव्र-क्रोधी भी परलोक से आकर अपने शत्रुओं को त्रास देते नहीं सुने जाते हैं। कचित् भवस्मरण कर पूर्व भव की कुछ कुछ बातों को कहने वाले लड़का, लड़की, देखे सुने जाते हैं। किन्तु उन से भरपूर संतोष नहीं होता है। कई पुरुष अभिमान के साथ उपकार या अपकार करने की प्रतिज्ञा कर मरते हैं वे भी भूतकाल में लीन हो जाते हैं। यों अनेक जीव परलोक के विषय में या सर्वज्ञ, ज्योतिश्चक्र भूभ्रमण में शंकित रहना, चींटी मक्खी भौंरी मकड़ी आदि के मानसिक विचार पूर्वक किये गये चमत्कार कार्यों की आलोचना कर नैयायिकों के अभिमत समान चींटी आदि में मन इन्द्रिय के होने की शंका बनाये रखते हैं इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं या तीर्थस्थानों अथवा जिनबिम्ब, जिनागम आदि के ऊपर कई प्रकार की विपत्तियाँ आ रही जानकर भी असंख्याते सम्यग्दृष्टि देव या जिन शासन रक्षक देवों के होते हुये भी कोई एक भी देव यहाँ आर्य खण्ड में आकर दिगम्बर जैन धर्म का प्रकाण्ड चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है ? स्वर्ग, मोक्ष, असंख्यात द्वीप समुद्र भला कहाँ हैं ? कुछ समझ में नहीं आता है जब पुण्य पाप की व्यवस्था है तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुये और अनेक धर्मात्मापुरुष क्लेशमय जीवन को पूरा कर रहे क्यों देखे जाते हैं ? वेश्याओं की अपेक्षा कुलीन विधवायें महान् दुःख भोग रही हैं, शिकार खेलने वाले या धीवर, वधक, बहेलिया, शाकुनिक, मांसिक आदि को कोई भी जीव पुनः आकर नहीं सताता है। कतिपय बड़े बड़े धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशों को भुगतते हैं जब कि अनेक पापी जीव सुख पूर्वक मर जाते हैं। धर्म का रहस्य अन्धकार में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार बड़े बड़े धर्मात्माओं को भी आकांक्षायें हो जाती हैं। नीरोग शरीर, दृढ़ सुन्दर शरीर पुत्र स्त्री धन कुल प्राप्ति, प्रभुता, यश, लोकमान्यता का मिलना, प्रकृष्टज्ञान, बल राजप्रतिष्ठा की पूर्णता आदि में से जिस किसी भी महत्त्वाधायक पदार्थ की त्रुटि रह जाती है उसी की आकांक्षा आजकल के जीवों के कचित्कदाचित् हो ही जाती है, दिनरात कलह करने वाली स्त्री से भले मनुष्य का भी जी ऊब जाता है बिचारा कहां तक संतोष करे। कुरूप, रोगी, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्र, मूर्ख, पति में सुन्दर युवती का चित्त कहाँ तक रमण कर सकता है उसको स्वानुकूल पति की आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है, चक्रवर्ती विद्याधर, देव, इन्द्र, अहमिन्द्रों के

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सुखों को सुन कर अनेक भद्र पुरुषों के मुख में पानी आ जाता है। आतुर विद्यार्थी कदाचित् अच्छे व्याख्याता के व्याख्यान को सुन कर व्याख्याता बनने के लिये और अच्छे लेखक के लेखों को बांचकर प्रसिद्ध लेखक बनने के लिये एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बनने के लिये जैसे लालायित हो जाता है उसी प्रकार कतिपय दानी पूजक पुरुषों का भी चित्त अन्य विभूतियों को देखकर अधीनता से बाहर हो जाता है ॥ तीसरे विचिकित्सादोष पर भी यह कहना है कि कितने बहिरंग धर्मात्माओं में घृणा के भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष दुखी जीवों पर करुणा करते हैं ? या बीमार धार्मिक पुरुषों के मलमूत्र धोकर उनकी परिचर्या में लग जाते हैं ? बताओ। घृणाओं के भय के मारे कितने जीव अन्य मनुष्यों की चिकित्सा या समाधिमरण कराने के लिये उद्यक्त रहते हैं ? हजारों लाखों में से कोई एक आध ही होगा। जैनेतर पुरुषों की प्रशंसा और स्तुति करना अनेकभद्र पुरुषों में भी पाया जाता है हां कोई उदासीन श्रावक या मुनि इस अतीचार से बच गया होय, बहुत से जीवों में यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैन पण्डित, ब्रह्मचारी, मुनियों की सन्मुख प्रशंसा करने वाले जैन सदस्य ही पीछे उन्हीं की निन्दा करते हुये देखे जाते हैं और वे ही मिथ्यादृष्टियों की उच्छ्वास लिये बिना प्रशंसा के गीत गाते रहते हैं। जैनों द्वारा व्यवहार में अनेक अजैन जन प्रतिष्ठा प्राप्त हो रहे हैं जैनों को उन अजैनों की टहल करनी पड़ती है। भले सम्यग्दृष्टि कहे जाने वालों के घर में भी एक मिथ्यादृष्टि पुरुष उच्चकोटि की प्रशंसा स्तुतियों को पा रहा है। अजैन राजवर्ग या प्रभुओं की प्रशंसा करते हुये लोक अघाते नहीं जब कि साधर्मी भाई से जयजिनेन्द्र या सहानुभूति सूचक दो एक शब्द कहने में ही ऊपर डलियों आलस्य चढ़ बैठता है। यही दुर्दशा अमूढदृष्टि गुण की है लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढताओं के फन्दे में अनेक जैन स्त्री पुरुष फंस जाते हैं प्रकट अप्रकट रूप से वे उन कार्यों में आसक्ति कर बैठते हैं। रामलीला, रासक्रीड़ा, नाटक, सीनेमा, कहानियाँ, गंगास्नान, कुतपस्विदर्शन, देवताराधन, मंत्र तन्त्र क्रियायें, आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढदृष्टि क्रियाओं में सम्मति दे देते हैं। स्थितीकरण करना भी बड़ा कठिन हो रहा है। अजैनों को या राजवर्ग को या यशः संबन्धी कार्यों में धन लुटाने के लिये अनेक धनिक थैलियों के मुँह खोले हुये हैं किन्तु निर्धन धार्मिकों या दरिद्र विधवाओं अथवा दीन छात्रों के उदर पोषणार्थ स्वल्पव्यय करने की उनके आय व्यय के चिट्ठे (बजट) में सौकर्य (गुञ्जाइश) नहीं है। विद्वान् जन भी अपने स्वार्थ या यश की सिद्धि के स्थान पर तो व्याख्यानों को झाड़ते फिरते हैं किन्तु आवश्यक स्थलों पर दर्शनच्युत या चारित्रपतित जीवों को जिनमार्ग पर लाने के लिये उन को अवसर नहीं मिलता है। व्रतीपुरुष भी जैनत्वको बढ़ाने और स्थितीकरण करने में उतने उद्योगी नहीं हैं जितने कि होने चाहिये। उपगूहन अंग की भी यही विकट स्थिति है साम्यवाद के युग में दोषों का छिपाना दोष समझा जाता है, खोटी टेवों को धार रहे अनेक ठलुआ पुरुष जब दूसरों के असद्भूत दोषों को प्रसिद्धि में ला रहे हैं तो सद्भूत दोषों को प्रकट करने में उनको क्यों लज्जा आने लगी। आजकल व्यर्थ के संकल्प विकल्पों और झूंठी निन्दा, प्रशंसा का व्यवहार बड़े वेग से बढ़ रहा है। साधर्मियों के अल्पीयान् दोषों का परोक्ष में या एकान्त में वियोग से छिपा लेना बड़ा भारी पुरुषार्थ पूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निन्दा किये बिना चुपके बैठा नहीं जाता, परितोष देने पर भी जनता बुराई करने से नहीं चूकती है भले ही उलटा हम से ही कुछ ले लो किन्तु दूसरों के सद्भूत, असद्भूत, दोषों की निन्दा किये बिना हमारी कण्डूया मिट नहीं सकती है। तथा वात्सल्य परिणाम भी हीयमान हो रहा है। अपने साधर्मी भाइयों के साथ निष्कपट प्रतिपत्ति करने का व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भले से भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्ति से बात चीत करता है तो उस व्यक्ति को प्रथम यही भान होता है कि यह कोई स्वार्थ सिद्धि के लिये कपट व्यवहार कर मुझ को आर्थिक, मानसिक

क्षतियां पहुंचाने का प्रयत्न कर रहा है। विश्वास और वात्सल्यदृष्टियां न्यून होती जा रही हैं। ठोस प्रभावना अंग का पालना तो विरल पुरुषों में ही पाया जाता है। यश की प्राप्ति और कुछ धर्मलाभ का लक्ष्य रख कर यद्यपि कतिपय सभायें, प्रतिष्ठाएँ, तीर्थयात्रायें, जिनपूजा, तपश्चरण, आदि कार्य होते हैं फिर भी परम पवित्र, जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दशवर्ष तक भी ठोस प्रभावनायें हो जायें तो साढ़ेबारहलाख जैनों की संख्या बढ़ कर दोकरोड़ हो सकती है और ये साढ़े बारह लाख भी पक्के जैन बन जावें। तात्पर्य यह है कि अष्टांगसम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है, उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों में मात्र सात सौ करोड असंयत सम्यग्दृष्टि, तेरह करोड़ देश संयमी और तीन कम नौ कोटि संयमी, यों सम्पूर्ण सात सौ इक्कीस करोड़, निन्यानवेलाख, निन्यानवे हजार, नौ सौ सतानवे मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि हैं यानी बीस अंक प्रमाण सौसंख मनुष्यों में एक मनुष्य के सम्यग्दृष्टि होने का स्थूल परिगणन आता है। हां असंभव नहीं है क्षयोपशमसम्यक्त्व और उपशमसम्यक्त्व कभी कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनों के हो जाते हैं। उस समय थोड़ी देर के लिये निःशंकितपन आदि गुण भी चमक जाते हैं। हाँ पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर शंका आदि दोष स्थान पा जाते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व में उक्त पाँच अतीचार मन्द या अव्यक्त हो कर संभव जाते हैं। रत्नस्थान दुर्लभ होंय इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये किसी भी जीवके कभी निःशंकितत्व विकसाकर आ हासे जाँय तभी अच्छा है जीवों को पापप्रधान पुण्यरहित बहुभाग परणतियों का परित्याग कर रत्नत्रय पाने में उद्योगी होना चाहिये यह जिनशासन का उपदेशत्रिलोक, त्रिकाल, में अबाधित है।

कुतः पुनरमी दर्शनस्यातिचारा इत्याह—

सम्यग्दर्शन के वे शंका आदि पांच अतीचार फिर किस कारण से हो जाते हैं अथवा किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान कारक अगले वार्तिक को कहते हैं। उसको सुनो।

सम्यग्दृष्टेरतीचाराः पञ्च शंकादयः स्मृताः।
तेषु सत्सु हि तत्त्वार्थश्रद्धानं न विशुद्ध्यति ॥१॥

क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के शंका आदिक पांच अतीचार सर्वज्ञआम्नाय पूर्वक आचार्य परंपरा द्वारा स्मरण किये जा चुके माने गये हैं। कारण कि आत्मा में उन शंका आदि पांच अतीचारों के होते सन्ते तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना रूप सम्यग्दर्शन गुण की विशुद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात् देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने से आत्मा में चल, मल, अगाढ़ दोषों की उत्पत्ति होने के कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान उतना विशुद्ध नहीं हो पाता है।

शंकादयः सद्दर्शनस्यातीचारा एव मालिन्यहेतुत्वात् ये तु न तस्यातीचारा न ते तन्मालिन्यहेतवो यथा तद्विशुद्धिहेतवस्तत्त्वार्थश्रवणाद्यर्थास्तद्विनाशहेतवो वा दर्शनमोहोदयादयस्तन्मालिन्यहेतवश्चैव ते तस्मात्तदतीचारा इति युक्तिवचनं प्रत्येयम् ॥

यहाँ अनुमान का प्रयोग यों समझिये कि शंका, आदिक पांच (पक्ष) सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं (साध्यदल) मलिनता के कारण होने से (हेतु) जो परिणाम तो उस सम्यग्दर्शन के अतीचार नहीं हैं वे उस दर्शन की मलिनता के कारण भी नहीं हैं जैसे कि उस दर्शन की विशुद्धि के हेतु हो रहे तत्त्वार्थ

श्रवण, निस्तरण, आत्मध्यान, अमूढ़ता, स्वानुभूति आदि अर्थ हैं। अथवा उस सम्यग्दर्शन के विनाश के कारण हो रहे दर्शनमोहनीय कर्म, अनन्तानुबन्धी कर्मों का उदय, उदीरणा, कुदेवभक्ति, जिनदेवावर्णवाद आदि हैं ये तो सर्वथा अनाचार हैं (व्यतिरेक व्याप्तिप्रदर्शन पूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। वे शंकादिक उस सम्यग्दर्शन की मलिनता के कारण हो रहे हैं (उपनय) तिस कारण उस दर्शन के अतीचार शंका आदिक पांच हैं (निगमन)। इस प्रकार पांच अवयवों वाले अनुमान प्रमाण स्वरूप युक्ति का वचन समझ लेना चाहिये। भावार्थ-इस सूत्र में कहे गये प्रमेय की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी गयी है, सम्यग्दर्शन का एक देश करके भंग हो जाना स्वरूप मलिनपन को साधने में सम्यग्दर्शन के विशोधक तत्त्वार्थश्रवण आदि और सम्यग्दर्शन के विघातक दर्शन मोहोदय आदि दोनों प्रकार के भले बुरे परिणाम व्यतिरेक दृष्टान्त बन सकते हैं। वस्त्र को शुद्ध करने वाले साबुन, सोडा, रेह, रीठा आदि पदार्थ और वस्त्र का नाश करने वाले अग्नि, कीड़े, तेजाब आदि पदार्थ ये दोनों ही उस कपड़े को मलिन नहीं करते हैं। मलिन अवस्था में पदार्थ की विशुद्धि नहीं रहती है, और सर्वाङ्ग नाश भी नहीं हो जाता है।

व्रतशीलेषु कियंतोऽतीचारा इत्याह;—

आदि में आत्मसात् किये गये सम्यग्दर्शन के अतीचारों को समझ लिया है अब व्रत और शीलों में कितने कितने अतीचार संभवते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

गृहस्थ के अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि सात शीलों में भी अग्रिम सूत्रों में अनुक्रम से कहे जाने वाले पांच पांच अतीचार यथाक्रम करके समझ लेने योग्य हैं। गृहस्थसम्बन्धी बारह व्रतों के साठ अतीचार हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन और सल्लेखना के पांच पांच अतीचार तो श्रावक और संयमी दोनों व्रतियों के संभव जाते हैं।

अतीचारा इत्यनुवृत्तिः। व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् शीलग्रहणस्य। दिग्विरत्यादीनां हि व्रतलक्षणस्याभिसंधिकृतनियमरूपस्य सद्भावाद् व्रतत्वेऽपि तथाभिधानेऽपि च शीलत्वं प्रकाश्यते, व्रतपरिरक्षणं शीलमिति शीललक्षणोपपत्तेः।

पूर्व सूत्र से अतीचार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है, यहाँ कोई शंका उठाता है कि सूत्र अत्यन्त लघु होना चाहिये अतः सूत्र में व्रत पद का ही ग्रहण किया जाय दिग्विरति आदिक सात शील भी व्रत ही हैं। तभी तो "व्रतसंपन्नश्च" सूत्रकार ने कहा था। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि दिग्विरति आदि में शीलपन यानी व्रत परिरक्षकपन की विशेषता का द्योतन करने के लिये शील-पद का ग्रहण किया गया है क्योंकि दिग्विरति आदि शीलों के यद्यपि व्रत के "अभिसंधि अर्थात् विचार पूर्वक चलाकर अभिप्रायों से किये गये प्रतिज्ञात नियम स्वरूप" लक्षण का सद्भाव है अतः शीलों में व्रतपना होते हुये भी सूत्रकार का तिस प्रकार शील रूप से कथन करने में भी कुछ रहस्य है जो कि दिग्विरति आदि में शीलपने का प्रकाश कर रहा है। व्रतों की चारो ओर से रक्षा करने वाला शील होता है। इस प्रकार सातों में शील का लक्षण सुघटित बन रहा है। बात यह है कि आरम्भी, परिग्रही होने से गृहस्थों के व्रतों की रक्षा के लिये शील पालना आवश्यक है मुनियों के नहीं। तभी तो तीर्थ यात्रा के लिये दिग्विरति या देश व्रत के नियमों की अपेक्षा नहीं की जाती है अथवा गृहस्थ के तीसरी, दूसरी प्रतिमाओं में

पाये जा रहे सामायिक व्रत और सामायिक शील में जैसे विशेषता है उसी प्रकार यहां गृहस्थ के सात शील भी पांच व्रतों के रक्षक मात्र समझे जाते हैं। व्रतों की रक्षा करते हुये शीलों का परिपालन गौण भी हो जाय तो कोई विशेष क्षति (परवाह) नहीं है। हां व्रतों को भी गौण कर शीलों के ही नियम बनाये रखने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये।

सामर्थ्याद्गृहिसंप्रत्ययः, बन्धनादयो ह्यतीचारा वक्ष्यमाणा नानगारस्य संभवंतीति सामर्थ्याद्गृहिण एव व्रतेषु शीलेषु पंच पंचातीचाराः प्रतीयंते। पंच पंचेति वीप्सायां द्वित्वं व्रतशीलातीचाराणामनवयवेन पंचसंख्यया व्याप्यत्वात्। पंचश इति लघुनिर्देशे संभवत्यपि पंच पंचेति वचनमभिव्यक्त्यर्थं, यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातीचारक्रमसंबंधनार्थं।

सूत्र में बिना कहे ही वक्ष्यमाण सूत्रों की सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ का समीचीन बोध हो रहा है, कारण कि बंध आदिक अतीचार जो भविष्य में कहे जाने वाले हैं वे गृहस्थ के ही संभवते हैं गृहत्यागी संयमी के नहीं संभवते हैं इस कारण प्रकरण सामर्थ्य से गृहस्थ के ही व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतीचार क्वचित् पाये जा रहे निर्णीत कर लिये जाते हैं। इस सूत्र में "पंच पंच" यों वीप्सा में दोपना किया गया है क्यों कि व्रत और शीलों के अतीचारों को पूर्ण रूप से पाँच संख्या करके व्याप लिया जाता है "अनवयवेन द्रव्याणां अभिधानमेव वीप्सार्थः" यद्यपि वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय कर पंचशः इस प्रकार लघुरूप से निर्देश करना संभव था तो भी सूत्रकार का पंच पंच यों बड़े रूप से कथन करना तो अभिव्यक्ति के लिये है अर्थात् लघुबुद्धि शिष्यों को पंच पंच कहने से सुलभतया स्पष्ट अर्थ की प्रकटता हो जाती है। सूत्र में यथाक्रम शब्द का कथन करना तो भविष्य में कहे जाने वाले अतीचारों का क्रम अनुसार संबन्ध कराने के लिये है अर्थात् पूर्व सूत्रों में व्रत और शीलों का जिस क्रम से निरूपण किया गया है उस क्रम का उल्लंघन नहीं कर वक्ष्यमाण सूत्रों में उनके अतीचार कहे जायंगे।

अत एवाह ;—

इस ही कारण से उक्त सूत्र का अभिप्राय प्रकट करते हुये ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

पंच पंच व्रतेष्वेवं शीलेषु च यथाक्रमं।
वक्ष्यंतेऽतः परं शेष इति सूत्रेति दिश्यताम् ॥१॥

इस प्रकार व्रतों में और शीलों में क्वचित् पाये जा रहे पाँच पाँच अतीचार भविष्य में सूत्रों द्वारा यथाक्रम से कहे जायंगे ऐसी सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं। इस सूत्र का वाक्यार्थ बनाने में "अतः परं वक्ष्यन्ते" यानी इस सूत्र से परली ओर सूत्रों में कहे जावेंगे इतना पद शेष रह गया आया ततः अन्वित हो रहा समझ लेना चहिये। "सोपस्काराणि वाक्यानि भवंति" वाक्यों को यहां वहां से आवश्यक पदों को खींच लेनेका अधिकार प्राप्त है। आवश्यक हो रहे अनुपात्त पद का प्रयोजन वश अन्यत्र संबन्ध कर लेना अतिदेश है। "अतः परं व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं वक्ष्यंते" यों सूत्र का वाक्य बना लिया जाय बड़ा सुन्दर जंचता है।

तत्राद्यस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

उन व्रत और शीलों में सब के आदि में कहे गये या प्रधान हो रहे अहिंसाणुव्रत के अतीचार

कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अभीष्ट देश में जाने के लिये उत्सुक हो रहे जीव के प्रतिबन्ध हेतु हो रहे हथकड़ी, लेज आदि से उस जीव को बांध देना बंध है। डंडा, चाबुक, छड़ी आदि करके प्राणियों का ताड़न करना वध है। कान, नाक, अण्डकोष आदि अवयवों को छेद देना छेद है। न्यायोचितभार से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। उचित समय पर या भूख, प्यास लगने पर गाय आदि के खाद्य, पेय पदार्थों का रोक लेना अन्नपान निरोध है। ये अहिंसाणुव्रत के प्रमादयोग से किये गये बन्ध आदि पांच अतीचार हैं। यदि प्रमादयोग नहीं है और हितैषिता है तो कुँआ, गड्ढा आदि में गिर जाने को रोकने के लिये पशु को लेज आदि से बांध देना, अथवा पागल स्त्री या पुरुष को स्वपरघात के निवारणार्थ सांकल आदि से बांध देना दोषाधायक नहीं है। कोई कोई पागल या भूतावेश की चिकित्सा तो थप्पड़ या बेंत से ताड़ना और कान, नाक, को दबाना आदि उपायों से की जाती है। उपद्रवी या अनभ्यासी छात्र का गुरु भी ताड़न करते हैं माता-पिता भी बच्चों को कदाचित् पीट देते हैं। शल्य चिकित्सा करने वाले डाक्टर या जर्राह फोड़ा को चीर देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अंगुली, टांग, आदि उपाङ्गों का छेद भी कर डालते हैं। वायु का रोग या अंगशून्यता की चिकित्सा के लिये शीशा का भारी कड़ा हाथ-पांव में डाल दिया जाता है। हितेच्छु वैद्य रोगी के खाने पीने को रोक देता है। उपवास करने का उपदेश देने वाले पण्डित भी दूसरों के अन्नपान का निषेध करा देते हैं। इन सबको यह ज्ञात रहे कि जो विशुद्धि के अंग हो रहे बंध आदिक मल नहीं हैं और संक्लेशजनक हो रहे बंध आदिक उस अहिंसाविरति के अतीचार हैं। जीव के संपूर्ण प्राणों का वियोग नहीं करूंगा इतने मात्र अहिंसा व्रत को एक देश पाल रहा है फिर भी क्रोधवश बांधता, ताड़ता, छेदता, अतिभार लादता और खाना पीना रोकता हुआ प्रमादी जीव निर्दय होने के कारण व्रत, को सर्वाङ्ग नहीं पाल रहा संता अतीचार दोष का भागी हो जाता है।

अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बंधः प्राणिपीडाहेतुर्वधः, कशाद्यभिघातमात्रं न तु प्राणव्यपरोपणं तस्य व्रतनाशरूपत्वात्, छेदोऽङ्गापनयनं, न्याय्यभारातिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणं, क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः। कुतोऽमी पंचाहिंसाणुव्रतस्यातीचारा इत्याह—

जाने आने के लिये अभीष्ट हो रहे देश में स्वच्छन्द गमन के निरोध का हेतु हो रहा बन्ध है। ताड़न आदि द्वारा प्राणियों की पीड़ा का कारण हो रही वध क्रिया है जो कि चाबुक, लौंदरी, बेंत आदि करके अभिघात कर देना मात्र है। किन्तु वध शब्द करके यहां सम्पूर्ण प्राणों का वियोग कर मार डालना अर्थ नहीं पकड़ना क्योंकि वह हत्या करना तो अहिंसाव्रत का ही नाश कर देना रूप है "सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्" ॥ कान, नाक आदि अवयवों का छेद डालना छेद है। न्याय से अनपेत (समुचित) हो रहे बोझ से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। भूख, प्यास की बाधा उपजाना अन्नपान निरोध है। यों ये पांच अतीचार हुये। यहां कोई पूछता है कि अहिंसाणुव्रत के वे बन्ध आदि पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

तत्राहिंसाव्रतस्यातीचारा बंधादयः श्रुताः।
तेषां क्रोधादिजन्मत्वात्क्रोधादेस्तन्मलत्वतः ॥१॥

उन व्रतों या अतीचारों में अहिंसाव्रत के बन्ध आदिक पाँच अतीचार आचार्य परंपरा द्वारा सुने जा रहे माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे बन्ध आदिक तो क्रोध, लोभ आदि कषाय भावों से उपजते हैं। और क्रोध आदि उस अहिंसाव्रत के मल हैं। अंतरंग मलों अनुसार हुई बहिरंग की बन्धन, वध आदि निन्द्यक्रियायें अतीचार मानी जाती हैं यों अनुमान प्रयोग बना दिया है।

पूर्ववदनुमानप्रयोगः प्रत्येतव्यः ॥

जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतीचारों का निरूपण करते हुये "मालिन्यहेतुत्वात्" हेतु देकर पूर्व में अनुमान का प्रयोग रचा था उसी प्रकार यहां अहिंसाव्रत के अतीचारों में भी अनुमान का प्रयोग इस वार्त्तिक अनुसार समझ लेना चाहिये।

अथ द्वितीयस्याणुव्रतस्य केऽतीचाराः पंचेत्याह;—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब दूसरे सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार कौन से हैं ? ऐसी निर्णिनीषा प्रकट होने पर महाविद्वान् सूत्रकार समाधान कारक अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

इन्द्रपदवी या तीर्थंकरों के गर्भ अवतार, जन्म अभिषेक, साम्राज्य प्राप्ति, चक्रवर्तित्व, दीक्षा कल्याण अथवा मण्डलेश्वर आदि राज्य, सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त अहमिन्द्र पद, ये सब सांसारिक सुख अभ्युदय कहे जाते हैं तथा तीर्थंकरों के केवलज्ञान कल्याण, मोक्षकल्याणक अनन्तचतुष्टय या अन्य सामान्य केवलियों की निर्वाण प्राप्ति ये सब निःश्रेयस माने जाते हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस को साधने वाले क्रियाविशेषों में अज्ञानादि के वश हो कर अन्य को अन्य प्रकारों से प्रवृत्त करा देना या ठग लेना मिथ्योपदेश है। स्त्री पुरुषों या मित्रों आदि कर के एकान्त में की गयी या कही गयी विशेषक्रिया को गुप्तरीति से ग्रहण कर दूसरों के प्रति प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। अन्य के द्वारा नहीं कहे गये विषय को उसने यों कहा था या किया था इस प्रकार ठगने के लिये जो द्वेषवश लिख दिया जाता है वह कूटलेख क्रिया है। सोना, चाँदी, रुपया, मोहरें किसी के यहाँ धरोहर रख दी गयीं उन कीपू री संख्या को भूल कर पुनः ग्रहण करते समय अल्पसंख्यावाले द्रव्य को माँग कर ग्रहण कर रहे पुरुष के प्रति सोने आदि का अधिक परिमाण जान कर भी जो थोड़े द्रव्य की स्वीकारता दे देना है वह न्यासापहार है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार आदि करके दूसरों की चेष्टा को देखकर ईर्ष्या, लोभ, आदि के वश होकर जो अन्यपुरुषों के सन्मुख उस गुप्त मन्त्र का प्रकट कर देना है वह साकार मन्त्रभेद है। यों ये मिथ्योपदेश आदिक उस सत्यव्रत के पाँच अतीचार हैं। यहां भी सत्यव्रत का एक देश भंग और एक देश रक्षण होता रहने से अतीचारों की व्यवस्था है॥

मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः सर्वथैकान्तप्रवर्तनवत्, सच्छास्त्रान्यथाकथनवत् परातिसंधायकशास्त्रोपदेशवच्च, संवृतस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानं, स्त्रीपुरुषानुष्ठितगुप्तक्रियाप्रकाशनवत्, परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया एवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनाभिप्रायलेखनवत्, हिरण्यादिनिक्षेपे अल्पसंख्यानुज्ञावचनं न्यासापहारः शतन्यासे नवत्यनु-

ष्टानवत्, अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः अर्थप्रकरणादिभिरन्याकूतमुपलभ्यासूया-दिना तत्प्रकाशनवत् ॥ कथमेते अतीचारा इत्याह—

जिस प्रकार बौद्ध धर्म का पक्ष लेकर सर्वथा क्षणिक एकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती है एवं सर्व को नित्य मानने का पक्ष ले रहे एकान्तीपण्डित के अनुसार सर्वथा नित्यैकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती है। आदि, या समीचीन शास्त्र का अन्य प्रकारों से निरूपण करा दिया जाता है। तथा दूसरों की धन आदि के लिये वंचना कराने वाले शास्त्रों का उपदेश दे दिया जाता है उसी प्रकार मिथ्या यानी अन्यथा प्रवृत्ति करा देना, अथवा दूसरों के अभिप्राय को सुमार्ग से हटाकर कुमार्ग पर लगा देना मिथ्यो-पदेश है। ढके हुये यानी गुप्त हो रहे क्रिया विशेष का जो दूसरों की हानि करने के लिये प्रकाशित कर देना है वह रहोभ्याख्यान है, जैसे कि स्त्री पुरुषों करके एकान्त में की गई क्रियाविशेषको प्रकट कर दिया जाता है। दूसरों करके नहीं कहे गये किन्तु पर प्रयोग से इङ्गितों द्वारा समझ कर ठगने के लिये लेखन क्रिया के मार्ग को पकड़ना कूटलेखक्रिया है। जैसे कि उस मनुष्य ने मरते समय यों अमुक को भाग देने के लिये कहा था, इस प्रकार अंगचेष्टा करी थी इस प्रकार ठगने के अभिप्राय अनुसार लिख दिया जाता है। सोना, चांदी आदि की धरोहर किसी महाजन के यहां रख देने पर पुनः संख्या भूल गये स्वामी का अल्पसंख्यक द्रव्य मांगने पर थोड़ी संख्यावाले हीन द्रव्य के धरोहर की स्वीकारता को कह देना न्यासापहार है। जैसे कि किसी बोहरे के यहां सौ मोहरों की धरोहर जमा कर देने वाले भोले जीव का संख्या भूल कर अपनी कुल नब्बे मोहरों को ले रहे भोले जीव के प्रति तुम्हारी नब्बे ही मोहरें थीं यों कह कर अधिक जान कर भी नब्बे मोहरों के देने का उस बोहरे करके अनुष्ठान कर दिया जाता है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार, भ्रूविक्षेप आदि करके दूसरों के गुह्य इतिवृत्तों का प्रकाश कर देना साकार-मन्त्रभेद है। जैसे कि अर्थ, प्रकरण आदि करके दूसरों की चेष्टा को दक्षता पूर्वक जान कर ईर्ष्या, द्वेष आदि करके उस गुप्त क्रिया को प्रकाश में ला दिया जाता है॥ यहाँ कोई पूछता है कि सत्यव्रत के ये पांच अतीचार भला किस प्रकार हो जाते हैं इस में युक्ति भी क्या है? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान कारक अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

तथा मिथ्योपदेशाद्या द्वितीयस्य व्रतस्य ते।
तेषामनृतमूलत्वात्तद्वत्तेन विरोधतः ॥१॥

जिस प्रकार अहिंसाव्रत के संक्लेश वश पांच अतीचार दोष लग जाते हैं उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के वे मिथ्योपदेश आदिक पांच का अतीचार संम्भव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि प्रमाद युक्त झूँठ बोलने के मूल मानकर वे मिथ्योपदेश आदि उपजते हैं (हेतु) जैसे कि वंचक शास्त्रों का उपदेश या दम्पतियों की रहस्य क्रिया का प्रकाश करना आदि अनृतमूलक होने से सत्य का दोष है (पक्षान्त-र्व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) उस सत्यव्रत या आत्मविशुद्धि के साथ मिथ्योपदेश आदि का उसी प्रकार विरोध है जैसे अहिंसा व्रत का बन्ध आदि के साथ विरोध ठन रहा है। अतः एकदेश भंग और एकदेश रक्षण हो जाने से उक्त अतीचार सम्भव जाते हैं। अर्थात् अतीचार वाला विचारता है कि जैसे जैन पण्डित अपनी आम्नाय अनुसार जैन शास्त्रों का उपदेश सुनाते हैं उसी प्रकार मैंने यजुर्वेद अनुसार हिंसा का या बौद्ध मत अनुसार क्षणिक एकान्त पक्ष का अथवा "वाराङ्गना राजसभा प्रवेशः" इस नीति शास्त्र के अनुसार वेश्या के यहां जाने का एवं डाकुओं के अभिप्राय अनुसार सभी पापों के मूलभूत धनिकों के धन को मार पीट कर के भी हड़प लेने का उपदेश दे दिया है कोई मनमानी बातें नहीं कह दी हैं। इसी

प्रकार दम्पतियों के रहस्य की भी सच्ची ही बातें कही हैं, झूँठी बात एक भी नहीं कही है इत्यादि, यों व्रत की रक्षा कर रहा भी व्रत का पूर्णपालन नहीं कर सका है।

यथाद्यव्रतस्य मालिन्यहेतुत्वाद्बंधादयोऽतीचारास्तथा द्वितीयस्य मिथ्योपदेशादयस्तदविशेषात्। तन्मालिन्यहेतुत्वं पुनस्तेषां तच्छुद्धिविरोधित्वात्।

जिस प्रकार सब के आदि में कहे गये अहिंसा व्रत के मालिन्य का कारण हो जाने से बंध, वध आदिक पांच अतीचार हैं। उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के मिथ्योपदेश आदिक पांच अतीचार हैं। क्योंकि उस मलिनता के कारण हो जाने का दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हां उन मिथ्योपदेश आदिकों को व्रत की मलिनता का कारणपना तो उस सत्य करके हुई आत्मविशुद्धि का विरोधी हो जाने से नियत है।

अथ तृतीयस्य व्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

पहिले और दूसरे व्रतों के अतीचार ज्ञात हो चुके हैं अब तीसरे अचौर्य व्रत के अतीचार कौन हैं ? ऐसी निर्णेतुं इच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोई पुरुष स्वयं तो चोरी नहीं करता है किन्तु दूसरे स्तेन यानी चोर को प्रेरणा कर देता है यह स्तेनप्रयोग है। उन चोरों करके चुराये गये बहुमूल्य द्रव्य को अल्पमूल्य द्वारा क्रय करने के अभिप्राय से ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित न्याय से अन्य प्रकारों करके देना लेना अतिक्रम कहा जाता है, विरुद्ध राज्य के होते सन्ते अतिक्रम करना, राजा या स्वामी की घोषणा का उल्लंघन कर अन्य प्रकारों से लेना देना जैसे कि कर देने योग्य अपने पदार्थ को महसूल बिना दिये ही राज्य से बाहर कर देना, पूरी टिकट के स्थान पर आधी टिकट और आधी टिकट वाले की टिकट नहीं खरीदना, रेलगाड़ी में सामान अधिक ले जाना, इत्यादि विरुद्धराज्यातिक्रम है। नापने, तोलने, के लिये काष्ठ, पीतल आदि के बनाये हुये सेर, ढय्या, पंसेरी आदि नाप या तखरी के पउआ, दुसेरी, आदि बांट एवं गज, फुटा, आदि को न्यून या अधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। न्यून हो रहे मान, उन्मानों से खोटा बनिया दूसरों के लिये देता है और अधिक हो रहे मान, उन्मानों, करके वह बनिया अपने लिये नापता, तोलता है कृत्रिम बनाये गये नकली सोने, चांदी, मोती, घृत, दूध, चून आदि करके ठगने के विचार अनुसार व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं।

मोपकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः। चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानं, उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः, विरुद्धराज्ये सत्यतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः, कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानं, कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। कुतोऽमी तृतीयस्य व्रतस्यातीचारा इत्याह;—

चोरी करने वाले जीव को तीन प्रकार यानी मन, वचन, या काय करके अथवा दूसरे पुरुष द्वारा प्रयुक्त कराता है, कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार प्रेरणा करता है वह कृत्यतः स्तेनप्रयोग है।

चोर करके लाये गये द्रव्य का ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित रीति से अन्य प्रकार अन्याय द्वारा दान या ग्रहण करना अतिक्रम बोला जाता है। विरुद्धराज्य के होते सन्ते जो अतिक्रम करना है वह विरुद्धराज्यातिक्रम है। झूंठे नाप, तोल, आदि करके क्रय विक्रय का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है, यहाँ आदि पद से घोड़े की, मोतियों की जल की गर्मी की बिजली की वर्षा की भाप की पाण्डित्य आदिकी भिन्न-भिन्न प्रकारों से होने वाली नाना नाप तोलों का ग्रहण है। कृत्रिम (नकली) सोना, चाँदी आदिका बनाना या इन का दूसरों को ठगने के लिये व्यापार करना प्रतिरूपकव्यवहार है॥ यहाँ कोई पूंछता है कि तीसरे अचौर्य व्रत के स्तेन प्रयोग आदि पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जाँय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

प्रोक्ताः स्तेनप्रयोगाद्याः पंचास्तेयव्रतस्य ते।
स्तेयहेतुत्वतस्तेषां भावे तन्मलिनत्वतः ॥१॥

अचौर्य व्रत के वे चोर प्रयोग आदिक पांच अतीचार सूत्रकार महाराज ने बहुत अच्छे ढंग से कह दिये हैं क्योंकि वे स्तेनप्रयोग आदिक तो चोरी के परम्परा हेतु हो रहे हैं। उन चोर प्रयोग आदि के होते सन्ते उस अचौर्यव्रत प्रयुक्त हुई आत्मविशुद्धि की मलिनता हो जाती है। एक अंश अचौर्यव्रत की रक्षा बनी रहती है कि मैंने मात्र चोरी का नौ भंगों से प्रयोग करना बता दिया है चोरी तो नहीं की है इत्यादि विचार अनुसार इन स्तेन आदि प्रयोग को अतीचारपने की व्यवस्था है।

अथ चतुर्थस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब चौथे स्वदारसंतोष या ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार महाशय इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अपनी संतान के अतिरिक्त अन्यदीय पुत्र या कन्याओं का विवाह करना पहिला अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन यानी क्रीड़ा करने की जिन स्त्रियों की टेव है वह खोटी स्त्री इत्वरिका कही जाती है वह सधवा हो या विधवा हो किसी पति के द्वारा गृहीत हो चुकी सन्ती इत्वरिका परिगृहीता मानी गई है। ऐसी परिगृहीत इत्वरिका के साथ जो गमन करना अर्थात् उसके जघन भाग, स्तन, मुख, उदर आदि का निरीक्षण करना, सराग भाषण करना, हाथ, भ्रकुटी, चक्षुः आदि करके संकेत करना इस प्रकार रागी होकर अनेक रमण कुचेष्टायें करना, द्वितीय अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन करने की टेव (आदत) को धार रही जो किसी पति कर के गृहीत नहीं हो चुकी है ऐसी गणिका या पुंश्चली स्त्री इत्वरिका अपरिगृहीता है। परपुरुषगामिनी अपरिगृहीत वेश्या या पुंश्चली (खानगी), स्त्रियों में स्तन निरीक्षण, हास्य, उपरिष्टात्क्रीड़ायें आदि कुक्रियायें करना तीसरा अतीचार है। स्व पुरुष या स्व स्त्री में भी अंग यानी जननेन्द्रिय के अतिरित अंगों में क्रीड़ा करना चौथा अतीचार है। स्व स्त्री में भी काम रति का प्रवृद्ध परिणाम होना यानी संतुष्ट नहीं होकर कामक्रीड़ा में अविराम प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश नाम का पाँचवां अतीचार है। यों परविवाह करण १ इत्वरिकापरिगृहीतागमन २ इत्वरिका अपरिगृहीता गमन ३ अनंगक्रीडा ४ कामतीव्राभिनिवेश ५ ये स्वदारसंतोष या परदारनिवृत्तिव्रत के पांच अतीचार हैं।

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयादिवहनं विवाहः परस्य विवाहस्तस्य करणं परविवाहकरणं, अयनशीलेत्वरी सैव कुत्सिता इत्वरिका तस्यां परिगृहीतायामपरिगृहातायां च गमनमित्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनं, अनंगेषु क्रीडा अनंगक्रीडा, कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः। दीक्षितातिबालातिर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। त एते चतुर्थाणुव्रतस्य कुतोऽतोचारा इत्याह—

सातावेदनीय कर्म और चारित्रमोह (माया, लोभ, रति, हास्य, वेद) कर्म का उदय हो जाने से विवाह क्रिया द्वारा बँध जाना विवाह है, पर का जो विवाह सो परविवाह है उस परविवाह का करना परविवाहकरण है यों परविवाह शब्द की निरुक्ति कर दी गई है। परपुरुष के निकट गमन करने की टेव को धारने वाली स्त्री इत्वरी है। इत्वरी शब्द से कुत्सिता इत्वरी यों खोटे अर्थ में क प्रत्यय कर देने पर वही कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका कही जाती है। उस परिगृहीत हो रही इत्वरिका में और किसी नियत भर्ता करके नहीं परिगृहीत हो रही इत्वरिका में गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमन है। काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा है। रति क्रिया का अतिशय करके बढ़ रहा परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दीक्षा ले जा चुकी स्त्री या छोटी अवस्था की अतिबाला लड़की अथवा छिरिया, हरिणी आदि तिर्यञ्चिनी एवं काष्ठ, चित्र, रबड़, रुई आदि की बनी हुई अनेक प्रकार की अचेतन स्त्रियां अथवा स्त्रियों की अपेक्षा से तिर्यञ्च पुरुष, दीक्षित, कृत्रिम पुरुष चिह्न आदि का इस सूत्र में उपलक्षण रूप से भी संग्रह नहीं हो सका है ऐसी दशा में दीक्षिता आदि आदि के साथ क्रीड़ा करने को किस दोष में गिना जायगा ? ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि पांचवें अतीचार कामतीव्राभिनिवेश का ग्रहण कर देने से उनके संग्रह की सिद्धि हो जाती है। कामकी तीव्रता से ही अपनी दीक्षिता स्त्री अथवा अपने लिये कल्पित की गई अतिबाला कन्या एवं तिर्यञ्चिनी आदि त्यागने योग्य स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। यों ये पाँच अतीचार कुछ व्रत की रक्षा का अभिप्राय रखकर व्रत का भंग कर देने से गृहस्थ के संभव जाते हैं। यहां कोई तर्क कर रहा है कि प्रसिद्ध हो रहे ये पांच अतीचार भला चौथे अणुव्रत के किस युक्ति से सिद्ध कर लिये जांय ? ऐसी तर्कणा उपजने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

चतुर्थस्य व्रतस्यान्यविवाहकरणादयः
पंचैतेऽतिक्रमा ब्रह्मविघातकरणक्षमाः ॥१॥

अन्यविवाहकरण आदिक ये पाँच (पक्ष) चौथे व्रत के अतीचार हैं (साध्य) क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत का बहुभाग विघात करने में समर्थ हो रहे हैं (हेतुदल)। यों अनुमान प्रयोग बना कर उक्त सूत्र के प्रमेय को प्रमाणसंप्लव द्वारा पुष्ट कर दिया है।

स्वदारसंतोषव्रतविहननयोग्या हि तदतीचारा न पुनस्तद्विघातिन एव पूर्ववत् ॥

पूर्व में जैसे अहिंसाणुव्रत, सम्यग्दर्शन आदि के अतीचार उन को माना गया है जो कि व्रतों की सर्वाङ्ग विशुद्धि होने के कारण नहीं हैं और व्रत का सर्वांग विनाश करने वाले भी नहीं हैं जो विशुद्धि के कारण हैं वे तो व्रतों के संरक्षक हैं जो व्रतों के विनाशक हैं वे अनाचार या अविरतिस्वरूप हैं हां व्रतों को मलिन कर देने वाले अतीचार कहे जाते हैं। उसी प्रकार स्वदारसंतोषव्रत में विघ्न करने

योग्य परिणाम ही उस चौथे व्रत के अतीचार हैं किन्तु फिर उस ब्रह्मव्रत का ही सर्वांग विघात करने वाले तो अतीचार नहीं हो सकते हैं यों इस कारिका में कहे गये अनुमान के व्यतिरेकदृष्टान्त तो ब्रह्मव्रत के विशोधक स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग, नवधा ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि और ब्रह्मविघातक परस्त्रीरमण, वेश्यामैथुन आदि हैं तथा परविवाहकरण आदिक अन्वयदृष्टान्त हो सकते हैं। अन्तर्व्याप्ति को मानने वाले पण्डित पक्ष के भीतर भी व्याप्ति ग्रहण कर उसको अन्वयदृष्टान्त बना लेते हैं। अन्यथा सभी हेतु साध्य वालों को पक्ष कोटि में धर देने पर अन्वयदृष्टान्त का मिलना असंभव है।

अथ पंचमव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

व्रत और शीलों में पांच पांच अतीचार हैं इस प्रतिज्ञा अनुसार पहले चार व्रतों के अतिचार ज्ञात कर लिये इनके अनन्तर अब पांचवें परिग्रहपरिमाण व्रत के अतीचार कौन हैं ? ऐसी तत्त्व बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः ॥२९॥

क्षेत्र-वास्तु, आदिक पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतीचार हैं अर्थात् क्षेत्र और वास्तु का अतिक्रमण कर लेना पहिला अतीचार है। धान्यों की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहते हैं। कुटिया, डेरा, कोठी, हवेली, घर, प्रासाद, ग्राम , नगर आदि ये वास्तु कहे जाते हैं। इनका लोभ के आवेश से अतिक्रम कर-लिया जाता है। सीमा करने वाली भीत या बाढ़ आदि को हटाकर दूसरे घर या खेत को मिला लेने से यह अतीचार संभव जाता है। मैंने घर आदि को बढ़ा लिया है उनकी परिमित संख्या का अतिक्रम नहीं किया है यों इस व्रती के व्रत की एकदेश रक्षा का अभिप्राय है। रूपा, चांदी, मोहर, गिन्नी, पैसा, सिक्का आदि व्यवहार में क्रय विक्रय उपयोगी यानी वस्तु के अदल बदल का विनिमय करने वाले पदार्थ हिरण्य हैं। और सोना तो प्रसिद्ध ही है। परिमित किये गये हिरण्य, सुवर्णों, का अतिक्रमण कर लेना दूसरा अतीचार है। अपने व्रत के समाप्त हो जाने पर तुम से इतना सिक्का या सोना ले लूंगा इस अभिप्राय कर के अधिक लब्ध को अन्य के लिये अर्पण करदेने से लोभवश यह अतीचार संभव जाता है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊंट, छिरिया आदिक धन हैं। और गेहूं, चावल आदिक धान्य हैं। परिमित धन और धान्य का अतिक्रम करना तीसरा अतीचार है। यह अतीचारी विचारता है कि अपने घर में प्राप्त हो रहे धनधान्यों का विक्रय या व्यय कर देने पर पुनः तुम आसामियों से ले लूंगा इस भावना करके नियन्त्रण कर देने से यह दोष संभव जाता है। संख्या किये गये दासीदासों का अतिक्रम करना चौथा अतीचार है। गाय, घोड़ी, तोता, मैना, सिपाही, दासियां, चाकर, इनमें गर्भवाली की अपेक्षा अथवा कुछ काल पश्चात् अपने व्रत को यथावस्थित कर लूंगा। यों विचार कर नियत संख्या का अतिक्रम कर देने से यह अतीचार संभवता है। वस्त्र, भाण्ड, गाड़ी, पलंग, हल, आदिक सभी कुप्य में गर्भित हो जाते हैं। नियत काल के पश्चात् मैं तुम से ले लूंगा या अन्य को दिला दूंगा इस अभिप्राय से यह कुप्यों का अतिक्रमण संभव जाता है यों क्षेत्र वास्तुओं की सीमा को बढ़ाना १ हिरण्य सुवर्णों का अतिक्रम २ धनधान्यों की मर्यादा का उल्लंघन ३ दासीदासों की संख्या का अतिरेक ४ और कुप्यपदार्थों की मर्यादा का उल्लंघन ये पांच परिमित परिग्रहव्रत के अतीचार हैं।

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोद्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात्, तीव्रलोभाभिनिवेशात् प्रमाणातिरे-

कास्तेषामतिक्रमाः । पंच कुतोऽतीचरा इत्याह;—

क्षेत्र वास्तु आदिक पदों के दो दो पदों का द्वंद्व समास हो गया है। कुप्य से पहिले आठ पदों के चार युगलों का न्यारा न्यारा समाहारद्वंद्व कर लिया जाय। "क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु" खेत और घर का समाहार कर एकवचन पद क्षेत्रवास्तु बना लिया गया है "हिरण्यं च सुवर्णं च" यों रुपया आदि और सोने का समाहार कर 'हिरण्यसुवर्णं' पद एकवचन कर दिया है (समाहारे एकवत् स्यात्)। "धनं च धान्यं च" यों का द्वंद्व कर गाय आदिक धन और धान गेहूं आदिक धान्यों को कह रहा "धनधान्यं" पद बना लिया जाता है। "दासी च दासश्च" यों (गवाश्वप्रभृतीनि च) सूत्र करके समास कर टहलुआ, टहलनी स्त्री पुरुषों को कह रहा "दासीदासं" पद साधु बन जाता है। पुनः "क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च" यों क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदासकुप्यानि एतेषां प्रमाणानां अतिक्रमाः" यों निरुक्ति कर सूत्र वाक्य बन जाता है। तीव्रलोभ का चारों ओर आवेश हो जाने से इन के प्रतिज्ञात प्रमाणों का अतिरेक होना संभव जाता है। उन क्षेत्र आदिकों के पाँच अतिक्रम अतीचार हैं। यहाँ कोई आगमोक्त विषय का तर्क द्वारा निर्णय करने के लिये आरेका उठाता है कि परिग्रह परिमाण व्रत के ये सूत्रोक्त पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी निश्चिकीषा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को स्पष्टीकरणार्थ कह रहे हैं।

क्षेत्रवास्त्वादिषूपात्तप्रमाणातिक्रमाः स्वयं।
पंच संतोषनिर्घातहेतवोंत्यव्रतस्य ते ॥१॥

क्षेत्र, वास्तु, आदिक में (पक्ष) स्वयं प्रतिज्ञा पूर्वक ग्रहण किये प्रमाण के ये पाँच अतिक्रम हो जाते हैं (साध्य) क्यों कि ये पाँच अतिक्रम संतोष का एकदेश से घात करने में कारण हो रहे हैं (हेतु) अतः पाँच व्रतों के अन्त में पड़े हुये परिग्रहपरिमाणव्रत के वे क्षेत्रवास्तु अतिक्रम आदिक पाँच अतीचार हैं।

संतोषनिर्घातानुकूलकारणत्वाद्धि तदतीचाराः स्युर्न पुनः समर्थकारणत्वात् पूर्ववत्।

पूरे संतोष के घातने में अनुकूल कारण हो जाने से उस परिग्रह परिमाणव्रत के ये पांच अतीचार नियम से संभव जायेंगे किन्तु फिर समूल चूल संतोष का घात करने में समर्थ कारण होने से ये अतीचार नहीं हैं जैसे कि पहिले सम्यग्दर्शन या अहिंसा आदि व्रतों में समझा दिया गया है अर्थात् एक देश व्रत की रक्षा और कुछ अंगों में व्रत का भंग हो जाने से पहिले अतीचार निर्णीत कर दिये गये हैं उसी प्रकार संतोष की भित्ति पर जो परिग्रहों का परिमाण किया था उस संतोष का जो परिपूर्णरूप से घात कर देते हैं ऐसी आयक के साथ हो रहीं गृद्धियां या उच्छृंखल होकर मार परिग्रहोंको इकट्ठा करते रहना अतीचार नहीं है किन्तु अनाचार है। और संतोष का जो किंचित् भी घात नहीं करते हैं ऐसे दान, पूजन, आदि भी अतीचार नहीं प्रत्युत संतोषवर्धक और परिमाणव्रत के पोषक गुण हैं। ये क्षेत्र वास्तु अतिक्रम आदिक पांच तो संतोष को घातने में एकदेश अनुकूल हो रहे हैं अतः अतीचार मान लिये गये हैं।

अथ दिग्विरतेः केऽतिक्रमाः पञ्चेत्याह;—

पांच अणुव्रतों के अतीचार कहे सो जाने अब इस के अनन्तर सात शीलों में से पहिली दिग्विरति के पांच अतीचार कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥३०॥

व्यतिक्रम शब्द को पहिले तीन शब्दों में जोड़ दिया जाय यों ऊर्ध्व व्यतिक्रम १ अधोव्यतिक्रम २ तिर्यग्व्यतिक्रम ३ क्षेत्रवृद्धि ४ स्मृत्यन्तराधान ५ ये पांच अतीचार दिग्विरमणव्रत के हैं। पर्वत, वृक्ष, मीनार आदि पर ऊपर चढ़ जाना, नीचे कूँआ बावड़ी आदि में उतरना, और तिरछे बिल, गुहा, आदि में प्रवेश करना ये नियत प्रदेश से परली ओर किये जांय तो इनका उल्लंघन करना यों तीन अतीचार हो जाते हैं। प्रयोजन बिना या अज्ञानसे इनका अतिक्रम किया जायेगा तब तो अतीचार हैं अन्य प्रकारों से अतिक्रम करने पर तो अनाचार ही हैं। अज्ञानवश ये अतिक्रम हो जांय तो पुनः संभल कर व्रतों की रक्षा कर ली जाती है पीछे वहां अतिक्रान्त स्थल में जाने का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है अन्य को भी नहीं भेजा जाता है वहां अतिक्रान्त स्थान से किसी वस्तु का लाभ किया जाय तो उसका त्याग कर दिया जाता है। क्षेत्र की वृद्धि कर लेना अथवा पूर्व देश की अवधि में से घटाकर उसको पश्चिम देश की अवधि में लाभवश जोड़ देना यह क्षेत्र वृद्धि है। नियत सीमा को भूल कर अन्य न्यूनाधिक स्मृतियों का अभिप्राय रखना स्मृत्यन्तराधान है। अज्ञान, अचातुर्य, सन्देह, अतिव्याकुलता, अन्यमनस्कता, अतिलोभ आदि करके स्मृति का भ्रंश हो जाता है। किसी ने पूर्व दिशा में सौ योजन का परिमाण किया था, गमन करते समय स्पष्टरूप से स्मरण नहीं रहा कि मैंने सौ योजन का परिमाण किया था, या पचास योजन का नियम किया था, उस व्रतापेक्षी का पचास योजन से आगे जाने पर तो अतीचार है और सौ योजन का अतिक्रम करने पर अनाचार हो जायेगा यों ये पांच दिग्विरति शील के अतीचार हैं॥

परिमितदिगवधिव्यतिलंघनमतिक्रमः, स त्रेधा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयभेदात्। तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः, कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः, बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः, अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसंधिः क्षेत्रवृद्धिः। इच्छापरिमाणेंऽतर्भावात्पौनरुक्त्यमिति चेन्न, तस्यान्याधिकरणत्वात्। तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासंगादिभिः। अननुस्मरणं स्मृत्यंतराधानं।

परिमाण की जा चुकी दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेषरूप से अतिक्रम करना व्यतिक्रम है। वह व्यतिक्रम ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, और तिर्यग्दिशा के विषयों की भिन्नता से तीन प्रकार का है उन तीनों में पर्वत, स्तूप, टीला आदि के ऊपर चढ़ जाने से ऊर्ध्वातिक्रम संभव जाता है। कुँआ में उतर जाना, दर्रा में नीचे आ जाना आदि क्रियाओं से अधोअतिक्रम हो जाता है। बिल में घुस जाना, सुरंग में प्रवेश कर जाना आदिक से तिर्यक् अतिक्रम स्वरूप अतीचार हो जाता है। चारों ओर ग्रहण कर ली गई दिशा का लोभ के आवेश से अधिकपने का अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है। यहाँ कोई शंका करता है कि "धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहा, परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि" इस प्रमाण अनुसार पांचवें अणुव्रत माने गये परिमित परिग्रह का दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है। फैली हुई इच्छाओं का संकोच कर नियत परिमाण कर लेना पांचमा अणुव्रत है। जब क्षेत्र के अतिक्रम को पांचवें व्रत के अतीचारों में गिन लिया है उस में क्षेत्रवृद्धि का अन्तर्भाव हो सकता है तिस कारण यहां उस को पुनः कथन करना तो पुनरुक्त दोष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह इच्छा परिमाण तो अन्य क्षेत्र, वास्तु, आदिक अधिकरणों में हो रहा है और यह दिग्विरति अन्य के लिये है। वहाँ परिग्रहबुद्धि से क्षेत्र के प्रमाण का अतिक्रम कर दिया जाता है किन्तु यहां दिग्विरमण में मात्र दिशा के परिमाण का लक्ष्य है अतः उस क्षेत्र को बढ़ाकर अतिक्रम रूप से गमन कर लिया है यों अर्थ में अन्तर है। प्रमाद, मोह, अन्यगतचित्तपना, उद्भ्रान्ति, आदि करके ये

तीन अतिक्रम या क्षेत्रवृद्धि हो जाती हैं। गृहीत मर्यादा का पीछे स्मरण नहीं रहना या न्यून अधिक रूप स्मरणान्तर कर लेना स्मृत्यन्तराधान है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कस्मात् पुनरमी प्रथमस्य शीलस्य पंचातीचारा इत्याह;—

किस कारण से फिर पहिले दिग्विरतिशील के वे ऊर्ध्वातिक्रम आदि पाँच अतीचार संभव जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान वचन को कहते हैं।

ऊर्ध्वातिक्रमणाद्याः स्युः शीलस्याद्यस्य पंच ते।
तद्विरत्युपघातित्वात्तेषां तद्धि मलत्वतः ॥१॥

आदि में हो रहे दिग्विरति शील के वे ऊर्ध्वदिशा अतिक्रमण आदिक पाँच अतीचार संभव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि वे उस दिग्विरति व्रत का ईषद्घात करने वाले हैं। तिसकारण नियम से वे उसके मल हैं। अतः व्रत का समूलचूल घात नहीं कर देने से और व्रत के पोषक भी नहीं होने से उन मलिनता के कारणों को व्रत का एकदेश भंग कर देने की अपेक्षा अतीचार कहा गया है।

अथ द्वितीयस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब दूसरे कहे गये देशविरति के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी संगति अनुसार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलःक्षेपा ॥३१॥

अपने संकल्पित देश में स्थित हो रहा भी श्रावक प्रतिषिद्ध देश में रक्खे हुये पदार्थों को प्रयोजनवश किसी से मंगा कर क्रय, विक्रय आदि करता है यह आनयन है। परिमित देश के बाहर स्वयं नहीं जाकर भृत्य आदि द्वारा इस प्रकार करो, यों प्रेष्यप्रयोग करके ही अभिप्रेत व्यापार की सिद्धि कर लेना प्रेष्यप्रयोग है। देशावकाशिक व्रत जब हिंसा से बचने के लिये लिया गया है तो स्वयं करना और दूसरे से कराना एक ही बात पड़ती है, प्रत्युत स्वयं गमन करने में कुछ विवेकपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि भी हो सकती थी किन्तु दूसरे चाकरों से ईर्यासमिति नहीं पल सकेगी यों यह प्रेष्यप्रयोग अतीचार हो जाता है। सर्वत्र व्रत रक्षा की अपेक्षा रखते हुये पुरुष का व्रत में दोष लग जाने से अतीचारों की व्यवस्था मानी गई है। निषिद्ध देश में बैठे हुये कर्मचारी पुरुषों का उद्देशकर खांसना, मठारना, टेलीफोन भेजना शब्दानुपात है। अपने रूप को दिखला कर शीघ्र व्यापार साधने के अभिप्राय से रूपानुपात दोष हो जाता है। इसमें कपट का संसर्ग है। गृहीत देश से बाहर व्यापार करने वालों को प्रेरणा करने के लिये ढेल, पत्थर आदि का फेंक देना, टेलीग्राफ करना पुद्गलक्षेप है। ये पाँच देशविरतिशील के अतीचार हैं।

तमानयेत्याज्ञापनमानयनं, एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः, अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः, स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः, लोष्ठादिपातः पुद्गलक्षेपः। कुतः पंचैते द्वितीयस्य शीलस्य व्यतिक्रमा इत्याह—

अपने संकल्प किये गये देश में स्थित हो रहे देशव्रती का प्रयोजन के वश से उस किसी विवक्षित पदार्थ को लाओ इस प्रकार मर्यादा के बाहर देश से मंगा लेने की आज्ञा देना आनयन दोष है। तुम इस प्रकार करो यों परिमित देश से बाहर स्वयं नहीं जाकर किंकर को भेज देने से प्रेष्य प्रयोग द्वारा

अभिप्रेत पदार्थ को प्राप्त कर लेना प्रेष्य प्रयोग है। व्यापार करने वाले पुरुषों का उद्देश्य लेकर खांसना, मठारना, हस्तसंकेत आदि करना, जिससे कि मर्यादा के बाहर देश में से इष्टसिद्धि हो सके वह शब्दानुपात है। मेरे तत्परताशाली रूप को देख कर शीघ्र ही बाहर देश से व्यापार संपादन हो सकता है, यों विचार कर शरीर को दिखलाना, झण्डी, ध्वजा, आदि दिखलाना रूपानुपात है। कर्मचारी पुरुषों का उद्देश लेकर बाहिर देश में डेल, पत्थर, चिट्ठी, टेलीग्राम आदि को फेंकना पुद्गलक्षेप है। ये देशविरमणशील के पाँच अतीचार हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि दूसरे दिग्विरति शील के पाँच व्यतिक्रम भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जांय ? कोरे आगमवाक्य को मान लेने की तो इच्छा नहीं होती है इस प्रकार सविनय तर्क के उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री **द्वितीयस्य तु शीलस्य ते पञ्चानयनादयः।**
स्वदेशविरतेर्बाधा तैः संक्लेशविधानतः ॥१॥

ये आनयन आदिक पांच तो (पक्ष) अपनी मर्यादा किये हुये देश के बाहर नहीं जाना स्वरूप दूसरे शील हो रहे देशविरतिव्रत को एकदेश बाधा पहुँचाते हैं (साध्यदल) क्योंकि नव ९ भंगों से देशविरतिजन्य विशुद्धि को धार रहे जीव के उन आनयन आदि क्रियाओं करके संक्लेश कर दिया जाता है (हेतु)। इस अनुमान करके पूर्व सूत्रोक्त आगमगम्य प्रमेय की सिद्धि कर दी जाती है। इस अनुमान में कहे गये साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति तो स्वयं में या किसी सत्याणुव्रती में ग्रहण कर ली जाती है। व्रतों करके शुद्ध हो रही आत्मा में स्वल्पसंक्लेश करने वाले परिणाम उस व्रत के अतीचार समझे जाते हैं यहां भी पूर्ववत् व्रतशोधक और व्रतसंघातक परिणामों से न्यारे थोड़ी मलिनता के कारण हो रहे दोष अतीचार समझ लिये जांय।

अथ तृतीयस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

इसके अनन्तर अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रत के अतीचार भला कौन हैं ? ऐसी निर्णयेच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस वक्ष्यमाण अग्रिम सूत्र को सुस्पष्ट कर रहे हैं।

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्षाधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

राग की तीव्रता होने पर हँसी दिल्लगी के साथ मिला हुआ गुण्डे पुरुषों का सा अश्लील वचन प्रयोग करना कंदर्प है। तीव्र रागपरिणति और अशिष्ट वचन के साथ मिली हुई भौं मटकाना, कमर हिलाना, ओठ नचाना, हाथ पांव फड़काना, अंगहार, आदि कायक्रिया करना कौत्कुच्य है। ढीठता से भरपूर होकर जो कुछ भी यद्वा, तद्वा, अंट संट, व्यर्थ का बहुत बकवाद करना मौखर्य है। जिसको सुनते हुये दूसरे मनुष्य उकता जावें, प्रयोजन साधकत्व का नहीं विचार कर चाहे जिन मन वचन काय गत विषयों की अधिकता करना असमीक्ष्याधिकरण है। जितने अर्थ से भोग, उपभोग सब सध सकते हैं उनसे अतिरिक्त अनर्थक पदार्थों को अधिक मूल्य देकर भी ग्रहण कर लेने की टेव अनुसार संग्रह कर लेना उपभोग परिभोगानर्थक्य है। ये पांच अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार हैं।

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः, तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कु-

च्यं, धार्ष्ट्यप्रायोऽसंबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यं, असमीक्ष्य प्रयोजनाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणं, तत्त्रेधा, कायवाङ्मनोविषयभेदात्। यावतार्थेनोपभोगपरिभोगस्यार्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं, उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात्पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात्।

उदीरणा प्राप्त राग की अधिकता से प्रवृद्ध हंसी से मिला हुआ शिष्टबहिर्भूत वाक्यों का प्रयोग करना कंदर्प है। वे तीव्रराग प्रयुक्त हास्यवचन और अशिष्ट वचन यों दोनों ही दूसरे उपहासपात्र में यदि दुष्ट काय क्रिया से संयुक्त हो जांय तो हास्यवचन, अशिष्ट वचन और दूषित काय चेष्टायें इन तीनों का मिश्रण परिणाम कौत्कुच्य कहा जाता है जो शिष्ट विद्वान, निंद्य करते हैं। जिसमें ढीठता बहुत पाई जाती है ऐसा पूर्वापर संबन्ध बिना अधिक बकबक करना मौखर्य है। बिचारे बिना प्रयोजन नहीं होने पर भी अधिकता करके पदार्थों का निर्माण करा लेना असमीक्ष्याधिकरण है। काय गोचर, और वचन गोचर तथा मनोविषय, पदार्थों के भेद से वह असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार है। मिथ्यादृष्टियों के काव्य, व्याकरण आदि का अनर्थक चिन्तन करना मनोगत है, और बिना प्रयोजन परपीड़ा को करने वाला कुछ भी बकते रहना वाग्विषय असमीक्ष्याधिकरण है। तथा बिना प्रयोजन चलते बैठते हुये सचित्त अचित्त फल, फूलों को छेदना भेदना, भूमि खोदना, अग्नि देना, विष देना, आदि आरंभ सभी काय गोचर असमीक्ष्याधिकरण हैं। जितने पदार्थों से उपभोग, परिभोग, प्रयोजन सध जाता है उतने पदार्थ का संग्रह करना अर्थ समझा जाता है उससे अतिरिक्त अन्यपदार्थों का अनर्थक आधिक्य रखना उपभोग परिभोगानर्थक्य है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस उपभोग परिभोग आनर्थक्य अतीचार के परिहार का लक्ष्य रख जब इसका उपभोग परिभोग परिमाण नाम के छठे शील में अंतर्भाव हो जाता है तो यहां अतीचारों में निरूपण कर देने से पुनरुक्तपन दोष का प्रसंग आता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्यों कि उस छठे व्रत के अर्थ का आप निर्णय नहीं कर पाये हैं। बात यह है कि उस छठे शील में अपनी इच्छा के वश से उपभोग परिभोग पदार्थों का परिमाण कर मर्यादा कर ली जाती है - किन्तु यहां फिर मर्यादा लिये हुये ही पदार्थों में पूर्णरीत्या अधिक रख देने का अभिप्राय है जैसे कि चार गाड़ियों के रखने की मर्यादा की थी किन्तु एक या दो गाड़ी से प्रयोजन सध जाता है फिर भी चारों गाडियों को व्यर्थ रक्खे रहना आनर्थक्य समझा जायेगा। विशेष यह है कि इन पांच अतीचारों में पहिले दो तो प्रमादचर्याविरति के अतीचार हैं और पापोपदेश विरति का अतीचार मौखर्य है। असमीक्ष्याधिकरण हिंसोपकारी पदार्थ दान विरति का दोष हो सकता है। प्रमादचर्यात्याग में भी यह दोष संभव जाता है। पांचवां भी प्रमादचर्या का ही अंग है। यों ये पांच अतीचार तीसरे अनर्थदण्ड विरति शील के हैं।

कस्मादिमे तृतीयशीलस्यातिचारा इत्याह;—

किस कारण से भला तीसरे अनर्थदण्डविरति शील के ये पांच अतीचार हो जाते हैं ? बताओ। "युक्त्यापन्नघटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे" जो युक्ति से घटित नहीं हो पाता है उसका प्रत्यक्ष देख कर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूं। संभवतः द्विचन्द्रदर्शन के समान वह प्रत्यक्ष भ्रान्त हो गया हो "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः, करिणि दृष्टेऽपि तं चीत्कारेणानुमिन्वतेऽनुमातारः" प्रत्यक्ष से भले प्रकार निर्णय किये जा चुके भी अर्थ को अनुमान प्रमाण करके जानने की अभिलाषा रखना तर्क रसिक प्रमाणसंप्लव वादियों की टेव है। अच्छा तो अब ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्ति पूर्ण अनुमानप्रमाण को प्रस्तुत करते हैं।

कंदर्पाद्यास्तृतीयस्य शीलस्येहोपसूत्रिताः ।
तेषामनर्थदण्डेभ्यो विरतेर्बाधकत्वतः ॥१॥

उपसंहार कर इस सूत्र में सूचित कर दिये कंदर्प आदिक पांच (पक्ष) तीसरे अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार हैं (साध्यदल) क्योंकि उन कंदर्प आदि को अनर्थदण्डों से विरति हो जाने का बाधकपना है । (हेतु) यों अनुमान द्वारा व्रत को एकदेश रूप से दूषित करने वाले परिणामों को अतीचारपना व्यवस्थित कर दिया है ।

अथ चतुर्थस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह;—

अब चौथे सामायिक शील के पांच अतीचार कौन से हैं ? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी भगवान् इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्म प्रदेश परिस्पन्द होता है वह योग है । योग की दुष्टप्रवृत्तियाँ करना अथवा सामायिक के अवसर पर योगों को दूसरे अनुपयोगी प्रकारों से एकाग्र करते रहना योगदुःप्रणिधान हैं । उन में शरीर के अवयव हाथ, पांव, सिर, आदि को निश्चल नहीं धारे रहना या शान्तिपरिणतियों के उपयोगी हो रहे नासिकाग्रनयन और खड़ी अवस्था में पावों की दोनों एड़ियों को मिलाकर दोनों अंगूठों में चार अंगुल का अन्तर रखना, तथा पाठ पढ़ते हुये सिर हिलाना आदि ध्यानानुकूल आकृतियों का स्थिर नहीं रख सकना कायदुःप्रणिधान है । बीच-बीच में गाने लग जाना, संस्कार रहित होकर अर्थ को नहीं समझाने वाले वर्ण या पद का प्रयोग कर देना, अतिशीघ्र, अतिविलम्ब, अशुद्ध, धृष्ट, स्खलित, अव्यक्त, पीडित, दीन, चपल, नासिकास्वरमिलित, शब्दों का प्रयोग करना वचनदुःप्रणिधान हैं । पुरुषार्थपूर्वक किये जाने योग्य विशुद्ध मानसिक विचारों के करने में उदासीनता धार कर क्रोधादि के अनुसार या अन्य सावद्य कार्यों में व्यासंग हो जाने से मन की अन्यप्रकारों करके प्रवृत्ति करना मनोदुःप्रणिधान है । सामायिक करने में उत्साह नहीं रखना प्रातः मध्याह्न, सायंकाल, नियत समयों में सामायिक नहीं करना अथवा जैसे-तैसे उद्वेगचित्त से सामायिक पूरा करना, अनादर है । करने के अनन्तर ही झट भोजन, व्यापार, क्रीडन, आदि में सोत्साह लग जाना, भी सामायिक का अनादर समझा जाता है । सामायिक करने में चित्त की एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है अथवा सामायिक मुझ को कर्तव्य है अथवा नहीं करूं, सामायिक मैंने किया अथवा नहीं किया, यों प्रबल प्रमादसे स्मरण नहीं रखना भी पांचवां अतीचार है । मंत्र या पदों का भूल जाना लोक का चिन्तन करते हुये उसकी ऊंचाई चौड़ाई आदि का भूल जाना भी अस्मरण कहा जा सकता है । मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थान में यही अन्तर है कि क्रोध आदि का आवेश हो जाने से सामायिक में देर तक चित्त को स्थिर नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है और मानसिक चिन्ताओं का परिस्पन्द होने से एकाग्रता करके मन का अवधान नहीं करना मनोदुष्प्रणिधान है यों ये पांच सामायिक शील के अतीचार हैं ।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः, दुष्प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानं, अनादरोऽनुत्साहः अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानं । मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेन्न, तद्व्रतादन्याचिंतनात् । कुतश्चतुर्थस्य शीलस्यातिक्रमा इत्याह—

योग शब्द के अर्थ का व्याख्यान पहिले छठे अध्याय की आदि में "कायवाङ्मनःकर्म योगः"

इस सूत्र को बखानते हुये हो चुका है। दुःप्रणिधान शब्द में दुर् उपसर्ग का अर्थ दुष्टता अथवा अन्य सावद्य प्रकारों से परणतियां करना है। दुष्टक्रियाओं का प्रणिधान अथवा अन्य पापव्यापारों में चित्त को लगाना दुःप्रणिधान है। इतिकर्तव्य यानी अवश्य यों यह शुभ कर्म करना है इस शुभ प्रयत्न के प्रति पूर्णरूप से उत्साह नहीं करना अथवा ज्यों त्यों टाल कर अनुत्साह रखना अनादर है। एकाग्रपने से चित्त का समाधान नहीं रख सकना स्मृत्यनुपस्थान है। यदि यहां कोई यों शंका करे कि वह स्मृत्यनुपस्थान तो मनोदुःप्रणिधान ही ठहरा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस प्रकरणप्राप्त सामायिक व्रत से अन्य का चिन्तन कर देने से तो मनोदुष्प्रणिधान है। और भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। यहां कोई तर्क उठाता है कि चौथे सामायिक शील के ये सूत्रोक्त अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक में समाधान वचन कहते हैं।

योगदुःप्रणिधानाद्याश्चतुर्थस्य व्यतिक्रमाः।
शीलस्य तद्विघातित्वात्तेषां तन्मलतास्थितेः ॥१॥

योगदुःप्रणिधान आदि पांच (पक्ष) चौथे सामायिक शील के व्यतिक्रम हैं (साध्य) क्योंकि एकदेश करके उस सामायिक के विघातक होने से उन पांचों को उस सामायिक व्रत का मलपना व्यवस्थित है (हेतु) इस अनुमान से उक्त सूत्र के विषय को पुष्टि दी गई है। अर्थात् सामायिक का एकदेश भंग होते हुये भी इनसे सामायिक व्रत का अभाव नहीं हो सका है। अतः व्रत के विशोधक या सर्वाङ्ग घातक भी नहीं होसकने से ये पांच सामायिक व्रत के मलमात्र हैं पोषक या विनाशक नहीं हैं।

पंचमस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग १ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान २ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण ३ अनादर ४ स्मृत्यनुपस्थान ५ ये पांच प्रोषधोपवास शील के अतीचार हैं। अर्थात् यहां प्राणी विद्यमान हैं ? या नहीं इस प्रकार विचार पूर्वक अपनी चक्षु से दया के पालने का उद्देश्य कर जो पुनः पुनः निरीक्षण करना है वह प्रत्यवेक्षण है। कोमल वस्त्र मयूरपिच्छ आदि करके जीवों को हटाकर प्रतिलेखन करना प्रमार्जन है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नहीं कर चुकने पर प्रमादयोग से झट भूमि में मूत्र आदि छोड़ देना यानी मूतना, हंगना, नाक छिनक देना, आदि सावद्य व्यापार करना पहिला अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नाम का अतीचार है। देखे विना और आधार शुद्धि किये विना ही जिन पूजा, आचार्य-पूजा के उपकरण हो रहे जल, चंदन, आदि पदार्थ अथवा अपने पहिनने, ओढ़ने, वस्त्र, पात्र, मुद्रा, आदि को झट खींचकर ग्रहण कर लेना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना शुद्ध किये हुये ही डुपट्टा, बिछौना, आदि का उपयोग करने के लिये स्वीकार कर लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है। दूर की ओर देखते रहना अथवा निकृष्ट प्रतिलेखन से मार्जन करना भी अतीचार इन्हीं में गर्भित हो जाता है। नञ् का अर्थ खोटा भी है जैसे कि कुत्सित विद्यार्थी को अविद्यार्थी कह दिया जाता

है। भूख प्यास आदि से कुछ आकुलता उपजने पर ये तीन अतीचार संभव जाते हैं। भूख, प्यास, लगने के कारण अपने जिन पूजा आदि आवश्यक कर्मों में उत्साह नहीं रखना अनादर है। एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रत्यवेक्षणं चक्षुषो व्यापारः, प्रमार्जनमुपकरणोपकारः तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबंधस्तेनाप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितदेशे क्वचिदुत्सर्गस्तादृशस्य कस्यचिदुपकरणस्यादानं तादृशे च क्वचिच्छयनीयस्थाने संस्तरोपक्रमणमिति त्रीण्यभिहितानि भवंति, तथावश्यकेष्वनादरः स्मृत्यनुपस्थानं च क्षुदर्दितत्वात् प्रोषधोपवासानुष्ठायिनः स्यादिति तस्यैते पंचातीचाराः कुत इत्याह—

दयार्द्र पुरुष का, जन्तु है, अथवा नहीं है, इस प्रकार विचार पूर्वक देखना नेत्र इन्द्रिय का व्यापार है। कोमल उपकरण करके जो उपकार यानी प्रतिलेखन किया जाता है वह प्रमार्जन है। प्रतिषेध से विशिष्ट हो रहे उन प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन दोनों का उत्सर्ग आदि तीनों के साथ प्रत्येक में संबन्ध कर लिया जाय तिस कारण सूत्र द्वारा यों तीन अतीचार कह दिये गये हो जाते हैं कि नहीं देखे जा चुके और नहीं शुद्ध किये जा चुके क्वचित् देश में मल, मूत्र, पुस्तक, पात्र आदि का पटक देना और किसी भी उपकरण का तिस प्रकार के अदृष्ट और अमृष्ट स्थान में ग्रहण कर लेना तथा कहीं सोने, बैठने, योग्य स्थान में बिछौना, ओढ़ना आदि का झाड़े, पोंछे बिना उपक्रम कर देना यों तीन अतीचारों का द्योतक वाक्य बना कर कह दिया गया है। तथा स्वाध्याय, संयम, आदि आवश्यक कर्मों में आदर नहीं रखना अनादर है। प्रोषधोपवास शील का अनुष्ठान करने वाले जीव के भूख प्यास से पीड़ित होने के कारण स्मृतियों की स्थिति नहीं कर पाना हो सकता है। यों उस प्रोषधोपवास शील के पांच अतीचार संपूर्ण कह दिये गये हैं। यहाँ कोई पूंछता है कि उस प्रोषधोपवास के ये पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझे जांय ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्तिप्रदर्शक अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

अप्रत्यवेक्षितेत्याद्यास्तत्रोक्ताः पंचमस्य ते।
शीलस्यातिक्रमाः पंच तद्विघातस्य हेतवः ॥१॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, आदिक पांच अतीचार जो उस सूत्र में कहे गये हैं वे (पक्ष) पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतिक्रम हैं (साध्य) क्योंकि वे उस प्रोषधोपवास व्रत का एक देश विघात करने का कारण हो रहे हैं (हेतु)। इस अनुमान से उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य विषय पुष्ट हो जाता है।

यत इति शेषः।

कारिका में "यतः" पद शेष रह गया है। अर्थात् उक्त कारिका में हेतुदल प्रथमान्त पड़ा हुआ है अतः अनुमान प्रयोग बनाने के लिये "यतः" यानी जिस कारण से कि यह पद शेष रह गया समझ लिया जाय। भावार्थ "गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः" इस वाक्य का "राजमाषा न भक्षणीयाः गुरुत्वात्" राजमाष नहीं खाने चाहिये क्योंकि वे पचने में भारी होते हैं। यों प्रथमान्तपद को भी हेतु बना लिया जाता है। इसी प्रकार यहां भी "तद्विघातस्य हेतवः" इस प्रथमा विभक्ति वाले पद को चाहे "तद्विघातस्य हेतुत्वात्" यों हेतु में पंचमी विभक्तिवाला बना लिया जा सकता है अथवा इस हेतुदल को प्रथमान्त ही रहने दो इस के साथ यतः पद को जोड़ दो जोकि वार्त्तिक में नहीं कहा जा सका था अर्थ यों हुआ कि "यतः तद्विघातस्य हेतवस्ते सन्ति, अतः अप्रत्यवेक्षितादयः पंचमस्य शीलस्य अतिक्रमा भवन्ति" जिस कारण कि उस पांचवें शील के विघात के कारण वे हैं इस कारण अप्रत्यवेक्षित आदिक

ये पांचवें शील के अतीचार हैं। इस ग्रन्थ में यह बड़ा सौष्ठव है कि श्री विद्यानन्द स्वामी ने ही वार्त्तिक बनाये हैं और उन्होंने ही विवरण लिखा है अतः स्वोपज्ञ अलंकार स्वरूप विवरण में ही वे वार्त्तिक से कुछ शेष रह गये पद को जोड़ देने की ये प्रेरणा कर रहे हैं जो वे कहें वह हमको शिरसा मान्य है।

षष्ठस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्रकार महाराज ने पांच व्रत और सात शीलों में पांच-पांच अतीचार कहने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार पांच व्रत और पांच शीलों के अतीचार कहे जा चुके हैं अब संगति अनुसार छठे उपभोगपरिभोगपरिमाण शील के अतीचार कौन से हैं ? बताओ। ऐसा विनीत शिष्य का जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न उतरने पर तत्त्वनिर्णेता सूत्रकार महाराज उत्साहसहित इस अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

द्वंद्वसमास के अन्त में पड़े हुये आहार शब्द का पांचों में अन्वय कर देना चाहिये १ सचित्ताहार २ सचित्तसंबन्धाहार ३ सचित्तसंमिश्राहार ४ अभिषवाहार ५ दुःपक्वाहार ये पांच भोगोपभोगसंख्यान व्रत के अतीचार हैं अर्थात् "चिती संज्ञाने" धातु से चित्त शब्द बना कर उस चित्त के साथ जो वर्तता है वह सचित्त समझ लिया जाता है। व्रत की एकदेश रक्षा करते हुये किसी जीव का हरितकाय पदार्थ को खा लेना अतीचार है। यद्यपि सचित्त खाने का त्याग कर चुके व्रती का पुनः सचित्त का भक्षण कर लेने पर अनाचार हो जाना चाहिये तथापि अज्ञान या चित्त की अनेकाग्रता से सचित्तभक्षण हो जाने पर भी व्रतरक्षण की अपेक्षा है अतः सचित्ताहार को भी अतीचार में गिना दिया है। तथा सचेतन हो रहे बीज, फलखण्ड, पत्र, अंकुर, आदि करके संसर्ग मात्र किये जा रहे पदार्थ का भक्षण कर लेना सचित्तसंबन्धाहार है। स्वयं अचित्त हो रहा भी आहार दूसरे सचित्तद्रव्य का संघट्टमात्र हो जाने से दूषित हो गया है। एवं सचेतन पदार्थों से संमिलित हो रहे द्रव्य का आहार कर लेना सचित्तसम्मिश्राहार है जिस अचित्तका कि सचित्त द्रव्य के छोटे प्राणियों से पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है। छोटे-छोटे वनस्पति कायिक जीवों की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें या संख्यातवें भाग मात्र है। छू जाने से ही खाद्य पदार्थ में अनेक जीव आ जाते हैं। बात यह है कि सचित्त संबन्ध में अचित्त के साथ सचित्त का केवल संसर्ग हो जाना विवक्षित है और यहां संमिश्र में अचित्त का सचित्त से अविभाग-स्वरूप मिल जाना अभिप्रेत है। किसी किसी त्यागी पुरुष के भी भूंख, प्यास, की आकुलता हो जाने पर मोह या प्रमाद से सचित्त आदि द्रव्यों में भक्षण, पान, लेपन आदि की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ देर तक गलाकर जो सौवीर आदिक बना लिये जाते हैं वे द्रव पदार्थ कहे जाते हैं तथा इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाले उर्द के मोदक, रसायन, वशीकरण पदार्थ, पौष्टिकरस, ये वृष्य हैं। इन में से कोई पदार्थ भले ही अचित्त या शुद्ध भी होंय किन्तु इन्द्रियमदवृद्धि के कारण होने से व्रतियों को इनका त्याग करना चाहिये। अधकच्चा या अतिपक पदार्थ का आहार करना दुःपक्वाहार है उर्द की दाल या भात आदि को भीतर अधपका रहने देने पर अथवा अधिक गलाकर, जलाकर, खाने से और मोटे चावल, गेहूं की मोटी, गरिष्ठ रोटी, बाटी, भापला, एवं प्रकृति से भारी हो रहे कतिपय फल आदि का सेवन करने से शरीर में अनेक रोग या आलस्य उपजते हैं साथ ही आत्मसंक्लेश हो जाने के कारण धार्मिक क्रियाओं में क्षति पहुंचती है। इस प्रकार उपभोगपरिभोग संख्याव्रत के ये पांच अतीचार हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री. सुविधिसागर जी महाराज

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं, तदुपश्लिष्टः संबन्धः, तद्व्यतिकीर्णस्तन्मिश्रः। पूर्वेणावि-

शिष्ट इति चेन्न, तत्र संसर्गमात्रत्वात् । प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिर्देशविरतस्योपभोग-परिभोगविषयेषु परिमितेष्वपीत्यर्थः । द्रवो वृष्यं चाभिषवः, असम्यक् पक्को दुःपक्वः । त एतेऽति-क्रमाः पंच कथमित्याह—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चित्त का अर्थ ज्ञान है । ज्ञान के साथ वर्तता है इस कारण जीवित हो रहा चेतना वाला पदार्थ सचित्त है १ उस सचित्त द्रव्य के साथ पृथक् कर्तुं योग्य संसर्ग को प्राप्त हो रहा पदार्थ सचित्त संबद्ध है २ तथा उस सचित्त द्रव्य करके एकरस हो कर मिश्रित हो रहा आहार्य पदार्थ सचित्तसंमिश्र है ३ । यहाँ कोई शंका करता है कि यह सचित्तसंमिश्र तो पूर्ववर्ती सचित्त संबन्ध से कोई विशेषता नहीं रखता है संसर्ग हुये और मिल गये में कोई अन्तर नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस सचित्त संबन्ध में केवल स्पर्श कर लेना मात्र संसर्ग है और संमिश्र में दोनों का एकरस होकर मिल जाना है । सिद्ध भगवान् का पुद्गल वर्गणाओं के साथ मात्र संसर्ग है बंध या संमिश्रण नहीं है । बोतल में मद्य या विष का केवल उपश्लेष है हां पेट में खा पी लेने पर उनका शरीरावयवों के साथ संमिश्रण हो जाता है । प्रमाददोष और लोलुपता पूर्ण बढ़े हुये मोह कर के देश विरति वाले श्रावक की उपभोग और परिभोग के विषयों का परिमाण कर चुकने पर भी सचित्त आदि पदार्थों में प्रवृत्ति हो जाती है यह इसका तात्पर्य अर्थ निकलता है । विशेष यह कहना है कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक माने गये आम्रवृक्ष के फल या पत्ता को कोई कोई मन्दबुद्धि पुरुष अचित्त कहते हैं क्योंकि वृक्ष का एक जीव वहां वृक्ष में ही रहा आया, टूटा हुआ फल या पत्ता तो उसके आत्मप्रदेश निकल जाने पर अचित्त ही हो गया । इस पर यह समझना चाहिये कि शुष्क, पक्व, तप्त हो जाने पर या आम्ल, तीक्ष्णरसवाले पदार्थ के साथ संमिश्रण हो जाने की दशा में अथवा शिल, चाकी आदि यन्त्रों करके चकनाचूर कर देने पर अचित्त हो जाने की व्यवस्था आगमोक्त है । अप्रतिष्ठित प्रत्येक होने पर भी आम, अमरूद, केला, आदि के फल, पत्ते, शाखा, आदि अवयवों में अन्य भी छोटे छोटे वनस्पति कायिक जीव पाये जाते हैं जैसे कि प्रत्येक कर्म का उदय होने पर भी कर्मभूमि के तिर्यञ्च, मनुष्यों, के शरीर में अनेक त्रसजीव आश्रित हो रहे हैं । श्री गोम्मटसार का परामर्श करने पर वनस्पति कायिक जीवों की छोटी छोटी अवगाहनाओं का निर्णय हो जाता है । एकेन्द्रिय जीवों में पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के जीवों में ही बादर निगोद का आश्रितपना टाला गया है वनस्पतिकाय में बादर निगोद पाया जाता है । अतः संघट्ट करने पर भी शिल या चाकी के छेदों में घुस गये वनस्पति के उर्द, मूंग, बरावर के टुकड़े भी जब सचित्त सम्भव सकते हैं तो गीले फल, पत्ते, आदिक अवश्य ही सचित्त होने चाहिये । अतः व्रती उन त्यागे हुये सचित्त पदार्थों के आर्द्र फल पत्ते आदि का भक्षण नहीं कर सकता है । द्रव पदार्थ और वृषीकरण, वाजीकरण के उपयोगी वृष्यपदार्थ अभिषव हैं । समीचीन रूप यानी अन्यूनानतिरिक्त रूप से नहीं पका हुआ पदार्थ दुःपक्व है । यहां कोई पूंछता है कि वे प्रसिद्ध हो रहे सचित्त आहार आदि ये पांच अतीचार भला किस प्रकार सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं ।

तथा सचित्तसंबंधाहाराद्याः पंच सूत्रिताः ।
तेऽत्र षष्ठस्य शीलस्य तद्विराधनहेतवः ॥१॥

तथा सचित्तसंबंधाहार आदिक पांच जो यहां सूत्र द्वारा कहे जा चुके हैं वे (पक्ष) छठे शील

माने गये भोगपरिभोगसंख्यान के अतीचार हैं (साध्य) क्योंकि उस छठे शील की विराधना करने के कारण हो रहे हैं (हेतु) तिसी प्रकार अर्थात् जैसे अहिंसादि व्रतों का एक देश रक्षण और एक देश भंग कर देने वाले दोष उन व्रतों के अतीचार हैं उसी प्रकार व्रत का एक अंशरूप से भंग कर देने वाले सचित्त संबन्धाहार आदिक पांच इस छठे शील के अतीचार हैं (दृष्टान्त)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सप्तमस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह—

अब सातमे अतिथि संविभाग शील के अतीचार कौन हैं ? ऐसी तीव्रनिर्णिनीषा प्रवर्तने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

सचित्तनिक्षेप १ सचित्तापिधान २ परव्यपदेश ३ मात्सर्य ४ और कालातिक्रम ५ ये पांच अतिथि-संविभाग शील के अतीचार हैं। अर्थात् सचित्त यानी सजीव हो रहे कमलपत्र, पलाशपत्र, कदलीपत्र आदि में खाद्य, पेय पदार्थ को धर देना अथवा गीली पृथिवी की बनी हुई चूलि पर भोज्य, पेय पदार्थों को रांधना, सचित्त जल से आर्द्र हो रहे बर्तनों में खाद्यपदार्थ रख देना आदि सचित्तनिक्षेप है। कोई तुच्छबुद्धि पुरुष विचारता है कि सचित्त पर धरे हुये पदार्थ को संयमीजन ग्रहण नहीं करते हैं यों दान नहीं देना पड़े इस अभिप्राय से वह देय पदार्थ को सचित्त पर धर देता है जैसे कि आजकल भी कतिपय धनपतियों के वैज्ञानिक रसोइया परोसने में कृपणता करते हैं। सचित्त पदार्थ करके ढक देना तो सचित्तापिधान है। संयमी ग्रहण नहीं करेंगे तो भी मुझे लाभ है ऐसा मान रहा यह तुच्छ पुरुष भोज्य पदार्थ को सचित्त से ढक देता है अथवा उस भोज्य पदार्थ को त्वरा वश मैंने सचित्त से ढक दिया है संयमी तो इस बात को जानते नहीं हैं यों विचार कर उस सचित्तपिहित वस्तु का संयमी के लिये दान कर देना भी सचित्तापिधान हो सकता है। दूसरे दाता के देय द्रव्य का अर्पण कर देना अर्थात् दूसरे के पदार्थ को लेकर स्वयं दे देना अथवा मुझे कुछ कार्य है तू दान कर देना यह परव्यपदेश है। अथवा यहाँ दूसरे दाता विद्यमान हैं मैं यहां दाता नहीं हूं यह कह देना भी परव्यपदेश हो सकता है। धनलाभ या किसी प्रयोजन सिद्धि की अपेक्षा से द्रव्यादिक के उपार्जन को नहीं त्यागता सन्ता योग्य हो रहा भी दूसरे के हाथ से दान दिलाता है इस कारण यह परव्यपदेश महान् अतीचार है जो कार्य स्वयं किया जा सकता है किसी रोग, सूतक, पातक आदि का प्रतिबंध नहीं होते हुये भी उस को दूसरों से कराते फिरना अनुचित है। दान को देता हुआ भी आदर नहीं करता है अथवा अन्य दाताओं के गुणों को नहीं सह सकता है वह उसका मात्सर्य दोष है। संयमियों के अयोग्यकाल में दान करने का अभिप्राय रखना कालातिक्रम है, ये पांच अतीचार अतिथि संविभाग शील के हैं।

सचित्ते निक्षेपः, प्रकरणात् सचित्तेनापिधानं, अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः, प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यं, अकाले भोजनं कालातिक्रमः ॥ कुत एतेऽतिचारा इत्याह;—

मुनिदान योग्य अचित्तपदार्थों का सचित्तपदार्थ पर धर देना सचित्तनिक्षेप है "सचित्ते निक्षेपः" यों विग्रह कर लिया जाय। प्रकरण के वश से सचित्त करके अपिधान यों विग्रह कर "सचित्तापिधान" शब्द बना लिया जाय "अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः" इस परिभाषा अनुसार सप्तमी विभक्ति वाले सचित्त शब्द का अपिधान पद के साथ अन्वय करने पर प्रकरणवश तृतीयान्त सचित्तेन पद के साथ विग्रह करना चाहिए, अन्यथा पहिले अधिकरणपने से कहे गये सचित्त का तृतीयान्त पद रूप से अनुवृत्ति

करना कठिन पड़ जाता है। अन्य दाता हैं ही मैं क्यों दान देने की चिन्ता करूं अथवा यह देने योग्य पदार्थ किसी दूसरे का है ऐसा अभिप्राय कर अर्पण कर देना परव्यपदेश है। बड़े समारोह से दान कर रहे सन्ते भी अन्तरंग में पात्र का आदर नहीं करना या देने में हर्ष नहीं मनाना मात्सर्य है। अकाल में भोजन करना कालातिक्रम है। यों ये दान के अतीचार हुये। यहाँ कोई पूंछता है कि ये अतीचार भला किस प्रमाण से सिद्ध किये जा सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्मृताः सचित्तनिक्षेपप्रमुखास्ते व्यतिक्रमाः।
सप्तमस्येह शीलस्य तद्विघातविधायिनः ॥१॥

वे सचित्तनिक्षेप आदिक यहाँ कहे गये पाँच अतीचार (पक्ष) सातवें अतिथिसंविभाग शीलके माने गये हैं सर्वज्ञोक्त विषय का गुरुपरिपाटी अनुसार अबतक यों ही स्मरण होता चला आ रहा है (साध्य) क्योंकि ये दोष उस अतिथि संविभाग का एकदेश से विघात करने वाले हैं (हेतु)। इस अनुमान प्रमाण से सूत्रोक्त आगमगम्य विषय की पुष्टि हो जाती है।

अथ सल्लेखनायाः केऽतिचारा इत्याह;

अतीचारों का प्रकरण होने पर लगे हाथ अब सल्लेखना के अतीचार कौन से हैं? ऐसी विनीत शिष्य की बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ॥३७॥

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध, और निदान, ये पाँच सल्लेखना के अतीचार हैं। अर्थात् यह प्रकृत शरीर में आत्मा का निवास करना स्वरूप जीवित नियम से अध्रुव है। यह बबूले के समान अनित्य शरीर अवश्य हेय है ऐसा जानकर भी मेरा जीवन बना रहे ऐसी लोलुपतापूर्ण सादर आकांक्षा करना जीविताशंसा है। रोग, टोटा, उपद्रव, अपमान आदि से आकुलित होकर मरण में संक्लेश पूर्वक अभिप्राय रखना मरणाशंसा है। बाल्य अवस्था में साथ खेले अथवा संपत्ति और विपत्ति में युगपत् साथ रहे मित्रों के साथ हुई क्रीड़ा आदि का स्मरण करना मित्रानुराग है। मैंने पहिले सुन्दर भोजन, पान, का बड़ा अच्छा भोग किया था, मनोहर, गुलगुदी, सजी हुई शय्याओं पर शयन किया था, अनेक इन्द्रियों के भोग भोगे थे, यों रागवर्धक सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबंध कहा जाता है। भविष्य में भोगों की आकांक्षा के वश होकर वैषयिक सुखों की उत्कट प्राप्ति के लिये मनोवृत्ति करना निदान है यों पांच अतीचार सल्लेखना के हैं।

आकांक्षणमाशंसा, अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा, जीवितसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा, पूर्वसुहृत्सहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः, पूर्वानुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबंधः, भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानं। त एते संन्यासस्यातिक्रमाः कथमित्याह—

आकांक्षा यानी अभिलाषा करना आशंसा है, यह बिजली के समान क्षणिक शरीर अवश्य ही त्यागने योग्य है ऐसा जानते हुये भी शरीर की अवस्थिति बने रहने में आदर करना जीविताशंसा है।

रोगों के उपद्रव से आकुलित होने के कारण जीवित में महान् संक्लेश हो जाने से मरने के लिये एकाग्र हो कर मानसिक विचार करना मरणाशंसा है। पूर्व अवस्थाओं में किये गये मित्रों के साथ धूलि क्रीड़ा, उद्यान भोजन, नाटक प्रदर्शन, सहभोजन, सहविहार आदि का पुनः स्मरण करना मित्रानुराग है। पहिले अनुभवे गये प्रीतिविशेषों की स्मृतियों की बारबार अभ्यावृत्ति करना सुखानुबंध है। विद्याधर, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के भोगों की आकांक्षा करके नियत हो रहा चित्त उस निदान में दिया जाता है अथवा उस भोगाभिप्राय करके चित्त की टकटकी लगी रहती है इस कारण वह निदान कहा जाता है। करण या अधिकरण में युट्प्रत्यय कर दिया गया है "करणाधिकरणयोश्च युट्"। ये पांच सिद्ध हो रहे संन्यास के अतीचार हैं। कोई समाधिमरण करने वाला यदि अभक्ष्य औषधियों का भक्षण, प्रत्याख्यात पदार्थों का निरर्गल सेवन, आकुलित होकर पुकारना, तीव्ररौद्रध्यान, इत्यादि परिणतियां करे तो अनाचार है। केवल अज्ञान या प्रमादवश होकर मन्दरूप से यह जीवित की आशा आदि करता है अतः ये पांच कुछ संक्लेश सम्पादन के हेतु होने से अतीचार माने गये हैं। यहां कोई पूंछता है कि किस प्रकार सिद्ध हुये ये पांच अतीचार मान लिये जाँय ? बताओ। ऐसी तर्क प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

मुनिश्री सुविधिसागर जी महाराज

विज्ञेया जीविताशंसाप्रमुखाः पंच तत्त्वतः।
प्रोक्तसल्लेखनायास्ते विशुद्धिक्षतिहेतवः ॥१॥

लक्षण कर भले प्रकर कह दी गई सल्लेखना के जीविताकांक्षा प्रभृति पांच वास्तविक रूप से अतीचार समझने चाहिये (प्रतिज्ञा) कारण कि वे समाधिमरण के उपयोगी हो रही उत्कृष्ट आत्म विशुद्धि की क्षति के कारण हैं (हेतु) ये जीविताशंसा आदिक दोष न तो समाधिपूर्वक मरण का समूलचूल घात करते हैं और न उस समाधिमरण में कुछ विशुद्धि उत्पन्न करते हैं अतः समाधिमरण का एक देश घात और एक देश संरक्षण करने वाले होने से इन का अतीचार मान लिया है।

तदेवं शीलव्रतेष्वनतिचारस्तीर्थकरत्वस्य परमशुभनाम्नः कर्मणो हेतुरित्येतस्य पुण्यास्रवस्य प्रपञ्चतो निश्चयार्थं व्रतशीलसम्यक्त्वभावनातदतिचारप्रपंचं व्याख्याय संप्रति शक्तितस्त्यागतपसी इत्यत्र प्रोक्तस्य व्याख्यानार्थमुपक्रम्यते;—

तिस कारण इस प्रकार यहां तक "शीलव्रतेष्वनतीचारः" यानी सात शील और पांच व्रतों के अतीचार नहीं लगने देना यह परमशुभ नाम कर्म हो रहे तीर्थकरत्व का तृतीय आस्रव हेतु है। यों इस पुण्यास्रव का विस्तार से निश्चय करने के लिये इस सातवें अध्याय में पांच व्रत, सात शील, सम्यक्त्व, सल्लेखना, पच्चीस भावनायें, और उन चौदहों के अतीचारों के प्रपंच का व्याख्यान किया जा चुका है। अब वर्तमान में उन्हीं षोडश कारण भावनाओं में जो शक्ति से त्याग और तपश्चरण करना सूत्रित किया है "शक्तितस्त्यागतपसी" इस प्रकार यहाँ भले प्रकार कहे जा चुके त्याग यानी दान का व्याख्यान करने के लिये सूत्रकार महाराज उपक्रम यानी जानकर प्रारंभ करते हैं। भावार्थ—तीर्थंकर नामकर्म के आस्रवों को कहते हुये सूत्रकार ने शील व्रतों में अतीचार नहीं लगने देना कहा था। तदनुसार व्रतों का लक्षण उन व्रतों की पोषक सामान्य विशेष भावनायें व्रतों के प्रतियोगियों के लक्षण व्रतधारियों के भेद तथा सात शील और सल्लेखना एवं व्रत और शीलों की नींव हो रहे सम्यक्त्व के अतीचार तथैव व्रत शीलों के अतीचार एवं व्रत प्रासाद के कलशस्वरूप सल्लेखना के अतीचारों का स्वयं सूत्रकार ने निरूपण कर दिया है। अब सोलह कारण भावनाओं में जो शक्ति अनुसार त्याग (दान) कहा गया था तथा

सात शीलों में भी अतिथिसंविभाग शब्द करके दान कहा गया है उस दान का व्याख्यान करने के लिये प्रक्रम का आरम्भ करते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

स्व यानी अपना अनुग्रह और पर अर्थात् दूसरों का अनुग्रह करने के लिये धन का त्याग करना दान है। भावार्थ–दाता का अपना अनुग्रह तो आत्मीय आनन्द के साथ पुण्यसंचय करना है और पात्र के सम्यग्ज्ञान, चारित्र, आरोग्य, शरीर शक्ति, आदि की वृद्धि करना है। यों दोनों प्रयोजनों का लक्ष्य रख जो सर्वांश ममत्व को छोड़ते हुये अपने धन का परित्याग कर देना है वह दान है।

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, स्वशब्दो धनपर्यायवचनः। किमर्थोऽयं निर्देश इत्याह––

यहाँ सूत्र में कहे गये अनुग्रह शब्द का अर्थ अपना और पर का उपकार करना है। दान देने से अपने को स्वकर्तव्यपालन, पुण्यसंचय और दानान्तराय के क्षयोपशम अनुसार हुए आध्यात्मिक आनन्द विशेष की प्राप्ति होती है तथा पात्र को आहार, औषधि, आदि देने से उनके ज्ञान, चारित्र, शरीर की पुष्टि होकर इन से ज्ञानाभ्यास करना, उपवास करना, तीर्थ यात्रा करना, भावपूर्ण धर्मोपदेश करना, कायक्लेश कर सकना आदि सत्कर्म प्रवर्तते हैं, औषधि, वसतिका, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका, दे देने पर अथवा गृहस्थ पात्र को अन्य पदार्थों का भी स्व हस्त से दान करने पर धार्मिक कृत्यों की वृद्धि होती है। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन ये चार अर्थ हैं किन्तु सूत्र में कहे गये स्व शब्द का पर्याय वाची शब्द केवल स्वकीय धन ही लिया जाय, दान के प्रकरण में आत्मा या आत्मीय बन्धुजन अथवा अपने जातीय वर्ग के देने का तात्पर्य नहीं है। आहार, औषधि, पुस्तक, वसतिका, रुपया, गृह आदि धनों का ही मुनिमहाराज और गृहस्थ के लिये यथा योग्य दान दिया जाता है। पात्रदत्ति और करुणादत्ति में पुण्यवृद्धि के अर्थ अनेक धर्मादनपेत पदार्थों का दान किया जाता है। हाँ समदत्ति और अन्वयदत्ति में पुण्यवृद्धि गौण होकर यशस्यता, स्व कर्तव्य और कुटुम्ब रक्षा धार्मिक लौकिक कार्यों का परिपालन करना प्रधान फल हो जाता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दान के लक्षण का यह कथन यहां किस लिये किया गया है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा उत्तर को कहते हैं।

स्वं धनं स्यात्परित्यागोऽतिसर्गस्तस्य नुः स्फुटः।
तद्दानमिति निर्देशोऽतिप्रसंगनिवृत्तये ॥१॥
अनुग्रहार्थमित्येतद्विशेषणमुदीरितं।
तेन स्वमांसदानादि निषिद्धं परमापकृत् ॥२॥

स्व शब्द का अर्थ धन समझा जाय उस अपने धन का अतिसर्ग यानी स्फुट होकर जो परित्याग करना है वह दान है जो कि आत्मा का स्वकर्तव्य है। लक्षण के घटकावयव हो रहे पदों करके इतर व्यावृत्ति कर दी जाती है अतः अपने और पर के अपकार के लिये जो दिया जायेगा वह दान नहीं समझा जायेगा अथवा धन के अतिरिक्त जीवित रहने, शीर्ष आदि का त्याग करना कोई दान नहीं है। सूत्रकार महाराजने "अनुग्रहार्थं स्वस्य" यों यह विशेषण कहा है उस करके अपने मांस का देना, शिर चढ़ा देना, पशुबलि करना, इत्यादिक दान करना, निषेधे जा चुके समझे जांय, क्योंकि ये अपने और दूसरे के बड़े भारी अपकारों को करने वाले हैं यह धन का दान भी नहीं है।

नहि परकीयवित्तस्यातिसर्जनं दानं स्वस्यातिसर्ग इति वचनात् । स्वकीयं हि धनं स्वमिति प्रसिद्धं धनपर्यायवाचिनः स्वशब्दस्य तथैव प्रसिद्धेः । न चैवं स्वदुःखकारणं परदुःखनिमित्तं वा सर्वमाहारादिकं धनं भवतीति तस्याप्यतिसर्गो दानमिति प्रसज्यते, सामान्यतोऽनुग्रहार्थमिति वचनात् । स्वानुग्रहार्थस्य परानुग्रहार्थस्य च धनस्यातिसर्गो दानमिति व्यवस्थितेः । तेन च विशेषणेन स्वमांसादिदानं स्वापायकारणं परस्यावद्यनिबंधनं च प्रतिक्षिप्तमालक्ष्यते तस्य स्वपरयोः परमापकारहेतुत्वात् ॥

दूसरे के धन को दे देना तो दान नहीं है क्योंकि श्री उमास्वामी महाराज दान के लक्षण में अपने धन का परित्याग करना ऐसा कण्ठोक्त निरूपण किया है जब कि अपना उपात्त किया गया धन ही स्व है ऐसा लोक में प्रसिद्ध हो रहा है । चार अर्थों में से यहां धन के पर्यायवाची हो रहे स्व शब्द की तिस ही प्रकार यानी अपने धन स्वरूप से प्रसिद्धि हो रही है, स्व का भी धन ही होना चाहिये मांस, रक्त, प्राण, आदि नहीं । यों स्व शब्द की सफलता हुई । इस प्रकार कहने पर भी प्रसंग उठाया जा सकता है कि अपने दुःख के कारण हो रहे अथवा दूसरों के दुःख के निमित्त हो रहे सभी आहार, औषधि, आदि कभी धन हो जाते हैं इस कारण उन का भी परित्याग करना दान हो जाओ, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाया जा सकता है क्योंकि सूत्रकार ने दान के लक्षण में सामान्यरूप से अनुग्रहार्थ ऐसा कथन किया है अतः अपना अनुग्रह करना स्वरूप प्रयोजन को धारने वाले अथवा दूसरों का अनुग्रह होना स्वरूप प्रयोजन को धार रहे धन का संविभाग करना दान है ऐसी सूत्रानुसार व्यवस्था हो रही है । तिस अनुग्रहार्थ विशेषण करके अपने अपाय का कारण हो रहा और पर के पापबंध का कारण हो रहा स्वकीय मांस आदि का दान करना तो निरस्त कर दिया गया समझ लिया जाता है । क्योंकि वह स्वकीय मांस आदि का देना तो अपने और दूसरों के परम अपकार करने का हेतु हो रहा है ।

कुतस्तस्य दानस्य विशेष इत्याह—

सूत्रकार महाराज के प्रति कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि उस दान की या उस दान के फल की किन कारणों से विशेषता हो जाती है ? अथवा दान में कोइ विशेषता ही नहीं है ? ऐसी पृच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष इन विशेषताओं से उस दान की विशेषता हो जाती है । दान के फल में भी अन्तर पड़ जाता है । अर्थात् श्रेष्ठ पात्र का प्रतिग्रह करना, ऊँचे आसन पर बैठाना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना अपने मन की शुद्धि करना, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन, पान शुद्धि इत्यादि पुण्योपार्जन क्रिया विशेषों का ठीक ठीक क्रमविधान करना विधि कही जाती है । उस विधि की आदर अनादर अनुसार विशेषता हो जाती है । देय द्रव्य की विशेषता अनुसार द्रव्यविशेष व्यवस्थित है । जो द्रव्य मद्य, माँस, मधु, के संसर्ग से रहित है, चर्म से छुआ हुआ नहीं है, पात्र के तपः, स्वाध्याय, निराकुलता, शुद्ध परिणतियां आदि की वृद्धि का कारण है वह द्रव्य विशेष विशिष्ट पुण्य का संपादक है अन्य प्रकारों के द्रव्य से वैसा पुण्य प्राप्त नहीं होता है । दाता भी शुद्ध आचरण का होय, पात्र में ईर्ष्या नहीं करे, दान देने में उत्साह रखता हो, शुभपरिणामी होय, दृष्टफलों की अपेक्षा नहीं रखता हो, श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलोलुपता, क्षमा और शक्ति इन सात गुणों को धार रहा हो ऐसा

दाता विशिष्ट पुण्य का भाजन है उक्त गुणों में जितनी कमी होगी वही दाता की त्रुटि है पात्र की विशेषता प्रसिद्ध ही है, मुनिमहाराज उत्तम पात्र हैं श्रावक मध्यम है और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। मुनियों में भी तीर्थंकर, गणधर, ऋद्धिधारी, आचार्य, उपाध्याय, आदि भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार श्रावक और सम्यग्दृष्टियों में भी अवान्तर भेद हैं। सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि, अशुद्धि, अपेक्षा पात्रों में विशेषता हो जाती है। यों विधि आदि की विशेषताओं से दान और उसके फल में तारतम्य अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं।

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः विशेषो गुणकृतः तस्य प्रत्येकमभिसंबंधः। तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः, अनसूयाऽविषादादिर्दातृविशेषः, मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। एतदेवाह—

अतिथि का प्रतिग्रह करना, अतिथि को ऊँचे देश में स्थापन करना आदि क्रिया विशेषों का नवधाभक्ति स्वरूप क्रम तो विधि है। गुणों की अपेक्षा की गई परस्पर में विशिष्टता का हो जाना विशेष है। द्वंद्व समास के अन्त में पड़े हुये विशेष का विधि, द्रव्य, दाता, और पात्र इन चारों में प्रत्येक के साथ पिछली ओर संबंध कर देना, जिससे कि विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष, पात्रविशेष, यों सूत्रोक्त पद समझ लिये जाँय, पात्र के तपश्चरण करना, स्वाध्याय करना इन आवश्यक क्रियाओं की परिवृद्धि का हेतुपना, गमन, धर्मोपदेश में आलस्य नहीं करावना आदिक तो द्रव्य की विशेषतायें हैं। पात्र में ईर्ष्या, असूया नहीं करना, दान देने में विषाद नहीं करना, देते हुये प्रीति रखना, कुशल होने का अभिप्राय रखना, भोगों की आकांक्षा नहीं रखना, इत्यादिक तो दाता की विशेषतायें हैं। मोक्ष के कारण हो रहे सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ संयोग विशेष होना तो पात्रों की विशेषता है इस ही मन्तव्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तद्विशेषः प्रपंचेन स्याद्विध्यादिविशेषतः।
दातुः शुद्धिविशेषाय सम्यग्बोधस्य विश्रुतः ॥१॥

विधि, द्रव्य, आदि की विशेषताओं से उस दान का विस्तार करके विशेष हो जाता है जो कि दाता के सम्यग्ज्ञान की विशेष शुद्धि के लिये हो रहा प्रसिद्ध है अर्थात् विधि आदि की विशेषताओं से दाता को दान के फल में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। भूमि, जल, वायु, वृष्टि, आदि विशेष कारणों करके जैसे बीज फल की विशेषतायें हो जाती हैं।

कुतोऽयं विध्यादीनां यथोदितो विशेषः स्यादित्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आम्नाय अनुसार चला आया यह विधि आदिकों का सूत्रोक्त विशेष भला किस कारण से हो जाता है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कह रहे हैं।

विध्यादीनां विशेषः स्यात् स्वकारणविशेषतः।
तत्कारणं पुनर्बाह्यमांतरं चाप्यनेकधा ॥२॥

विधि, द्रव्य आदिकों की विशेषता तो अपने अपने कारणों की विशेषता से हो जायेगी उन विधि आदिकों के कारण तो फिर बहिरंग और अंतरंग अनेक प्रकार के हैं। अर्थात् घट, पट, आदिक

अनेक कार्यों की विशेषतायें अपने अपने अंतरंग, बहिरंग कारणों अनुसार हो रही देखी जाती हैं लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि "पाग, भाग, वाणी, प्रकृति, सूरत (मूरत) अर्थ विवेक। अक्षर मिलें न एक से ढूंढो नगर अनेक" भूत, भविष्य, वर्तमान काल के या देशान्तरों के अनेकानेक मनुष्यों की सूरतें, मूरतें, एक सी नहीं मिलतीं हैं। एक मनुष्य की भी बाल्य, कुमार, युवा, अर्धवृद्ध और वृद्ध अवस्थाओं की आकृतियों में महान् अन्तर है सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर प्रत्येक वर्ष, मास, दिन, घंटाओं की सूरतें न्यारी जचेंगी। हर्ष, विषाद, क्रोध, क्षमा, भूख, तृप्ति, टोटा, लाभ, रोग, आरोग्य आदि अवस्थाओं में झट न्यारी न्यारी आकृतियां हो जाती हैं। ये ही दशायें पशु, पक्षी, मक्खियां, चींटे,चींटियां, वृक्ष, आदि में समझ लीं जांय। स्थूलदृष्टि से मक्खियाँ एक सी दीखती हैं किन्तु उनमें अंतरंग बहिरंग, कारण वश अनेक अन्तर पड़े हुये हैं। भले ही एक साँचे में ढले हुये, रुपये, पैसे, खिलौनों, में अन्तर नहीं है किन्तु सदृश परिणाम स्वरूप सामान्यवाले मनुष्य, घोड़ा, आदि उक्त दृष्टान्तों से चना, गेहूँ, चावलों प्रभृति में भी व्यक्तिशः अन्तर मानने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार द्रव्य आदि में बहिरंग, अन्तरंग कारणों अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं। पूर्ण आदर उत्साह के साथ प्रतिग्रह आदि के करने में और मन्द उत्साह के साथ विधि करने में अन्तर पड़ जाता है। गरिष्ठ पदार्थ, अति उष्ण, औषधि, रूक्ष भोजन, आदि द्रव्यों की अपेक्षा, लघुपाच्य, अनुष्णाशीत द्रव्यों का दान करने में अन्तर है, शुद्धहृदय, निष्कपट, दाता में और ईर्ष्यालु, अनुत्साही, दाता में महान् अन्तर है। तीर्थंकर, मुनि, ऋद्धिधारी मुनि, सामान्य-द्रव्यलिंगी, उत्तम श्रावक, पाक्षिक श्रावक, आदि पात्रों के अन्तर अनुसार दान फल की विशेषतायें हो जातीं है।

विधिद्रव्यदातृपात्राणां हि विशेषः स्वकारणविशेषात्। तच्च कारणं बाह्यमनेकधा द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदात्। आन्तरं चानेकधा श्रद्धाविशेषादिपरिणामः। कः पुनरसौ विध्यादीनां विशेषः प्रख्यातो यतो दानस्य विशेषतः फलविशेषसंपादनः स्यादित्याह--

अपने अपने कारणों की विशेषताओं से विधि, द्रव्य, दाता और पात्रों का विशेष हो रहा नियमित है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इनके भेद से वे बहिरङ्ग कारण अनेक प्रकार के हैं। उन के अनुसार कार्यों में भेद पड़ जाता है। तथा श्रद्धाविशेष, उत्साहविशेष, क्षयोपशम, विशुद्धि, आदिक परिणाम स्वरूप अंतरंग कारण भी अनेक प्रकार हैं इन अंतरंग कारणों से भी कार्यों में अनेक अन्तर पड़ जाते हैं। जैसे कि विद्यालय, अध्यापक, भोजन, श्रेणी, पुस्तकों, समय, परिश्रम आदि के समान होने पर भी छात्रों की अन्तरंग कारण वश अनेक प्रकार व्युत्पत्तियां देखी जाती हैं। कारणों की बड़ी अचिन्तनीय शक्ति है। जिस से कि कार्यों में वस्तु भूत अनेक विशेषतायें उपज बैठती हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वह विधि आदिकों की विशेषता फिर कौन सी प्रसिद्ध हो रही है ? जिस से कि सूत्रोक्त अनुसार दान की विशेषता से वह विधि आदिकों का विशेष भला फलविशेषों का सम्पादन करनेवाला हो सके ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों को कह रहे हैं।

पात्रप्रतिग्रहादिभ्यो विधिभ्यस्तावदास्रवः।
दातुः पुण्यस्य संक्लेशरहितेभ्योऽतिशायिनः ॥३॥
किंचित्संक्लेशयुक्तेभ्यो मध्यमस्योपवर्णितः।
बृहत्संक्लेशयुक्तेभ्यः स्वल्पस्येति विभिद्यते ॥४॥

निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविशुद्धिभ्यो विपर्ययः।
तेभ्यः स्यादिति संक्षेपादुक्तं सूरिभिरञ्जसा ॥५॥

पात्रों का प्रतिग्रह करना, ऊंचा स्थान देना, पादप्रक्षालन करना, पूजा रचना आदिक संक्लेश रहित हो रही नवधा विधियों से तो दाता को सातिशय पुण्य का आस्रव होता है तथा बहुभाग विशुद्धि और किंचित्संक्लेश करके युक्त हो रहे प्रतिग्रह आदि विधियों से दानकर्ता जीव को मध्यम श्रेणी के पुण्य का आस्रव होना कहा है एवं अत्यल्पविशुद्धि और बढ़े हुये संक्लेश करके युक्त हो रहे पात्र प्रतिग्रह, आदि विधियों से दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव होता है। इस प्रकार विधियों की विशेषता से यों उक्त प्रकार उत्तम, मध्यम, जघन्य जाति के पुण्यों का आस्रव होना कह दिया गया है। सूत्र में विधियों की विशेषता से जो उस दान का विशेष कहा था उसका अभिप्राय यही है कि यों विशेष रूप से दानजन्य पुण्यास्रव के भेद कर दिये जाते हैं। निकृष्ट विशुद्धि, मध्यम विशुद्धि और उत्कृष्ट विशुद्धियों से किये गये उन प्रतिग्रह आदि विधियों से दाता को विपर्यय होगा यानी स्वल्प पुण्य का आस्रव, मध्यम पुण्य का आस्रव और उत्कृष्ट अनुभागवाले पुण्यका आस्रव होगा। इस प्रकार आचार्य महाराज सूत्रकार ने संक्षेप से उक्त सूत्र में तात्त्विकरूप करके यों निरूपण कर दिया है। अर्थात् श्री समन्तभद्राचार्य ने "विशुद्धि संक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं, पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्वयर्थस्तवार्हतः" यों आप्तमीमांसा में विशुद्धि और संक्लेश के अङ्गों को पुण्य और पाप का आस्रव इष्ट किया है। दशवें गुणस्थान में भी ईषत्संक्लेश पाया जाने से ज्ञानावरण आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव होता रहता है और पहिले गुणस्थान में भी स्वल्प विशुद्धि अनुसार कतिपय पुण्य प्रकृतियां आ जातीं हैं। प्रथम गुणस्थान से प्रारम्भ कर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव दान कर सकते हैं, जो जीव सर्वथा संक्लेश रहित हैं उनके उत्कृष्ट विशुद्धि है हां जो किंचित् संक्लेश युक्त हैं उनके मध्यमविशुद्धि पाई जाती है। बढ़े हुये संक्लेश से परिपूर्ण हो रहे जीवों के निकृष्ट विशुद्धि हो सकती है अथवा थोड़ी भी विशुद्धि पायी जा सकती है। इस प्रकार दान की विधि से हुये विशेष का ग्रन्थकार ने समर्थन कर दिया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुणवृद्धिकरं द्रव्यं पात्रे पुण्यकृदर्पितं।
दोषवृद्धिकरं पापकारि मिश्रं तु मिश्रकृत् ॥६॥

द्रव्य की विशेषता यों है कि पात्रों में गुणों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि अर्पित किया जायेगा तो वह दाता को पुण्य का आस्रव करने वाला है और शारीरिक दोषों या आत्मीय दोषों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि पात्रों के लिये समर्पित किया जावेगा तो दाता को वह द्रव्यपापास्रव का करानेवाला होगा, हाँ कुछ गुणों की और कुछ दोषों की यों मिश्रित हो रही वृद्धि को करने वाला द्रव्य तो दाता को पुण्यपाप में मिश्रण का आस्रावक है। यह द्रव्य की विशेषता से दानफल की विशेषता हुई।

दाता गुणान्वितः शुद्धः परं पुण्यमवाप्नुयात्।
दोषान्वितस्त्वशुद्धात्मा परं पापमुपैति सः ॥७॥
गुणदोषान्वितः शुद्धाशुद्धभावौ समश्नुते।
बहुधा मध्यमं पुण्यं पापं चेति विनिश्चयः ॥८॥

दानकर्ता जीव जो श्रद्धा आदि गुणों से अन्वित हो रहा शुद्ध परिणामों वाला है वह दान-क्रिया से उत्कृष्ट पुण्य को प्राप्त कर सकेगा ही ईर्षा, द्वेष, आदि दोषों से अन्वित हो रहा अशुद्धात्मा है वह दाता तो बड़े भारी पापास्रव को प्राप्त करता है हां जो गुण और दोष दोनों से अन्वित हो रहा है। वह दाता अशुद्ध परिणतियों के हो जाने पर बहुत प्रकार के मध्यम पुण्य और पापकर्मों के आस्रव को यथायोग्य प्राप्त कर लेता है यों दाता की विशेषता से दान फल की विशेषता का विशेषरूप से निर्णय कर दिया गया है।

दत्तमन्नं सुपात्राय स्वल्पमप्युरुपुण्यकृत्।
मध्यमाय तु पात्राय पुण्यं मध्यममानयेत् ॥९॥
कनिष्ठाय पुनः स्वल्पमपात्रायाफलं विदुः।
पापापापं फलं चेति सूरयः संप्रचक्षते ॥१०॥

पात्रों की विशेषता इस प्रकार है कि श्रेष्ठ पात्र के लिये दिया गया अन्न या औषधि, ज्ञान, आदिक थोड़े भी होंय परिपाक में विपुल पुण्य का आस्रव कराते हैं हां मध्यम पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो मध्यम पुण्य को प्राप्त करायेंगे पुनः जघन्य पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव करायेंगे किन्तु व्रतहीन और दर्शनहीन अपात्र के लिये दिया गया द्रव्य निष्फल ही होता है ऐसा विद्वान् जान रहे हैं अथवा अपात्रदान का फल पाप और अपाप भी हो जाता है अर्थात् हिंसक या व्यसनी जीवों के लिये उनके अनुकूल हो रहे दूषित द्रव्यों के देने से महान् पाप का आस्रव होता है और उन व्यसनी या दुरभिमानी जीवों के लिये योग्य द्रव्य देने वाले को पाप नहीं लगना बस यही फल पर्याप्त है। सम्यग्दर्शन रहित होकर उपरिष्टात् व्रती बन रहे कुपात्र में दान करने से कुभोगभूमि के सुख मिलना फल कहा है। इस प्रकार आचार्य महाराज उक्त सूत्र में दान का निर्दोष रूप से बढ़िया व्याख्यान कर रहे हैं। भावार्थ–गृहस्थ की कतिपय क्रियायें ऐसी हैं जिनके करने पर पुण्य नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पाप लग बैठता है जैसे कि बाल-बच्चों, को पालने या शिक्षित करने से माता-पिता को कोई पुण्य नहीं लगता है हाँ उक्त कर्तव्य के नहीं पालने से संक्लेश, अपकीर्ति, कर्तव्यच्युति अनुसार पापबंध अवश्य होगा, तथा गृहस्थ के कतिपय कर्म ऐसे भी हैं जिनके करने पर पाप नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पुण्य लग बैठता है जैसे कि व्यापार में एक रुपये पर चौअन्नी, दुअन्नी, का मोटा लाभ उठा रहे व्यापारी को कोई पाप नहीं लगता है बेचने वाले और खरीदने वाले को चाहे जो कुछ राजी होय किन्तु सन्तोषी व्यापारी यदि थोड़े लाभ से ही बेचे तो संतोष, परोपकार, मितव्यय, सत्कीर्ति, वात्सल्य, अनुसार हुई आत्मविशुद्धि से उसको पुण्य अवश्य हो जायेगा। यहाँ पुण्यपाप पद से तीव्र अनुभाग शक्ति वाले पुण्यपाप, लिये जाँय यों तो गृहस्थ की चाहे किसी भी क्रिया से पुण्य पाप यथा योग्य लगते ही रहते हैं। पहिले गुणस्थान से लेकर दशवें तक अनेक पुण्यपाप कर्मों का बन्ध होता रहता है। सनातनी पण्डितों के यहाँ भी "नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया" तथा "अकुर्वन्विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" यों नित्य नैमित्तिक कर्मों करके कोई पुण्य की प्राप्ति नहीं मानी गई है। हाँ संध्यावन्दन आदि कर्मों को नहीं करने वालों को पापबंध अवश्य हो जायेगा, प्रत्यवायाभाव भले ही फल समझ लिया जाय राजा करके नियत करीं गई धाराओं (कानूनों) के पालने से प्रजाको कोई इनाम या सार्टीफिकिट नहीं मिलता है हाँ कानून नहीं पालने वालों को दण्ड अवश्य प्राप्त होता है। यवनों के यहाँ व्याज नहीं खाने वालों को कोई खुदा की ओर से पुण्य नहीं बटता है हाँ व्याज खाने वालों का नरक जाना उन्होंने माना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

है। इत्यादि युक्तियों से अपात्र दान का फल पाप और अपाप समझ लिया जाय जैसे कि किसी कुपात्र दान से पुण्य और अपुण्य हो जाते हैं। वेश्याओं के सुख, रईसों के पशु पक्षियों के सुखों की प्राप्ति, पाप-मिश्रित पुण्य से हो जाती है इसी प्रकार कचिद्धार्मिकों को दुःख या सज्जनों को क्लेश की प्राप्ति भी पूर्व-जन्मार्जित पुण्यमिश्रित पाप से हो जाती है। यह पुण्यास्रव या पापास्रव का अचिन्तनीय कार्य कारणभाव विशुद्धि संक्लेशाङ्गों पर अवलम्बित है जो कि परिशुद्ध प्रतिभावालों को स्वसंवेद्य भी है। शेष युक्ति, आगम, गम्य है। "पापापायं" ऐसा पाठ होने पर तो आचार्य महाराज दान का फल पाप के अपाय हो जाने को भी बखानते हैं। यों अर्थ कर सकते हैं।

सामग्रीभेदाद्धि दानविशेषः स्यात् कृष्यादिविशेषाद्बीजविशेषवत्।

दान की सामग्री के भेद से दानक्रिया में अवश्य विशेषता हो जायेगी जैसे कि कृषी यानी जोतना अथवा पृथिवी, जल, घाम आदि कारणों की विशेषता से बीज के नाना प्रकार फलविशेष हो जाते हैं। नागपुर का संतरा, भुसावल का केला, बनारसी आम, काबुली अनार, सहारनपुर का गन्ना, छोटा खीरा आदि पदार्थ उन नियत स्थानों में ही सुस्वादु, कोमल फलित होते हैं अन्यस्थानों में बीज बो देने से वैसे फल की प्राप्ति नहीं होती है इसी प्रकार ऋतुओं, मेघ जल, सूर्यातप, द्वारा भी अनेक अन्तर पड़ जाते हैं। तद्वत् विधि आदि की सामग्री द्वारा हुई दान क्रिया के विशेषों अनुसार दानफल का तारतम्य है।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसंबंधाभावः।

न्यायपूर्वक युक्तिपूर्ण जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे श्री विद्यानन्द स्वामी इस सातवें अध्याय के प्रमेय की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार ही सिद्धि हो सकने का प्रतिपादन करते हैं कि हिंसा करना या उसका त्याग करना एवं विशेष सामान्य भावनायें भावते रहना तथा अतीचारों के प्रत्याख्यान का प्रयत्न करना और दान अथवा उसके विधि आदिक अनुसार हुये फलविशेषों की संपत्ति ये सब अनेकान्त का आश्रय कर स्याद्वादसिद्धान्त में ही सुघटित होते हैं। परिणामी हो रहे नित्यानित्यात्मक जीव के तो अनगार धर्म और उपासकाचार पल जाते हैं किन्तु बौद्ध, नैयायिक, सांख्यों के यहाँ एकान्त पक्ष अनुसार व्रत विधान नहीं आचरा जा सकता है। देखिये नैरात्म्यवादी बौद्धों ने प्रथम तो आत्मद्रव्य को ही स्वीकार नहीं किया है तथा स्वलक्षण या विज्ञान को उन्हों ने स्वभाव, क्रिया, परिणतियों, से रहित स्वीकार किया है। ऐसी दशा में सम्पूर्ण पदार्थों को निरात्मक, निस्स्वरूप, मानने पर बौद्धों के यहां विधि द्रव्य आदि के स्वरूपों का ही अभाव हो जाता है। सात्मक, स्वभाववान्, पदार्थ तो प्रतिग्रह कर सकता है मुनि महाराज को ऊंचे आसन पर बैठा सकता है या प्रतिग्रहीत हो जाता है, ऊंचे आसन पर बैठ जाता है, स्वभावों से शून्य हो रहा क्या दान देवे ? और क्या लेवे ? दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार किया है, एक क्षण ही ठहर कर दूसरे क्षण में नष्ट हो चुके विज्ञान के क्षणिक हो जाने के कारण उन दान ग्रहण, स्वर्गप्राप्ति आदि परिणतियों का चहुं ओर से सम्बन्ध नहीं हो पाता है कारण कि पूर्वक्षण और उत्तर क्षण में पाये जा रहे विषयों के संस्कार अनुसार अवग्रह करने में समर्थ हो रहे एक अन्वित ज्ञान का अभाव है। सत् का सर्वथा विनाश और असत् का ही उत्पाद मान रहे बौद्धों के यहां पूर्वोत्तर समीपवर्ती परिणामों का अन्वय नहीं माना गया है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान का पक्ष लेने पर यह पात्र है, ऋषि है, तपःस्वाध्याय में तत्पर रहेंगे मेरे पहिले

दान करने की भावना थी अब वही मैं नवधा भक्ति से दान कर रहा हूं दान का फल मुझ कर्ता को ही प्राप्त होगा, इसी प्रकार यह द्रव्य वही शुद्ध है जिसको कि घन्टों पहिले से शोधन, पाचन, आदि क्रियाओं से संस्कृत किया गया है, इत्यादिक अन्वित संबन्ध नहीं हो सकते हैं। दान का संरभ करने वाला न्यारा है, फलभोक्ता भिन्न है, शुद्ध खाद्य, पेय, तब न्यारे थे अब न जाने नये उत्पन्न हुये कैसे हैं ? यों तत्त्वों को क्षणिक मानने पर कोई नियम, आखड़ी, व्रत, दान, नहीं पाले जा सकते हैं। अष्टसहस्री में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नित्यत्वाज्ञत्वनिःक्रियत्वाच्च तदभावः। क्रिया गुणसमवायादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्परिणामाभावात्। क्षेत्रस्य वा चेतनत्वात्। स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात्। तथाहि —

दूसरे वैशेषिक या नैयायिकों के प्रति यह कहना कि उन्होंने है आत्मा को सर्वथा नित्य स्वीकार किया है "सदकारणवन्नित्यं" सत् होकर जो स्वकीय उत्पादक कारणों से रहित है वह नित्य है। वैशेषिकों ने आत्मा को मूलरूप से ज्ञानरहित भी इष्ट किया है। धन के योग से धनवान के समान सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान के समवाय से आत्मा को ज्ञानवान् माना गया है। मूल में आत्मा अज्ञ है तथा नैयायिकों ने आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण क्रिया शून्य अभीष्ट किया है। जो विचार सर्वत्र यहाँ वहाँ ठसाठस भरा हुआ है वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कथमपि नहीं जा सकता है "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" यह वैशेषिकों के यहाँ विभुत्व का पारिभाषिक लक्षण है। यों जिस दर्शन में आत्मा का नित्यपन, अज्ञपन, क्रियारहितपन, इष्ट किये गये हैं उस दर्शन में नित्य, अज्ञ और निष्क्रिय होने के कारण उन विधि आदि के स्वरूप का अभाव है जो नित्य है वह पहिले यदि अदाता था तो सर्वदा अदाता आत्मा ही बना रहेगा तथा जो दाता है तो सदा दाता ही रहेगा। पात्र का गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरण, अक्षम्रक्षण व्रतियों अनुसार दाता के घर पर आना, और दाता का प्रतिग्रह आदि करना ये सब बातें सर्वथा नित्य आत्मा में नहीं सुघटित होती हैं। जो ज्ञान गुण से सर्वथा भिन्न है वह अज्ञ आत्मा बिचारा घट, पट आदि के समान क्या विधि, श्रद्धा, आदि को करेगा ? कथमपि नहीं। इसी प्रकार निष्क्रिय हो रहे व्यापक आत्मा में आहार, विहार, उच्चासन, अर्चन, भक्ति, आदि कुछ भी धार्मिक कृत्य नहीं बनते हैं। अतः क्षणिकवादी बौद्ध के समान आत्मा को नित्य मान रहे नैयायिकों के यहां भी विधि, श्रद्धा, अहिंसा, आदि कोई भी व्रत या शील नहीं सिद्ध हो सकते हैं। यदि यहां वैशेषिक यों कहे कि "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययहेतुः संबंधः समवायः" यों सर्वथा भिन्न भी हो रहे क्रिया और गुणों का एकपन के समान समवाय संबन्ध हो जाने से आत्मा के विधि, श्रद्धा, अहिंसाव्रत, दिग्विरतिशील, आदि अनुष्ठान बन जायेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान, श्रद्धा, तुष्टि, प्रतिग्रह, आदिक उस आत्मा के परिणाम नहीं कहे जा सकते हैं। सह्याचल का परिणाम विन्ध्य पर्वत नहीं हो सकता है। बात यह है कि देवदत्त को वस्त्र का योग हो जाने से वस्त्रवान् कह सकते हो किन्तु आत्मा का स्वभावपरिणाम वस्त्र नहीं है तिसी प्रकार आत्मा को क्रिया गुणों के समवाय से औपाधिक क्रियावान्, गुणवान्, कहा जा सकता है किन्तु आत्मा की क्रिया या गुणों के साथ एकरसपरिणति नहीं होने के कारण इन प्रस्तावप्राप्त दान, ग्रहण, अहिंसा, मैत्री, आदि स्वरूप परिणतियां नहीं हो सकती हैं। अथवा सांख्यों के प्रति हमें यों कहना है कि उनके यहां प्राकृतिक क्षेत्र को अचेतन स्वीकार किया गया है "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि" सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणमय प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है उस बुद्धि या महान् से अहंकार होता है अहंकार से पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय एक

मन तथा रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा यों ये सोलह विवर्त आविर्भूत होते हैं। पुनः पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत अभिव्यक्त हो जाते हैं। यों एक प्रकृति और तेईस विकृतियां इस प्रकार चौबीस तत्त्वों को क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र की चेतना करने वाला पुरुष पच्चीसवां तत्त्व है यों पच्चीस तत्त्वों को इष्ट कर रहे सांख्यों के प्रति आचार्य कहते हैं कि आपने प्रकृति को ही कर्ता अभीष्ट किया है प्रकृति के ही व्रत, आखड़ी, उपवास, दान, श्रद्धा, अहिंसा, सामायिक, आदि विकार माने हैं किन्तु जब चौबीसों प्रकार का क्षेत्र अचेतन है ऐसी दशा में घट, पट आदि के समान इस अचेतन क्षेत्र के विधि आदिक विवर्त कथमपि नहीं बन सकते हैं। प्रतिग्रह, व्रत, आदिक तो चेतन आत्मा के परिणाम हैं जो कि अचेतन के असंभव हैं। यदि क्षेत्र के विधि आदिक परिणतियां मानी जायेंगी तो वह अचेतन नहीं हो सकता है। नैयायिकों के समान सांख्यों ने भी आत्मा को नित्य, ज्ञानरहित, क्रियाशून्य, शुद्ध, स्वीकार किया है इस कारण आत्मा के भी विधि आदि के होने की उपपत्ति नहीं है। हाँ स्याद्वादियों के यहां तो उन विधि, दान, आदि का होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि जैनों के यहां अनेकान्त पक्ष का आश्रय किया जा रहा है। आत्मा नित्य अनित्य आत्मक हो रहा परिणामी है कतिपय पूर्व परिणतियों को छोड़ता संता उत्तर विवर्तों को आत्मसात् कर ध्रुव बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप आत्मा के सर्व पुण्य पाप क्रियायें या शुद्ध परिणतियें बन जाती हैं इसी स्याद्वाद सिद्धान्त को ग्रन्थकार शिखरिणी छन्द में वार्तिक द्वारा स्पष्टरूप से कह कर दिखलाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अपात्रेभ्यो दत्तं भवति सफलं किंचिदपरं।
न पात्रेभ्यो वित्तं प्रचुरमुदितं जातुचिदिह।
अदत्तं पात्रेभ्यो जनयति शुभं भूरि गहनं
जनोऽयं स्याद्वादं कथमिव निरुक्तं प्रभवति ॥१॥

यहाँ लौकिक या शास्त्रीय व्यवस्थाओं में कोई कोई पदार्थ यदि अपात्रों के लिये भी दे दिया गया होता है तो वह सफल यानी दाता या पात्र के लिये श्रेष्ठ फल का देने वाला है तथा कोई दूसरा पदार्थ या धन यदि अत्यधिक भी पात्रों के लिये दिया जाय तो भी वह कदाचिदपि सफल नहीं हुआ कहा गया है तथा पात्रों के लिये नहीं दिया गया या दिया गया भी दान पश्चात् आपत्तिकाल में शुभ और बहुत तथा दुरधिगम्य फल को उत्पन्न करता है ऐसी अनेकान्तपूर्ण दशा में स्याद्वाद शब्द की निरुक्ति से लब्ध हुये कथंचित् पक्ष परिग्रह अर्थ की यह विचारशील मनुष्य भला किसी भी प्रकार आद्योत्पत्ति कर ही लेता है। अर्थात् अनेक स्थलों पर पात्र को देना व्यर्थ कहा गया है किन्तु स्याद्वाद मत अनुसार विशुद्ध परिणामों से अपात्र को भी दिया गया दान सफल है और संक्लेश परिणामों अनुसार पात्र के लिये भी अर्पित किया गया दान निष्फल है। इसी प्रकार कदाचित् रोग आदि अवस्थाओं में पात्रों के लिये नहीं भी देना पुण्य को उपजाता है, जब कि पात्र के लिये अशुद्ध पदार्थ का दान या क्लेशवर्द्धक खाद्य, पेय, का दान पाप को उपजाता है। स्याद्वाद का सर्वत्र साम्राज्य छा रहा है स्याद्वाद के प्रभुत्व की छाप सर्वत्र लग रही है।

किंचिद्धि वस्तु विशुद्धान्तरमपात्रेभ्योऽपि दत्तं सफलमेव, संक्लेशदुर्गतं तु पात्रेभ्यो दत्तं न प्रचुरमपि सफलं कदाचिदुपपद्यतेऽतिप्रसंगात्, तथा दत्तमदत्तमपि पात्रेभ्योऽपात्रेभ्यश्च शुभमेव फलं जनयति संक्लेशांगाप्रदानस्यैव श्रेयस्करत्वात्। ततः पात्रायापात्राय वा स्याद्दानं सफलं,

स्याददानं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं च स्याद्दानं वाऽवक्तव्यं चेति, स्याद्वादिनयप्रमाणमयज्योतिः प्रतानो अपसारितसकलकुनयतिमिरपटलः सम्यगनेकान्तवादिदिनकर एव विभागेन विभावयितुं प्रभवति न पुनरितरो जनः कूपमण्डूकवत्पारावारवारिविजृंभितमिति प्रायेणोक्तं पुरस्तात्प्रतिपत्तव्यं ॥

जिस वस्तु से दाता और पात्र का अंतरंग विशुद्ध हो जाय ऐसी कोई भी खाद्य, ज्ञान, पुस्तक, पेय वस्तु होय वह वस्तु अपात्र के लिये भी दे दी जाय तो परिपाक में नियम से सफल ही होगी। हाँ जो संक्लेशों द्वारा दाता या पात्र की दुर्गति कर देने वाली वस्तु है वह पात्रों के लिये अत्यधिक भी दे दी जाय तो भी कदाचित् सफल नहीं बन सकती है। क्योंकि अतिप्रसंग दोष लग जायेगा, यानी क्रोधी राजा या डाक, वेश्या, अग्नीमाची सप्तव्यसनी आदि को दिया गया अथवा दुष्ट लोभी दाता कर के दिया गया पदार्थ भी सफल हो जाना चाहिये, जो कि किसी को इष्ट नहीं है। तथा पात्रों के लिये और अपात्रों के लिये कोई भी पदार्थ दिया गया होय अथवा नहीं भी दिया गया होय विशुद्ध भावनाओं अनुसार परिपाक से शुभ ही फल को उत्पन्न कराता है कारण कि संक्लेशांगों करके नहीं प्रदान करना ही जैन सिद्धान्त में श्रेयस्कर यानी पुण्यवर्द्धक या परंपरया मुक्ति संपादक अभीष्ट किया है। आत्मा की यावत् परिणतियों में विशुद्धि और संक्लेश अनुसार शुभ अशुभ व्यवस्थायें नियमित की गई हैं तिसकारण उक्त छंदः में कहा गया स्याद्वादसिद्धान्त यों पुष्ट हो जाता है कि पात्र के लिये अथवा अपात्र के लिये अर्पित किया गया कथंचित् सफल हो रहा दान है (प्रथम भंग)। और पात्र,अथवा अपात्र के लिये संक्लेश पूर्वक दिया गया विफल हो रहा कथंचित् अदान है (द्वितीय भंग)। एवं क्वचित् दिया गया दान क्रम से अर्पणा करने पर दान, अदान, उभय स्वरूप है विशुद्धि और संक्लेश का मिश्रण हो जाने पर उभय धर्म सध जाता है (तृतीय भंग) तथा दानपन, अदानपन, इन दोनों धर्मों को युगपत् कहने की विवक्षा करने पर "स्यात् अवक्तव्य" धर्म सधता है। विरोधी सारिखे प्रतिभास रहे दो धर्मों को स्वाभाविक शब्दशक्ति अनुसार कोई भी एक शब्द युगपत् कह नहीं सकता है संकेत करने का साहस करना भी व्यर्थ पड़ता है (चतुर्थ भंग) विशुद्धि अंश का आश्रय करने पर और एक साथ दोनों विशुद्धि, संक्लेशों, की अर्पणा करने पर "स्यात् दानं अवक्तव्यं च" यह पांचवां भंग घटित हो जाता है (पाँचवां भंग) तथैव व्यस्तरूप से संक्लेश और समस्तरूप से विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय करने पर "अदानं च अवक्तव्यं च" भंग सध जाता है (षष्ठ भंग)। न्यारे न्यारे क्रम से अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों और समस्तरूप से सह अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय कर सातवां भंग व्यवस्थित है (सप्तम भंग)। इस प्रकार यह समीचीन, अनेकान्तवादी, विद्वान् सूर्य के समान हो रहा ही अनेक सप्तभंगियों की विभाग करके विचारणा करने के लिये समर्थ हो जाता है। जिस अनेकान्तवादी सूर्योपम पण्डित का स्याद्वाद से परिपूर्ण हो रहे नय और प्रमाणों की प्रचुरता को लिये हुये प्रकाश मण्डल चारों ओर फैल रहा है और उस अनेकान्त वादी सूर्य ने संपूर्ण कुनयों स्वरूप अंधकार पटल को नष्ट कर दिया है। किन्तु फिर दूसरे कूपमण्डूक के समान बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदिक जन तो सिद्धान्त स्वरूप गम्भीर, विशाल, समुद्र के जल की विजृंभणाओं पर प्रभुता प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं हैं इस बात को हम पूर्व प्रकरणों में बहुत स्थलों पर कह चुके हैं वहां से व्युत्पत्तिलाभ कर अनेकान्तसिद्धान्त की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। भावार्थ—यहाँ दान के प्रकरण में आचार्यों ने स्याद्वाद सिद्धान्त की योजना करते हुये दानपन, आदानपन, इन दो मूल भंगों की अपेक्षा सप्तभंगी को लगाया है। अदान में पड़े हुये नञ् का अर्थ कुत्सित भी हो जाता है। यों कुदान से भी कुभोग के लौकिकसुखों की प्राप्ति हो जाती है तब तो कुदान करना भी

सफल रहा और कदाचित् संक्लेशों अनुसार किया गया पात्रदान भी अदान समझा गया। ये सर्व अंतरंग परिणामों के वश हुई व्यवस्थायें अनेकान्तवादियों के यहां तो सुशृंखलित बन जाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने अनेकान्तवादी पण्डित को धार्मिक क्रिया और लौकिक कर्तव्यों के प्रकृष्ट उपकारक सूर्य का रूपक दिया है। सूर्य का प्रकाशमण्डल हजारों योजन इधर उधर फैलता है, उसी प्रकार स्याद्वादसिद्धान्त के अनेक नय और प्रमाणों की प्रचुरता विश्व में विस्तृत हो रही है। सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार अनेकान्तवादी विद्वान् भी क्षणिकत्व, कूटस्थ नित्यत्व आदि एकान्तों का प्रतिपादन कर रहीं कुनयों को निराकृत कर देता है। जिन पुद्गल स्कन्धों का अन्धकारमय परिणमन हो रहा था सूर्य का सन्निधान मिलने पर उन्हीं पुद्गलस्कन्धों का प्रकाशमय ज्योतिःस्वरूप परिणाम होने लग जाता है। इस ही ढंग से क्षणिकत्ववादी बौद्ध या पच्चीस तत्त्वों को कह रहे कपिल मतानुयायी एवं षोडशपदार्थवादी नैयायिक तथा सात पदार्थों को मान रहे वैशेषिक आदि के कुनय गोचरों का कथंचित् अनेकान्त सूर्य करके सुनय गोचरपना प्राप्त हो जाता है तभी तो सिद्धचक्रविधान के मन्त्रों में कपिल, वैशेषिक, षोडशपदार्थवादी, आदि को सिद्धस्वरूप मान कर नमस्कार किया है। भगवान् के सहस्रनामों में भी इस का आभास पाया जाता है। भूतप्रज्ञापननय अनुसार अथवा सुनययोजना से, पच्चीस, सोलह, सात, एक अद्वैतब्रह्म, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, आदि तत्त्वों की भी सुव्यवस्था हो जाती है। तभी तो देवागम स्तोत्र के अन्त में श्री समन्तभद्र आचार्य महाराज ने "जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान् विहत विषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान्। यतिपतिरजो यस्या धृष्यान्मतामृतवार्धिनिर्धेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते" इस पद्य द्वारा जिनेन्द्रमतरूप समुद्र के ही छोटे छोटे अंशों को अपना मत मान कर उपासना कर रहे अनेक दार्शनिकों को बताया है। श्री अकलंक देव ने भी आठवें अध्याय में "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु" इत्यादि पद्य का उद्धरण कर एकान्तवादियों के तत्त्वों को जिनागम का ही अंश स्वीकार किया है। जिस प्रकार भांग पीनेवाला भांग पीने की यों पुष्टि कर देता है कि गधा ही भांग को नहीं पीता है यानी गधे से न्यारे जीव भांग को पीते ही हैं, उसी प्रकार भांग को नहीं पीने वाला उसी दृष्टान्त से यों अपने व्रत को पुष्ट करता है कि गधा भी भांग नहीं पीता है तो अन्य लोग भांग को कथंचित् भी नहीं पियेंगे। इत्यादि ढंगों से एवकार और अपिकार मात्र से एकान्त अनेकान्त का अन्तर है। वस्तुतः समीचीन एकान्तों का समुदाय ही तो अनेकान्त है। इस ग्रन्थ में अनेक वार अनेकान्त प्रक्रिया को कहा जा चुका है। अष्टसहस्री तो अनेकान्तसिद्धि का घर ही है। जगत्प्रसिद्ध निर्दोष स्याद्वादसिद्धान्त को समझाने के लिये थोड़ा संकेतमात्र कर देना पर्याप्त है। स्याद्वादसिद्धान्त से सम्पूर्ण तत्त्वों की यथायोग्य विभाग करके विचारणा कर ली जाती है। हां, कुनयों के गाढ़ अन्धकार में उद्भ्रान्त हो रहे एकान्तवादी मुग्ध जीव विचारा उसी प्रकार सिद्धान्त रहस्य का पता नहीं लगा सकता है जिस प्रकार कि दो तीन हाथ तक ही उछलने की शक्ति को धार रहा कुंये का दीन मेंढक अनेक योजनों लम्बे, चौड़े, गहरे समुद्र जल की सीमा को नहीं पा सकता है। अनेक भङ्गोंवाली प्रक्रिया को नय विशारद पुरुष शीघ्र समझ लेता है। श्री अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में "एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण, अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी" इस पद्य द्वारा अनेकान्त सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। परिशुद्ध प्रतिभावालों को सुलभता से अनेकान्त की प्रतीति कर लेनी चाहिये।

इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

यहाँ तक तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय के प्रकरणों का
दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्री विद्यानन्दि-आचार्यविरचिते
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे सप्तमोध्यायः
समाप्तः ॥७॥

●

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार अब तक अनेक गुणगरिष्ठ पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी आचार्य के द्वारा
विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक
महान् ग्रन्थ में सातवां अध्याय
पूर्ण हुआ।

●

सातवें अध्याय का सारांश

इस सातवें अध्याय के प्रकरणों की सूची इस प्रकार है कि छठे और सातवें में आस्रवतत्त्व के निरूपण करने की संगति अनुसार पुण्यास्रव का निरूपण करने के लिये प्रथम ही व्रत का सिद्धान्त लक्षण किया गया है। बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवत्व की विवक्षा कर सूत्र में अपादान प्रयुक्त पंचमी विभक्ति का समर्थन कर संवर से पृथक् प्ररूपण का उद्देश्य बताते हुये रात्रि भोजनविरति का भावनाओं में अन्तर्भाव बता दिया है। आत्मा की एक देश विशुद्धि और सर्वांग विशुद्धि नामक परिणतियों के अनुसार अणुव्रतों महाव्रतों की व्यवस्था कर व्रतों की पच्चीस भावनाओं का युक्तिपूर्ण समर्थन किया है। भाव्य, भावक, भावनाओं, का दिग्दर्शन कराते हुये सामान्य भावनाओं में हिंसादि द्वारा अपाप और अवद्य देखने की पुष्टिकर हिंसादि में दुःखपन साध दिया है। मैत्री, प्रमोद आदि के व्यतिकीर्ण रूप से सामञ्जस्य को दिखलाते हुये संवेग वैराग्यार्थ भावना को सुन्दर हृदयग्राही शब्दों द्वारा निर्णीत किया है। भावना कोई कल्पना नहीं किन्तु वस्तुपरिणति अनुसार हुये आत्मीय परिणाम हैं पश्चात् व्रतों के प्रतियोगी हो रहे हिंसा आदि का लक्षण करते हुये प्राणव्यपरोपण को हिंसा बताकर प्राणी आत्मा के दुःख हो जाने प्रयुक्त पापबंध होना बखाना गया है। नैयायिक, सांख्य, आदि के यहाँ प्राणव्यपरोपण होने पर प्राणी का व्यपरोपण नहीं सधता है। सूत्र की मनीषा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों का लक्षण करने में तत्पर है। बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ हिंसा, या अहिंसा, नहीं बनती है "प्रमत्तयोग" पद से अनेक तात्पर्य पुष्ट होते हैं। झूँठ के लक्षण में भी प्रमादयोग लगाना अत्यावश्यक है। अप्रशस्त कहने को झूंठ माना गया है यह बहुत बढ़िया बात है। अपने या दूसरे के सन्ताप का कारण जो वचन है वह सब असत्य है और हिंसा आदि के निषेध करने में प्रवर्त रहा कैसा भी वचन हो सत्य ही है पाप का कार्य या कारण जो हिंसापूर्ण वचन है वह असत्य है। अतः अपराधी जीव अपने को बचाने के लिये या स्वार्थी मनुष्य अभक्ष्यभक्षण, परस्त्रीसेवन आदि के लिये यदि मनोहर भी वचन बोलेगा तो वह असत्य ही माना जावेगा, निकृष्ट स्वार्थों से भरा हुआ वचन झूँठ है जब कि परोपकारार्थ झूँठ भी एक प्रकार का सत्य है। न्यायवान् राजा या राजवर्ग मात्र भविष्य में अहिंसा की रक्षा के लिये दण्डविधान करते हैं जो कि अपराधी के अभ्यन्तर परिणामों और अपराधों की अपेक्षा से ताड़न, वध, बंधन, कारावास, जुरमाना, आदि करना पड़ता है। किसी किसी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

फांसी के अपराधी को भी क्षमा कर दिया जाता है "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" जगत् में अहिंसा व्याप जाय इस का पूर्ण लक्ष्य है। इसी प्रकार चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के लक्षणों में कतिपय सिद्धान्तरहस्य प्रकट किये गये हैं। व्रती के अगारी और अनगार भेदों को बखान कर दिग्विरति आदि का आत्मीय विशुद्धि पर अवलंबित रहना पुष्ट किया है। व्रतशीलों के अन्त में सल्लेखना का व्याख्यान कर प्रथम आह्निक को समाप्त कर दिया है। इसके अनन्तर सम्यग्दृष्टि के अतीचारों की व्याख्याकर आठ अंगके विपरीत दोषों को पांच अतीचारों में ही गतार्थ कर अनुमान प्रमाण द्वारा शंकादि अतीचारों को साध दिया है। आगे व्रतों और शीलों में पांच पांच अतीचारों के कहने की प्रतिज्ञा कर पांच व्रत और सात शील तथा सल्लेखना के अतीचारों को कह रहे सूत्रों का व्याख्यान किया है। सभी अतीचारों में व्रतों का एक देश भंग और एक देश रक्षण का लक्ष्य रक्खा गया है। व्रतों को सर्वथा नष्ट कर देने वाले या व्रतों के पोषक परिणामों को अतीचारपना नहीं है। दान के लक्षण सूत्र में पड़े हुये पदों की सार्थकता करते हुये विधि आदि की विशेषता से दान की हो रही विशेषता को युक्ति पूर्वक साध दिया है पश्चात् अनेकान्त सिद्धान्त की लगे हाथ "जयदुंदुभि" बजाई गई है जिस प्रकार अनेकान्त की पुष्टि करने के लिये सूर्य का पश्चिम में भी उदय होना या जल की उष्णता एवं अग्निकी शीतता आदि को पुष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार दान में स्याद्वादसिद्धान्त को जोड़ते हुये क्वचित् अपात्रों के लिये भी दिये गये किसी ज्ञान, पुस्तक, भक्ष्य, पेय औषधि आदि के दान को सफल बताया है जब कि कदाचित् पात्रों के लिये भी दिया गया किसी अनुपयोगी या संक्लेशकारक पदार्थ का दान निष्फल समझा गया है। यों दान, अदान के दो मूलभंगों अनुसार सप्तभंगी प्रक्रिया का अयोजन कर अनेकान्तवादी विद्वान् को सूर्य का प्रतिरूपक बनाते हुये एकान्ती पण्डितों को कूपमण्डूक के समान जताकर अनेकान्त सिद्धान्तसागर की प्रतिपत्ति कर लेने के लिये तत्त्वान्वेषी जिज्ञासुओं को उत्साहित किया गया है। एक दन्तकथा वृद्ध विद्वानों से सुनी जा रही है कि समुद्र तट का निवासी एक हंस किसी समय एक कुएँ के पास उड़ कर जा बैठा कुएँ के मेढ़क ने प्रसंग पा कर हंस से पूछा कि आपका समुद्र कितना बड़ा है ? हंस ने हंसकर उत्तर दिया कि प्रिय भ्रात ! समुद्र बहुत बड़ा है। मेढक हाथपांव पसार कर कहता है कि क्या सागर इतना बड़ा है ? राजहंस उत्तर देता है कि नहीं इस से कहीं बहुत बड़ा है। पुनः झुँझलाता हुआ मेंढक सविस्मय हो कर कुएं के एक तट से दूसरे तट पर उछल कर समझाता है कि क्या इस से भी बड़ा है ? हंसराज गम्भीर होकर वही कहता है कि भाई ! समुद्र इस से भी अत्यधिक लम्बा, चौड़ा है, तब मेंढक उस हंसोक्ति को असत्य समझ कर हंस की प्रतारणा करता है कि कोई भी जलाशय कुएँ से बड़ा नहीं हो सकता है। हंस उस मेंढक को हठी समझ कर स्वस्थान को चला जाता है और कदाचित् मेंढक को ले जाकर समुद्र का दर्शन कराता है तब कहीं मेंढक को अगाध पारावार का परिज्ञान होता है और उस का मिथ्या अभिनिवेश नष्ट हो जाता है। इसी दृष्टान्त अनुसार एकान्तवादियों को कूपमण्डूक की उपमा दी गई है। परमपूज्य श्री विद्यानन्दी आचार्य स्याद्वादसिद्धान्त के उद्भट प्रतिपादक हैं। श्री विद्यानन्द स्वामी के अष्टसहस्री ग्रन्थ का यह अतिशय विख्यात है कि "अष्टसहस्री को हृदयंगत करने वाला विद्वान् अवश्य ही स्याद्वादसिद्धान्त का अनुयायी हो जाता है। वस्तुओं के अंतरंग बहिरंग कारणवश अथवा स्वाभाविक हुये अनेक धर्मों की योजना अनुसार अनेकान्त की व्यवस्था है और शब्दों के वाच्यार्थ अनुसार कहे गये वस्तु के धर्मों में सप्तभंग नय की विवक्षा द्वारा स्याद्वादसिद्धान्त की प्रतिष्ठा है। यों अनेकान्त की भित्ति पर सध रही स्याद्वाद सिद्धान्त की जयपताका को फहराते हुए ग्रन्थकार ने सातवें अध्याय के द्वितीय आह्निक को समाप्त कर दिया है ॥

ख्यातुं तीर्थकरास्रवेषु पठितां शीलव्रतादुष्टतां,
सामान्येतरभावना अहितकृद्धिंसादिलक्ष्माणि च ।
सम्यक्त्वादिसुलेखनान्ततदतीचारान् जगौ यां श्रयन्
सानेकान्तसरस्वती विजयते स्याच्चिह्निता सूत्रकृत् ॥१॥

इति आचार्यवर्य श्री विद्यानन्द स्वामी विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारनामक महान् ग्रन्थ की आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी न्यायाचार्य माणिकचन्द्रकृत हिन्दीदेशभाषामय तत्त्वार्थ-चिन्तामणि टीकामें सातवां अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्लोक वर्णानुक्रमणिका

पंचमाध्याय

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
		अ		
५	३५	अजघन्य गुणानां	१	३८५
५	१	अजीवानादजीवाः	२	२
५	२५	अणवः पुद्गलाः	१	६१६
५	२४	अतः प्रकाशरूपस्तु	४	२२२
५	२३	अतिशयित (उत्थानिका)	१	२०९
५	२३	अथ स्पर्शादिमंतः	१	२११
५	१	अथाजीव विभागादि	१	१
५	२२	अन्तर्नीतैक समयः	१	१५८
५	८	अनन्त देशता	३	७४
५	९	अनन्तास्तु प्रदेशाः	१	९१
५	२२	अमूर्तास्तद्वदे	४६	२०१
५	४	अरूपाणीति	३	२८
५	५	अरूपित्वापवादो	१	३४
५	११	अष्टप्रदेश रूपाणु	२	१०७
		आ		
५	६	आआकाशादिति	२	३५
५	९	आगमज्ञान संवेद्य	५	९५
५	२२	आदित्यादि गति	११	१६०
		इ		
५	७	इत्यपास्त	९	५५
५	३०	इत्यसत्सर्वथा	३	३५५
५	२२	इत्येवं वर्तमान	१९	१६२
५	२२	इति स्वसंविदा	२४	१६३
५	२६	इति सूत्रे बहुत्वस्य	२	३२२
५	७	इदानींतनता	६३	७०
		उ		
५	२६	उत्पद्यंतेणवः	१	३२१
५	३०	उत्पादव्यय ध्रौव्यै	४	३५५
५	२२	उत्पादव्यय ध्रौव्य	४	१५९
५	१८	उपकारोवगाहः	१	१४६
		ए		
५	८	एकजीववचः	४	७६
५	६	एकद्रव्यमयं	३	३६
५	६	एक संख्याविशिष्ट	१	३५
५	२२	एवं प्रतिक्षणादि	५३	२०५
५	२२	एवं सर्वानुमेयार्थ	५८	२०६
		क		
५	७	कथंचिन्निष्क्रियत्वेन	६६	७१
५	७	कथंचिन्निष्क्रियत्वस्य	७०	७२
५	७	कथंचिद्भिन्नयो	५०	६६
५	७	कथंचिद्वादीन	४९	६९
५	७	करोति वह्निसयोगः	३१	६१
५	२२	कललादिभिः	३१	१७६
५	३	कल्पिताश्चित्त	१	२२
५	३९	क्रमवृत्ति पदार्थानां	३	४०६
५	२२	क्रमाक्रम प्रसिद्धि	४३	१९६
५	२३	क्व वाम्युपगमः	२१	१६३
५	७	कायक्रियानिमित्त	३२	६१
५	३९	कालश्चद्रव्य	१	४०५
५	२२	कालस्योपग्रहाः	२८	१६४
५	७	कालादिवृत्तथैव	२१	५८
५	७	कालोऽसर्वगतत्वेन	६	५३
५	७	क्रियाकारित्वम्	४३	६४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
५	२२	क्रियाक्षणक्षयै	४२	१९६
५	७	क्रियाक्रियावतो	४८	६६
५	७	क्रियावत्व प्रसंगों	१३	५७
५	७	क्रिया हेतगुणत्वाद्वा	४	४९
५	७	क्रियाहेतुयथा	४०	६४
५	२२	क्रियैवकाल	५६	२०६
५	७	कुटः प्राप्तः कर्ष	३९	६३
५	२२	कुतश्चित् परिच्छि	४८	२०३
		ग		
५	२२	गतं न गम्यते	१८	१६२
५	७	गतिस्थित्यावगाहानां	१२	५६
५	२४	गंध रूप रस स्पर्श	५	२२२
५	३८	गुणपर्य्ययवत्	१	३९४
५	३८	गुणवद्द्रव्य	२	३९६
५	७	गुणाः कर्माणि	२२	५९
		घ		
५	२७	घनकार्यसिपिण्डेन	६	३३२
		च		
५	२८	चाक्षुषोवयवो	१	३४०
		ज		
५	९	जगतः सावधेस्ता	२	९२
५	८	जीवस्य सर्वनद	६	७८
५	२१	जीवानामुपकारः	१	१५५
		त		
५	७	तत्स्वरूप वदिन्येके	५५	६८
५	२२	तत्स्वसंवेदनस्यापि	२६	१६४
५	३३	तत्संविन्मात्र	७	३७२
५	३०	तत्रोत्पादव्यय	१	३५१
५	७	तत एव तदा	५१	६७
५	४	ततो द्रव्यांतरस्यापि	२	२४
५	२२	ततो न भाविता	१७	१६२
५	२२	ततस्त्रैविध्य	४९	२०३

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
५	१४	तथा चैक प्रदेशा	२	११७
५	२२	तथा वनस्पतिर्जीवः	३२	१७६
५	२२	तथा वनस्पतिर्जीवः स्वायु	३७	१७९
५	२२	तथावस्थित काला	५१	२०४
५	२७	तथास्थविष्ट	८	३३३
५	२२	तथैव च स्वयं	२२	१६३
५	२४	तथैवावांतरं	७	३११
५	१७	तथैव स्यादधर्मस्य	२	१३८
५	२२	तथैव स्वात्मसद्भावा	९	१६०
५	२२	तथैव स्वाभावानां	१३	१६१
५	७	तथोत्पादव्यय	८	५५
५	२	तद्गुणादि स्वभावत्वं	१	१९
५	४२	तद्भावः परिणामो	१	४१८
५	३१	तद्भावेनाव्ययं	१	३५९
५	२२	तन्नायस्पिडवत्तो	३८	१७९
५	६	तस्य नाना प्रदेशत्व	५	३७
५	७	तस्या प्रेरकतासिद्धेः	४४	६५
५	१४	तस्यैवैक प्रदेशे	१	११७
५	७	तृणादि कर्मणी वस्तु	१८	५८
५	४२	तेन नैव प्रसज्येत	३	४१९
		द		
५	९	द्रव्यंतु परिशेषात्	४	९२
५	४	द्रव्यार्थिकन्यात्तानि	१	२६
५	३२	द्रव्यार्थादर्पितं	२	३६१
५	४१	द्रव्याश्रया इति	१	३३५
५	३६	द्वयधिकादि गुणानां	१	३८७
		ध		
५	२२	धर्मादिवगंवत्कार्य	५७	२०६
५	१	धर्मादि शब्दतो	३	१९
५	७	धर्मादीनां परत्रा	१६	५७
५	७	धर्मादीनां स्व	१४	५७
५	२२	धर्मादीनां हि	३	१५९
५	२	धर्माधर्मौ मतौ	२	२०
५	१३	धर्माधर्मौ मतौ	१	११५

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
		न		
५	९	न गुणः कस्यचित्त	३	९२
५	२२	न चैवमनवस्था	१२	१६०
५	३४	न जघन्यगुणानां	१	१७९
५	१६	न जीवानामसंख्यो	१	१२१
५	७	न तस्य प्रेरणा हेतु	५	४९
५	२२	न दृश्यमानतै····	१४	१६१
५	७	नन्वेवं निःक्रियत्वेऽपि	७	५५
५	७	न युक्ता तस्य····	४६	६५
५	२४	न शब्दः खगुणो	२	२२१
५	२२	न संवित्संविदे····	२५	१६४
५	२४	न स्फोटात्मापि	३	२२२
५	७	न सिद्धमन्यदेश	५७	६८
५	७	न हि प्रत्यक्षतः	६२	७०
५	२	न होतोराश्रयासिद्धि	३	२०
५	६	नाना द्रव्यमसौ····	४	३७
५	७	नानुमानाच्च	६४	७१
५	२२	नाभात्रोऽन्यतम····	२	२१२
५	२२	नालिकादिश्च	५४	२०५
५	७	नित्यत्वात्सर्व	६८	७१
५	३२	नित्यं रूपं विरुध्यते	१	३६१
५	४१	निर्गुणा इति	२	४१६
५	७	निःप्रयत्नस्य····	२३	५९
५	३३	निरंशत्वं न	५	३७२
५	२२	निरस्त निःशेष	५९	२०८
५	३९	निःशेषद्रव्य ···	२	४०६
५	१	निःशेषाणाम	४	२
५	७	निष्क्रियत्वाद्यथा	४३	६५
५	७	निष्क्रियाणि च	१	४४
५	७	निष्क्रियेतरता····	७३	७३
५	२२	निषिद्धमनिषिद्धं	२०	१६२
५	७	नुःक्रियाहेतुता सिद्धौ	३८	६२
५	३३	नैकदेशेन कात्स्न्येन	३	३७०
५	११	नोणोरिति निषेध····	१	१०४
		प		
५	४२	पर्याय एव च····	२	४१९
५	७	पर्यायार्थतया ····	६१	७०
५	२२	परिस्पंदात्मको	३९	१९५
५	७	परिस्पंदक्रिया	१०	५५
५	२२	परापरचिर	५५	२०५
५	२२	प्रत्यक्षतो असि	६	१५९
५	२२	प्रत्याक्षसंभाव	१५	१६१
५	८	प्रतिदेशं जगद्	१	७४
५	७	प्रतीतिवाधना	२९	६१
५	४२	प्रतीयतामेवम	१	४२१
५	७	प्रतीयनेयदानत्य	५८	६९
५	१६	प्रदीपवदिति	२	१२१
५	३२	प्रमाणार्पणत	३	३६३
५	७	प्रयत्नादिगुण	३	४८
५	२२	प्रयोगविस्रसो	४०	१९५
५	२२	प्रयोजनं तु भावः	५	१५९
५	२२	प्रसिद्ध द्रव्यपर्याय	१०	१६०
५	७	पाकजान् जन····	३३	६२
५	७	पुंसः स्वयं	१५	५७
५	७	पूर्वाकार परित्या	३६	६२
५	३३	पूर्वापरविदां	४	३७२
५	२४	प्रोक्ताः शब्दादि	१	२२०
५	७	प्रोक्तैतेन प्रपत्तव्या	५४	६८
		ब		
५	३७	बन्धेधिको गुणौ	१	३८९
५	२४	बन्धो विशिष्ट संयोगो	६	२०४
		भ		
५	२२	भूतादि व्यवहारोतः	५२	२०४
५	२७	भेदादणुरिति	१	३२५
		म		
५	२२	मनुष्यनामकर्मा	२९	१७६
५	२२	मुख्योपचारभेदै	४५	२०१

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
		य		
५	११	यथाणुरणुभिर्ना	३	१०९
५	२२	यथा तंदुल····	७	१५९
५	२२	यथा प्रतितरु	५०	२०४
५	२२	यथा मनुष्य नामायु	३४	१७९
५	३०	यथोत्पादादयः····	२	३५५
५	९	यद्विज्ञान परिच्छे	६	९६
५	२२	यस्मात् कर्मणि····	२	१५८
५		यागसैद्धेति च····		
		र		
५	५	रूपादि परिणामस्य	२	३४
५	७	रूपादीन् पाकजान्	२७	६०
		ल		
५	२२	लोकाकाश प्रभेदेषु····	४४	२०१
५	८	लोकाकाशवदेव····	२	७४
५	१२	लोकाशस्य····	२	११४
५	१२	लोकाकाशेवगाह····	१	११३
५	४०	लोकाद्वहिरभावे	२	४१२
		व		
५	७	वह्नेः पाकज रूपादिपरि	३५	६२
५	७	वन्हेः पाकज रूपादिस्तया	३७	६२
५	२२	वर्तनैवं प्रसिद्धा	२७	१६४
५	७	व्यवहार नयात्तेषां····	६७	७१
५	२२	व्यवहारात्मकःकालः	४७	२०२
५	७	वातातपादिभिस्त····	५६	६८
५	२७	विभागः परमाणूनां	२	३२६
५	११	विद्यादजीवकायसं····	५	१११
५	७	विरुद्धं वा भवेदिष्ट	५२	६७
५	७	विरुद्धादितया तस्य	६५	७१
५	२२	विवर्धते निजाहार····	३६	१७९
५	२७	विवाद गोचराः	५	३३२
५	२७	विवादाध्यासितः	४	३३२
५	२२	विस्रसोत्पत्तिका	४१	१९६
५	७	विरोधादि प्रसंगः	७१	७२
		श		
५	१६	शरीर वर्गणादीनां	१	५०
५	७	शरीरायोगिनो	२४	५९
५	२७	श्लिष्टावयवकर्पास	७	३२२
		स		
५	१०	संख्येयाःस्यु	१	९७
५	२७	संयोगः परमाणूनां	३	३२६
५	३३	संविदद्वैततत्व	६	३७२
५	२२	संवेदनाद्वयं····	२३	१६३
५	१७	सकृत्सर्वपदा····	१	१३८
५	७	सक्रियत्वं प्रसक्तं····	४५	६५
५	७	सक्रिस्यैव····	१९	५८
५	२२	सजीवत्व मनुष्य····	३०	१७६
५	७	सत्वेनाभिन्नयोरेव····	५३	६७
५	२९	सद्द्रव्यलक्षणं····	१	३४८
५	८	संप्रदेशा इमे····	५	७७
५	७	समवायत्ततो····	३३	६२
५	७	सर्वथा तन्मतध्वं····	६९	७२
५	७	सर्वथा निष्क्रियस्या····	१७	५७
५	११	सर्वात्मना च····	४	१०९
५	७	सह्यविंध्यवदि····	४९	६६
५	७	साधनस्य च विज्ञेया	६०	६९
५	७	सामर्थ्यात्सक्रियो	२	४५
५	३१	सामर्थ्यात्सव्यं····	२	३५९
५	२०	सुखाद्युपग्रहा	१	१५२
५	२२	सूर्यातपादि सापेक्षः····	३५	१७९
५	२२	सूक्ष्म तंदुलपाको	८	१५९
५	४०	सोनंत समयः प्रोक्तो	१	४१०
५	२६	स्कंधस्यारंभका	३	३२२
५	३३	स्कंधो वधात्स····	१	३६९
५	३३	स्निग्धाःस्निग्धैः····	२	३६९
५	७	स्यादेवविषम	३०	६१
५	७	स्वपर प्रत्ययो	११	५५
५	७	स्वपर प्रत्ययाय	४७	६५

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
५	२२	स्वशरीरविवर्त्तेष	३३	१७५
५	२२	स्वसंविद्द्वयं	.... १६	१६२
५	७	स्वाधारेतरि	.... २८	६०
५	७	स्वाश्रयेविक्रिया	४१	६४
५	७	स्वेष्टंतत्त्वमनि	७२	७२
		ह		
५	७	हस्तादाविव्य	२५	६०
५	७	हस्तादौ कुरुतः	२६	६०
		क्ष		
५	३	क्षमादिभूत चतुष्का	२	२४
		षष्ठमध्याय		
		अ		
६	१	अथास्रवं विनिर्देष्टु	१	४३२
६	५	अदृष्टे यो प्रमृष्टे	१६	४५७
६	२४	अनिगहित वीर्यस्य	९	५२७
६	१६	अपकृष्टं हि	२	५१७
६	५	अपूर्व प्राणिघाता	१४	४५७
६	३	असंख्योऽप्य	६	४४५
६	२४	अर्हत्स्वाचार्यबर्येषु	१२	५१८
		आ		
६	२४	आवश्यक क्रियाणां	१४	५२८
६	५	आवश्यकादिषु	२०	६५८
६	१३	आस्रवोयो यो हि	२	५१२
		इ		
६	२७	इति प्रत्येकमाख्यातः	३	५३५
		ई		
६	५	ईर्यापथक्रिया	७	४५५
६	४	ईर्या योगगतिः	६	४४७
		उ		
६	२६	उतरस्यास्रवः	१	५३२
		ए		
६	५	एताः पंच क्रियाः	२२	४५८
६	५	एते चेन्द्रियतो	१३	४५६
६	९	एवं भूमा कर्म	४	४८३
		क		
६	४	कर्म मिथ्यादृग	५	४४७
६	१४	कस्यचित्तादृशस्य	३	५१४
६	४	कषाणादात्मनां	२	४४६
६	८	कषायैर्भिद्यमाना	३	४७३
६	४	कषायरहितस्तु	३	४४६
६	४	कषायविनिवृत्तौ	९	४४८
६	४	कषायहेतुकं पुंसः	८	४४८
६	५	कायादिभिः परेषां	४	४५५
६	१	कायादिवर्गणा	२	४३३
६	५	कुचैत्यादि प्रतिष्ठा	३	४५५
६	५	केवल्यादिषु यो	१	५१२
६	५	क्रोधावेशात्प्रदोषो	८	४५६
		ग		
६	२४	गुणिदुःखनिपाते	११	५२८
		छ		
६	५	छेदनादि क्रिया	२३	५५९
		ज		
६	२४	जिनोपदिष्टे	१	५२६
६	८	जीवाजीवाधिकरणं		
६	९	जीवाजीवान्समाश्रित्य	२	४८१
		त		
६	९	ततोऽधिकरणं	१	४८१
६	२३	ततस्तद्विपरीतं	१	५२५
६	१४	तथा चारित्रमोहस्य	१	५१४
६	१५	तस्यापकर्षतो	५	५१६
६	२०	तस्यैकस्यापि	१	५२१
६	११	तज्जातीयात्म	२	५०४
६	२१	तत्राप्रच्युतसम्य	३	५२२
६	२१	तत्रिःशीलव्रतत्व	४	५२३
६	१५	तत्प्रकर्षात्पुनः	३	५१६
६	५	तत्रचैत्यश्रुता	२	४५५

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
६	७	तत्राधिकरणं	१	४७१
६	६	तीव्रत्वादि विशेषे	१	४६७
		द		
६	११	दुःखादीन यथोक्त	१	५०४
६	५	दुःखोत्पादनतंत्रत्वं	१०	४५६
६	१७	दृग्विशद्धयादयो	१७	५२६
६	३	द्वैविध्यात्तत्फलं	३	४४४
		ध		
६	१७	धर्ममात्रेण संमिश्रं	२	५१८
६	१७	धर्माधिक्यात्सुखा	३	५१८
		न		
६	१५	नरकस्यायुषो	१	५१५
६	२२	नाम्नोऽशुभस्य हेतुः	१	५२४
६	२०	निःशीलव्रतत्वं च	१	५२०
६	१५	निर्घंधाम नृणां	२	५१५
६	५	नुः कायवाङ्मनो	५	४५५
		प		
६	१२	पथ्यौषधावबोधादिः	२	५१०
६	२६	परनिंदादयो	१	५३१
६	५	परनिर्वर्त्यस्य	१७	४५७
६	५	पराचरितसावद्य	१९	४५८
६	५	परिग्रहाविनाशार्थं	२४	४५९
६	५	पापप्रवृत्तवन्येषा	१८	४५८
६	१५	पापानुष्ठा क्वचिद्याति	४	५१६
६	२१	पृथक्सूत्रस्थ	५	५२३
६	५	प्रदुष्टस्योद्यमो	९	४५६
६	२७	प्रवर्तमानदानादि	१	५३२
६	१६	प्रसिद्धमायुषो	३	५१७
६	३	प्रादुर्भावादनंत	५	४४५
६	५	प्राणातिपातिकी	११	४५६
		ब		
६	९	बाधकाभावनिर्णी	३	४८२
६	१०	बीजांकुरवदनादी	१	४८४
		भ		
६	२४	भाण्डागाराग्नि	१०	५२८
६	२१	भावशुद्धधायुता	१३	५२८
६	१२	भूतव्रत्यनुकम्पायि	१	५१०
		म		
६	१७	मानुषस्यायुषो	१	५१८
६	२४	मार्गप्रभावना	१५	५२९
६	१६	मायातैर्यग्योनस्ये	१	५१७
६	५	मिथ्यादिकारणा	२५	४५९
		य		
६	१४	यः कषायोदय	२	५१४
६	१०	यत्प्रदोषादयो	२	४८७
६	२७	यादृशाः स्वपरि	४	५३७
६	४	योगमात्रनिमित्त	७	४४८
६	८	योगैस्तन्नवधा	२	४७३
		र		
६	५	रागाद्रस्य प्रमत्तस्य	१२	४५६
		व		
६	२४	वत्सलत्व पुनर्वत्से	१६	५२९
६	२४	विचिकित्सान्य	२	५२६
६	१०	विशेषेण पुनर्शन	१	४८७
६	५	वृत्तमोहोदयात्	२६	४५९
		श		
६	२४	शक्तितस्त्याग	८	५२७
६	५	शाठयासस्यवशाद	२१	४५८
६	३	शुभाशुभफलानां	२	४४२
६	३	शुभः पुण्यस्य	१	४४२
६	१३	श्रोत्रियस्य यथा	३	५१२
		स		
६	२	स आस्रव इह	१	४३८
६	१४	सच्चारित्रविकल्पेषु	५	५२७
६	४	समंततः पराभूति	४	४४७
६	२४	सम्पन्नता समाख्याता	४	५२६
६	२१	सम्यक्त्वं चेति	१	५२२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
६	२१	सम्यग्दृष्टेरनन्तानुबंधी	६	५२३
६	६	स युक्तः सूचित	२	४६८
६	६	सर्वातिशायि	१८	५२९
६	२७	सर्वस्याप्यंतराय	१	५३२
६	१०	सर्वापवादकं सूत्रं	२	५२२
६	४	ससांपरायिकस्य	१	४४६
६	५	संयतस्य सतः	६	४५५
६	२४	संसाराद् भीरुता	७	५२७
६	२४	संज्ञानादिषु तद्वत्सु	३	५२६
६	२४	संज्ञानभावनायां	६	५२७
६	५	सांपरायिकम	१	४५३
६	१८	स्वभावमार्दवं चेति	१	५१९
६	५	स्त्र्यादि संपाति	१५	४५७
		ह		
६	२१	हिंसायास्तत्स्वभाया	७	५२३
		ज्ञ		
६	३	ज्ञानावरणवीर्यांत	४	४४५

सप्तमाध्याय

		अ		
७	१	अथ पुण्यास्रव	१	५४७
७	१२	अनन्तानन्ततत्त्व	३	५६३
७	३८	अनुग्रहार्थमित्ये	१	६४९
७	३९	अपात्रेभ्यो दत्तं	११	६५७
७	३४	अप्रत्यवेक्षितेत्य	१	६४३
७	१४	अप्रशस्तमसद्बोध	१	५७४
		आ		
७	२१	आहार भेषजावास	३	६०७
		ऊ		
७	३०	ऊर्ध्वातिक्रमणाद्याः	१	६३८
		क		
७	३९	कनिष्ठाय पुनः	१०	६५४
७	११	कारुण्यं च	३	५५९
७	५	क्रोध लोभभयं	१	५५१
७	३२	कंदर्पाद्यस्तृतीयस्य	१	६४१
७	३९	किंचित्संक्लेश	४	६५२
		ग		
७	३९	गुणदोषान्वितः	८	६५३
७	३९	गुण वृद्धिकरं	६	६५३
		च		
७	२८	चतुर्थस्य व्रतस्या	१	६३४
		ज		
७	१२	जगत्कायस्वाभावौ	१	५३२
		त		
७	२०	तत्र चाणुव्रतोऽगारी	१	६०३
७	२५	तत्रहिंसाव्रतस्य	१	६२९
७	३	तत्स्थैर्यार्थं	१	५४९
७	२९	तत्संपन्नश्च	४	६०६
७	१७	ततो हिंसाव्रतं	२	५८६
७	२६	तथा मिथ्योपदेशा	१	६३१
७	१६	तथा मैथुनमब्रह्म	१	५८२
७	७	तथा शरीर संस्कार	२	५५२
७	३५	तथा सचित्तसंबधा	१	६४५
७	३९	तद्विशेषः प्रपंचेन	१	६५१
७	१४	तेन स्वपरसंताप	२	५७४
७	१५	तेन सामान्यतो	२	५७८
		द		
७	३९	दत्तमन्नं सुपात्राय	९	६५४
७	३९	दाता गुणान्वितः	७	६५३
७	२१	दिग्देशानर्थदण्ड	१	६९७
७	२	देशतोऽणुव्रतं	१	५४८
७	३१	द्वितीयस्य तु	१	६३९
		न		
७	२२	नानानिवृत्ति	१	६२०
७	१८	निःशल्योऽत्र व्रती	१	५९९
७	३९	निकृष्टमध्य	५	६५३
		प		
७	२४	पंच पंच व्रतेष्वेवं	१	६२८

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अध्याय	सूत्र		श्लोक नं०	पृष्ठ नं०
७	३९	पात्र परिग्रहादि	३	६५२
७	८	प्रत्येकमिति	२	५५४
७	२२	पृथक्सूत्रस्थ	३	६१९
७	१५	प्रमत्तयोगतो	१	५७८
७	२७	प्रोक्ताः स्तेनप्रयो	१	६३३
		भ		
७	११	भव्यत्वं गुण	४	५५९
७	१५	भस्मादि वा स्वयं	३	५७८
७	१२	भावना कल्पना	२	५६३
७	८	भाव्यं निःश्रेयसं	३	५५४
		म		
७	१४	मिथ्यार्थमपि	३	५७४
७	१७	मूर्च्छा परिग्रह	३	५९०
७	२२	मृत्युकारण संपात	२	६१६
७	११	मैत्र्यादयो	१	५५९
७	११	मैत्री सत्त्वेषु	२	५५९
		य		
७	१६	यस्य हिंसानृतादीनि	१	५८६
७	२१	यः प्रोषधोपवास	२	६०७
७	२३	योगदुःप्रणिधाना	१	६४२
		व		
७	३७	विज्ञेयाजीविताशंसा	१	६४८
७	३९	विध्यादीनां विशेषः	२	६५१
		श		
७	६	शून्यं मोचितमावास	१	५५२
		स		
७	६	सधर्माभिसमं	२	५५२
७	२२	सम्यक्कायकषायाणं	१	६१५
७	२३	सम्यग्दृष्टेरतीचाराः	१	६२६
७	४	सर्वाक्षविषये	१	५५३
७	१९	सोऽप्यगार्यनगारश्च	१	६०२
७	१७	स्त्रीणां रागकथां	१	५५२
७	३६	स्मृता सचित्त	१	६४७
७	४	स्यातां मे वाङ्	१	५५०
७	३८	स्वधनं स्यात्परित्यागे	१	६४९
		ह		
७	९	सिंहनादिष्विह	१	५५६
७	१३	हिंसात्र प्राणिनां	१	५७२
		क्ष		
७	२९	क्षेत्रवास्त्वादिषु	१	६३६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज